१. सरस्वती वंदना

—आर्या छंद—

बारह अंगंगिज्जा, दंसणतिलया चरित्तवत्थहरा। चोद्दसपुव्वाहरणा, ठावे दव्वाय सुयदेवी॥१॥

—अनुष्टुप् छंद—

आचारशिरसं सूत्र, कृतवक्त्रां सुकंठिकाम्। स्थानेन समवायांग-व्याख्याप्रज्ञप्तिदेर्लताम् ।।२।।
वाग्देवतां ज्ञातृकथो-पासकाध्ययनस्तनीम्। अंतकृद्दशसन्नाभि-मनुत्तरदशांगतः।।३।।
सुनितंबां सुजघनां-प्रश्नव्याकरणश्रुतात्। विपाकसूत्रदृग्वाद-चरणां चरणांबराम् ।।४।।
सम्यक्त्वतिलकां पूर्व-चतुर्दशविभूषणाम्। तावत्प्रकीर्णकोदीर्ण-चारुपत्रांकुरश्रियम्।।५।।
आप्तदृष्टप्रवाहौघ-द्रव्यभावाधिदेवताम्। परब्रह्मपथादृप्तां, स्यादुक्तिं भुक्तिमुक्तिदाम्।।६।।

—बसंततिलका छंद—

निर्मूलमोहतिमिरक्षपणैकदक्षं, न्यक्षेण सर्वजगदुज्जवलनैकतानम् ।
सोषेस्व चिन्मयमहो जिनवाणि ! नूनं, प्राचीमतो जयसि देवि ! तदल्पसूतिम् ।।७।।

—स्वागता छंद—

आभवादपि दुरासदमेव, श्रायसं सुखमनन्तमचिंत्यम् ।
जायतेऽद्य सुलभं खलु पुंसां, त्वत्प्रसादात् इहांब ! नमस्ते।।८।।

—उपजाति छंद—

चेतश्चमत्कारकरा जनानां, महोदयाश्चाभ्युदयाः समस्ताः।
हस्ते कृताः शस्तजनैः प्रसादात्, तवैव लोकांब ! नमोऽस्तु तुभ्यम् ।।९।।

—मालिनी छंद—

सकलयुवतिसृष्टेरंब ! चूड़ामणिस्त्वं, त्वमसि गुणसुपुष्टेर्धर्मसृष्टेश्च मूलम् ।
त्वमसि च जिनवाणि ! स्वेष्टमुक्त्यंगमुख्या, तदिह तव पदाब्जं भूरिभक्त्या नमामः।।१०।।

सरस्वती स्तोत्र (हिन्दी)

-शंभु छंद-

श्रुतदेवी बारह अंगों से, निर्मित जिनवाणी मानी हैं।
सम्यग्दर्शन है तिलक किया, चारित्र वस्त्र परिधानी हैं।।
चौदह पूर्वों के आभरणों से, सुंदर सरस्वती माता।
इस विध से द्वादशांग कल्पित, जिनवाणी सरस्वती माता।।१।।

श्रुत 'आचारांग' कहा मस्तक, मुख 'सूत्रकृतांग' सरस्वति का।
ग्रीवा है 'स्थानांग' कहा, श्री जिनवाणी श्रुतदेवी का।।
'समवाय अंग' 'व्याख्या प्रज्ञप्ती', माँ की उभय भुजाएं हैं।
द्वय 'ज्ञातृकथांग' 'उपासकाध्ययनांग' स्तन कहलाये हैं।।२।।

नाभी है 'अंतकृद्दशांग' वर नितंब 'अनुत्तरदशांग' है।
वर 'प्रश्नव्याकरण अंग' मात का, जघनभाग कहते श्रुत हैं।।
पाददृय 'विपाकसूत्रअंग' 'दृष्टिवादांग' कहें श्रुत में।
'सम्यक्त्व' तिलक हैं अलंकार, चौदह पूरब मानें सच में।।३।।

'चौदहों प्रकीर्णक' श्रुत वस्त्रों में, बने बेल-बूटे सुंदर।
ऐसी ये सरस्वती माता, जो द्वादशांगवाणी सुखकर।।
संपूर्ण पदार्थों के ज्ञाता, तीर्थंकर की जो दिव्यध्वनी।
सब द्रव्यों के पर्यायों की, 'श्रुतदेवी' अधिष्ठात्रि मानी।।४।।

जो परमब्रह्मपथ अवलोकन, इच्छुक हैं भव्यात्मा उनको।
स्याद्वाद रहस्य बता करके, भुक्ती मुक्ती देती सबको।।
चिन्मयज्योती मोहांधकार, हरिणी हे जिनवाणी माता।
रवि उदय पूर्वदिशी जेत्री, त्रिभुवन द्योतित करणी माता।।५।।

जो अनादि से दुर्लभ अचिन्त्य, आनन्त्य मोक्षसुख है जग में।
हे सरस्वती मातः! वह भी, तव प्रसाद से अतिसुलभ बने।।
आश्चर्यकारि स्वर्गादिक सब, ऐश्वर्य प्राप्त हों भक्तों को।
मेरे सब वाञ्छित पूर्ण करो, हे मातः! नमस्कार तुमको।।६।।

संपूर्ण स्त्री की सृष्टी में, चूड़ामणि हो हे सरस्वती!
तुम से ही दयाधर्म की औ, संपूर्ण गुणों की उत्पत्ती।।
मुक्ती के लिए प्रमुख कारण, माँ सरस्वती! मैं नमूँ तुम्हें।
तव चरण कमल में शीश धरूँ, भक्तीपूर्वक नित नमूँ तुम्हें।।७।।

२. अनादि तीर्थ-अयोध्या

इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। उनमें सर्वप्रथम द्वीप का नाम जम्बूद्वीप है। इसमें दक्षिण दिशा में भरतक्षेत्र के छह खण्डों में एक आर्य खण्ड है। इसमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के द्वारा छह काल तक परिवर्तन होते रहते हैं। सुषमा, सुषमा, सुषमा और सुषमा-दुःषमा इन तीन कालों में उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। आगे के दुःषमासुषमा, दुःषमा और दुःषमादुःषमा इनमें अर्थात् चौथे, पांचवें और छठे कालों में कर्मभूमि की व्यवस्था रहती है। इस चालू अवसर्पिणी में कुछ अघटित घटनाओं के हो जाने से इसे 'हुण्डावसर्पिणी' नाम दिया है। यह असंख्यातों अवसर्पिणी के बाद आती है।

जब तृतीय काल में पल्य का आठवां भाग शेष रह गया था, तब क्रम से प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचंद्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित् और नाभिराज ये चौदह कुलकर हुए हैं। भोगभूमि में युगलिया जन्म लेते हैं और वे ही पति-पत्नी का जीवन व्यतीत करते हैं। बारहवें मरुदेव कुलकर के प्रसेनजित् नाम के अकेले पुत्र हुए थे। पुनः पिता ने अपने पुत्र का कुलवती कन्या के साथ विवाह किया था। ऐसे ही प्रसेनजित् के एक अकेले नाभिराय हुए थे। इन्द्र ने नाभिराय का विवाह मरुदेवी कन्या के साथ कराया था। हरिवंशपुराण में मरुदेवी को शुद्धकुल की कन्या माना है।[१]

जब कल्पवृक्षों का अभाव हो गया, तब नाभिराय और मरुदेवी से अलंकृत पवित्र स्थान में इन्द्र ने एक नगरी की रचना करके उसका नाम "अयोध्या" रख दिया। इसके "साकेता, विनीता और सुकौशल" ऐसे तीन नाम और हैं।[२] वैदिक ग्रंथों के रुद्रयामल ग्रंथ में इसे विष्णु भगवान का मस्तक माना है[३]।

हरिवंशपुराण के अनुसार महाराज नाभिराय का कल्पवृक्ष रूप प्रासाद — भवन बना रह गया। यह इक्यासी खन का ऊंचा था। इसका नाम "सर्वतोभद्र" था। इसी भवन में भगवान ऋषभदेव ने जन्म लिया था।

अनादि तीर्थ अयोध्या — अनादिकाल से इस अयोध्या में अनंत-अनंत तीर्थंकर जन्म ले चुके हैं। क्योंकि प्रत्येक चतुर्थकाल में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर यहीं अयोध्या में ही जन्म लेते हैं और आगे भविष्यकाल में भी भरतक्षेत्र की प्रत्येक चौबीसी यहीं पर होवेंगी। वर्तमान में हुंडावसर्पिणी नाम के काल दोष से यहाँ पर श्री ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ और अनंतनाथ ये पाँच तीर्थंकर ही जन्में हैं। शेष उन्नीस तीर्थंकरों ने अन्यत्र जन्म लिया है। फिर भी पुनः इसी भूमि पर "अयोध्या" नगरी की रचना की जाती है। यह रचना इन्द्र की आज्ञा से देवगण करते हैं।

भगवान ऋषभदेव — छह माह बाद "सर्वार्थसिद्धि" विमान से च्युत होकर अहमिन्द्र का जीव यहाँ माता मरुदेवी के गर्भ में आयेंगे। ऐसा जानकर इन्द्र ने कुबेर को अयोध्या में माता के आंगन में रत्नों की वर्षा करने के लिए आज्ञा दी थी। आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन अहमिन्द्र का जीव माता के गर्भ में आया था, तब इन्द्रों ने भगवान का गर्भ महोत्सव मनाया था। श्री, ह्री, धृति आदि देवियों ने माता की सेवा की थी।

चैत्र कृष्णा नवमी के दिन भगवान का जन्म हुआ था। तब इन्द्रों के आसन कंपित हुए थे। इन्द्रगण ने असंख्य देवों के साथ मिलकर भगवान का जन्माभिषेक सुमेरुपर्वत की पांडुक शिला पर किया था और जन्मजात शिशु का नाम "वृषभदेव" या "ऋषभदेव" रखा था। भगवान के आदिनाथ, आदीश्वर, पुरुदेव,

---

१. हरिवंशपुराण सर्ग ७। २. महापुराण पर्व १२। ३. एतद् ब्रह्मविदो वदन्ति मुनयोऽयोध्यापुरी मस्तकम्।

नाभिनंदन और आदिब्रह्मा ऐसे नाम भी प्रसिद्ध हुए हैं।

इन्द्र की आज्ञा से अनेक देवगण तीर्थंकर बालक के साथ क्रीड़ा करते रहते थे।

भगवान के युवा होने पर महाराजा नाभिराय ने उनके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा, तब भगवान ने "ओम्" कहकर स्वीकृति दे दी। तब श्री नाभिराय ने इन्द्र की अनुमति लेकर कच्छ, महाकच्छ की बहनें यशस्वती और सुनंदा कन्याओं के साथ तीर्थंकर ऋषभदेव की विवाह विधि सम्पन्न की थी। तभी इन्द्रों ने और देवों ने मिलकर बहुत बड़ा उत्सव मनाया था। उस विवाहोत्सव में मनुष्य तो क्या देवों ने भी बहुत ही आनंद का अनुभव किया था।

महारानी यशस्वती ने चैत्र कृष्णा नवमी के दिन "भरत" पुत्र को जन्म दिया था पुनः वृषभदेव आदि निन्यानवें पुत्रों को जन्म दिया था। इसके बाद "ब्राह्मी" पुत्री को जन्म दिया था, अर्थात् यशस्वती रानी ने सौ पुत्र, एक पुत्री को जन्म दिया था तथा दूसरी रानी सुनंदा ने 'बाहुबली पुत्र और सुंदरी पुत्री को जन्म दिया था। इनमें से "भरत" प्रथम चक्रवर्ती और बाहुबली प्रथम कामदेव हुए हैं।

विद्याओं का उद्भव स्थल — किसी समय तीर्थंकर ऋषभदेव ने किशोरावस्था को प्राप्त ब्राह्मी और सुंदरी पुत्री को 'अ आ' आदि अक्षर विद्या एवं इकाई, दहाई आदि गणित विद्या पढ़ाकर विद्या अध्ययन को जन्म दिया। तभी से 'अ आ' आदि अक्षर विद्या को ब्राह्मी लिपि कहने की परम्परा हो गई थी। भगवान ने अपने भरत आदि पुत्रों को भी सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं में निपुण बना दिया था। अतः सर्वविद्याओं का उद्भव स्थल यह अयोध्या ही है।

जीने की कला का उपदेश — भोगभूमि समाप्त होने वाली थी, तभी महौषधि आदि कल्पवृक्ष फल नहीं देने वाले हो गये, तब प्रजा के लोग क्षुधा-तृषा से व्याकुल हो महाराजा नाभिराज की आज्ञा से भगवान के समीप आये और जीने का उपाय जानने के लिए प्रार्थना करने लगे, तभी प्रजा के दीन वचन सुनकर भगवान ने अपने अवधिज्ञान से पूर्वविदेह, पश्चिमविदेह की सारी व्यवस्था जानकर और यहाँ भी ऐसी व्यवस्था बनाना उचित है, ऐसा चिंतन कर इन्द्र का स्मरण किया। उसी क्षण सौधर्म इन्द्र अनेक देवों के साथ उपस्थित हो गया।

भगवान को नमस्कार कर उनकी इच्छानुसार उसने मांगलिक विधिपूर्वक सर्वप्रथम अयोध्या नगरी के मध्य में एक जिनमंदिर की रचना करके नगरी के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर ऐसी चारों दिशाओं में भी एक-एक जिनमंदिर बना दिये। पुनः कौशल, काशी आदि महादेश और अयोध्या, हस्तिनापुर, उज्जयिनी, बनारस आदि नगरियों को रचकर गांव, खेड़ा, वन, उद्यान आदि की रचना कर दी। इस प्रकार सौधर्म इन्द्र ने अनेक देश, नगर आदि को बनाकर यत्र-तत्र रहते हुए जनों को भगवान की आज्ञानुसार यथायोग्य स्थानों में बसाकर प्रभु की आज्ञा ले अपने स्वर्ग को चला गया।

तत्पश्चात् भगवान ने प्रजा को असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या इन छह क्रियाओं का उपदेश देकर भोजन बनाने आदि की विधि बताई और खाने योग्य, न खाने योग्य धान्य फल आदि बताकर भूख प्यास दूर करने की शिक्षा दी। अनंतर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण स्थापित कर उन-उनके योग्य रक्षा करना, व्यापार करना, सेवा करना आदि कर्तव्यों का उपदेश दिया। वह तिथि आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा थी, उसी दिन कर्मभूमि की सृष्टि का प्रारंभ हुआ था। तभी से प्रजा ने भगवान को युगादिपुरुष, युगस्रष्टा, ब्रह्मा, विधाता आदि अनेक नामों से पुकारा था।

राज्य व्यवस्था — किसी समय स्वर्ग से इन्द्र ने आकर महाराजा नाभिराज की अनुमति लेकर भगवान

का राज्याभिषेक कर दिया। उस समय इस भरतक्षेत्र में महामुकुटबद्ध राजाओं के अधिपति तीर्थंकर ऋषभदेव ही हैं, ऐसा कहकर उनके मस्तक पर मुकुट बांध दिया। इन्द्र ने उस समय महामहोत्सव मनाया था।

तत्पश्चात् कर्मभूमि में न्याय करने वाले राजाओं की आवश्यकता समझकर भगवान ने चार महाभाग्यशाली क्षत्रियों को बुलाकर राज्याभिषेक विधि से उन्हें महामाण्डलीक राजा बना दिया। सोमप्रभ, हरिकांत, श्रीधर और मघवा उनके नाम थे एवं कुरुवंश, हरिवंश, नाथवंश और उग्रवंश, क्रम से ये उनके वंश थे। भगवान प्रजा को इक्षुरस निकालने की विधि बतलाने से, सभी के द्वारा वे इक्ष्वाकु कहलाये थे। अतः भगवान इक्ष्वाकुवंशी माने गये हैं। भगवान के पुत्र भरत चक्रवर्ती के बड़े पुत्र का नाम अर्ककीर्ति होने से यहीं से अर्क नाम से सूर्यवंश चला है।

भगवान की दीक्षा—एक समय इन्द्र ने राज्य सभा में नीलांजना अप्सरा का नृत्य प्रारंभ किया था। उसी समय नीलांजना की आयु समाप्त होते ही वह विलीन हो गई और उसी क्षण इन्द्र ने दूसरी अप्सरा उपस्थित कर दी। नृत्य बराबर चालू रहा किन्तु भगवान ने अवधिज्ञान से यह सब जान लिया अतः वे उसी क्षण, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये। भरत को राज्य देकर एवं अन्य पुत्रों को यथायोग्य राज्य देकर वन में जाने के लिए तैयार हुए, कि लौकांतिक देवों ने आकर प्रभु के वैराग्य की अनुमोदना की। सौधर्म इन्द्र आदि देवगण आ गये।

भगवान इन्द्र द्वारा लाई सुदर्शना पालकी में बैठकर अयोध्या से बाहर निकले। जहाँ भगवान ने दीक्षा ली थी, उसे "प्रयाग"[१] इस नाम से जाना जाता है। भगवान ने सर्व वस्त्राभूषण त्याग कर अपने केशों को उखाड़कर फेंक दिया और "नमः सिद्धेभ्यः" कहकर दैगम्बरी दीक्षा ले ली। पुनः षट्मास का योग लेकर ध्यान में लीन हो गये।

प्रभु की देखादेखी उन्हीं का अनुसरण करते हुए चार हजार राजाओं ने भी मुनि दीक्षा लेकर नग्न अवस्था धारण कर ली। किन्तु कुछ ही दिनों में वे भूख-प्यास से व्याकुल हो झरने का पानी पीने लगे और वन के फल खाने लगे तब वनदेवता ने आप लोगों को दिगम्बर मुनिमुद्रा में यह स्वच्छंद प्रवृत्ति करना उचित नहीं है। ऐसा कहकर मना किया, तब इन लोगों ने दिगम्बर वेष छोड़कर बल्कल आदि धारण कर नाना वेष बना लिये।

आहारचर्या—भगवान ऋषभदेव छह महीने बाद योग समाप्त कर इस युग में मुनिचर्या बतलाने के लिए आहार हेतु निकले किन्तु किसी को दिगम्बर जैन मुनि की आहारविधि का ज्ञान न होने से भगवान के छह माह और व्यतीत हो गये। पुनः हस्तिनापुर पहुँचते ही वहाँ के राजा सोमप्रभ के भ्राता श्रेयांसकुमार को भगवान के श्रीचरणों में नमस्कार करते ही उन्हें आठ भव पूर्व का जातिस्मरण हो गया, तब राजकुमार श्रेयांस ने नवधाभक्ति करके भगवान को इक्षुरस का आहार दिया। देवों ने पंचाश्चर्य वृष्टि की। वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का था, जो कि आज भी अक्षयतृतीया के नाम से प्रसिद्ध है।

भगवान को केवलज्ञान—एक हजार वर्ष तक तपश्चरण करते हुए भगवान ने एक दिन शुक्लध्यान के बल से घातिया कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्रगट कर लिया। तभी कुबेर ने आकर अर्धनिमिष में आकाश में अधर समवसरण की रचना कर दी। उसी समय पुरिमतालपुर के राजा वृषभदेव भगवान के तृतीय पुत्र वहाँ आये और भगवान से जैनेश्वरी दीक्षा लेकर भगवान के प्रथम गणधर हो गये।

राजा भरत ने उसी क्षण तीन समाचार विदित किये। भगवान को केवलज्ञान, चक्ररत्न की उत्पत्ति और

---

१. पद्मपुराण पर्व ३।

पुत्ररत्न की प्राप्ति। सर्वप्रथम राजा भरत ने भगवान के केवलज्ञान की पूजा करके दिव्यध्वनि को सुना, पुनः चक्ररत्न की पूजा कर पुत्र का जन्मोत्सव मनाया।

इधर जो चार हजार राजा दीक्षित होकर स्वैराचारी बन गये थे। उनमें से मरीचिकुमार, भरत के पुत्र को छोड़कर शेष सभी भगवान के समवसरण में आकर पुनः मुनिदीक्षा लेकर स्वर्ग-मोक्ष के पात्र बन गये किन्तु मरीचिकुमार अनेक पाखण्डमतों का प्रवर्तन करता ही रहा।

भगवान का निर्वाण—जब तृतीय काल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी थे, तब भगवान ऋषभदेव सभी अघातिया कर्मों का नाश करके कैलाशपर्वत से मोक्ष चले गये। तभी इन्द्रों ने आकर तीन अग्नि स्वरूप तीन कुण्डों की स्थापना करके भगवान के शरीर का संस्कार किया और महामहोत्सव मनाकर स्वस्थान चले गये।

जैनसिद्धान्त के अनुसार मोक्ष गये जीवों का पुनः अनंत-अनंत काल के बाद भी संसार में आगमन-पुनरागमन नहीं होता है। वे भगवान अनंत-अनंत काल तक अनंत सुख का अनुभव करते रहते हैं। वे जन्ममरण से रहित ज्ञानशरीरी अनंतगुणों के पुंज हो जाते हैं।

भगवान ऋषभदेव एक दृष्टि में—

१. **जन्मभूमि**-अयोध्या, **दीक्षास्थल**-प्रयाग, **केवलज्ञान स्थल**-पुरिमतालपुर का उद्यान, **मोक्षस्थान**-कैलाशपर्वत।

२. **पिता**-नाभिराय, **माता**-मरुदेवी, **पत्नी**-यशस्वती, सुनंदा, **पुत्र**-भरत, बाहुबली आदि १०१, **पुत्री**-ब्राह्मी, सुन्दरी।

३. **शरीर की ऊँचाई**-दो हजार हाथ, **आयु**-चौरासी लाख वर्ष पूर्व, **वर्ण**-स्वर्णसदृश, **वंश**-इक्ष्वाकु, **चिन्ह**-बैल।

४. **गर्भतिथि**-आषाढ़ कृष्णा द्वितीया, **जन्मतिथि और दीक्षातिथि**-चैत्र कृष्णा नवमी, **केवलज्ञान तिथि**-फाल्गुन कृष्णा ग्यारस, **निर्वाण तिथि**-माघ कृष्णा चतुर्दशी।

५. **समवसरण में गणधर**-८४, **मुनि**-८४८००, **आर्यिका**-३५००००, **श्रावक**-३०००००, **श्राविका**-५००००।

इक्ष्वाकुवंश में मुक्तिगमन की परम्परा—भगवान के मोक्षगमन के बाद चक्रवर्ती भरत मोक्ष गये हैं। पुनः उनके पुत्र अर्ककीर्ति ने दैगंबरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया है। इस प्रकार इस अयोध्या के चौदह लाख राजा अपने-अपने पुत्रों को राज्य देकर मोक्ष गये हैं।

चक्रवर्ती भरत—राजा भरत ने चक्रवर्ती होकर छह खण्ड पृथ्वी का एकच्छत्र शासन किया था। इन्होंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की थी। दीक्षा लेते ही इन्हें अंतर्मुहूर्त—४८ मिनट के अंदर में ही केवलज्ञान प्रगट हो गया था। इन्होंने भी कैलाशपर्वत से मोक्ष प्राप्त किया है।

कामदेव बाहुबली—श्री बाहुबली ने भरत को पराजित कर पुनः विरक्त होकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। वन में जाकर एक वर्ष का योग लेकर ध्यान में लीन हो गये। उनके मन में एक यह विकल्प था कि भरत को मेरे द्वारा कष्ट हो गया, अतः उन्हें निर्विकल्प ध्यान नहीं हो सका, फिर भी ये भावलिंगी, निःशल्य, महामुनि थे, मनःपर्ययज्ञानी थे व नाना ऋद्धियों से सहित थे। एक वर्ष बाद भरत ने आकर इनकी पूजा की और ये केवलज्ञानी बन गये। इनके शल्य नहीं थी, ऐसा महापुराण में वर्णित है। एक वर्ष के ध्यान में इनके शरीर में

बेलें लिपट गई थीं, सर्पों ने वामी बना ली थीं। अतः इनकी प्रतिमा में आज भी ये चिन्ह बने दिखते हैं। इन्होंने भी कैलाशपर्वत से मोक्ष प्राप्त किया है।

ऐसे ही भगवान ऋषभदेव के वृषभसेन आदि सभी पुत्रों ने मोक्ष प्राप्त किया है।

ब्राह्मी-सुन्दरी आर्यिका दीक्षा लेकर स्त्रीपर्याय को छेदकर स्वर्ग गई थीं। पुनः वहाँ से च्युत होकर मनुष्य पर्याय में दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर चुकी हैं।

इसी तरह भरत सम्राट के नौ सौ तेईस पुत्र जन्म से गूंगे थे। इन्होंने पहले कभी त्रसपर्याय पाई ही नहीं थी। ये भगवान के समवसरण में पहुँचे, बोल पड़े और वहाँ पर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर तपश्चरण के बल से कर्मों को नष्ट कर मोक्ष को प्राप्त हो चुके हैं।[१]

भगवान अजितनाथ-

१. **जन्मभूमि**-अयोध्या, **मुक्तिस्थल**-सम्मेदशिखर पर्वत

२. **पिता**-जितशत्रु, **माता**-विजया

३. **शरीर की ऊँचाई**-अठारह सौ हाथ, **आयु**-बहत्तर लाख पूर्व वर्ष, **वर्ण**-स्वर्णसदृश, **वंश**-इक्ष्वाकु, **चिन्ह**-हाथी।

४. **गर्भ**-ज्येष्ठ कृ. अमावस्या, **जन्म**-माघ शु. १०, **दीक्षा**-माघ शु. ९, **केवलज्ञान**-पौष शु. ११, **निर्वाण**-चैत्र शु. ५।

५. **समवसरण में गणधर**-९०, **मुनि**-१००००, **आर्यिका**-३२०००, **श्रावक**-३००००, **श्राविका**-५००००

६. इनके गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान ये चारों कल्याणक अयोध्या में ही हुए हैं।

भगवान अभिनंदननाथ

१. **जन्मभूमि**-अयोध्या, **मुक्तिस्थल**-सम्मेदशिखर पर्वत

२. **पिता**-राजा स्वयंवर, **माता**-सिद्धार्था

३. **शरीर की अवगाहना**-चौदह सौ हाथ, **आयु**-पचास लाख पूर्व वर्ष, **वर्ण**-स्वर्ण सदृश, **वंश**-इक्ष्वाकु, **चिन्ह**-बंदर।

४. **गर्भ तिथि**-वैशाख शु. ६, **जन्म**-माघ शु. १२, **दीक्षा**-माघ शु. १२, **केवलज्ञान**-पौष शु. १४, **निर्वाण**-वैशाख शु. ६।

५. **समवसरण में गणधर**-१०३, **मुनि**-३००००, **आर्यिका**-३३०६००, **श्रावक**-३००००, **श्राविका**-५००००।

भगवान सुमतिनाथ

१. **जन्मभूमि**-अयोध्या, **मुक्तिस्थल**-सम्मेदशिखर पर्वत।

२. **पिता**-मेघरथ, **माता**-सुमंगला।

३. **शरीर की अवगाहना**-बारह सौ हाथ, **आयु**-चालीस लाख पूर्व वर्ष, **वर्ण**-स्वर्ण सदृश, **वंश**-इक्ष्वाकु, **चिन्ह**-चकवा।

---

१. हरिवंशपुराण सर्ग-१२ ।

४. गर्भ तिथि-श्रावण शु. २, **जन्म-**चैत्र शु. ११, **दीक्षा-**वैशाख शु. ९, **केवलज्ञान-**चैत्र शु. ११, **निर्वाण-**चैत्र शु. ११।

५. समवसरण में गणधर-११६, **मुनि-**३२००००, **आर्यिका-**३३००००, **श्रावक-**३००००, **श्राविका-**५००००

भगवान अनंतनाथ

१. जन्मभूमि-अयोध्या, **मुक्तिस्थल-**सम्मेदशिखर पर्वत

२. पिता-सिंहसेन, **माता-**जयश्यामा।

३. शरीर की अवगाहना-२०० हाथ, **आयु-**३० लाख वर्ष, **वर्ण-**स्वर्ण सदृश, **वंश-**इक्ष्वाकु, **चिन्ह-**सेही

४. गर्भतिथि-कार्तिक कृ. १, **जन्म-**ज्येष्ठ कृ. १२, **दीक्षा-**ज्येष्ठ कृ. १२, **केवलज्ञान-**चैत्र कृ. अमावस्या, **निर्वाण-**चैत्र कृ. अमावस्या

५. समवसरण में गणधर-५०, **मुनि-**६६०००, **आर्यिका-**१०८०००, **श्रावक-**२०००००, **श्राविका-**४००००

इस प्रकार पाँच तीर्थंकरों का संक्षेप से वर्णन किया गया है।

तीर्थंकर स्तुति

थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए, विहुयरयमले महप्पण्णे।।1।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत-चौबीस तीर्थंकरभक्ति गाथा-1)

अर्थ-जो जिनवर-कर्मशत्रु को जीतने वालों में श्रेष्ठ हैं, केवली-केवलज्ञानी हैं, अनंतजिन-अनंत संसार को जीतने वाले हैं, नरप्रवरलोकमहित-लोक में श्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि से पूजित हैं, विद्युतरजोमल-ज्ञानावरण-दर्शनावरण नामक रजरूपी मल को धो चुके हैं और महाप्राज्ञ-सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी हैं ऐसे तीर्थंकरों की मैं स्तुति करूँगा।

भावार्थ-श्री कुन्दकुन्ददेव ने तीर्थंकरभक्ति आदि दश भक्तियाँ बनाई हैं जिनमें से मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका के कृतिकर्म में प्रत्येक भक्ति की प्रारम्भ विधि में इस 'थोस्सामि' स्तव को पढ़ा जाता है। यह चौबीस तीर्थंकरभक्ति है। इसे 'थोस्सामि स्तव' से भी जाना जाता है।

३. भगवान शांतिनाथ

अपराजित महामंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं।।

अरिहंतों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार हो। इसे पंचनमस्कार मंत्र, महामंत्र और अपराजित मंत्र भी कहते हैं।

एसो पंचणमोयारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं।।

यह पंच नमस्कार मंत्र सर्व पापों का नाश करने वाला है और सर्व मंगलों में पहला मंगल है। अतः इस मंत्र को प्रतिदिन जपना चाहिए।

"कर्मारातीन् जयतीति जिनः" जो कर्मरूपी शत्रुओं को जीत लेता है वह 'जिन' है और 'जिनो देवता अस्येति जैनः' जिन हैं देवता जिसके वह 'जैन' कहलाता है। 'संसार दुःखतः सत्वान् यो उत्तमे सुखे धरतीति धर्मः' जो संसार के दुःख से जीवों को निकालकर उत्तम सुख में पहुँचा देता है वह धर्म है। इस प्रकार से जिनदेव के अनुयायी का धर्म 'जैनधर्म' है अथवा जिनदेव द्वारा कथित धर्म 'जैनधर्म' है। यह धर्म प्राणीमात्र का कल्याण करने वाला है अतः इसे 'सार्वधर्म' या 'सर्वोदय तीर्थ' भी कहते हैं। यह धर्म अनादिनिधन है और प्राकृतिक है।

यह धर्म चार प्रकार से वर्णित है—जीवदया—अहिंसा धर्म, रत्नत्रय धर्म, दशलक्षण धर्म और वस्तुस्वभावधर्म।

तीर्थंकर परम्परा—"संसारस्तीर्यते येन, असौ तीर्थः प्रकीर्त्यते।" संसार समुद्र जिससे तिरा जाता है—पार किया जाता है, वह 'तीर्थ' है। इस धर्म के द्वारा ही संसार समुद्र तिरा जाता है—पार किया जाता है अतः यह धर्म ही तीर्थ है। इस धर्मतीर्थ के कर्ता—करने वाले 'तीर्थंकर' कहलाते हैं।

जैनधर्म में—जैनशासन में ऐसे तीर्थंकर अनंतानंत हो चुके हैं और भविष्य में भी अनंतानंत होवेंगे।

तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में लिखा है कि "ये अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी काल अनंत होते रहते हैं। असंख्यातों अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी के बीत जाने पर एक 'हुंडावसर्पिणी' काल आता है।" इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक अवसर्पिणी–उत्सर्पिणी में चौबीस–चौबीस तीर्थंकर होने से असंख्यातों चौबीसी हो चुकी हैं अतः भगवान महावीर स्वामी जैनधर्म के संस्थापक हैं, यह कथन कथमपि उचित नहीं है।

वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों के नाम—श्री ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभनाथ, पुष्पदंतनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्यनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी। इस भरतक्षेत्र में उत्पन्न हुए इन चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार हो। ये ज्ञानरूपी फरसे से भव्य जीवों के संसाररूपी वृक्ष को छेदने वाले हैं।

इन तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्रतिपादित धर्मों में जीवदया—अहिंसा धर्म ही प्रधान है क्योंकि यह सभी धर्मों का मूल है।

कहा भी है—

'अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः'।

अहिंसा सर्वश्रेष्ठ परम धर्म है और जहाँ धर्म है, वहाँ सर्व प्रकार से जय होती है।

पाँच अणुव्रत—इस अहिंसा धर्म के पालन हेतु श्रावक—गृहस्थ के लिए पाँच अणुव्रत माने हैं—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

संकल्पपूर्वक—अभिप्रायपूर्वक—जानबूझकर दो इंद्रिय आदि त्रस जीवों को नहीं मारना अहिंसाणुव्रत है।

हिंसा के चार भेद हैं—संकल्पीहिंसा, आरंभीहिंसा, उद्योगिनी हिंसा और विरोधिनी हिंसा। अभिप्रायपूर्वक जीवों की हिंसा संकल्पी हिंसा है। गृहस्थाश्रम में चूल्हा जलाना, पानी भरना आदि कार्यों में जो हिंसा होती है, वह आरंभीहिंसा है। व्यापार में जो यत्किंचित् हिंसा होती है वह उद्योगिनी हिंसा है और धर्म, देश, धर्मायतन आदि की रक्षा के लिए जो युद्ध में हिंसा होती है, वह विरोधिनी हिंसा है। इन चारों ही हिंसा में गृहस्थ लोग मात्र संकल्पी हिंसा का ही त्याग कर सकते हैं, शेष तीनों हिंसा में सावधानी और विवेक अवश्य रखते हैं इसीलिए यह व्रत श्रावकों का 'अहिंसाणुव्रत' कहलाता है।

ऐसे ही स्थूलरूप से झूठ का त्याग करना सत्याणुव्रत है। इस व्रती को ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए कि जिससे धर्म की हानि हो या किसी पर विपत्ति आ जावे अथवा किसी जीव का घात हो जावे।

पर के धन की चोरी का त्याग करना अचौर्याणुव्रत है।

परस्त्री सेवन का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। स्त्रियों के लिए पर पुरुष का त्याग करना होता है जैसे कि सती सीता ने अपने इस ब्रह्मचर्याणुव्रत—शीलव्रत के प्रभाव से अग्नि को जल बना दिया था।

अपने धन-धान्य का परिमाण करके इच्छाओं को सीमित करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। इन पाँचों व्रतों के पालन करने वाले अणुव्रती कहलाते हैं।

ये अणुव्रती गृहस्थ इस भव में सदा सुखी एवं यशस्वी होते हैं और परभव में नियम से स्वर्ग के वैभव को प्राप्त करते हैं।

पाँच महाव्रत—जो महापुरुष हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों का पूर्णरूपेण त्याग कर देते हैं वे महाव्रती कहलाते हैं। ये महामुनि, महासाधु, महर्षि, दिगम्बर मुनि आदि कहलाते हैं।

युग की आदि में अयोध्या में भगवान ऋषभदेव जन्मे थे। ये इक्ष्वाकुवंशीय कहलाते हैं। इन भगवान ने कल्पवृक्ष के अभाव में प्रजा के लिए असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन षट् क्रियाओं का उपदेश देकर जीने की कला सिखाई। विदेहक्षेत्र के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्ण व्यवस्था बनाई। महामंडलीक राजा बनाकर पुनः उनके आश्रित अनेक राजा-महाराजा बनाकर 'राजनीति' का उपदेश दिया। अनन्तर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षमार्ग का उपदेश दिया।

जैन धर्म है, जाति नहीं—जैन धर्म है, जाति नहीं है। जाति, गोत्र और धर्म इन तीनों को समझना अति आवश्यक है। वर्तमान में जैनधर्मानुयायियों में चौरासी जातियाँ सुनी जाती हैं। अग्रवाल, पोरवाड़, खंडेलवाल, पद्मावती पुरवाल, परवार, लमेचू, चतुर्थ, पंचम, बघेरवाल, शेतवाल आदि। गोत्रों में प्रत्येक जाति के गोत्र अलग-अलग हैं। जैसे कि अग्रवाल में गोयल, सिंगल, मित्तल आदि। खंडेलवाल में सेठी, रांवका, गंगवाल आदि।

अतएव जाति और गोत्र अलग हैं तथा धर्म अलग है फिर भी कुछ व्यवस्था की दृष्टि से 'जनगणना' में जाति के कॉलम में जैन लिखाना आवश्यक हो गया है।

मेरा तो यही कहना है कि सभी जैनकुल में जन्में लोगों को अपने नाम के साथ 'जैन' लगाना अति आवश्यक है। प्रायः मारवाड़ में और दक्षिण में श्रावक नाम के साथ गोत्र लगाते हैं 'जैन' नहीं लगाते हैं तो जैन जनगणना में जैन अतीव अल्प दिखते हैं।

जैनधर्म स्वतंत्र धर्म है—यह जैनधर्म एक स्वतंत्र धर्म है न कि किसी धर्म की शाखा, इसके लिए भी प्रबल प्रमाण हैं।

षट्दर्शन के नामों में—

जैना मीमांसका बौद्धाः, शैवा वैशेषिका अपि।
नैयायिकाश्च मुख्यानि, दर्शनानीह सन्ति षट्।।

जैन, मीमांसक, बौद्ध, शैव, वैशेषिक और नैयायिक ये छह प्रमुख दर्शन इस देश में हैं।

वायुपुराण में भी लिखा है—

उपासनाविधिश्चोक्तः, कर्मसंशुद्धिचेतसाम्।
ब्राह्मं शैवं वैष्णवं च, सौरं शाक्तं तथार्हतम्।।
षट्दर्शनानि चोक्तानि, स्वभावनियतानि च।
एतदन्यच्च विविधं, पुराणेषु निरूपितम्।।

इन छहों दर्शन वालों की उपासना विधि भी स्वतंत्र है और ये छहों दर्शन स्वभाव से निश्चित—स्वतंत्र हैं।

अतएव इस जैनधर्म को हिन्दूधर्म की शाखा नहीं माना जा सकता।

श्री ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकर भगवान "अहिंसा के अवतार" माने गये हैं।

इन्हीं तीर्थंकर परम्परा में सोलहवें तीर्थंकर भगवान शांतिनाथ ने हस्तिनापुर में जन्म लिया है। ये पाँचवें चक्रवर्ती एवं बारहवें कामदेव ऐसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती और कामदेव इन तीन पद के धारक हुए हैं। इनके नामस्मरण से भी शांति होती है। उन्हीं का जीवन चरित्र आप पढ़ेंगे—

तीर्थंकर शान्तिनाथ

स्वदोषशान्त्यावहितात्मशान्तिः, शान्तेर्विधाता शरणं गतानाम्।
भूयाद् भवक्लेशभयोपशान्त्यै, शान्तिर्जिनो मे भगवांच्छरण्यः।।

अपने दोषों को शांत करके जिन्होंने पूर्ण शांति प्राप्त कर ली है, जो शांति के विधाता—ब्रह्मा अथवा कर्ता हैं, जिनकी मैंने शरण ली है ऐसे शांतिनाथ जिनेन्द्र भगवान मेरे संसाररूपी क्लेश के भयों की शांति के लिए होवें।

ये शांतिनाथ भगवान कभी हम और आप जैसे संसारी थे, उन्होंने ग्यारह भवों तक अपने पुरुषार्थ के बल से अपने आपको शांतिनाथ तीर्थंकर बनाया है। इसे ही आप पढ़ेंगे—

(१) राजा श्रीषेण—इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में रत्नपुर नाम का नगर है। उस नगर का राजा श्रीषेण था, उसके सिंहनन्दिता और अनिन्दिता नाम की दो रानियाँ थीं। इन दोनों के इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन नाम के दो पुत्र थे। उसी नगर की सत्यभामा नाम की एक ब्राह्मण कन्या अपने पति को दासी पुत्र जानकर उसे त्याग कर राजा के यहाँ अपने धर्म की रक्षा करते हुए रहने लगी थी। किसी एक दिन राजा श्रीषेण ने अपने घर

पर हुए आदित्यगति और अरिंजय नाम के दो चारण मुनियों को पड़गाहन कर स्वयं आहारदान दिया और पंचाश्चर्य प्राप्त किये तथा दश प्रकार के कल्पवृक्षों के भोग प्रदान करने वाली उत्तरकुरु भोगभूमि की आयु बाँध ली। दान देकर राजा की दोनो रानियों ने तथा दान की अनुमोदना से सत्यभामा ने भी उसी उत्तम भोगभूमि की आयु बाँध ली, सो ठीक ही है क्योंकि साधुओं के समागम से क्या नहीं होता ?

किसी समय इन्द्रसेन की रानी श्रीकांता के साथ अनन्तमति नाम की एक साधारण स्त्री आई थी उसके साथ उपेन्द्रसेन का स्नेह समागम हो गया। इस निमित्त को लेकर बगीचे में दोनों भाईयों का युद्ध शुरु हो गया। राजा इस युद्ध को रोकने में असमर्थ रहे, साथ ही अत्यन्त प्रिय अपने इन पुत्रों के अन्याय को सहन करने में असमर्थ रहे अतः वे विषपुष्प सूंघ कर मर गये, वही विषपुष्प सूंघ कर दोनों रानियां और सत्यभामा भी प्राणरहित हो गईं।

(२) भोगभूमिज आर्य—धातकीखंड के पूर्वार्ध भाग में जो उत्तरकुरु नाम की उत्तम भोगभूमि है उसमें राजा तथा सिंहनन्दिता दोनों दम्पत्ति हुए और अनिन्दिता नाम की रानी आर्य तथा सत्यभामा उसकी स्त्री हुई, इस प्रकार वे सब वहाँ भोगभूमि के सुखों को भोगते हुए सुख से रहने लगे।

(३) श्रीप्रभ देव—राजा श्रीषेण का जीव भोगभूमि से चलकर सौधर्म स्वर्ग के श्रीप्रभ विमान में श्रीप्रभ नाम का देव हुआ। रानी सिंहनन्दिता का जीव उसी स्वर्ग के श्रीनिलय विमान में विद्युत्प्रभा नाम की देवी हुई। सत्यभामा ब्राह्मणी और अनिन्दिता नाम की रानी के जीव क्रमशः विमलप्रभ विमान में शुक्लप्रभा नाम की देवी और विमलप्रभ नाम के देव हुए।

(४) विद्याधर अमिततेज—विजयार्ध के राजा ज्वलनजटी के पुत्र अर्ककीर्ति थे। उस अर्ककीर्ति की ज्योतिर्माला रानी से राजा श्रीषेण का जीव श्रीप्रभ विमान से स्वर्ग से आकर अमिततेज नाम का पुत्र हुआ। सिंहनन्दिता का जीव अमिततेज की ज्योतिःप्रभा नाम की स्त्री हुई। देवी अनिन्दिता का जीव श्रीविजय हुआ और सत्यभामा का जीव अमिततेज की बहन सुतारा हुआ। यह अमिततेज विद्याधर समस्त पर्वों में उपवास करता था। दोनों श्रेणियों का अधिपति होने से वह सब विद्याधरों का राजा था। किसी एक दिन दमवर नामक चारण ऋद्धिधारी मुनि को विधिपूर्वक आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये।

(५) रविचूल देव—किसी समय अमिततेज और श्रीविजय दोनों ने मुनि के मुख से अपनी आयु एक मास मात्र है, ऐसा जानकर अपने पुत्रों को राज्य दे दिया और बड़े आदर से अष्टाह्निका पूजा की तथा नन्दन नामक मुनि के समीप चन्दन वन में सब परिग्रह त्याग कर प्रायोपगमन संन्यास धारण कर लिया। अन्त में समाधिमरण कर शुद्ध बुद्धि का धारक अमिततेज तेरहवें स्वर्ग के नन्द्यावर्त विमान में रविचूल नाम का देव हुआ और श्रीविजय भी इसी स्वर्ग के स्वस्तिक विमान में मणिचूल नाम का देव हुआ।

(६) अपराजित बलभद्र—वहाँ के भोगों का अनुभव करके रविचूल नाम का देव नन्द्यावर्त विमान से च्युत होकर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित वत्सकावती देश की प्रभाकरी नगरी के राजा स्तिमित सागर और उनकी रानी वसुन्धरा के अपराजित नाम का पुत्र हुआ। मणिचूल देव भी स्वस्तिक विमान से च्युत होकर उसी राजा की अनुमति नाम की रानी के अनन्तवीर्य नाम का लक्ष्मी सम्पन्न पुत्र हुआ। ये दोनों भाई बलभद्र और अर्द्धचक्री नारायण पद के धारक हुए तथा दमितारि नाम के प्रतिनारायण को मार कर चक्ररत्न को प्राप्त कर बहुत काल तक राज्य के उत्तम सुखों का अनुभव करते रहे।

किसी समय अनन्तवीर्य के मरण से बलभद्र अपराजित पहले तो बहुत दुःखी हुए, जब प्रबुद्ध हुए तब

अनन्तसेन नामक पुत्र के लिए राज्य देकर यशोधर मुनिराज के समीप दीक्षा धारण कर ली।

(७) अच्युत स्वर्ग में इंद्र—वे अपराजित महामुनि तीसरा अवधिज्ञान प्राप्त कर अत्यन्त शान्त हो गये और तीस दिन का संन्यास लेकर अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए।

इधर अनन्तवीर्य नारायण नरक गया था, वहाँ पर जाकर धरणेन्द्र ने उसे समझा–बुझाकर सम्यक्त्व ग्रहण कराया। उसके प्रभाव से वह अनन्तवीर्य नरक से निकलकर जम्बूद्वीपसम्बन्धी भरतक्षेत्र के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के राजा मेघवाहन की रानी मेघमालिनी से मेघनाद नाम का पुत्र हो गया। कालान्तर में दीक्षा लेकर आयु के अन्त में मरकर तपश्चरण के प्रभाव से अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हो गये और इन्द्र के साथ उत्तम प्रीति रखकर स्वर्ग सुख का अनुभव करने लगे।

(८) वज्रायुध चक्रवर्ती—अपराजित का जीव जो अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुआ था वह वहाँ से च्युत हुआ और इसी जम्बूद्वीप सम्बन्धी पूर्व विदेह क्षेत्र के रत्नसंचय नामक नगर में राजा क्षेमंकर तीर्थंकर की कनकचित्रा नाम की रानी से मेघ की बिजली के समान पुण्यात्मा श्रीमान 'वज्रायुध नाम का पुत्र हुआ। इस पुत्र की उत्पत्ति में आधान, प्रीति, सुप्रीति, धृति, मोद, प्रियोद्भव आदि क्रियायें की गई थीं। जिस प्रकार चन्द्रमा शुक्लपक्ष को पाकर कान्ति तथा चन्द्रिका से सुशोभित होता है, उसी प्रकार वह वज्रायुध भी तरुण अवस्था पाकर राज्यलक्ष्मी तथा लक्ष्मीमती नामक स्त्री से सुशोभित हो रहा था। उन वज्रायुध और लक्ष्मीमती के अनन्तवीर्य (प्रतीन्द्र) का जीव सहस्त्रायुध नाम का पुत्र हुआ। इस प्रकार राजा क्षेमंकर पुत्र–पौत्र आदि परिवार से परिवृत होकर राज्य करते थे।

किसी समय क्षेमंकर तीर्थंकर वज्रायुध का राज्याभिषेक करके लौकान्तिक देवों द्वारा स्तुति को प्राप्त होते हुए तपोवन को चले गये और तपश्चरण के प्रभाव से केवलज्ञान को प्राप्त कर बारह सभाओं को दिव्यध्वनि द्वारा सन्तुष्ट करने लगे।

इधर वज्रायुध के यहाँ चक्ररत्न की उत्पत्ति हो गई और वे चक्रवर्ती हो गये। दिग्विजय करके षट्खंड पृथ्वी को जीतकर सार्वभौम राज्य करने लगे।

किसी समय नाती के केवलज्ञान का उत्सव देखने से वज्रायुध चक्रवर्ती को भी आत्मज्ञान हो गया जिससे उन्होंने सहस्त्रायुध पुत्र को राज्य देकर क्षेमंकर तीर्थंकर के समीप पहुँचकर दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा के बाद ही उन्होंने सिद्धिगिरि पर्वत पर जाकर एक वर्ष के लिये प्रतिमायोग धारण कर लिया। उनके चरणों का आश्रय पाकर सर्पों की बहुत सी वामियाँ तैयार हो गईं सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुष चरणों में लगे हुए शत्रुओं को भी बढ़ाते हैं। उनके शरीर के चारों तरफ सघनरूप से जमी हुई लतायें भी मानों उनके परिणामों की कोमलता को प्राप्त करने के लिए उन मुनिराज के पास जा पहुँची थीं।

(९) अहमिंद्र—इधर वज्रायुध के पुत्र सहस्त्रायुध को भी किसी कारण से वैराग्य हो गया। उन्होंने अपना राज्य शतबली को दे दिया, सब प्रकार की इच्छाएँ छोड़ दीं और पिहितास्त्रव नाम के मुनिराज के पास उत्तम संयम धारण कर लिया। जब पिता वज्रायुध मुनि का एक वर्ष का योग समाप्त हो गया तब वे सहस्त्रायुध मुनि उन्हीं के समीप जा पहुँचे। पिता–पुत्र दोनों ने चिरकाल तक दुःसह तपस्या की। अन्त में वे वैभार पर्वत के अग्रभाग पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने शरीर से स्नेह रहित हो संन्यास मरण किया और ऊर्ध्व ग्रैवेयक के नीचे के सौमनस नामक विमान में बड़ी ऋद्धि के धारक अहमिन्द्र हुए।

(१०) राजा मेघरथ—इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती नाम का देश है, उसकी

पुंडरीकिणी नगरी में राजा घनरथ राज्य करते थे, उनकी मनोहरा नाम की सुन्दर रानी थी। वज्रायुध का जीव ग्रैवेयक से च्युत होकर उन्हीं दोनों के मेघरथ नाम का पुत्र हुआ। उसके जन्म के पहले गर्भाधान आदि क्रियायें हुई थीं। उन्हीं घनरथ राजा की मनोरमा नाम की दूसरी रानी से सहस्त्रायुध का जीव (अहमिन्द्र) दृढ़रथ नाम का पुत्र हो गया। राजा घनरथ ने तरुण होने पर मेघरथ का विवाह प्रियमित्रा और मनोरमा के साथ किया था और दृढ़रथ का विवाह सुमतिदेवी से किया था। इस प्रकार पुत्र-पौत्र आदि सुख के समस्त साधनों से युक्त राजा घनरथ सिंहासन पर बैठकर इन्द्र की लीला धारण कर रहे थे।

इसी बीच में प्रियमित्रा पुत्रवधु की सुषेणा नाम की दासी घनतुंड नामक मुर्गा लाकर दिखलाती हुई बोली कि यदि दूसरों के मुर्गे इसे जीत लें तो मैं एक हजार दीनार दूँगी। यह सुनकर छोटी पुत्रवधु की कांचना नाम की दासी एक वज्रतुंड नामक मुर्गा ले आई। दोनों का युद्ध होने लगा, वह युद्ध दोनों मुर्गों के लिए दुःख का कारण था तथा देखने वालों के लिये भी हिंसानन्द आदि रौद्रध्यान कराने वाला था अतः धर्मात्माओं के देखने योग्य नहीं, ऐसा विचार कर राजा घनरथ बहुत से भव्यजीवों को शान्ति प्राप्त कराने के लिये अपने पुत्र मेघरथ से उन मुर्गों के पूर्व भव पूछने लगे।

अवधिज्ञान के धारक मेघरथ ने बतलाया कि जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में रत्नपुर नाम का नगर है। उसमें भद्र और धन्य नाम के दो सगे भाई थे। दोनों ही गाड़ी चलाने का काम करते थे। एक दिन दोनों भाई नदी के किनारे बैल के निमित्त लड़ पड़े और मरकर नदी के किनारे श्वेतकर्ण-ताम्रकर्ण नाम के जंगली हाथी हुए। वहाँ भी पूर्व वैर के संस्कार से लड़कर मरे और दोनों भैंसे हुए पुनः लड़कर मरे और मेढ़ा हुए, मेढ़े भी परस्पर में लड़े और ये दोनों मुर्गे हुए हैं। दो विद्याधर हम लोगों से मिलने के लिये यहाँ आये थे और विद्या से इन मुर्गों में प्रविष्ट होकर इन्हें और अधिक शक्तिशाली बना रहे हैं। इस तरह मेघरथ से सब समाचार सुनकर उन विद्याधरों ने अपना स्वरूप प्रकट किया। राजा घनरथ और कुमार मेघरथ की पूजा की तथा गोवर्धन मुनिराज के समीप जाकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

उन दोनों मुर्गों ने भी अपना पूर्वभव का सम्बन्ध जानकर परस्पर का बंधा हुआ वैर छोड़ दिया और अन्त में साहस के साथ संन्यास धारण कर लिया एवं भूतरमण तथा देवरमण नामक वन में ताम्रचूल और कनकचूल नाम के भूतजातीय व्यन्तर हुए।

उसी समय वे देव पुंडरीकिणी नगरी में आये और प्रेम से मेघरथ युवराज की पूजा कर अपने मुर्गे के भव को बतलाकर परमोपकारी मान कर कुछ प्रत्युपकार करने की प्रार्थना करने लगे। अन्त में उन दोनों देवों ने कहा कि आप मानुषोत्तर पर्वत के भीतर विद्यमान समस्त संसार को देख लीजिये। हम लोगों के द्वारा आपका कम-से-कम यही उपकार हो जावे। देवों के ऐसा कहने पर कुमार ने जब 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति प्रदान कर दी तब देवों ने कुमार को उनके आप्तजनों के साथ अनेक ऋद्धियों से युक्त विमान में बैठाया और आकाशमार्ग में ले जाकर यथाक्रम से चलते-चलते सुन्दर देश दिखलाये।

वे बतलाते जाते थे कि यह पहला भरत क्षेत्र है, यह हैमवत है इत्यादिरूप से सभी क्षेत्र, पर्वतों को दिखलाते हुए मानुषोत्तर पर्वत के भीतर के सभी अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करा दी। तदनन्तर बड़े उत्सव से युक्त नगर में वापस आ गये। आचार्य कहते हैं कि जो मनुष्य अपने उपकारी का प्रत्युपकार नहीं करता है, वह गन्धरहित पुष्प के सदृश जीवित भी मृतकवत् है।

घनरथ महाराज तीर्थंकर थे। किसी दिन विरक्त होकर दीक्षित हो गये। इधर मेघरथ महाराज ने दमवर

नामक ऋद्धिधारी मुनि को आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। कभी नन्दीश्वर पर्व में महापूजा कर रात्रि में प्रतिमायोग से ध्यान करते थे और इन्द्रों द्वारा पूजा को प्राप्त होते थे। किसी दिन घनरथ तीर्थंकर के समवसरण में धर्मोपदेश को सुनकर संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हो गये और अपने पुत्र को राज्य देकर दृढ़रथ भाई और अन्य सात हजार राजाओं के साथ दीक्षित होकर ग्यारह अंग के पाठी हो गये और सोलहकारण भावनाओं से तीर्थंकर नामकर्म का बंध कर लिया।

(११) सर्वार्थसिद्धि के अहमिंद्र—अत्यन्त धीर वीर मेघरथ ने दृढ़रथ के साथ 'नभस्तिलक' पर्वत पर आकर एक महीने का प्रायोपगमन संन्यास धारण कर शरीर छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र पद प्राप्त कर लिया।

(१२) भगवान शांतिनाथ—कुरुजांगल देश की हस्तिनापुर राजधानी में कुरुवंशशिरोमणि राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ऐरावती था। अहमिंद्र के जीव (होनहार शान्तिनाथ) के गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही इन्द्र की आज्ञा से हस्तिनापुर नगर में माता के आँगन में रत्नों की वर्षा होने लगी और श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ माता की सेवा में तत्पर हो गईं। भादों वदी सप्तमी के दिन भरणी नक्षत्र में रानी ने गर्भ धारण किया, उस समय स्वर्ग से देवों ने आकर तीर्थंकर महापुरुष का गर्भ महोत्सव मनाया और माता–पिता की पूजा की।

नव मास व्यतीत होने के बाद रानी ऐरादेवी ने ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन याम्ययोग में प्रातःकाल के समय तीन लोक के नाथ ऐसे पुत्र रत्न को जन्म दिया। उसी समय चार प्रकार के देवों के यहाँ स्वयं ही बिना बजाये शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घंटानाद होने लगे। सौधर्मेन्द्र ऐरावत हाथी पर चढ़कर इन्द्राणी और असंख्य देवगणों सहित नगर में आया तथा भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक मनाया। अभिषेक के अनन्तर भगवान को अनेकों वस्त्रालंकारों से विभूषित करके उनका 'शान्तिनाथ' यह नाम रखा, इस प्रकार भगवान को हस्तिनापुर वापस लाकर माता–पिता को सौंपकर पुनरपि आनन्द नामक नाटक करके अपने–अपने स्थान पर चले गये।

भगवान की आयु एक लाख वर्ष की थी। शरीर चालीस धनुष ऊँचा था। सुवर्ण के समान कांति थी। ध्वजा, तोरण, शंख, चक्र आदि एक हजार आठ शुभ चिह्न उनके शरीर में थे। उन्हीं विश्वसेन की यशस्वती रानी के चक्रायुध नाम का एक पुत्र हुआ। देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए भगवान शान्तिनाथ अपने छोटे भाई चक्रायुध के साथ–साथ वृद्धि को प्राप्त हो रहे थे। भगवान की यौवन अवस्था आने पर उनके पिता ने कुल, रूप, अवस्था, शील, कान्ति आदि से विभूषित अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया।

इस तरह भगवान के जब कुमार काल के पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो गये तब महाराज विश्वसेन ने उन्हें अपना राज्य समर्पण कर दिया। क्रम से उत्तमोत्तम भोगों का अनुभव करते हुए जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष और व्यतीत हो गये तब उनकी आयुधशाला में चक्रवर्ती के वैभव को प्रगट करने वाला चक्ररत्न उत्पन्न हो गया। इस प्रकार चक्र को आदि लेकर चौदह रत्न और नवनिधियाँ प्रगट हो गईं। इन चौदह रत्नों में चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे। काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रकट हुए थे, पुरोहित, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे और कन्या, गज तथा अश्व विजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ भी पुण्य से प्रेरित हुए इन्द्रों के द्वारा नदी और सागर के समागम पर लाकर दी गई थीं।

चक्ररत्न के प्रकट होने के बाद भगवान ने विधिवत् दिग्विजय करके छह खण्ड को जीतकर इस भरतक्षेत्र में एकछत्र शासन किया था। जहाँ पर स्वयं भगवान शान्तिनाथ इस पृथ्वी पर प्रजा का पालन करने वाले थे, वहाँ के सुख और सौभाग्य का क्या वर्णन किया जा सकता है? इस प्रकार चक्रवर्ती के साम्राज्य में भगवान की छ्यानवे हजार रानियाँ थीं, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा करते थे और बत्तीस यक्ष हमेशा चामरों को ढुराया करते थे। चक्रवर्तियों के साढ़े तीन करोड़ बन्धु कुल होते हैं। अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी लाख हाथी, तीन करोड़ उत्तम वीर, अनेकों करोड़ विद्याधर और अठासी हजार म्लेच्छ राजा होते हैं। छ्यानवे करोड़ ग्राम, पचहत्तर हजार नगर, सोलह हजार खेट, चौबीस हजार कर्वट, चार हजार मटंब और अड़तालीस हजार पत्तन होते हैं इत्यादि अनेकों वैभव होते हैं।

चौदह रत्नों के नाम—अश्व, गज, गृहपति, स्थपति, सेनापति, स्त्री और पुरोहित ये सात जीवित रत्न हैं एवं छत्र, असि, दण्ड, चक्र, काकिणी, चिन्तामणि और चर्म ये सात रत्न निर्जीव होते हैं।

नवनिधियों के नाम—काल, महाकाल, पाण्डु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नानारत्न ये नौ निधियाँ हैं। ये क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्यों, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य, आभरण और रत्नसमूहों को दिया करती हैं।

दशांग भोग—दिव्यपुर, रत्न, निधि, सैन्य, भोजन, भाजन, शय्या, आसन, वाहन और नाट्य ये चक्रवर्तियों के दशांग भोग होते हैं।

इस प्रकार संख्यात हजार पुत्र-पुत्रियों से वेष्टित भगवान शान्तिनाथ चक्रवर्ती के साम्राज्य को प्राप्त कर दस प्रकार के भोगों का उपभोग करते हुए सुख से काल व्यतीत कर रहे थे। भगवान तीर्थंकर और चक्रवर्ती होने के साथ-साथ कामदेव पद के धारक भी थे।

भगवान का वैराग्य—जब भगवान के पच्चीस हजार वर्ष साम्राज्य पद में व्यतीत हो गये, तब एक समय अलंकार गृह के भीतर अलंकार धारण करते हुए उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई दिये, उसी समय उन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्व जन्म का स्मरण भी हो गया, तब भगवान संसार, शरीर और भोगों के स्वरूप का विचार करते हुए विरक्त हो गये। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर अनेकों स्तुतियों से पूजा स्तुति की। अनन्तर सौधर्म आदि इन्द्र सभी देवगणों के साथ उपस्थित हो गये। भगवान ने नारायण नाम के पुत्र का राज्याभिषेक करके सभी कुटुम्बियों को यथायोग्य उपदेश दिया।

भगवान का दीक्षा ग्रहण—अनन्तर इन्द्र ने भगवान का दीक्षाभिषेक करके 'सर्वार्थसिद्धि' नाम की पालकी में विराजमान करके हस्तिनापुर नगर के सहस्राम्र वन में प्रवेश किया। उसी समय ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर भगवान ने पंचमुष्टि लोंच करके 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहते हुए जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके ध्यान में स्थिर होते ही मनःपर्ययज्ञान प्राप्त कर लिया।

भगवान का आहार—मन्दिरपुर के राजा सुमित्र ने भगवान शान्तिनाथ को खीर का आहार देकर पंचाश्चर्य वैभव को प्राप्त किया। इस प्रकार अनुक्रम से तपश्चरण करते हुए भगवान के सोलह वर्ष व्यतीत हो गये।

भगवान को केवलज्ञान की प्राप्ति—भगवान शान्तिनाथ सहस्राम्र वन में नंद्यावर्त वृक्ष के नीचे पर्यंकासन से स्थित हो गये और पौष कृष्णा दशमी के दिन अन्तर्मुहूर्त में दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का

नाश कर बारहवें गुणस्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का सर्वथा अभाव करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवलज्ञान से विभूषित हो गये और उन्हें एक समय में ही सम्पूर्ण लोकालोक स्पष्ट दिखने लगा। पहले भगवान ने चक्ररत्न से छह खण्ड पृथ्वी को जीतकर साम्राज्य पद प्राप्त किया था, अब भगवान ने विश्व में एकछत्र राज्य करने वाले मोहराज को ध्यानचक्र से जीतकर केवलज्ञानरूपी साम्राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने दिव्य समवसरण की रचना कर दी।

समवसरण का संक्षिप्त वर्णन—यह समवसरण पृथ्वीतल से पाँच हजार धनुष ऊँचा था, इस पृथ्वीतल से एक हाथ ऊँचाई से ही इसकी सीढ़ियाँ प्रारंभ हो गयी थीं। ये सीढ़ियाँ एक–एक हाथ की थीं और बीस हजार प्रमाण थीं। यह समवसरण गोलाकार रहता है। इसमें सबसे पहले धूलिसाल के बाद चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ हैं। मानस्तंभों के चारों ओर सरोवर है। पहली चैत्यप्रासाद भूमि है पुनः निर्मल जल से भरी परिखा है। फिर पुष्पवाटिका (लतावन) है। उसके आगे पहला कोट है, उसमें दोनों ओर दो–दो नाट्यशालाएँ हैं। उसके आगे अशोक, आम्र, चंपक और सप्तपर्ण का वन है। उसके आगे वेदिका है। तदनन्तर ध्वजाओं की पंक्तियाँ हैं। फिर दूसरा कोट है। उसके आगे वेदिका सहित कल्पवृक्षों का वन है। उसके बाद स्तूप, स्तूपों के बाद मकानों की पंक्तियाँ हैं। फिर स्फटिक मणिमय तीसरा कोट है। उसके आगे मनुष्य, देव और मुनियों की बारह सभायें हैं। तदनन्तर पीठिका है और पीठिका के अग्रभाग पर कमलासन पर चार अंगुल अधर ही अर्हन्त देव विराजमान रहते हैं। भगवान पूर्व या उत्तर की ओर मुँह कर स्थित रहते हैं फिर भी अतिशय विशेष से चारों दिशाओं में ही भगवान का मुँह दिखता रहता है। समवसरण में बारह सभाओं में चारों ओर प्रदक्षिणा के क्रम से पहले कोठे में गणधर और मुनिगण, दूसरे में कल्पवासिनी देवियाँ, तीसरे में आर्यिकाएँ और श्राविकाएँ, चौथे में ज्योतिषी देवांगनाएँ, पाँचवें में व्यन्तर देवांगनाएँ, छठे में भवनवासी देवांगनाएँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तर देव, नवमें में ज्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में चक्रवर्ती आदि मनुष्य और बारहवें में पशु बैठते हैं।

समवसरण में भव्य जीवों का प्रमाण—भगवान के समवसरण में चक्रायुध को आदि लेकर छत्तीस गणधर थे। बासठ हजार मुनिगण और साठ हजार तीन सौ आर्यिकाएँ, दो लाख श्रावक और चार लाख श्राविकाएँ, असंख्यातों देव–देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। इस प्रकार बारहगणों के साथ–साथ भगवान ने बहुत काल तक धर्म का उपदेश दिया।

भगवान का मोक्षगमन—जब भगवान की आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिखर पर आये और विहार बंद कर अचल योग से विराजमान हो गये। ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन भगवान चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा चारों अघातिया कर्मों का नाश कर एक समय में लोक के अग्रभाग पर जाकर विराजमान हो गये। वे नित्य, निरंजन, कृतकृत्य सिद्ध हो गये। उसी समय इन्द्रादि चार प्रकार के देवों ने आकर निर्वाण–कल्याणक की पूजा की और अन्तिम संस्कार करके भस्म से अपने ललाट आदि उत्तमांगों को पवित्र कर स्व–स्वस्थान को चले गये।

ये शान्तिनाथ भगवान तीर्थंकर होने से बारहवें भव पूर्व राजा श्रीषेण थे और मुनि को आहार दान देने के प्रभाव से भोगभूमि में गये थे। फिर देव हुए, फिर विद्याधर हुए, फिर देव हुए, फिर बलभद्र हुए, फिर देव हुए, फिर वज्रायुध चक्रवर्ती हुए। उस भव में इन्होंने दीक्षा ली थी और एक वर्ष का योग धारण कर खड़े हो गये थे, तब इनके शरीर पर लताएँ चढ़ गई थीं, सर्पों ने वामी बना ली थीं, पक्षियों ने घोंसले बना लिये थे और ये

वज्रायुध मुनिराज ध्यान में लीन रहे थे। अनन्तर अहमिन्द्र हुए, फिर मेघरथ राजा हुए, उस भव में इन्होंने दीक्षा लेकर घोर तपश्चरण करते हुए सोलहकारण भावनाओं का चिन्तवन किया था और उसके प्रभाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया था। फिर वहाँ से सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए, फिर वहाँ से आकर जगत को शांति प्रदान करने वाले सोलहवें तीर्थंकर, पंचम चक्रवर्ती और बारहवें कामदेव ऐसे शान्तिनाथ भगवान हुए हैं।

उत्तरपुराण में श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि हे विद्वान लोगों! यदि तुम शान्ति चाहते हो तो सबसे उत्तम और सबका भला करने वाले श्री शान्तिनाथ जिनेन्द्र का निरन्तर ध्यान करते रहो। यही कारण है कि आज भी भव्यजीव शांति प्राप्ति के लिए श्री शान्तिनाथ की आराधना करते हैं।

पुष्पदन्त तीर्थंकर से लेकर सात तीर्थंकरों तक उनके तीर्थकाल में धर्म की व्युच्छित्ति हुई अतः धर्मनाथ तीर्थंकर के बाद इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में धर्म का विच्छेद हो गया अर्थात् हुण्डावसर्पिणी के दोष से पाव पल्य प्रमाण काल तक दीक्षा लेने वालों का अभाव हो जाने से धर्मरूपी सूर्य अस्त हो गया था, उस समय शान्तिनाथ ने जन्म लिया था। तब से आज तक धर्मपरम्परा अविच्छिन्नरूप से चली आ रही है। इसलिए उत्तरपुराण में श्री गुणभद्र स्वामी कहते हैं कि —

भोगभूमि आदि कारणों से नष्ट हुआ मोक्षमार्ग यद्यपि ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों के द्वारा पुनः-पुनः दिखलाया गया था तो भी वह प्रसिद्ध अवधि के अन्त तक नहीं जा सका, तदनन्तर जो शांतिनाथ भगवान ने मोक्षमार्ग प्रकट किया, वही आज तक अखण्डरूप से बाधारहित चला आ रहा है और अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर के शासन में पंचमकाल के अंत तक वीरांगज नाम के मुनिराज तक चलता रहेगा।

जिनके शरीर की ऊँचाई एक सौ साठ हाथ है, जो पंचम चक्रवर्ती हैं और बारहवें कामदेव पद के धारी हैं, जिनके हरिण का चिह्न है, जो भादों वदी सप्तमी को माता के गर्भ में आये, ज्येष्ठ वदी चौदस को जन्म लिया और ज्येष्ठ वदी चौदस को ही दीक्षा ग्रहण किया, पौष शुक्ला दशमी के दिन केवलज्ञानी हुए पुनः ज्येष्ठ वदी चौदस को ही मुक्तिधाम को प्राप्त हुए, ऐसे शांतिनाथ भगवान सदैव हम सबको शांति प्रदान करें।

देशना दिवस — भगवान शांतिनाथ ने पौष शुक्ला १० को हस्तिनापुर में ही दिव्य केवलज्ञान प्राप्त कर दिव्यध्वनि के द्वारा असंख्य भव्यों को धर्मामृत का उपदेश दिया है। उनका यह देशना दिवस मनाकर विश्व में "अहिंसाधर्म" का प्रचार करें।

विश्वशांति में अहिंसा का योगदान — ऐसे शांतिनाथ भगवान की आराधना, उपासना और भक्ति से तथा इनके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के — अहिंसाधर्म के परिपालन से — प्रचार-प्रसार से ही विश्व में शांति की स्थापना होगी। आज के आतंकवाद आदि की दुर्घटनाओं में इन भगवन्तों के उपदेश की अतीव आवश्यकता है अतः हम और आप सभी मिलकर "अहिंसा परमो धर्मः" सिद्धान्त को अपनायें, यही प्रेरणा एवं मंगलकामना है।

४. अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर

पंचकल्याणक वैभव—जब अच्युतेन्द्र की आयु छह मास बाकी रह गई तब इस भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश में कुंडलपुर[१] नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आँगन में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ प्रमाण रत्नों की धारा बरसने लगी। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में रानी प्रियकारिणी ने सोलह स्वप्न देखे और पुष्पोत्तर विमान से अच्युतेन्द्र का जीव च्युत होकर रानी के गर्भ में आ गया। प्रातःकाल राजा के मुख से स्वप्नों का फल सुनकर रानी अत्यन्त संतुष्ट हुई। तदनंतर देवों ने आकर गर्भ कल्याणक उत्सव मनाकर माता-पिता का अभिषेक करके उत्सव मनाया।

नव मास पूर्ण होने के बाद चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन रानी त्रिशला ने पुत्र को जन्म दिया। भगवान महावीर का जन्म तेरस की रात्रि में हुआ है ऐसा जयधवला में वर्णित है—

''आषाढजोण्हपक्खछट्ठीए कुंडलपुरणगराहिव-णाहवंस-सिद्धत्थणरिंदस्स तिसिलादेवीए गब्भमागंतूण तत्थ अट्ठदिवसाहियणवमासे अच्छिय चइत्तसुक्कपक्ख-तेरसीए रत्तीए उत्तरफग्गुणीणक्खत्ते गब्भादो णिक्खंतो वड्ढमाणजिणिंदो[२]।।''

आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन कुंडलपुर नगर के स्वामी नाथवंशी सिद्धार्थ नरेन्द्र की रानी त्रिशला देवी के गर्भ में आकर और वहां नव मास आठ दिन रहकर चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन रात्रि में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के रहते हुये वर्द्धमान जिनेन्द्र ने जन्म लिया। उस समय देवों के स्थानों में अपने आप वाद्य बजने लगे, तीनों लोकों में सर्वत्र एक हर्ष की लहर दौड़ गई। सौधर्म इन्द्र ने बड़े वैभव के साथ सुमेरुपर्वत की पांडुकशिला पर क्षीरसागर के जल से भगवान का जन्माभिषेक किया। इन्द्र ने उस समय उनके ''वीर'' और ''वर्धमान'' ऐसे दो नाम रखे।

श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर के बाद दो सौ पच्चास वर्ष बीत जाने पर श्री महावीर स्वामी उत्पन्न हुए थे। उनकी आयु भी इसी में शामिल है। कुछ कम बहत्तर वर्ष की आयु थी, सात हाथ ऊँचे, स्वर्ण वर्ण के थे। एक बार संजय और विजय नाम के चारणऋद्धिधारी मुनियों को किसी पदार्थ में संदेह उत्पन्न होने से भगवान के जन्म के बाद ही वे उनके समीप आकर उनके दर्शन मात्र से ही संदेह से रहित हो गये तब उन मुनि ने उन बालक का ''सन्मति'' नाम रखा। किसी समय संगम नामक देव ने सर्प बनकर परीक्षा ली और भगवान को सफल देखकर उनका ''महावीर'' यह नाम रखा।

तीस वर्ष के बाद भगवान को पूर्वभव का स्मरण होने से वैराग्य हो गया तब लौकान्तिक देवों द्वारा स्तुति को प्राप्त भगवान ने ज्ञातृवन में सालवृक्ष के नीचे जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली और तत्काल मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त कर लिया। पारणा के दिन कूलग्राम की नगरी के कूल नामक राजा के यहाँ खीर का आहार ग्रहण किया। किसी समय उज्जयिनी के अतिमुक्तक वन में ध्यानारूढ़ भगवान पर महादेव नामक रुद्र ने भयंकर उपसर्ग करके विजयी भगवान का ''महतिमहावीर'' नाम रखकर स्तुति की। किसी दिन कौशाम्बी नगरी में सांकलों में बंधी चंदनबाला ने भगवान को पड़गाहन किया तब उसकी बेड़ी आदि टूट गई। मिट्टी का सकोरा स्वर्णपात्र बन गया एवं कोदों का भात शालीचावल की खीर बन गया तभी सती चंदना ने नवधाभक्ति पूर्वक महामुनि महावीर को आहार देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किया।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ४। २. कसायपाहुड़, पुस्तक १, पृ. ७७।

छद्मस्थ अवस्था के बारह वर्ष बाद जृंभिक ग्राम की ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नामक वन में सालवृक्ष के नीचे वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उस समय इन्द्र ने केवलज्ञान की पूजा की। भगवान की दिव्यध्वनि के न खिरने पर इन्द्र गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण को युक्ति से लाये तब उनका मान गलित होते ही वे भगवान से दीक्षित होकर मनःपर्यय ज्ञान और सप्तऋद्धि से विभूषित होकर प्रथम गणधर हो गये तब भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। श्रावण कृष्णा एकम् के दिन दिव्यध्वनि को सुनकर गौतम गणधर ने सायंकाल में द्वादशांग श्रुत की रचना की। इसके बाद वायुभूति आदि ग्यारह गणधर हुए हैं। भगवान के समवसरण में मुनीश्वरों की संख्या चौदह हजार थी, चंदना आदि छत्तीस हजार आर्यिकाएं थीं, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकायें, असंख्यात देव देवियाँ और संख्यातों तिर्यंच थे। बारह गणों से वेष्टित भगवान ने विपुलाचल पर्वत पर और अन्यत्र भी आर्य खंड में विहार कर सप्ततत्व आदि का उपदेश दिया।

अंत में पावापुर नगर के मनोहर नामक वन में अनेक सरोवरों के बीच शिलापट्ट पर विराजमान होकर कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि को अंतिम प्रहर में स्वाति नक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष पद को प्राप्त कर लिया। तब देवों ने मोक्ष कल्याणक की पूजा कर दीप मालिका जलायी थी। तब से लेकर आज तक कार्तिक कृष्णा अमावस्या को दीपावली पर्व मनाया जाता है।

भगवान के जीवन वृत्त से हमें यह समझना है कि मिथ्यात्व के फलस्वरूप जीव त्रस स्थावर योनियों में परिभ्रमण करता है। सम्यक्त्व और व्रतों के प्रसाद से चतुर्गति के दुखों से छूटकर शाश्वत सुख को प्राप्त कर लेता है अतः मिथ्यात्व का त्याग कर सम्यग्दृष्टि बन करके व्रतों से अपनी आत्मा को निर्मल बनाना चाहिए।

भगवान महावीर निर्वाणभूमि पावापुरी जलमंदिर

पावापुरी में सरोवर के मध्य स्थित जलमंदिर ही भगवान महावीर की निर्वाणभूमि है।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने निर्वाणभक्ति में कहा है—

पद्मवनदीर्घिकाकुल-विविधद्रुमखण्डमण्डिते रम्ये।
पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः।।१६।।
कार्तिककृष्णस्यान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः।
अवशेषं संप्राप्द्-व्यजराममरमक्षयं सौख्यम् ।।१७।।
परिनिर्वृतं जिनेन्द्रं, ज्ञात्वा विबुधा ह्याथाशु चागम्य।
देवतरुरक्तचंदन - कालागुरुसुरभिगोशीर्षैः।।१८।।
अग्नीन्द्राज्जिनदेहं मुकुटानलसुरभिधूपवरमाल्यैः।
अभ्यर्च्य गणधरानपि, गता दिवं खं च वनभवने।।१९।।

पुनश्च—

पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे, पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये।
श्री वर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो, निर्वाणमाप भगवान् प्रविधूतपाप्मा।।२४।।

श्रीगुणभद्र आचार्य ने उत्तरपुराण में कहा है—

क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनान्तरे। बहूनां सरसां मध्ये महामणिशिलातले।।५०९।।

स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्धनिर्जरः। कृष्णकार्तिकपक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये।।५१०।।
स्वातियोगो तृतीयेद्धः शुक्लध्यानपरायणः। कृतत्रियोगसंरोधः समुच्छिन्नक्रियं श्रितः।।५११।।
हताघातिचतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः। गन्ता मुनिसहस्त्रेण निर्वाणं सर्ववाञ्छितम्।।५१२।।
तदेव पुरुषार्थस्य पर्यन्तोऽनन्तसौख्यकृत्। अथ सर्वेऽपि देवेन्द्रा यद्दन्द्रमुकुटस्फुरत्।।५१३।।
हुताशनशिखान्यस्त-तद्देहा मोहविद्विषम्। अभ्यर्च्य गन्धमाल्यादि-द्रव्यैर्दिव्यैर्यथाविधि।।५१४।।
वन्दिष्यन्ते भवातीतमर्थ्यैर्वन्दारवः स्तवैः। वीरनिर्वृतिसम्प्राप्तदिन एवास्तघातिकः।।५१५।।
भविष्याम्यहमप्युद्यत्केवलज्ञानलोचनः। भव्यानां धर्मदेशेनविहृत्य विषयांस्ततः[1]।।५१६।।

यहाँ अभिप्राय यह है कि पावापुरी के मनोहर नाम के उद्यान में कमलों से व्याप्त सरोवर के मध्य महामणिमयी शिला पर भगवान विराजमान हुए उस समय समवसरण विघटित हो चुका था। श्रीविहार बंद कर दो दिन तक ध्यान में लीन हुए महावीर स्वामी ने कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अंत में अघातिया कर्मों को नष्ट कर निर्वाणपद प्राप्त कर लिया। तभी सौधर्मेन्द्र आदि इन्द्रों ने अग्निकुमार इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग से निर्गत अग्नि पर प्रभु का शरीर स्थापित कर दिव्य चन्दन आदि के द्वारा पूजा करके संस्कार कर दिया। उसी दिन गौतमस्वामी को वहीं पर केवलज्ञान प्रगट हुआ है।

हरिवंशपुराण में भी यही लिखा है एवं दीपावली पर्व तभी प्रारंभ हुआ, ऐसा कहा है—

जिनेंद्रवीरोऽपि विबोध्य संततं, समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं, मनोहरोद्यानवने तदीयके।।१५।।
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकै-र्विहीनताविश्चतुरब्दशेषके।
स कार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसु-प्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः।।१६।।
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको, विधूय घातीन्धनवद् विबंधनः।
विबन्धनस्थानमवाप शंकरो, निरन्तरायोरूसुखानुबन्धनम् ।।१७।।
स पञ्चकल्याणमहामहेश्वरः, प्रसिद्धनिर्वाणमहे चतुर्विधैः।
शरीरपूजाविधिना विधानतः, सुरैः समभ्यर्च्यत सिद्धशासनः।।१८।।
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैर्दीपितया प्रदीप्तया।
तदा स्म पावानगरी समन्ततः, प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते।।१९।।
तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभुजः, प्रकृत्य कल्याणमहं सहप्रजाः।
प्रजग्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथायथं, प्रभुचमाना जिनबोधिमर्थिनः।।२०।।
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्, प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं, जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक्[2]।।२१।।

सार यही है कि भगवान महावीर पावापुरी के मनोहर उद्यान में विराजमान हुए। जब चतुर्थकाल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रहे तब स्वाति नक्षत्र में कार्तिक अमावस्या के दिन प्रातः-उषाकाल के समय स्वभाव से योग निरोधकर शुक्लध्यान के द्वारा सर्वकर्म नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त हो गये। उस समय चार निकाय के देवों ने विधिपूर्वक भगवान के शरीर की पूजा की। अनन्तर सुर-असुरों द्वारा जलाई हुई बहुत भारी देदीप्यमान दीपकों की पंक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। श्रेणिक आदि राजाओं ने

१. उत्तरपुराण, पर्व ७६। २. उत्तरपुराण, पर्व ६६।

भी प्रजा के साथ मिलकर भगवान के निर्वाणकल्याणक की पूजा की पुनः रत्नत्रय की याचना करते हुए सभी इन्द्र, मनुष्य आदि अपने-अपने स्थान चले गये।

उस समय से लेकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भरतक्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे अर्थात् भगवान् के निर्वाणकल्याणक की स्मृति में दीपावली पर्व मनाने लगे।

इन्द्र ने प्रभु के चरण उत्कीर्ण किए—

एक प्रकरण हरिवंशपुराण में आया है कि—

जब भगवान नेमिनाथ गिरनार पर्वत से निर्वाण प्राप्त कर चुके तब इन्द्रों ने भगवान की निर्वाणकल्याणक पूजा के बाद गिरनार पर्वत पर वज्र से चरण उत्कीर्ण कर इस लोक में पवित्र सिद्धशिला का निर्माण किया तथा उसे जिनेन्द्र भगवान के लक्षणों के समूह से युक्त किया। यथा—

ऊर्जयन्तगिरौ वज्री वज्रेणालिख्य पावनीम्।
लोके सिद्धशिलां चक्रे जिनलक्षणपंक्तिभिः[1]।।१४।।

श्री समन्तभद्रस्वामी ने भी स्वयंभूस्तोत्र में लिखा है—

ककुदं भुवः खचरयोषिदुषितशिखरैरलंकृतः।
मेघपटलपरिवीत तटस्वतव लक्षणानि लिखिताने वज्रिणा।।१२७।।
वहतीति तीर्थमृषिभिश्च, सततमभिगम्यतेऽद्य च।
प्रीतिविततहृदयैः परितो, भूसमूर्जयन्त विश्रुतोऽचलः।।१२८।।

बीसवीं सदी के प्रथम आचार्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज कहते थे कि—इसी प्रकार से पावापुरी सरोवर के मध्य मणिमयी शिला से भगवान के मोक्ष जाने के बाद इन्द्रों ने वज्र से यहाँ पर भी चरणचिन्ह उत्कीर्ण करके इस शिला को सिद्धशिला के समान पूज्य पवित्र बनाया था।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि भगवान केवलज्ञान होने के बाद पाँच हजार धनुष-बीस हजार हाथ प्रमाण ऊपर आकाश में अधर पहुँच जाते हैं। अधर में ही कुबेर द्वारा समवसरण की रचना की जाती है। जब भगवान श्रीविहार करते हैं तब समवसरण विघटित हो जाता है और भगवान आकाश में अधर चलते हैं तब देवगण प्रभु के चरणों के नीचे स्वर्णमयी दिव्य कमलों की रचना करते रहते हैं। निर्वाणभक्ति के पूर्व भी जब भगवान योग निरोध करते हैं तब वे आकाश में अधर ही रहते हैं। फिर भी उनके ठीक नीचे की भूमि भगवान की निर्वाणभूमि मानी जाती है चूँकि सिद्ध भगवान सिद्धशिला पर भी ठीक उसी भूमि के ऊपर विराजमान हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर स्वामी जहाँ से मोक्ष गये हैं ठीक वहीं पर उनके शरीर का संस्कार किया गया है और वहीं पर सरोवर के मध्य मणिमयी शिला पर इन्द्रों ने चरण उत्कीर्ण किए थे। ऐसे ही सम्मेदशिखर पर्वत के सभी टोंकों पर इन्द्रों द्वारा चरण उत्कीर्ण किए गये हैं ऐसा मानना चाहिए।

ऐसी सिद्धभूमि पावापुरी को मेरा अनन्त-अनन्त बार नमस्कार होवे।

---

१. उत्तरपुराण, पर्व ६५।

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञानके अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य से दो भेद भी माने हैं। जिसमें अंग प्रविष्ट के द्वादशांग रूप बारह भेद और अंग बाह्य के अनेकों भेद होते हैं। द्वादशांग में प्रत्येक के दो पदों का प्रमाण बतलाया गया है जो कि श्रुतस्कंध यंत्र में स्पष्ट है और जिन अक्षरों के पद न बन सकें वे ही अंग बाह्य कहलाते हैं। उनके सामायिक, स्तव, वंदना आदि भेद वर्णित हैं।

गणधर[१] देव के शिष्य प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु बुद्धि वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रंथ अंग बाह्य हैं। इसमें कालिक उत्कालिक आदि अनेकों भेद हैं। स्वाध्याय काल में जिनके पठन-पाठन का नियम है उन्हें कालिक एवं जिनके पठन-पाठन का नियत समय न हो उन्हें उत्कालिक कहते हैं।

भगवान की वाणी के चार अनुयोगरूप से भी विभाजित किया गया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

प्रथमानुयोग—चार पुरुषार्थों का आख्यान जिसमें है ऐसे ग्रन्थ-चरित ग्रन्थ, पुराण ग्रन्थ, पुण्योत्पादक शास्त्र, बोधि-रत्नत्रय की प्राप्ति और समाधि के लिए खानस्वरूप शास्त्र प्रथमानुयोग कहलाते हैं। इस अनुयोग में मुख्य रूप से त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित का वर्णन किया जाता है।

करणानुयोग—जो शास्त्र लोकालोक के विभाग को, युग के परिवर्तन और चतुर्गतियों को दिखलाने के लिए दर्पण के समान है वह करणानुयोग है।

चरणानुयोग—श्रावक और मुनियों के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा का जिसमें वर्णन है वह चरणानुयोग है।

द्रव्यानुयोग—जिसमें जीव-अजीव, पुण्य-पाप और बंध मोक्ष का विस्तृत वर्णन है वे द्रव्यानुयोग शास्त्र हैं।[२]

वर्तमान काल के—

त्रेसठ शलाका पुरुषों के नाम

इस चतुर्थ काल में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण ऐसे त्रेसठ महापुरुष होते हैं। इनमें से भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर और महाराज भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए हैं।

२४ तीर्थंकर—ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चंद्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनंत, धर्म, शांति, कुन्थु, अरनाथ, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व, और वर्धमान।

१२ चक्रवर्ती—भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त।

९ बलभद्र—विजय, अचल, सुधर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नंदी, नंदिमित्र, रामचन्द्र और पद्म।

९ नारायण—त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण, और श्रीकृष्ण।

९ प्रतिनारायण—अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधुकैटभ, निशुंभ, बलि, प्रहरण, रावण और जरासन्ध।

---

१. 'आरातीयाचार्य कृतांगार्थप्रत्यासन्नरूपमंगबाह्यम्'।।१३।। (तत्त्वार्थवार्तिक)। २. रत्नकरण्डश्रावकाचार।

ये शलाका पुरुष चतुर्थकाल में ही होते हैं। ऐसे ही ये महापुरुष पूर्वकाल में भी अनंतों हो चुके हैं और भविष्य में भी होते ही रहेंगे।

धर्म तीर्थ व्युच्छित्ति — पुष्पदंत से लेकर धर्मनाथपर्यंत सात तीर्थों में जिनधर्म की व्युच्छित्ति हुई है, शेष सोलह तीर्थंकरों के तीर्थों में धर्म की परंपरा निरंतर रही है, अर्थात् पुष्पदंत भगवान के तीर्थ में पावपल्य, शीतलनाथ के तीर्थ में अर्द्धपल्य, श्रेयांसनाथ के तीर्थ में पौन पल्य, वासुपूज्य के तीर्थ में एक पल्य, विमलनाथ के तीर्थ में पौन पल्य, अनंतनाथ के तीर्थ में अर्द्धपल्य और धर्मनाथ के तीर्थ में पाव पल्य प्रमाण धर्मतीर्थ का उच्छेद रहा है। उस समय दीक्षा लेने वालों का अभाव होने से धर्मरूपी सूर्य अस्त हो गया था, हुंडावसर्पिणी के दोष से ये सात व्युच्छेद होते हैं।

कुदान की प्रथा — श्री शीतलनाथ के तीर्थ के अंतिम भाग में कालदोष से वक्ता, श्रोता और आचरण करने वालों का अभाव हो जाने से समीचीन धर्म का नाश हो गया। मदिल देश में मलय देश का राजा मेघरथ कुछ दान देना चाहता था उसने कुमार्गगामी परंपरा से आगत आहार, औषध, अभय और शास्त्र दान को छोड़कर मुंहशालायन ब्राह्मण के द्वारा कहे हुए कन्यादान, हस्तिदान, सुवर्णदान, अश्वदान, गोदान, दासीदान, तिलदान, रथदान, भूमिदान और गृहदान यह दश प्रकार का दान स्वेच्छा से चलाया।

हिंसा यज्ञ की उत्पत्ति — मुनिसुव्रतनाथ के मोक्ष जाने के बाद एक समय 'क्षीरकदंब' उपाध्याय के पास राजपुत्र वसु, गुरुपुत्र पर्वत और धर्मनिष्ठ श्रावक नारद इन तीनों ने विद्याध्ययन किया था। गुरु के दीक्षित होने के बाद किसी समय पर्वत ने सभा में कहा कि ?अजैर्यष्टव्यं' बकरों से होम करना चाहिए ऐसा अर्थ है तब नारद ने कहा ?अज' का अर्थ न उगने योग्य पुराने धान्य हैं उनसे यज्ञ करना चाहिए ऐसा गुरुदेव ने अर्थ किया था किंतु पर्वत ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। अंत में राजा वसु के राजदरबार में निर्णय गया। वसु ने यथार्थ जानते हुये भी गुरुपत्नी — पर्वत की माता से वचनबद्ध होने से पर्वत के हिंसामय वचनों को सत्य कह दिया, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी में सिंहासन के धँसने से मरकर नरक गया। इधर पर्वत ने महाकाल नामक असुर की सहायता से यज्ञ में खूब हिंसा करायी और उसके फल से ये सब दुर्गति के पात्र हो गये किंतु नारद हिंसा का निषेध करने से स्वर्ग गया।

भगवान मुनिसुव्रत के तीर्थ में ही मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र हुए हैं। नेमिनाथ भगवान के समय उनके चचेरे बंधु श्रीकृष्ण नारायण हुए हैं।

तीर्थंकरों का अंतराल — भगवान ऋषभदेव के मोक्ष चले जाने के बाद पचास लाख करोड़ सागर बीत जाने पर अजितनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ था। इनकी आयु भी इसी अंतराल में शामिल थी।

आगे सर्वत्र अंतराल की संख्या में उन-उन तीर्थंकरों की आयु को सम्मिलित ही समझना।

श्री अजितनाथ तीर्थंकर के मोक्ष जाने के बाद तीस लाख करोड़ सागर बीत जाने पर संभवनाथ उत्पन्न हुए थे।

श्री संभवनाथ के बाद दश लाख करोड़ वर्ष का अंतराल बीत जाने पर अभिनंदननाथ अवतीर्ण हुए थे।

इनके बाद नौ लाख करोड़ सागर बीत जाने पर सुमतिनाथ उत्पन्न हुए थे।

इनके बाद नब्बे हजार करोड़ सागर बीत जाने पर पद्मप्रभ तीर्थंकर उत्पन्न हुए थे।

इनके अनंतर नौ हजार करोड़ सागर बीत जाने पर सुपार्श्वनाथ उत्पन्न हुए थे।

अनंतर नौ सौ करोड़ सागर का अंतर बीत जाने पर चंद्रप्रभ जिनेन्द्र ने जन्म लिया था।

इसके पश्चात नब्बे करोड़ सागर का अंतर निकल जाने पर पुष्पदंत तीर्थंकर हुए हैं।

इनके बाद नौ करोड़ सागर का अंतर बीत जाने पर शीतलनाथ ने जन्म लिया है।

इन शीतलनाथ के अनंतर जब सौ सागर तथा छ्यासठ लाख छब्बीस हजार वर्ष कम एक सागर प्रमाण अंतराल निकल गया तब श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ है।

श्रेयांसनाथ के बाद जब चौवन सागर प्रमाण अंतर बीत चुका था और अंतिम पल्य के तृतीय भाग में जब धर्म की संतति का व्युच्छेद हो गया था तब वासुपूज्य का जन्म हुआ था।

इनके बाद जब तीस सागर वर्ष बीत गये और पल्य के अंतिम भाग में धर्म का विच्छेद हो गया था तब विमलनाथ का जन्म हुआ था।

विमलनाथ के मोक्ष चले जाने के बाद नौ सागर और पौन पल्य बीत जाने पर तथा अंतिम समय में धर्म का विच्छेद हो जाने पर श्री अनंतनाथ का जन्म हुआ था।

इनके बाद चार सागर प्रमाण काल बीत चुका और अंतिम पल्य का आधा भाग जब धर्म रहित हो गया तब धर्मनाथ का जन्म हुआ था।

धर्मनाथ के बाद पौन पल्य कम तीन सागर के बीत जाने पर तथा पाव पल्य तक धर्म का विच्छेद हो लेने पर श्री शांतिनाथ भगवान उत्पन्न हुए थे।

इनके बाद अर्धपल्य बीत जाने पर श्री कुंथुनाथ उत्पन्न हुए हैं।

इनके अनंतर एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्य का चतुर्थ भाग बीत जाने पर श्री अरनाथ उत्पन्न हुए है।

इनके बाद एक हजार करोड़ वर्ष बीत जाने पर मल्लिनाथ उत्पन्न हुए हैं।

इनके बाद चौवन लाख वर्ष बीत जाने पर मुनिसुव्रतनाथ उत्पन्न हुए हैं।

इनके बाद साठ लाख वर्ष बीत जाने पर नमिनाथ उत्पन्न हुए हैं।

इनके बाद पाँच लाख वर्ष बीत जाने पर नेमिजिनेन्द्र उत्पन्न हुए हैं।

श्री नेमिनाथ भगवान के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर पार्श्वनाथ जिनेन्द्र का जन्म हुआ है।

श्री पार्श्वनाथ के बाद दो सौ पचास वर्ष बीत जाने पर श्री महावीर स्वामी उत्पन्न हुए थे। इनकी आयु भी इसी में शामिल[१] थी[२]।

तीर्थंकर के वर्ण—पद्मप्रभ, वासुपूज्य का रक्तवर्ण, चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत का श्वेतवर्ण, सुपार्श्व और पार्श्व का हरितवर्ण, नेमिनाथ और मुनिसुव्रत का नीलवर्ण एवं शेष सोलह तीर्थंकर का स्वर्ण वर्ण है।

बालयति—वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान ये पाँच तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी रहे हैं। शेष उन्नीस तीर्थंकर विवाहित होकर राज्य करके दीक्षित हुए हैं।

वंश—वीरप्रभु नाथवंशी, पार्श्वजिन उग्रवंशी, मुनिसुव्रत और नेमिनाथ हरिवंशी, धर्मनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ कुरुवंशी और शेष सत्तरह तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंश में हुए हैं।

रत्नवृष्टि—समस्त तीर्थंकरों की आदि पारणाओं और वर्धमान स्वामी की सभी पारणाओं में नियम से रत्नवृष्टि हुआ करती थी। वह रत्नवृष्टि उत्कृष्टता से साढ़े बारह करोड़ और जघन्य रूप से साढ़े बारह लाख होती थी। इनमें से कितने ही दाता तो तपश्चरण कर उसी जन्म से मोक्ष चले गये और कितने ही जिनेन्द्र

१. ऐसे ही सभी अंतरालों में तीर्थंकरों की आयु शामिल समझना। २. यह अंतरालों का वर्णन उत्तरपुराण के आधार से है।

भगवान के मोक्ष जाने के बाद तीसरे भव में मोक्ष गये हैं।[१]

केवलज्ञान उत्पत्ति के समय उपवास — ऋषभदेव, मल्लिनाथ, और पार्श्वनाथ को तेला के बाद, वासुपूज्य को एक उपवास के बाद और शेष तीर्थंकरों को बेला के बाद केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है।[२]

केवलज्ञान उत्पत्ति के स्थान — ऋषभनाथ को पुरिमताल नगर के शकटमुख वन में, नेमिनाथ को गिरनार पर्वत पर, पार्श्वनाथ को अहिच्छत्र में आश्रम के समीप, भगवान महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर और शेष तीर्थंकरों को अपने-अपने नगर के उद्यानों में ही केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।[३]

प्रत्येक तीर्थंकरों ने जिस वृक्ष के नीचे दीक्षा ली है उसी वृक्ष के नीचे उन्हें केवलज्ञान हुआ है ऐसा उल्लेख है।

मुक्ति प्राप्ति के आसन — ऋषभनाथ, वासुपूज्य और नेमिनाथ पर्यंक आसन से तथा शेष तीर्थंकर कायोत्सर्ग आसन से स्थित हो मोक्ष गए हैं।[४]

योग निरोध काल — ऋषभदेव ने मुक्ति के पूर्व चौदह दिन तक योग निरोध किया। महावीर स्वामी ने दो दिन और शेष तीर्थंकरों ने एक-एक मास तक योग निरोध किया है।[५]

वीर भगवान के निर्वाण होने के पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष काल के व्यतीत होने पर 'दुषमा' नामक पंचम काल प्रवेश करता है।

अनुबद्ध केवली — जिस दिन महावीर भगवान सिद्ध हुए उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। गौतम स्वामी के मुक्ति जाने के दिन श्री सुधर्म स्वामी केवली हुए और इनके मोक्ष जाने के दिन जंबूस्वामी केवली हुए। जंबूस्वामी के सिद्ध होने पर फिर कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुए। गौतम स्वामी से लेकर जंबूस्वामी तक काल ६२ वर्ष प्रमाण है।

श्रुतकेवली — नंदी, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच द्वादशांग ज्ञान के धारी श्रुतकेवली हुए हैं। इनका काल १०० वर्ष प्रमाण है। अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से दीक्षित, मुकुटधरों में अंतिम चन्द्रगुप्त सम्राट ने जिन दीक्षा ली थी, इसके बाद मुकुटबद्ध राजा मुनि नहीं हुए।

दशपूर्वी — विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य ग्यारह अंग और दश पूर्व के धारी 'दशपूर्वी' कहलाये। इनका काल १८३ वर्ष है।

ग्यारह अंगधारी — नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंसार्य ये पाँच मुनि ग्यारह अंगधारी हुए हैं। इनका काल २२० वर्ष है।

आचारांगधारी — सुभद्राचार्य , यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य ये चार आचार्य एक आचारांग मात्र के धारी हुए हैं। इनका काल ११८ वर्ष है। गौतम स्वामी से लेकर लोहाचार्य तक ६२+१००+१८३+२२०+११८=६८३ वर्ष में अंगधारी हुए हैं। इनके बाद इस भरत क्षेत्र में भी आचार्य अंग, पूर्व के धारक नहीं हुए हैं। उनके अंशों के जानने वाले अवश्य हुए हैं।

जो श्रुततीर्थ, धर्म की प्रवृत्ति में कारण है वह श्रुतपरंपरा बीस हजार तीन सौ सत्तरह (२०३१७) वर्षों तक यहाँ चलती रहेगी। अनंतर पंचम काल के अंत में व्युच्छेद को प्राप्त हो जावेगी। इतने मात्र समय में प्रायः चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा।[६] अर्थात् उपर्युक्त ६८३+२०३१७=२१००० वर्ष तक धर्मतीर्थ परंपरा अव्युच्छिन्न रहेगी। तात्पर्य यह हुआ कि पंचम काल के अंत तक धर्म व चतुर्विध संघ विद्यमान रहेगा।

१-२-३-४. हरिवंशपुराण, पृ. ६०। ५-६. तिलोयपण्णत्ति अ. ४, गाथा १४९४-१४९५।

राज्य परंपरा — वीर प्रभु के निर्वाण के बाद 'पालक' नामक अवन्ति सुत का राज्याभिषेक हुआ। पालक का ६० वर्ष , विजयवंशियों का १५५ वर्ष, मुरुंडवंशियों का ४०, पुण्यमित्र का ३०, वसुमित्र-अग्निमित्र का ६०, गंधर्व का १००, नरवाहन का ४०, भृत्य-आंध्रों का २४२, गुप्तवंशियों का २३१ वर्ष प्रमाण राज्य काल रहा है पश्चात् इंद्र का सुत कल्की उत्पन्न हुआ, इसका नाम चतुर्मुख, आयु ७० वर्ष और राज्यकाल ४२ वर्ष रहा। श्री वीरप्रभु के सिद्ध होने के बाद छह सौ पाँच वर्ष और पाँच माह व्यतीत होने पर 'विक्रम' नामक शक राजा हुए हैं। उनके बाद तीन सौ चौरानवे वर्ष, सात माह व्यतीत होने पर प्रथम कल्की हुआ है[१]।"

आचारांगधरों के २७५ वर्ष पश्चात् कल्की राजा को पट्ट बांधा गया। ६८३+२७५+४२=१००० वर्ष। उस कल्की ने श्रमण साधु से प्रथम ग्रास को शुल्क रूप में माँगा तब मुनि "यह अंतरायों का काल है" ऐसा समझकर निराहार चले गये, उस समय उनमें से किसी एक को अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया, तब कोई असुरदेव ने अवधिज्ञान से मुनिगणों के उपसर्ग को जानकर, उसे धर्मद्रोही मानकर उस कल्की को मार डाला पुनः अजितंजय नाम के उसके पुत्र ने 'मेरी रक्षा करो' ऐसा कहकर उस देव के चरणों में नमस्कार किया और उस देव ने 'धर्म पूर्वक राज्य करो' ऐसा कहकर उसकी रक्षा की और वह जैनधर्मी बन गया।

ऐसा हजार-हजार वर्ष में एक-एक कल्की और पाँच सौ, पाँच सौ वर्षों के पश्चात् उनके बीच-बीच में एक-एक उपकल्की होते हैं। प्रत्येक कल्की के समय पंचम कालवर्ती एक-एक साधु को अवधिज्ञान प्राप्त होता है और उस समय चातुर्वर्ण्य संघ अल्प हो जाते हैं।

पंचमकाल के अंत समय जलमंथन नामा अंतिम कल्की होगा, उस समय 'वीरांगज' नाम के मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निल श्रावक और पंगुश्री श्राविका होंगी। अंतिम कल्की मुनिराज के आहार का प्रथम ग्रास शुल्क रूप में माँगेगा तब मुनि उसे देकर अंतराय करके वापस जाकर अवधिज्ञान को प्राप्त करके आर्यिका, श्रावक और श्राविका को बुलाकर कहेंगे कि अब पंचम काल का अंत आ चुका है, हमारी और तुम्हारी तीन दिन की आयु शेष है। चारों सल्लेखना से मरण करके सौधर्म स्वर्ग जायेंगे और असुर कुमार देव द्वारा मार दिये जाने पर वह कल्की नरक जायेगा। प्रातःकाल धर्म का नाश, मध्यान्ह में राजा का नाश और सूर्यास्त समय अग्नि का अभाव हो जावेगा।

छठा काल — पश्चात् तीन वर्ष, आठ माह और एक पक्ष के बीत जाने पर महाविषम दुषमा-दुषमा नाम का छठा काल प्रविष्ट होगा। उस समय मनुष्यों की ऊँचाई तीन हाथ से एक हाथ तक, आयु बीस से सोलह वर्ष तक होगी। वे कंदमूल, फल, मत्स्य माँसादि खायेंगे, नंगे वनों में विचरेंगे। अंधे, गूंगे, बधिर, कुरूप आदि होंगे। नरक और तिर्यञ्चगति से आयेंगे और इन्हीं दो गतियों में जायेंगे।

उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्ष के बीतने पर संवर्तक नामक वायु से महाप्रलय होगा। उस समय बहत्तर युगल और भी संख्यात जीवों को देव विद्याधर दया से विजयार्ध की गुफा आदि में सुरक्षित रखेंगे। यहाँ ४९ दिन तक बर्फ, क्षार, विष, अग्नि आदि की वर्षा से सब पर्वत आदि समाप्त होकर एक योजन तक पृथ्वी जल जावेगी।

अनंतर उत्सर्पिणी काल प्रवेश करेगा। तब जल, दूध, घृत और अमृत की वर्षा होकर पृथ्वी अच्छी हो जावेगी। ये युगल जीव गुफाओं से निकलेंगे। धीरे-धीरे आयु, ऊँचाई, बल आदि बढ़ते-बढ़ते इक्कीस हजार वर्ष समाप्त होकर द्वितीय काल प्रवेश करेगा। इसके हजार वर्ष शेष रहने पर अर्थात् बीस हजार वर्ष बीत जाने पर कुलकरों की उत्पत्ति होगी पुनः अंतिम कुलकर से श्रेणिक का जीव 'महापद्म' नाम का तीर्थंकर होगा तब से पुनः धर्म की परंपरा चलेगी।

इस प्रकार भरत क्षेत्र में यह काल परिवर्तन चलता रहता है।

---

१. त्रिलोकसार।

५. मनुष्य लोक

त्रसनाली के बहुमध्य भाग में चित्रा पृथ्वी के ऊपर पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार वाला अतिगोल मनुष्य लोक है। इस मनुष्य लोक की ऊंचाई एक लाख योजन है। इसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख, तीस हजार दो सौ उन्चास योजन (१,४२,३०,२४९ योजन) है और इसका क्षेत्रफल एक सौ आठ खरब, नौ अरब, ३ करोड़, एक लाख पच्चीस हजार योजन (१६००९०३०१२५०००) है।[१]

मनुष्यलोक के द्वीप समुद्र—इस ४५ लाख योजन प्रमाण मनुष्यलोक के बीचोंबीच में जम्बूद्वीप है जो कि एक लाख योजन व्यास वाला गोलाकार है। इसको चारों तरफ से वेष्टित कर दो लाख योजन विस्तृत चूड़ी सदृश आकार वाला लवणसमुद्र है। इसे वेष्टित कर चार लाख योजन विस्तृत धातकीखण्ड है। इसे घेर कर आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोद समुद्र है। इसको वेष्टित कर सोलह लाख योजन विस्तृत पुष्करवर द्वीप है। इस द्वीप के ठीक बीच में चूड़ी के सदृश आकार वाला एक मानुषोत्तर पर्वत है। इस पर्वत तक ही इस मनुष्य लोक की सीमा है इसलिए एक लाख योजन जम्बूद्वीप, दो-दो लाख दोनों तरफ का लवण समुद्र ऐसे चार लाख आदि सभी को जोड़ देने से १+२+२+४+४+८+८+८+८=४५ लाख योजन प्रमाण यह मनुष्यलोक हो जाता है।

ढाई द्वीप दो समुद्र—इस मनुष्य लोक में एक जम्बूद्वीप, द्वितीय धातकीखण्ड तथा तृतीय पुष्करवर द्वीप का आधा पुष्करार्ध द्वीप ये मिलकर ढाई द्वीप हैं। लवण समुद्र और कालोद समुद्र ये दो समुद्र हैं।

जम्बूद्वीप—एक लाख योजन विस्तृत इस जम्बूद्वीप के ठीक बीच में सुदर्शन मेरु पर्वत है। यह एक लाख चालीस योजन ऊंचा है, इसकी नींव एक हजार योजन है और चूलिका ४० योजन है। इसकी चौड़ाई पृथ्वी पर १० हजार योजन है, घटते हुए अग्रभाग पर ४ योजन मात्र है।

इस जम्बूद्वीप में दक्षिण से लेकर भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी इन छह पर्वतों से ये सात क्षेत्र विभाजित हैं। इन पर्वतों पर ठीक बीच-बीच में क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिञ्छ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक ये छह सरोवर हैं। इन सरोवरों से १४ महानदियाँ निकलती हैं जो कि दो-दो युगल से सात क्षेत्रों में बहती हैं। उनके नाम—गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला और रक्ता-रक्तोदा हैं।

भरतक्षेत्र के छः खण्ड—भरतक्षेत्र में ठीक बीच में पूर्व-पश्चिम लंबा, ५० योजन चौड़ा और २५ योजन ऊंचा, तीन कटनी वाला विजयार्ध पर्वत है। हिमवान् पर्वत से गंगा-सिन्धु नदी निकलकर नीचे गिरकर इस विजयार्ध की गुफा से बाहर निकलकर क्षेत्र में बहती हुई पूर्व-पश्चिम की तरफ लवण समुद्र में प्रवेश कर जाती है। इससे भरतक्षेत्र के छः खण्ड हो जाते हैं। इसमें से दक्षिण की तरफ के बीच का आर्यखण्ड है और शेष पांच म्लेच्छ खण्ड हैं। ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र के भी छः खण्ड हैं।

इन भरत और ऐरावत के आर्यखण्ड में ही षट्काल परिवर्तन होता है।

विदेहक्षेत्र—विदेह के ठीक बीच में सुदर्शन मेरु होने से उसके पूर्वविदेह-पश्चिम विदेह ऐसे दो भाग हो जाते हैं। सुदर्शन मेरु के दक्षिण में देवकुरु और उत्तर में उत्तरकुरु है वहां उत्तम भोगभूमि है। सुदर्शन मेरु

१. तिलोयपण्णत्ति, महाधिकार ४, गाथा ६, ७, ८

की चारों विदिशाओं में एक-एक गजदंत हैं जो कि निषध, नील पर्वत को स्पर्श कर रहे हैं। पूर्व-पश्चिम विदेह में सोलह वक्षार और बारह विभंगा नदियों के निमित्त से ३२ देश हो जाते हैं। इन बत्तीसों विदेहों में भी मध्य में विजयार्ध और गंगा-सिन्धु नदियों के निमित्त से छः-छः खण्ड हो गये हैं। वहां के आर्यखण्ड में सदा ही चतुर्थकाल के प्रारम्भ जैसी कर्मभूमि रहती है इसीलिए ये बत्तीस शाश्वत कर्मभूमि हैं। वहां पर सदा ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र होते ही रहते हैं। सदा ही केवलियों का और मुनियों का विहार चालू रहता है।

अन्य क्षेत्रों की व्यवस्था—हैमवत और हैरण्यवत में जघन्य भोगभूमि है। वहां के मनुष्य युगल ही उत्पन्न होते हैं और साथ ही मरते हैं। इनकी एक पल्य की उत्कृष्ट आयु है और शरीर की ऊँचाई एक कोश है। ये मनुष्य दश प्रकार के कल्पवृक्षों से भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त करते हैं। हरि और रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि है। वहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु दो पल्य और शरीर की ऊँचाई दो कोश है। विदेह में स्थित देवकुरू-उत्तरकुरू में उत्तम भोगभूमि है। वहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य और शरीर की ऊँचाई तीन कोश है। ये छहों भोगभूमियां सदाकाल एक सी रहने से शाश्वत भोगभूमि कहलाती हैं।

जम्बू-शाल्मली वृक्ष—उत्तरकुरु में ईशान कोण में पृथ्वीकायिक रत्नमयी जम्बूवृक्ष है और देवकुरु में आग्नेय कोण में शाल्मली वृक्ष है।

काल परिवर्तन कहां-कहां—इस प्रकार जम्बूद्वीप में शाश्वत कर्मभूमि ३२, शाश्वत भोगभूमि ६ हैं। वहां षट्काल परिवर्तन नहीं है। भरत, ऐरावत के आर्यखण्डों में षट्काल परिवर्तन होता है। अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी के भेद से काल दो प्रकार का है। सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमादुःषमा, दुःषमा-सुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा, ये अवसर्पिणी के भेद हैं। ऐसे अतिदुःषमा से लेकर सुषमासुषमा तक उत्सर्पिणी के भेद हैं। भरत-ऐरावत के आर्यखण्ड में प्रथमकाल में उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था है, द्वितीय काल में मध्यम एवं तृतीय काल में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। चतुर्थकाल में विदेह जैसी कर्मभूमि व्यवस्था हो जाती है। इस काल में तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुष होते हैं, केवलियों के सद्भाव में मोक्षगमन चालू रहता है। पुनः पंचमकाल में तीर्थंकर तथा केवलियों का अभाव होने से धर्म का ह्रास होने लगता है। छठे काल में धर्म, राजा और अग्नि का सर्वथा अभाव हो जाने से मनुष्य पशुवत् जीवन यापन करते हैं और बहुत ही दुःखी, घर, वस्त्र आदि से रहित होते हैं। यह काल परिवर्तन भरत, ऐरावत के सिवाय अन्यत्र नहीं होता है[१]।

म्लेच्छ खण्ड—जम्बूद्वीप के विदेह के ५-५ म्लेच्छखंड ऐसे (३२×५=१६०) एक सौ साठ म्लेच्छखंड हैं तथा भरत और ऐरावत के ५-५ म्लेच्छ खण्ड मिलकर १७० म्लेच्छ खण्डों में सदा चतुर्थकाल के आदि जैसी एवं भरत-ऐरावत के म्लेच्छ खण्डों में चतुर्थकाल के आदि से लेकर अंत जैसी व्यवस्था रहती है।

विद्याधर श्रेणियां—भरत-ऐरावत के विजयार्ध में दक्षिण श्रेणी में ५० और उत्तर श्रेणी में ६० ऐसी ११० नगरियां हैं जहां पर मनुष्यों का निवास है। ये मनुष्य कर्मभूमिज हैं। जाति, कुल और मन्त्रों से विद्याओं को प्राप्त कर विद्याधर कहलाते हैं। यहां पर तथा भरत-ऐरावत के ५-५ म्लेच्छखण्डों में चतुर्थकाल के आदि से अन्त तक परिवर्तन होता रहता है पुनः उत्सर्पिणी में चतुर्थकाल के अन्त से आदि तक व्यवस्था रहती है। ऐसे ही ३२ विदेहों के ३२ विजयार्धों पर दोनों श्रेणियों में ५५-५५ ऐसी ११०-११० नगरियों में विद्याधर मनुष्य रहते हैं। वहां पर सदा चतुर्थकाल के आदि जैसी ही व्यवस्था रहती है।

---

१. ताभ्यामपरा भूमियोऽवस्थिताः। तत्त्वार्थसूत्र अ.-३।

वृषभाचल—पांच म्लेच्छ खण्डों के मध्य के म्लेच्छ खण्ड में एक वृषभाचल पर्वत है। चक्रवर्ती षट्खण्ड विजय करके इस पर अपनी प्रशस्ति लिखता है। ऐसे ३४ आर्यखण्ड के सदृश ३४ वृषभाचल हैं।

नाभिगिरि—हैमवत्, हरि, रम्यक् और हैरण्यवत इन चारों क्षेत्रों में ठीक बीच में एक-एक नाभिगिरि पर्वत होने से ४ नाभिगिरि हैं।

अकृत्रिम चैत्यालय—सुदर्शन मेरु के १६+गजदंत के ४+जम्बू शाल्मलि वृक्ष के २+वक्षार के १६+विजयार्ध के ३४+और कुलाचलों के ६ ऐसे=७८ अकृत्रिम जिनमंदिर हैं।

धातकीखंड—यह द्वितीय द्वीप चार लाख योजन विस्तृत है। इसके दक्षिण-उत्तर में चार लाख योजन चौड़े दो इष्वाकार पर्वत हैं। इनके निमित्त से धातकीखण्ड के पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड ऐसे दो भाग हो गए हैं। दोनों भाग में विजय, अचल नाम के सुमेरु पर्वत, भरत, हैमवत् आदि सात क्षेत्र, हिमवान् आदि कुलाचल और गंगा आदि महानदियां हैं अतः धातकीखंड में प्रत्येक रचना जम्बूद्वीप से दूनी है। अन्तर इतना ही है कि वहां पर क्षेत्र आरे के समान आकार वाले हैं तथा दो इष्वाकार पर्वत के दो जिनमंदिर अधिक हैं। यहां पर जम्बूवृक्ष के स्थान पर धातकी वृक्ष हैं।

पुष्करार्ध द्वीप—पुष्करार्ध द्वीप में भी दक्षिण और उत्तर में आठ लाख योजन लम्बे दो इष्वाकार पर्वत हैं। बाकी शेष रचना धातकीखण्डवत् है। यहां पर मेरु के मंदर मेरु और विद्युन्माली मेरु नाम हैं तथा यहां के क्षेत्र भी आरे के समान हैं। यहां जम्बूवृक्ष के स्थान पर पुष्कर वृक्ष है। जम्बूद्वीप के क्षेत्र पर्वतों की जितनी लम्बाई चौड़ाई है उनकी अपेक्षा धातकीखण्ड के क्षेत्रादि की अधिक है तथा पुष्करार्ध के क्षेत्रादि की उनसे भी अधिक है। जैसे जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र का विष्कम्भ ५२६,६/१९ योजन है। धातकीखण्ड के भरतक्षेत्र का बाह्य विष्कम्भ १८५४७, १५५/२१२ योजन है। पुष्करार्ध के भरतक्षेत्र का बाह्य विष्कम्भ ६५४४६, १३/२१२ योजन है।

कुभोगभूमि—लवण समुद्र के अभ्यन्तर तट की दिशाओं में ५०० योजन जाकर १००-१०० योजन विस्तृत चार द्वीप हैं तथा चारों विदिशा में ५०० योजन जाकर ५५ योजन विस्तृत चार द्वीप हैं। इन दिशा-विदिशा के अंतराल में ५५० योजन जाकर ५०-५० योजन विस्तृत आठ द्वीप हैं तथा हिमवान पर्वत, भरत संबंधी विजयार्ध, शिखरी पर्वत और ऐरावत संबंधी विजयार्ध इन चारों पर्वतों के दोनों-दोनों तटों के निकट समुद्र में ६०० योजन जाकर २५-२५ योजन विस्तृत आठ द्वीप हैं। इस प्रकार ४+४+८+८=२४ कुमानुषद्वीप हैं।

लवण समुद्र के बाह्य तट पर भी ऐसे ही २४ द्वीप हैं। इसी तरह कालोद समुद्र के अभ्यंतर और बाह्य दोनों तट सम्बन्धी २४-२४ द्वीप हैं। कुल मिलाकर २४+२४+२४+२४=९६ कुमानुष द्वीप हैं। ये सभी द्वीप जल से एक योजन ऊपर हैं।

दिशागत द्वीप में जन्म लेने वाले मनुष्य क्रम से एक जंघा वाले, पूंछ वाले, सींग वाले और गूंगे होते हैं। विदिशागत द्वीपों में क्रम से शष्कुलि सदृश कर्ण वाले, कर्ण प्रावरण—जिन्हें ओढ़ लें ऐसे कान वाले, लम्बे कान वाले और खरगोश सदृश कान वाले मनुष्य हैं। आठ अन्तर दिशाओं में क्रम से सिंहमुख, अश्वमुख, भैंसामुख, सूकरमुख, व्याघ्रमुख, घुग्घूमुख और बन्दरमुख वाले मनुष्य हैं तथा पर्वतों के तट संबंधी पश्चिम दिशा में क्रम से कालमुख, गोमुख, विद्युतमुख और हाथीमुख वाले मनुष्य रहते हैं।

दिशागत द्वीपों के मनुष्य गुफाओं में निवास करते हैं और वहां की अत्यन्त मीठी मिट्टी का भोजन करते हैं। विदिशागत आदि शेष द्वीपों के मनुष्य वृक्षों के नीचे निवास करते हैं और कल्पवृक्षों से प्रदत्त फलों का भोजन करते हैं। यहां पर युगलिया स्त्री-पुरुष जन्म लेते हैं और एक पल्य की आयु को भोगकर युगल ही

मरण करते हैं। यहाँ की सारी व्यवस्था जघन्य भोगभूमि के सदृश है। इन मनुष्यों के जो कान और मुख के आकार पशु आदि के सदृश बताये हैं, उनसे अतिरिक्त शेष सभी शरीर का आकार मनुष्य सदृश ही है इसीलिए ये कुमानुष कहलाते हैं। यहां कर्मभूमि में कोई भी जीव कुत्सित पुण्य संचित करके कुमानुष योनि में जन्म ले लेते हैं[१]।

इस प्रकार ढाई द्वीप और दो समुद्र में भोगभूमि, कुभोगभूमि, आर्यखण्ड, म्लेच्छखण्ड तथा विद्याधर श्रेणी की अपेक्षा मनुष्यों के निवास स्थान पांच प्रकार के हो गए हैं। जम्बूद्वीप में जितनी रचना है संख्या में उसकी अपेक्षा दूनी रचना धातकीखण्ड में तथा वैसी ही पुष्करार्ध में है। जैसे कि जम्बूद्वीप में भोगभूमि ६ है, तो धातकीखण्ड में १२ इत्यादि। सबका स्पष्टीकरण शाश्वत भोगभूमि ६×५=३० (हैमवत, हरि, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक, हैरण्यवत) शाश्वत कर्मभूमि ३२×५=१६० (विदेह सम्बन्धी) अशाश्वत भोगभूमि १० (५ भरत ५ ऐरावत के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन के ३-३ काल में)

अशाश्वत भोगभूमि १० (५ भरत, ५ ऐरावत के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन के ३-३ काल में)
अशाश्वत कर्मभूमि १० (५ भरत ५ ऐरावत के आर्यखण्ड के छह काल परिवर्तन के ३-३ काल में)
आर्यखण्ड १७० (विदेह १६०+भरत ५+ऐरावत ५=१७०)
म्लेच्छखण्ड ८५० (यहां के मनुष्य क्षेत्र से म्लेच्छ हैं, जाति और क्रिया से नहीं)
विद्याधर श्रेणी २४० (यहां के मनुष्य आकाशगामी आदि विद्या से सहित होते हैं।)
कुभोगभूमि ९६ (लवण समुद्र की ४८+कालोद समुद्र की ४८=९६)

ढाई द्वीप के मुख्य-मुख्य पर्वत—

१. सुमेरु पर्वत	५
२. जम्बू शाल्मली आदि वृक्ष	१०
३. गजदंत	२०
४. कुलाचल (हिमवान आदि)	३०
५. वक्षार	८०
६. विजयार्ध	१७०
७. वृषभाचल	१७०
८. इष्वाकार	४
९. नाभिगिरि	२०

अकृत्रिम चैत्यालय ३९८ हैं (ढाई द्वीप संबंधी)—

१. पांच सुमेरु के	८०
२. जम्बू आदि दशवृक्ष के	१०
३. बीस गजदंत के	२०
४. तीस कुलाचल के	३०
५. अस्सी वक्षार के	८०
६. एक सौ सत्तर विजयार्ध के	१७०

१. त्रिलोकसार गाथा ९१३ से ९२१ तक।

७. चार इष्वाकार के ४

८. मानुषोत्तर पर्वत की चार दिशा के ४

कुल ८०+१०+२०+३०+८०+१७०+४+४=३९८, इन्हीं में नंदीश्वर द्वीप के ५२, कुण्डलगिरि के ४ और रुचकगिरि के ४ चैत्यालय मिला देने से मध्यलोक के सर्व जिनचैत्यालय ४५८ हो जाते हैं। इनको मेरा सिर झुकाकर नमस्कार होवे।

लवण समुद्र

लवण समुद्र जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए खाई के सदृश गोल है, इसका विस्तार दो लाख योजन प्रमाण है। एक नाव के ऊपर अधोमुखी दूसरी नाव के रखने से जैसा आकार होता है उसी प्रकार वह समुद्र चारों ओर आकाश में मण्डलाकार से स्थित है। उस समुद्र का विस्तार ऊपर दस हजार योजन और चित्रापृथ्वी के समभाग में दो लाख योजन है। समुद्र के नीचे दोनों तटों में से प्रत्येक तट से पंचानवे हजार योजन प्रवेश करने पर दोनों ओर से एक हजार योजन की गहराई में तल विस्तार दस हजार योजन मात्र है[१]।

समभूमि से आकाश में इसकी जलशिखा है, यह अमावस्या के दिन समभूमि से ११००० योजन प्रमाण ऊंची रहती है। वह शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होकर पूर्णिमा के दिन १६००० योजन प्रमाण ऊंची हो जाती है। इस प्रकार जल के विस्तार में १६००० योजन की ऊंचाई पर दोनों ओर समानरूप से १९०००० योजन की हानि हो गई है। यहां प्रतियोजन की ऊंचाई पर होने वाली वृद्धि का प्रमाण ११,७/८ योजन प्रमाण है।

गहराई की अपेक्षा रत्नवेदिका से ९५ प्रदेश आगे जाकर एक अंगुल, ९५ हाथ जाकर एक हाथ, ९५ कोस जाकर एक कोस एवं ९५ योजन जाकर एक योजन की गहराई हो गई है। इसी प्रकार से ९५ हजार योजन जाकर १००० योजन की गहराई हो गई है अर्थात् लवण समद्र के समजल भाग में समुद्र का जल १ योजन नीचे जाने पर एक तरफ से विस्तार में ९५ योजन हानिरूप हुआ है। इसी क्रम से एक प्रदेश नीचे जाकर ९५ प्रदेशों की, १ अंगुल नीचे जाकर ९५ अंगुलों की, एक हाथ नीचे जाकर ९५ हाथों की भी हानि समझ लेना चाहिए।

अमावस्या के दिन उक्त जलशिखा की ऊंचाई ११००० योजन होती है। पूर्णिमा के दिन वह उससे ५००० योजन बढ़ जाती है अतः ५००० के १५वें भाग प्रमाण क्रमशः प्रतिदिन ऊंचाई में वृद्धि होती है।

१६०००-११०००/१५=५०००/१५,५०००/१५=३३३, १/३ योजन—तीन सौ तेतीस से कुछ अधिक प्रमाण प्रतिदिन वृद्धि होती है।

समुद्र के मध्य में पाताल—लवण समुद्र के मध्य भाग में चारों ओर उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य ऐसे १००८ पाताल हैं। ज्येष्ठ पाताल ४, मध्यम ४ और जघन्य १००० हैं। उत्कृष्ट पाताल चार दिशाओं में ४ हैं, मध्यम पाताल ४ विदिशाओं में ४ एवं उत्कृष्ट मध्यम के मध्य में ८ अन्तर दिशाओं में १००० जघन्य पाताल हैं।

४ उत्कृष्ट पाताल—

उस समुद्र के मध्य भाग में पूर्वादि दिशाओं के क्रम से पाताल, कदम्बक, बड़वामुख और यूपकेसर नामक चार पाताल हैं। इन पातालों का विस्तार मूल में और मुख में १०००० योजन प्रमाण है। इनकी गहराई,

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ४४५।

ऊंचाई और मध्य विस्तार मूल विस्तार से दस गुणा—१,००००० योजन प्रमाण है। पातालों की वज्रमय भित्तिका ५०० योजन मोटी है। ये पाताल जिनेन्द्र भगवान द्वारा अरंजन—घट विशेष के समान कहे गए हैं। पाताल के उपरिम त्रिभाग में घनी वायु और मध्य त्रिभाग में क्रम से जल, वायु दोनों रहते हैं। सभी पातालों के पवन सर्वकाल शुक्ल पक्षों में स्वभाव से बढ़ते हैं एवं कृष्णपक्ष में स्वभाव से घटते हैं। शुक्ल पक्ष में पूर्णिमा तक प्रतिदिन २२२२,२/९ योजन पवन की वृद्धि हुआ करती है। पूर्णिमा के दिन पातालों के अपने-अपने तीन भागों में से नीचे के दो भागों में वायु और ऊपर के तृतीय भाग में केवल जल रहता है। अमावस्या के दिन अपने-अपने तीन भागों में से क्रमशः ऊपर के दो भागों में जल और नीचे के तीसरे भाग में केवल वायु स्थित रहता है। पातालों के अन्त में अपने-अपने मुख विस्तार को ५ से गुणा करने पर जो प्राप्त हो, उतने प्रमाण आकाश में अपने-अपने पार्श्व भागों में जलकण जाते हैं। "तत्त्वार्थराजवार्तिक" ग्रन्थ में जलवृद्धि का कारण किन्नरियों का नृत्य बतलाया है। यथा—"रत्नप्रभाखरपृथ्वी-भागसन्निवेशिभवनालयवातकुमारतद्वनिताक्रीड़ा जनितानिलसंक्षोभकृतपातालोन्मीलननिमीलनहेतुकौ वायुतोयनिष्क्रमप्रवेशौ भवतः। तत्कृता दशयोजन-सहस्रविस्तारमुखजलस्योपरि पंचाशद्योजनावधृता जलवृद्धिः। तत् उभयत आरत्नवेदिकायाः सर्वत्र द्विगव्यूतिप्रमाणा जलवृद्धिः। पातालोन्मीलन-वेगोपशमेन हानिः[१]।"

अर्थ—रत्नप्रभा पृथ्वी के खरभाग में रहने वाली वातकुमार देवियों की क्रीड़ा से क्षुब्ध वायु के कारण ५०० योजन जल की वृद्धि होती है अर्थात् वायु और जल का निष्क्रम और प्रवेश होता है और दोनों तरफ रत्नवेदिका पर्यन्त सर्वत्र दो गव्यूति प्रमाण जलवृद्धि होती है। पाताल के उन्मीलन के वेग की शान्ति से जल की हानि होती है। इन पातालों का तीसरा भाग १००००० /३=३३३३३,१/३ योजन प्रमाण है।

ज्येष्ठ पाताल सीमंत बिल के उपरिम भाग में संलग्न है अर्थात् ये पाताल भी मृदंग के आकार सदृश गोल हैं, समभूमि से नीचे की गहराई का जो प्रमाण है वह इन पातालों की ऊंचाई है। यदि प्रश्न यह होवे कि १ लाख योजन तक इनकी गइराई समतल से नीचे कैसे होगी तो उसका समाधान यह है कि रत्नप्रभा पृथ्वी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है वहां खरभाग, पंकभाग पर्यन्त ये पाताल पहुँचे हुए ऊँचे (गहरे) हैं।

४ मध्यम पाताल—विदिशाओं में भी इनके समान चार पाताल हैं, उनका मुख विस्तार और मूल विस्तार १००० योजन तथा मध्य में और ऊंचाई-गहराई में १०००० योजन है, इनकी वज्रमय भित्ति ५० योजन प्रमाण है। इन पातालों के उपरिम तृतीय भाग में जल, नीचे के तृतीय भाग में वायु, मध्य के तृतीय भाग में जल, वायु दोनों रहते हैं। पातालों की गहराई-ऊंचाई १०००० योजन है। १००००/३=३३३३,१/३ पातालों का तृतीय भाग तीन हजार तीन सौ तेतीस से कुछ अधिक है। इनमें प्रतिदिन होने वाली जलवायु की हानि-वृद्धि का प्रमाण २२२,२/९ योजन है।

१००० जघन्य पाताल—उत्तम, मध्यम, पातालों के मध्य में आठ अन्तर दिशाओं में एक हजार जघन्य पाताल हैं। इनके विस्तार आदि का प्रमाण मध्यम पातालों की अपेक्षा दसवें भाग मात्र है अर्थात् मुख और मूल में ये पाताल १०० योजन हैं। मध्य में चौड़े और गहरे १००० योजन प्रमाण हैं। इनमें भी उपरिम त्रिभाग में जल, नीचे में वायु और मध्य में जलवायु दोनों है। इनका त्रिभाग ३३३,१/३ योजन है और प्रतिदिन जलवायु की हानि-वृद्धि २२$^{२/९}$ योजन मात्र है।

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक।

नागकुमार देवों के १,४२,००० नगर—लवण समुद्र के बाह्य भाग में ७२०००, शिखर पर २८००० और अभ्यन्तर भाग में ४२००० नगर अवस्थित हैं। समुद्र के अभ्यन्तर भाग की वेला की रक्षा करने वाले वेलंधर नागकुमार देवों के नगर ४२००० हैं। जलशिखा को धारण करने वाले नागकुमार देवों के ७२००० नगर हैं[१]।

ये नगर दोनों तटों से ७०० योजन जाकर तथा शिखर से ७००,१/२ योजन जाकर आकाशतल में स्थित हैं। इनका विस्तार १०००० योजन प्रमाण है। नगरियों के तट उत्तम रत्नों से निर्मित समान गोल हैं। प्रत्येक नगरियों में ध्वजाओं, तोरणों से सहित दिव्य तटवेदियां हैं। उन नगरियों में उत्तम वैभव से सहित वेलंधर और भुजग देवों के प्रासाद स्थित हैं। जिनमंदिरों से रमणीय वापिका, उपवनों से सहित इन नगरियों का वर्णन बहुत ही सुंदर है। ये नगरियां अनादिनिधन हैं।

उत्कृष्ट पाताल के आसपास के ८ पर्वत—समुद्र के दोनों किनारों में बयालीस हजार योजन प्रमाण प्रवेश करके पातालों के पार्श्व भागों में आठ पर्वत हैं। (ऊपर) तट से ४२००० योजन आगे समुद्र में जाकर 'पाताल' के पश्चिम दिशा में कौस्तुभ और पूर्व दिशा में कौस्तुभास नाम के दो पर्वत हैं, ये दोनों पर्वत रजतमय, धवल, १००० योजन ऊंचे, अर्थ घट के समान आकार वाले, वज्रमय, मूल भाग से सहित, नाना रत्नमय अग्रभाग से सुशोभित हैं। प्रत्येक पर्वत का तिरछा विस्तार एक लाख सोलह हजार योजन है इस प्रकार से जगती से पर्वतों तक तथा पर्वतों का विस्तार मिलाकर दो लाख योजन होता है। पर्वत का विस्तार १,१६००० है। जगती से पर्वत का अंतराल ४२०००+४२०००=८४०००,११६०००+८४०००=२,००००० [२]।

ये पर्वत मध्य में रजतमय हैं। इनके ऊपर इन्हीं के नाम वाले कौस्तुभ-कौस्तुभास देव रहते हैं। इनकी आयु, अवगाहना आदि विजय देव के समान है। कदंबपाताल की उत्तर दिशा में उदक नामक पर्वत और दक्षिण दिशा में उदकाभास नामक पर्वत है, ये दोनों पर्वत नीलमणि जैसे वर्ण वाले हैं। इन पर्वतों के ऊपर क्रम से शिव और शिवदेव निवास करते हैं। इनकी आयु आदि कौस्तुभ देव के समान है।

बड़वामुख पाताल की पूर्व दिशा में शंख और पश्चिम दिशा में महाशंख नामक पर्वत हैं। ये दोनों ही शंख के समान वर्ण वाले हैं। इन पर उदक, उदकावास देव स्थित हैं, इनका वर्णन पूर्वोक्त सदृश है। यूपकेसरी के दक्षिण भाग में दक नामक पर्वत और उत्तर भाग में दकवास नामक पर्वत है। ये दोनों पर्वत वैडूर्यमणिमय हैं। इनके ऊपर क्रम से लोहित, लोहितांक देव रहते हैं।

८ सूर्य द्वीप हैं—जम्बूद्वीप की जगती से बयालीस हजार योजन जाकर 'सूर्यद्वीप' नाम से प्रसिद्ध आठ द्वीप हैं।[३] ये द्वीप पूर्व में कहे हुए कौस्तुभ आदि पर्वतों के दोनों पार्श्व भागों में स्थित होकर निकले हुए मणिमय दीपकों से युक्त शोभायमान हैं। त्रिलोकसार में १६ 'चन्द्रद्वीप' भी माने गये हैं। यथा—अभ्यन्तर तट और बाह्य तट दोनों से ४२००० योजन छोड़कर चारों विदिशाओं के दोनों पार्श्व भागों में दो-दो, ऐसे आठ "सूर्यद्वीप" हैं और दिशा-विदिशा के बीच में जो आठ अन्तर दिशायें हें उनके दोनों पार्श्व भागों में दो-दो, ऐसे १६ 'चन्द्रद्वीप' नामक द्वीप हैं। ये सब द्वीप ४२००० योजन व्यास वाले और गोल आकार वाले हैं। यहां द्वीप से 'टापू' को समझना।

समुद्र में गौतमद्वीप का वर्णन—लवण समुद्र के अभ्यन्तर तट से १२००० योजन आगे जाकर

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ४५१। २. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ४५२। ३. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ४५३।

१२००० योजन ऊंचा एवं इतने ही प्रमाण व्यास वाला गोलाकार गौतम नामक द्वीप है जो कि समुद्र में 'वायव्य' विदिशा में है। ये उपर्युक्त सभी द्वीप वन, उपवन वेदिकाओं से रम्य हैं और 'जिनमंदिर' से सहित हैं। उन द्वीपों के स्वामी वेलंधर जाति के नागकुमार देव हैं। वे अपने-अपने द्वीप के समान नाम के धारक हैं।

मागधद्वीप आदि का वर्णन—भरतक्षेत्र के पास समुद्र के दक्षिण तट से संख्यात योजन जाकर आगे मागध, वरतनु और प्रभास नाम के तीन द्वीप हैं अर्थात् गंगा नदी के तोरण द्वार से आगे कितने ही योजन प्रमाण समुद्र में जाने पर 'मागध' द्वीप है। जम्बूद्वीप के दक्षिण वैजयंत द्वार से कितने ही योजन समुद्र में जाने पर 'वरतनु' द्वीप है एवं सिन्धु नदी के तोरण से कितने ही योजन जाकर 'प्रभास' द्वीप है[१]। इन द्वीपों में इन्हीं नाम के देव रहते हैं। इन देवों को भरतक्षेत्र के चक्रवर्ती वश में करते हैं।

ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र के उत्तर भाग में, रक्तोदा नदी के पार्श्व भाग में, समुद्र के अन्दर 'मागध' द्वीप, अपराजित द्वार से आगे 'वरतनु' द्वीप एवं रक्ता नदी के आगे कुछ दूर जाकर 'प्रभास' द्वीप है जो कि ऐरावत क्षेत्र के चक्रवर्तियों के द्वारा जीते जाते हैं।

४८ कुमानुष द्वीप

लवण समुद्र में कुमानुषों के ४८ द्वीप हैं। इनमें से २४ द्वीप तो अभ्यन्तर भाग में एवं २४ द्वीप बाह्य भाग में स्थित हैं। जम्बूद्वीप की जगती से ५०० योजन आगे जाकर ४ द्वीप चारों दिशाओं में और इतने ही योजन जाकर चार द्वीप चारों विदिशाओं में हैं। जम्बूद्वीप की जगती से ५५० योजन आगे जाकर दिशा, विदिशा की अन्तर दिशाओं में ८ द्वीप हैं। हिमवान्, विजयार्ध पर्वत के दोनों किनारों में जगती से ६०० योजन जाकर ४ द्वीप एवं उत्तर में शिखरी और विजयार्ध के दोनों पार्श्व भागों में ६०० योजन अन्दर समुद्र में जाकर ४ द्वीप हैं।

दिशागत द्वीप १०० योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं, ऐसे ही विदिशागत द्वीप ५५ योजन विस्तृत, अन्तर दिशागत द्वीप ५० योजन विस्तृत एवं पर्वत के पार्श्वगत द्वीप २५ योजन विस्तृत हैं।

ये सब उत्तम द्वीप वनखण्ड, तालाबों से रमणीय, फल फूलों के भार से संयुक्त तथा मधुर रस एवं जल से परिपूर्ण हैं। यहां कुभोगभूमि की व्यवस्था है। यहां पर जन्म लेने वाले मनुष्य 'कुमानुष' कहलाते हैं और विकृत आकार वाले होते हैं। पूर्वादिक दिशाओं में स्थित चार द्वीपों के कुमानुष क्रम से एक जंघा वाले, पूंछ वाले, सींग वाले और गूंगे होते हैं। आग्नेय आदि विदिशाओं के कुमानुष क्रमशः शष्कुलीकर्ण, कर्ण प्रावरण, लम्बकर्ण और शशकर्ण होते हैं। अन्तर दिशाओं में स्थित आठ द्वीपों के वे कुमानुष क्रम से सिंह, अश्व, श्वान, महिष, वराह, शार्दूल, घूक और बन्दर के समान मुख वाले होते हैं। हिमवान् पर्वत के पूर्व-पश्चिम किनारों में क्रम से मत्स्यमुख, कालमुख तथा दक्षिण विजयार्ध के किनारों में मेषमुख, गोमुख कुमानुष होते हैं। इन सब में से एकोरुक कुमानुष गुफाओं में रहते हैं और मिष्ट मिट्टी को खाते हैं। शेष कुमानुष वृक्षों के नीचे रहकर फल फूलों से जीवन व्यतीत करते हैं।

इस प्रकार से दिशागत द्वीप ४, विदिशागत ४, अन्तर दिशागत ८, पर्वत तटगत ८, ४+४+८+८=२४ अन्तर्द्वीप हुए हैं, ऐसे ही लवण समुद्र के बाह्य भाग के भी २४ द्वीप मिलकर २४+२४=४८ अन्तर्द्वीप लवण समुद्र में हैं।[१]

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ४५४।

कुभोगभूमि में जन्म लेने के कारण—मिथ्यात्व में रत, मन्दकषायी, मिथ्या देवों की भक्ति में तत्पर, विषम पंचाग्नि तप करने वाले, सम्यक्त्व रत्न से रहित जीव मरकर कुमानुष होते हैं। जो लोग तीव्र अभिमान से गर्वित होकर सम्यक्त्व और तप से युक्त साधुओं का किंचित् अपमान करते हैं, जो दिगम्बर साधु की निन्दा करते हैं, ऋद्धि, रस आदि गौरव से युक्त होकर दोषों की आलोचना गुरु के पास नहीं करते हैं, गुरुओं के साथ स्वाध्याय, वंदना कर्म नहीं करते हैं, जो मुनि एकाकी विचरण करते हैं, क्रोध कलह से सहित हैं, अरहन्त गुरु आदि की भक्ति से रहित, चतुर्विध संघ में वात्सल्य से रहित, मौन बिना भोजन करने वाले हैं, जो पाप में संलग्न हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होकर विषम परिपाक वाले, पाप कर्मों के फल से इन द्वीपों में कुत्सितरूप से युक्त कुमानुष उत्पन्न होते हैं[१]। त्रिलोकसार में भी यह कहा गया है—

दुब्भावअसूचिसूदकपुफ्फवई-जाइसंकरादीहिं।
कयदाणा वि कुवत्ते जीवा कुणरेसु जायन्ते।।९२४।।

अर्थ—खोटे भाव से सहित, अपवित्र मृतादि के सूतक-पातक से सहित, रजस्वला स्त्री के संसर्ग से सहित, जातिसंकर आदि दोषों से दूषित मनुष्य जो दान करते हैं और जो कुपात्रों में दान देते हैं ये जीव कुमानुष में उत्पन्न होते हैं क्योंकि ये जीव मिथ्यात्व और पाप से सहित किंचित् पुण्य उपार्जन करते हैं अतः कुत्सित भोगभूमि में जन्म लेते हैं। इनकी आयु एक पल्य प्रमाण रहती है। एक कोस ऊंचे शरीर वाले हैं। युगलिया होते हैं। मरकर नियम से भवनत्रिक देवों में जन्म लेते हैं। कदाचित् सम्यक्त्व को प्राप्त करके ये कुमानुष सौधर्म युगल में जन्म लेते हैं।

लवण समुद्र के दोनों ओर तट हैं। लवण समुद्र में ही पाताल है, अन्य समुद्रों में नहीं है। लवण समुद्र के जल की गहराई और ऊँचाई में हीनाधिकता है, अन्य समुद्रों के जल में नहीं है। सभी समुद्रों के जल की गहराई सर्वत्र हजार योजन है और ऊपर में जल समतल प्रमाण है। लवण समुद्र का जल खारा है। लवण समुद्र में जलचर जीव पाये जाते हैं। लवण समुद्र के मत्स्य नदी के गिरने के स्थान पर ९ योजन अवगाहना वाले एवं मध्य में १८ योजन प्रमाण हैं। इसमें कछुआ, शिंशमार, मगर आदि जलजन्तु भरे हैं।

पद्मपुराण में रावण की लंका को लवणसमुद्र में माना है अतः इस समुद्र में और भी अनेकों द्वीप हैं जैसा कि पद्मपुराण में स्पष्ट है। यथा—

अस्त्यत्र लवणांभोधौ क्रूरग्राहसमाकुलैः।
प्रख्यातो राक्षसद्वीपः प्रभूताद्भुतासंकुलः।।१०६।।

शतानिसप्त.....। १०७ से ११६ तक पद्म पु., ४८ पर्व।

अर्थ—दुष्ट मगरमच्छों से भरे हुए इस लवण समुद्र में अनेक आश्चर्यकारी स्थानों से युक्त प्रसिद्ध "राक्षसद्वीप" हैं। जो सब ओर से सात योजन विस्तृत हैं तथा कुछ अधिक इक्कीस योजन उसकी परिधि है। उसके बीच में सुमेरु पर्वत के समान त्रिकूट नाम का पर्वत है जो नौ योजन ऊँचा और ५० योजन चौड़ा है, सुवर्ण तथा नाना प्रकार की मणियों से देदीप्यमान एवं शिलाओं के समूह से व्याप्त है। राक्षसों के इन्द्र भीम ने मेघवाहन के लिए वह दिया था। तट पर उत्पन्न हुए नाना प्रकार के चित्र-विचित्र वृक्षों से सुशोभित उस त्रिकूटाचल के शिखर पर लंका नाम की नगरी है जो मणि और रत्नों की किरणों तथा स्वर्ण के विमानों के समान मनोहर महलों से एवं क्रीड़ा आदि के योग्य सुन्दर प्रदेशों से अत्यन्त शोभायमान है। जो सब ओर से

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ४५७।

तीस योजन चौड़ी है तथा बहुत बड़े-बड़े प्राकार और परिखा से युक्त होने के कारण दूसरी पृथ्वी के समान जान पड़ती है।

लंका के समीप में और भी ऐसे स्वाभाविक प्रदेश हैं जो रत्न, मणि तथा स्वर्ण से निर्मित हैं। वे सब प्रदेश उत्तमोत्तम नगरों से युक्त हैं, राक्षसों की क्रीड़ाभूमि हैं तथा महाभोगों से युक्त विद्याधरों से सहित हैं। संध्याकार सुबेल, कांचन, ह्लादन, योधन, हंस, हरिसागर और अधस्वर्ग आदि अन्य द्वीप भी वहाँ विराजमान हैं जो समस्त ऋद्धियों तथा भोगों को देने वाले हैं। वन-उपवन आदि से विभूषित हैं तथा स्वर्ग प्रदेशों के समान जान पड़ते हैं।

इस लवण समुद्र में बहुत से द्वीप हैं जहां कल्पवृक्षों के समान आकार वाले वृक्षों से दिशायें व्याप्त हो रही हैं। इन द्वीपों में अनेकों पर्वत हैं जो रत्नों से व्याप्त ऊंचे-ऊंचे शिखरों से सुशोभित हैं। राक्षसों के इन्द्र भीम, अतिभीम तथा उनके सिवाय अन्य देवों के द्वारा आपके वंशजों के लिए ये सब द्वीप और पर्वत दिये गये हैं, ऐसा पूर्व परम्परा से सुनने में आता है। उन नगरों के नाम—संध्याकार, मनोल्हाद, सुबेल, कांचन, हरियोधन, जलधिध्वान, हंसद्वीप, भरक्षम, अर्धस्वर्गोत्कट, आवर्त, विघट, रोधन, अमल, कांत, स्फुटतट, रत्नद्वीप, तोयावली, सर, अलंघन, नभोभानु और क्षेम इत्यादि सुन्दर-सुन्दर हैं।

यहां वायव्य दिशा में समुद्र के बीच तीन सौ योजन विस्तार वाला बड़ा भारी वानरद्वीप है। उसमें महा मनोहर हजारों अवांतर द्वीप हैं। उस वानर द्वीप के मध्य में रत्न सुवर्ण की लम्बी, चौड़ी शिलाओं से सुशोभित "किष्कु" नाम का बड़ा भारी पर्वत है। जैसे यह त्रिकूटाचल है वैसे ही वह किष्कु पर्वत है इत्यादि। इस प्रकरण से यह ज्ञात होता है कि इस समुद्र में और भी अनेक द्वीप विद्यमान हैं।

लवण समुद्र की जगती ८ योजन ऊंची, मूल में १२ योजन, मध्य में ८ एवं ऊपर में ४ योजन प्रमाण विस्तार वाली है। इसके ऊपर वेदिका, वनखण्ड, देव नगर आदि का पूरा वर्णन जम्बूद्वीप की जगती के समान है। इस जगती के अभ्यन्तर भाग में शिलापट्ट और बाह्य भाग में वन हैं। इस जगती की बाह्य परिधि का प्रमाण १५,८१,१३९ योजन प्रमाण है। यदि जम्बूद्वीप प्रमाण १-१ लाख खण्ड किए जावें तो इस लवण समुद्र के जम्बूद्वीप प्रमाण २४ खण्ड हो जाते हैं।

धातकीखण्ड

मध्यलोक में सबसे बीच में थाली के समान गोल आकार वाला जम्बूद्वीप है। यह एक लाख योजन विस्तृत है। इसे चारों तरफ से घेरकर दो लाख विस्तृत लवण समुद्र है। इसको चारों तरफ से घेरकर धातकीखण्ड द्वीप है। यह चार लाख योजन विस्तार वाला है।

जगती परकोटा—इस धातकीखण्ड को चारों तरफ से वेष्ठित करके आठ योजन ऊंची जगती है। यह परकोटे के समान है। इसका विस्तार मूल में १२ योजन, मध्य में ८ योजन और ऊपर में ४ योजन है। यह जगती मध्य में बहुत प्रकार से रत्नों से निर्मित और शिखर पर वैडूर्य मणियों से परिपूर्ण है। इस जगती के मूल प्रदेश में पूर्व-पश्चिम की ओर सात-सात गुफाएं हैं जो उत्कृष्ट तोरणों से रमणीय, अनादिनिधन एवं सुन्दर हैं। इन गुफाओं से गंगा आदि १४ नदियां निकलकर कालोदधि समुद्र में प्रवेश करती हैं।

पहले लवण समुद्र को भी वेष्ठित करके एक जगती है जो कि इसी प्रमाण से सहित है। उसमें भी पूर्व-पश्चिम ७-७ गुफायें हैं। पूर्व धातकीखण्ड की नदियां जो पूर्व में बहने वाली हैं, वे कालोदधि में प्रवेश करती

हैं और जो पश्चिम में बहने वाली हैं, वे लवण समुद्र में प्रवेश करती हैं। ऐसे ही पश्चिम धातकीखण्ड की नदियां ७ लवण समुद्र में और ७ कालोद समुद्र में प्रवेश करती हैं।

इस जगती के चार योजन विस्तार वाले ऊपर के भाग पर ठीक बीच में सुवर्णमय वेदिका है। यह दो कोश ऊंची, पांच सौ धनुष प्रमाण चौड़ी है। इस वेदिका के अभ्यंतर पार्श्व में महोरग जाति के व्यंतर देवों के भवन बने हुए हैं।

इस जगती में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर की दिशा में क्रम से विजय, वैजयंत, जयंत और अपराजित नाम के चार मुख्य द्वार हैं। ये प्रत्येक द्वार आठ योजन ऊंचे और चार योजन चौड़े हैं, वज्रमयी हैं तथा अपने-अपने नाम के ही व्यंतर देवों से रक्षित हैं।

इष्वाकार पर्वत—इस द्वीप में दक्षिण और उत्तर भाग में इष्वाकार नाम के दो पर्वत हैं। ये इषु—बाण के समान लम्बे होने से सार्थक नाम वाले हैं। हजार योजन चौड़े और क्षेत्र के विस्तार बराबर अर्थात् चार लाख योजन लम्बे हैं तथा चार सौ योजन ऊंचे हैं। इनका वर्ण सुवर्णमय है और इन पर चार-चार कूट स्थित हैं। एक-एक कूट पर जिन मन्दिर और शेष तीन-तीन पर देवों के भवन बने हुए हैं। इन इष्वाकार के निमित्त से धातकीखण्ड के पूर्व धातकीखण्ड और पश्चिम धातकीखण्ड ऐसे दो भेद हो गए हैं।

पूर्व धातकीखण्ड—इस पूर्व धातकीखण्ड में हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी ये छह पर्वत हैं और भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं।

इन पर्वतों के पद्म आदि सरोवरों में कमलों पर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये छह देवियां अपने परिवार सहित रहती हैं जो कि तीर्थंकर की माता की सेवा के लिए आती हैं। इन्हीं पद्म आदि सरोवरों से गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला और रक्ता, रक्तोदा ये चौदह महानदियां निकलती हैं जो अपनी-अपनी परिवार नदियों के साथ क्षेत्रों में बहती हुई समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं। हिमवान एवं शिखरी पर्वत पर ११-११ कूट हैं, महाहिमवान एवं रुक्मी पर ८-८ कूट हैं एवं निषध, नील पर ९-९ कूट हैं। इनमें से १-१ जिनमंदिर शेष में देव देवियों के भवन हैं।

भरतक्षेत्र के छह खण्ड—यहां के भरतक्षेत्र में भी ठीक बीच में पूर्व-पश्चिम लम्बा विजयार्ध पर्वत है, यह तीन कटनी वाला है। इसमें प्रथम कटनी पर विद्याधर मनुष्य रहते हैं, द्वितीय कटनी पर आभियोग्य जाति के देवों के नगर बने हुए हैं और तृतीय कटनी पर नवकूट हैं जिसके एक कूट पर जिनमन्दिर और शेष ८ पर देवों के भवन बने हुए हैं।

हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर से गंगा-सिन्धु नदी निकलकर नीचे गिरकर विजयार्ध पर्वत की गुफाओं से बाहर आकर भरतक्षेत्र में बहती हुई, इस भरतक्षेत्र में छह खण्ड कर देती है। इसमें इष्वाकार की तरफ के तीन खण्डों के बीच का जो खण्ड है वह आर्यखण्ड है। शेष पांच म्लेच्छ खण्ड हैं।

षट्काल परिवर्तन—इस आर्यखण्ड में सुषमा-सुषमा आदि छहों कालों का परिवर्तन होता रहता है। आज वहां भी पंचमकाल चल रहा है। चूंकि तीर्थंकर नेमिनाथ के समय यहां से द्रौपदी का अपहरण कर एक देव धातकीखंड के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में एक कंकापुरी नाम की नगरी है वहां के राजा के यहां पहुंचा आया था बाद में नारद के द्वारा ज्ञात होने पर श्रीकृष्ण अपने विद्या के प्रभाव से देवता को वश में करके उसकी सहायता से पांचों पांडवों को साथ लेकर वहाँ पहुँचे थे और राजा को पराजित कर द्रौपदी को वापस ले आये थे। इस उदाहरण से बिल्कुल स्पष्ट है कि यहां भरतक्षेत्र में जो भी काल परिवर्तन, जिस गति से चल रहा है,

ऐसा ही वहाँ है। चूंकि उस समय यहाँ की शरीर की अवगाहना के समान ही वहां के शरीर की अवगाहना १० धनुष (४० हाथ) प्रमाण ही होगी, तभी तो यहां से द्रौपदी का वहां अपहरण कराना संभव था अन्यथा असंभव था।

इस जम्बूद्वीप का भरतक्षेत्र ५२६ योजन है और धातकीखण्ड का भरतक्षेत्र ६६१४, १२९/२१२ योजन है। वहां के क्षेत्र चक्र के विवर के समान होने से मध्य का विस्तार १२५८१,३६/२१२ योजन है और बाह्य विस्तार १८५४७,१५५/२१२ योजन है। यहां के भरतक्षेत्र की अपेक्षा वहां का भरतक्षेत्र बहुत गुना अधिक है।

इस धातकीखण्ड के ऐरावत क्षेत्र में भी ऐसे ही छह खण्ड हैं और वहां पर भी आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता रहता है।

भोगभूमि—यहाँ धातकीखण्ड में भी हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में जघन्य भोगभूमि है। हरि और रम्यक क्षेत्र में मध्यम भोगभूमि है और विदेह के दक्षिण-उत्तर में देवकुरु क्षेत्र में उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था है। ये छहों भोगभूमियां शाश्वत हैं।

विजयमेरु—इसी पूर्व धातकीखण्ड में विदेहक्षेत्र के ठीक बीच में विजयमेरु नाम का पर्वत है। यह चौरासी हजार योजन ऊंचा है और पृथ्वीतल पर चौरानवे सौ "९४००" योजन विस्तृत है। इस मेरु का विस्तार शिखर तल पर हजार योजन है और इसकी चूलिका चालीस योजन ऊंची नील मणिमय है। यह सुदर्शन मेरु की चूलिका के समान ही है। इस मेरु में भी भूतल पर भद्रशाल वन है। इससे ५०० योजन ऊपर जाकर नंदनवन है, इससे ५५,५०० योजन ऊपर जाकर सौमनस वन है और इसके ऊपर २८००० योजन जाकर पांडुकवन है।[१]

इस पर्वत पर भद्रशाल, नंदन, सौमनस और पांडुकवनों में चार-चार चैत्यालय होने से सोलह जिन चैत्यालय हैं। इसमें भी पांडुकवन की विदिशाओं में पांडुकशिला, पांडुकंबला, रक्ता और रक्तकंबला नाम की चार शिला हैं। इन पर भरत, पूर्व विदेह, पश्चिम विदेह और ऐरावत के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक मनाया जाता है।

गजदंत—इस मेरु के भूतल पर चारों विदिशाओं में चार गजदंत पर्वत हैं। ये दक्षिण में मेरु से लेकर निषध तक लम्बे हैं और उत्तर में भी मेरु से लेकर नील पर्वत तक लम्बे हैं। इन प्रत्येक कूटों पर एक-एक जिनमंदिर और शेष कूटों पर देवभवन हैं।

धातकी वृक्ष—विजयमेरु के दक्षिण में दोनों गजदंत के बीच में देवकुरु क्षेत्र है और उत्तर में उत्तरकुरु नाम का क्षेत्र है। दोनों क्षेत्रों में जम्बूवृक्ष-शाल्मीवृक्ष के सदृश धातकी वृक्ष "आंवले के वृक्ष" स्थित हैं। ये वृक्ष पृथ्वीकायिक हैं। एक धातकीवृक्ष के परिवार वृक्ष जम्बूवृक्ष से दूने होने से जम्बूवृक्ष (१४०१२०×२=२,८०,२४०) दो लाख, अस्सी हजार, दो सौ चालीस हैं। दोनों के परिवार वृक्ष ५,६०,४८० हो जाते हैं।[२] इन वृक्षों पर सम्यक्त्व रूपी रत्न से संयुक्त और उत्तम आभूषणों से भूषित आकृति को धारण करने वाले प्रभास और प्रियदर्शन नाम के दो अधिपति देव निवास करते हैं। परिवार वृक्षों के भवनों पर उनके परिवार देव रहते हैं।

इनमें दो मूल वृक्षों की शाखा पर एक-एक जिनमंदिर हैं। शेष वृक्षों पर भी देवों के भवनों में जिनमंदिर हैं।

पूर्व-पश्चिम विदेह—यहां धातकीखंड में भी विजयमेरु के पूर्व भाग में जो विदेह है उसे पूर्वविदेह कहते हैं और पश्चिमभाग में पश्चिमविदेह है।

---

१. तिलोयपण्णत्ति पृ. ४६७। २. तिलोयपण्णत्ति पृ. ४७०।

पूर्व विदेह में भद्रशालवन की वेदी के बाद चार वक्षार सीता नदी के उत्तर तट पर और चार वक्षार दक्षिण तट पर हैं। तीन-तीन विभंगा नदियां हैं। इनके अंतराल में सोलह विदेहक्षेत्र हो जाते हैं। ऐसे ही सोलह विदेहक्षेत्र पश्चिम विदेहक्षेत्र में भी हैं। इस प्रकार से पूर्व धातकीखंड के बत्तीस विदेह, सोलह वक्षार और बारह विभंगा नदियां हैं।

प्रत्येक विदेहक्षेत्र में भी विजयार्ध और गंगा-सिन्धु नदी के निमित्त से छह-छह खण्ड हो जाते हैं। प्रत्येक के आर्यखंड में कर्मभूमि हैं। यहां विदेह में शाश्वत कर्मभूमि होने से सदाकाल चतुर्थकाल के आदि जैसा ही परिवर्तन रहता है।

पूर्वधातकीखंड के अकृत्रिम चैत्यालय

विजयमेरु के १६, चार गजदंत के ४, दो धातकी वृक्ष के २, १६ वक्षार के १६, ३४ विजयार्ध के ३४, ६ कुलाचल के ६=७८, ऐसे अट्ठत्तर अकृत्रिम जिनचैत्यालय हैं। इनके अतिरिक्त यहां पर ३४ आर्यखंडों में चक्रवर्ती आदि मनुष्यों द्वारा निर्मापित अगणित कृत्रिम जिनमंदिर हैं।

इस प्रकार संक्षेप में पूर्वधातकीखंड का वर्णन किया है।

पश्चिमधातकीखंड—इस पश्चिमधातकीखण्ड में भी दक्षिण से लेकर उत्तर तक भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी नाम के ही छह कुल पर्वत हैं। इनकी लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई आदि पूर्वधातकीखण्ड के क्षेत्र, पर्वतों के समान ही है। इन पर्वतों पर पद्म आदि छह सरोवर हैं। उनमें कमलों पर श्री आदि छह देवियां निवास करती हैं। इन छह सरोवरों से गंगा, सिन्धु आदि चौदह महानदियां निकलती हैं जो कि भरत आदि सात क्षेत्रों में बहती हैं।

यहां पर भी भरत, ऐरावत में छह खंडों में से आर्यखंड में षट्काल परिवर्तन होता रहता है।

विदेहक्षेत्र में मध्य में अचल नाम का मेरु है जो कि ८४ हजार योजन ऊंचा है। उसमें भी भद्रसाल, नन्दन, सौमनस और पांडुकवनों में चार-चार मिलाकर १६ चैत्यालय हैं। मेरु की पांडुकशिला आदि चार शिलायें हैं, उन पर वहीं के भरत, ऐरावत और पूर्व-पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है। मेरु के भूतल पर चारों विदिशाओं में चार गजदंत पर्वत हैं। प्रत्येक पर एक-एक जिनमंदिर हैं और शेष कूटों पर देवभवन हैं।

मेरु के दक्षिण-उत्तर में देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्र हैं तथा पूर्व-पश्चिम में पूर्वविदेह-पश्चिम विदेह हैं। इन विदेहों में भी १६ वक्षार और १२ विभंगा नदियों से ३२ क्षेत्र हो गये हैं। प्रत्येक क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत और गंगा-सिन्धु नदियों से छह-छह खण्ड हो जाते हैं। वहां पर विदेह के प्रत्येक ३२ आर्यखण्ड में सदा ही चतुर्थकाल की आदि जैसी व्यवस्था रहती है इसीलिए इन्हें शाश्वत कर्मभूमि कहते हैं।

इस प्रकार यहां पश्चिमधातकीखंड में भरत-ऐरावत और बत्तीस विदेहों को मिलाकर ३४ आर्यखंड हैं। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र में सदा मध्यम भोगभूमि है और देवकुरु-उत्तरकुरु में सदा उत्तम भोगभूमि है तथा इन्हीं देवकुरु-उत्तरकुरु में धातकीवृक्ष भी हैं जो कि पृथ्वीकायिक, अनादिनिधन हैं।

अकृत्रिम चैत्यालय—यहां पर भी अचलमेरु के १६, गजदन्त के ४, धातकी वृक्षों के २, सोलह वक्षार के १६, चौंतीस विजयार्धों के ३४, षट् कुलाचलों के ६=७८, ऐसे अट्ठत्तर अकृत्रिम जिनमंदिर हैं।

तथा पूर्वधातकीखंड और पश्चिमधातकीखंड को विभाजित करने वाले दक्षिण-उत्तर में जो दो लम्बे

इष्वाकार पर्वत बताये गये हैं उन पर भी एक-एक जिनमंदिर हैं। ऐसे ये अकृत्रिम दो मंदिर यहां धातकीखंड-द्वीप में हो जाते हैं। इस प्रकार धातकीखंड का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

पुष्करार्ध द्वीप

पुष्करवर द्वीप का विस्तार सोलह लाख योजन है। यह द्वीप चारों तरफ से कालोदधि समुद्र को घेरे हुए है। इस द्वीप के ठीक बीच में मानुषोत्तर पर्वत स्थित है जो कि वलयाकार (चूड़ी के समान आकार वाला) है। इससे इस द्वीप के दो भाग हो जाने से इधर के आधे भाग को पुष्करार्ध कहते हैं। इस पुष्करार्ध में भी दक्षिण-उत्तर में एक-एक इष्वाकार पर्वत हैं। ये आठ लाख योजन लंबे, हजार योजन विस्तृत और ४०० योजन ऊंचे हैं। इन दोनों पर्वतों के निमित्त से इस पुष्करार्ध के भी पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध ऐसे दो भेद हो गए हैं।

पूर्व पुष्करार्ध में ठीक बीच में 'मंदर' नाम का मेरु पर्वत है और पश्चिम पुष्करार्ध में विद्युन्माली नाम का मेरु है। ये मेरु ८४ हजार योजन ऊंचे हैं। इनका सभी वर्णन धातकीखंड के मेरुओं के समान है। इन मेरुओं में भी सोलह-सोलह जिनमंदिर हैं और पांडुकवन में विदिशाओं में पांडुकशिला आदि शिलायें हैं जिन पर वहां के तीर्थंकरों का जन्माभिषेक महोत्सव मनाया जाता है।

पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध दोनों में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नाम के सात क्षेत्र हैं। हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी नाम के छह पर्वत हैं। ये पर्वत चक्र के आरे के समान हैं और क्षेत्र आरे के अन्तराल के समान हैं।

इनमें से विदेहक्षेत्र में सोलह वक्षार और बारह विभंगा नदियों के निमित्त से ३२ विदेह हो गये हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र के आर्यखंड में षट्काल परिवर्तन होता रहता है। बत्तीसों विदेहों में शाश्वत कर्मभूमि की व्यवस्था है अर्थात् वहां हमेशा चतुर्थकाल के प्रारम्भ जैसा ही काल रहता है।

हैमवत, हरि, विदेह के अन्तर्गत देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यक और हैरण्यवत इन छह क्षेत्रों में सदा ही भोगभूमि की व्यवस्था रहती है।

विदेहक्षेत्र में मेरु के दक्षिण में देवकुरु और उत्तर में उत्तरकुरु क्षेत्र हैं। उत्तरकुरु में ईशान कोण में पुष्कर—पद्म[१] वृक्ष है तथा देवकुरु में शाल्मली वृक्ष है। ये वृक्ष जम्बूवृक्ष के सदृश ही पृथ्वीकायिक हैं और अपने परिवार वृक्षों से सहित हैं इसीलिए इन पुष्कर वृक्षों के निमित्त से इस द्वीप का पुष्करद्वीप नाम सार्थक है।

यहां पर भी हिमवान आदि पर्वतों पर पद्म, महापद्म आदि छः सरोवर हैं जिनसे गंगा-सिन्धु आदि चौदह नदियां निकलती हैं। इनमें से सात-सात नदियां मानुषोत्तर पर्वत की गुफा से बाहर होकर पुष्कर समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं और सात-सात नदियां कालोद समुद्र की वेदिका के गुफाद्वारों से निकल कर कालोद समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं।

इन पद्म आदि सरोवरों में बने कमलों पर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नाम की देवियां अपने परिवार देवियों समेत निवास करती हैं।

इस प्रकार से कुल व्यवस्था जम्बूद्वीप के समान ही यहां पर समझनी चाहिए। मात्र मेरु और वृक्ष के नाम में ही अन्तर है।

इस तरह यहां पूर्व पुष्करार्ध में एक मन्दरमेरु के १६ चैत्यालय, गजदंत के ४ चैत्यालय, सोलह वक्षार

---

१. सामलितरुण दोण्हं दोण्हं वरपउमरुक्खाणं।।७५।। (जम्बूदीवपण्णत्ति, पृ. १९२)

के १६, चौंतीस विजयार्धों के ३४ और छः कुलाचलों के ६, ऐसे ७८ जिनमन्दिर हैं। इसी तरह पश्चिम पुष्करार्ध में भी विद्युन्माली मेरु के १६ आदि सर्व ७८ जिनमन्दिर हैं तथा दो इष्वाकार के २ जिनमन्दिर हैं। ऐसे ७८+७८+२=१५८ जिनमंदिर पुष्करार्ध द्वीप में हैं।

यहां जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र का विस्तार ५२६,६/१९ योजन मात्र है, वहां पुष्करार्ध द्वीप में भरतक्षेत्र का अभ्यंतर विस्तार ४१५७९,१७२/२१२ योजन है, मध्यम विस्तार ५३५१२,१९९/२१२ योजन है और बाह्य विस्तार ६५४४६,१२/२१२ योजन है। ऐसे ही अन्य क्षेत्रों का विस्तार भी बहुत बड़ा है। हिमवान् आदि पर्वतों की ऊँचाई जम्बूद्वीप के पर्वतों के समान है किन्तु विस्तार बहुत ही बड़ा है।

यहां पुष्करार्ध द्वीप में ३४+३४=६८ कर्मभूमि हैं और ६+६=१२ भोगभूमि हैं, जहां पर मनुष्य रहते हैं। इस प्रकार से यहीं तक मनुष्य पाए जाते हैं, शेष द्वीपों में मनुष्य नहीं हैं।

मानुषोत्तर पर्वत

पुष्कर द्वीप के ठीक बीच में चूड़ी के समान आकार वाला मानुषोत्तर पर्वत है। इसकी ऊंचाई १७२१ (एक हजार सात सौ इक्कीस योजन है) मूल में इसकी चौड़ाई १०२२ योजन, मध्य में ७२३ योजन और ऊपर में ४२४ योजन प्रमाण है। इस पर्वत की नींव ४३० योजन, एक कोश है, इस पर्वत के शिखर पर दो कोश ऊंची और ४००० धनुष चौड़ी दिव्य मणिमय वेदी है। इस मानुषोत्तर पर्वत में चौदह महानदियों के निकलने के लिए चौदह गुफा द्वार बने हुए हैं, जिनसे पुष्करार्ध द्वीप की गंगा आदि नदियां निकलकर पुष्कर समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं।

इस मानुषोत्तर पर्वत पर नैऋत्य और वायव्य इन दो दिशाओं को छोड़कर पूर्व आदि चार दिशा और शेष दो विदिशा में पंक्ति रूप से तीन-तीन कूट अवस्थित हैं। आग्नेय के तीन और ईशान के तीन, इन छह कूटों पर दिव्य प्रासाद बने हैं जिन पर गरुड़कुमार जाति के देव अपने वैभव के साथ रहते हैं। दिशागत अवशेष बारह कूटों के प्रासादों की चारों दिशाओं में सुवर्ण कुमार के कुल में उत्पन्न हुई दिक्कुमारी देवांगनाएं रहती हैं। इन अठारहों कूटों के अभ्यंतर भाग में अर्थात् मनुष्यलोक और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चारों दिशाओं में एक-एक कूट हैं। इन कूटों पर अकृत्रिम जिनमन्दिर बने हुए हैं जो कि स्वर्ण एवं रत्नों से निर्मित हैं। इन मन्दिरों में देवों से पूज्य अकृत्रिम जिनप्रतिमायें विराजमान हैं।

इन सभी कूटों की ऊंचाई ५०० योजन है। मूल में चौड़ाई ५०० योजन है तथा ऊपर में चौड़ाई २५० योजन है।

इस मानुषोत्तर पर्वत के बाहर कोई भी मनुष्य नहीं जा सकते हैं। चाहे वे विद्याधर मनुष्य हों, चाहे आकाशगामी ऋद्धिधारी महामुनीश्वर ही क्यों न हों इसलिए यह पर्वत मनुष्य लोक की सीमा निर्धारण करने वाला होने से "मानुषोत्तर" इस अन्वर्य नाम को धारण कर रहा है। केवली समुद्घात, मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद जन्म वालों की अपेक्षा ही वहां मानुषोत्तर पर्वत के बाहर मनुष्य का अस्तित्व मान लिया गया है[१]।

इसी बात को आचार्य श्री उमास्वामी महाराज ने स्पष्ट किया है। "प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्या[२]।।३५।।"

मानुषोत्तर पर्वत के इधर ही मनुष्य रहते हैं। श्री अकलंक देव ने इसे भाष्य में कहा है कि—

"जम्बूद्वीप से प्रारम्भ करके मानुषोत्तर पर्वत के पहले-पहले (इधर के भाग में) ही मनुष्य हैं, इस

१. सिद्धान्तसार दीपक पृ. ३७१। २. तत्वार्थसूत्र, अध्याय ३।

पर्वत के बाहर नहीं हैं। यही मानुषोत्तर पर्वत का व्याख्यान है। इसके उत्तर भाग में—बाहर में केवली समुद्घात, मरणांतिक समुद्घात और उपपाद को छोड़कर कदाचित् भी विद्याधर और ऋद्धिप्राप्त मनुष्य (महामुनि) भी नहीं जा सकते हैं।

इसलिए इसका "मानुषोत्तर" यह सार्थक नाम है[१]।"

उपपाद—कोई जीव मानुषोत्तर पर्वत से बाहर का तिर्यंच है या देव है। वह यदि वहां से मरा और उसके मनुष्यगति नामकर्म का उदय आ गया। वहां से विग्रहगति में एक, दो समय के बाद ही यहां मनुष्य लोक में जन्म लेगा, मात्र वहां उसके मनुष्यगति और मनुष्य आयु कर्म का उदय ही आया है। इसे उपपाद कहते हैं। इस अपेक्षा से कदाचित् वहां मनुष्यों का अस्तित्व है।

समुद्घात—केवली भगवान जब दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं, उस समय उनके प्रदेश मानुषोत्तर के बाहर चले जाते हैं। ऐसे ही मरण के अंतर्मुहूर्त पहले कदाचित् किसी मनुष्य को वहां बाहर में जन्म लेना है, यदि उसके मारणांतिक समुद्घात होता है तो उसकी आत्मा के कुछ प्रदेश वहां जाकर जन्म लेने योग्य प्रदेश का स्पर्श कर वापस यहां मनुष्य के शरीर में आ जाते हैं। इस अपेक्षा से भी वहां मनुष्य का अस्तित्त्व मान लिया गया है। बाकी कोई भी मनुष्य किसी भी स्थिति में इस पर्वत से बाहर नहीं जा सकते हैं।

यही कारण है कि इस पर्वत के बाहर नंदीश्वर द्वीप के दर्शनों का सौभाग्य मनुष्यों को नहीं मिल पाता है वहां मात्र देवगण ही जाते हैं। यह मानुषोत्तर पर्वत एक हजार सात सौ इक्कीस योजन मात्र ही ऊंचा है जबकि सुमेरु पर्वत इस चित्रा पृथ्वी से ९९ हजार योजन ऊंचा है, फिर भी विद्याधर मनुष्य और आकाशगामी चारणऋद्धिधारी मुनिगण निन्यानवे हजार योजन की ऊंचाई पर पांडुकवन के चैत्यालयों की वंदना कर आते हैं किन्तु इस मानुषोत्तर पर्वत का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। इसमें नियोग ही एक मात्र कारण है, ऐसा समझना चाहिए।

मानुषोत्तर के बाहर असंख्यात द्वीपों में क्या है ? मानुषोत्तर के बाहर सभी द्वीपों में केवल भद्र परिणामी तिर्यंच ही हैं अन्य कोई नहीं हैं इसीलिए आगम में इसे तिर्यग्लोक कहा है। यह तिर्यग्लोक मनुष्यों से रहित है और असंख्यात तिर्यंचों से भरा हुआ है।[१] ये सभी तिर्यंच भोगभूमिज हैं। यहाँ पर विशेष बात यह समझने की है कि इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप, समुद्र हैं अर्थात् २५ कोड़ाकोड़ी पल्योपम में जितने रोम हैं, उतने प्रमाण ही द्वीप, समुद्र हैं। इन द्वीप, समुद्रों में सबसे बड़ा अंतिम स्वयंभूरमण नाम का द्वीप है। इस द्वीप को वेष्टित करके असंख्यात योजन वाला स्वयंभूरमण नाम का समुद्र है। इस अंतिम द्वीप के ठीक मध्य में चूड़ी के समान आकार वाला नागेन्द्र नाम का एक पर्वत स्थित है। इस पर्वत के बाहर आधे स्वयंभूरमण द्वीप में और स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमि मानी गई है। वहाँ रहने वाले असंख्यातों तिर्यंच कर्मभूमियाँ हैं। ये प्रायः क्रूर स्वभाव वाले हैं। इनमें से कुछ तिर्यंचों को सम्यक्त्व एवं कुछ तिर्यंचों को देशव्रत भी हो जाता है। वहाँ पर देवों के संबोधन से अथवा जातिस्मरण से ऐसा संभव है।

इस नागेन्द्र पर्वत से इधर के आधे स्वयंभूरमण द्वीप में तथा मानुषोत्तर पर्वत से परे सभी असंख्यातों द्वीपों में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है। वहां पर जन्म लेने वाले तिर्यंच युगल ही उत्पन्न होते हैं। ये सभी

१. जम्बूद्वीपादारभ्य प्राङ् मानुषोत्तरा मनुष्या न बहिरिति। व्याख्यातो मानुषोत्तराद्रिः। नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विद्याधराः ऋद्धिप्राप्ता अपि मनुष्या गच्छन्ति अन्यत्रोपपाद समुद्घाताभ्यां, ततो अस्यान्वर्थ संज्ञा। (तत्वार्थराजवार्तिक, अ. ३, सूत्र ३५ की टीका)

गर्भ से जन्म लेते हैं। पंचेन्द्रिय, भद्रपरिणामी हैं, क्रूरता से रहित हैं और मृग आदि अच्छी जाति वाले हैं। ये एक पल्य की आयु के धारक एवं वैर भाव से रहित होते हैं। कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोग सामग्री प्राप्त करते हैं एवं आयु के अंत में मरकर देवगति को ही प्राप्त करते हैं।

जो मूढ़ जीव सम्यग्दर्शन और व्रतों से रहित हैं तथा कुपात्रों को दान देकर कुछ कुत्सित पुण्य संचित कर लेते हैं, वे ही जीव मरकर इस तिर्यंच भोगभूमि में उत्पन्न हो जाते हैं। उन जघन्य भोगभूमियों में कृमि, कुन्थु, मच्छर आदि तुच्छ जन्तु, क्रूर परिणामी जीव एवं विकलत्रय प्राणी कभी भी उत्पन्न नहीं होते हैं।[१]

असंख्यात समुद्रों का जल कैसा है ? लवण समुद्र के जल का स्वाद नमक सदृश खारा है। वारुणीवर समुद्र का जल मद्य के सदृश है। क्षीरवर समुद्र का जल दूध सदृश है, घृतवर समुद्र का जल घी के समान है। कालोदधि, पुष्करवर समुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र का जल, जल जैसे स्वाद वाला है। इन सात समुद्रों के सिवाय शेष सभी असंख्यात समुद्रों का जल इक्षुरस सदृश मधुर और सुस्वादु है।

लवण समुद्र, कालोदधि और स्वयंभूरमण समुद्र में ही जलचर जीव हैं। शेष समुद्रों में मगरमच्छ आदि जलचर जन्तु नहीं हैं और न भोगभूमियों में विकलत्रय जीव ही होते हैं।

इस प्रकार से यहां पर मानुषोत्तर पर्वत का वर्णन किया है तथा उसके बाहर असंख्यात द्वीप-समुद्रों में क्या-क्या हैं, सो भी संक्षेप में बताया गया है।

मनुष्य कहां-कहां हैं

मनुष्य के दो भेद प्रसिद्ध हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज। कर्मभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य कर्मभूमिज हैं और भोगभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य भोगभूमिज हैं। श्रीकुन्दकुन्द देव ने कहा है—

'माणुस्सा दुवियप्पा कम्ममहीभोगभूमि संजादा।'[२]

कर्मभूमिज और भोगभूमिज की अपेक्षा मनुष्यों के दो भेद हैं।

श्रीगौतमस्वामी ने कर्मभूमि १५ कही हैं—

'अड्ढाइज्जदीवदोसमुद्देसु पण्णारसकम्मभूमिसु[३]'

'अढाई द्वीप और दो समुद्रों के अन्तर्गत १५ कर्मभूमियां हैं।' दससु भरहेरावएसु पंचसु महाविदेहेसु[४]। ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह की १५ कर्मभूमि हैं।

जम्बूद्वीप एक लाख योजन व्यास वाला गोलाकार है। इसमें भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत ये ७ क्षेत्र हैं। ये हिमवान् आदि ६ पर्वतों से विभाजित हैं। इनमें से भरतक्षेत्र ५२६,६/१९ योजन विस्तृत है। आगे के पर्वत और क्षेत्र विदेह तक दूने-दूने विस्तार वाले हैं, आगे आधे-आधे होते गए हैं।

भरतक्षेत्र के मनुष्य—इस भरतक्षेत्र में गंगा-सिन्धु नदी और विजयार्ध पर्वत के निमित्त से छह खण्ड हो गये हैं। इनमें से दक्षिण के मध्य का आर्यखंड है, शेष पांच म्लेच्छखंड हैं। इस आर्यखण्ड में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये दो काल वर्तते हैं। १० कोड़ाकोड़ी सागर की एक अवसर्पिणी और इतने ही प्रमाण की उत्सर्पिणी होती है। इन दोनों के ६-६ भेद हैं। सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और अतिदुषमा। इनमें से प्रथम काल ४ कोड़ाकोड़ी सागर का, द्वितीय काल ३ कोड़ाकोड़ी सागर का, तृतीय काल २ कोड़ाकोड़ी सागर का, चतुर्थ काल ४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का, पंचम काल

१. सिद्धान्तसार दीपक पृ. ३८८। २. नियमसार गाथा १६। ३. सामायिक दण्डक। ४. प्रतिक्रमण भक्ति।

२१ हजार वर्ष का और छठा काल भी २१ हजार वर्ष का होता है।

ऐसे ही उत्सर्पिणी में छठे अतिदुषमा से आदि लेकर सुषमासुषमा तक काल वर्तता है। इस तरह अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी दोनों मिलकर २० कोड़ाकोड़ी सागर का एक कल्पकाल माना गया है।

अवसर्पिणी के प्रथम सुषमासुषमाकाल में यहां पर भोगभूमि की व्यवस्था रहती है। स्त्री-पुरुष युगल ही उत्पन्न होते हैं और साथ ही मरण प्राप्त करते हैं। ये दस प्रकार के कल्पवृक्षों से भोग सामग्री प्राप्त करते हैं। पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग जाति के कल्पवृक्ष अपने नाम के अनुसार ही वस्तुएं प्रदान करते हैं। यहां पर मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई तीन कोश और आयु तीन पल्य की होती है पुनः घटते-घटते द्वितीय काल के प्रारम्भ में मनुष्यों की ऊँचाई दो कोश और आयु दो पल्य की होती है। पुनः घटती हुई तृतीय काल के आदि में शरीर की ऊंचाई एक कोश और आयु एक पल्य की रहती है। इस काल के अंत में कल्पवृक्ष नष्ट हो जाते हैं।

चतुर्थकाल में कर्मभूमि प्रारम्भ हो जाती है। यहाँ पर उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष और शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष की होती है। पंचम काल में उत्कृष्ट आयु १२० वर्ष और शरीर की उत्कृष्ट ऊंचाई ७ हाथ प्रमाण रहती है।[१] छठे काल के प्रारम्भ में शरीर की ऊंचाई साढ़े तीन हाथ अथवा ३ हाथ और उत्कृष्ट आयु २० वर्ष की होती है।[२] इस युग में तृतीय काल के अंत में जब कुछ कम एक पल्य का आठवां भाग काल शेष रह गया[३] तब प्रतिश्रुति, सन्मति आदि से लेकर क्रम से १४ कुलकर उत्पन्न हुए हैं। चौदहवें कुलकर नाभिराय थे, इनकी रानी का नाम मरुदेवी था। इन्हीं से जन्मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने प्रजा को असि, मषि आदि षट् क्रियाओं का उपदेश देकर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन तीन वर्णों की व्यवस्था की थी।[४] भगवान ऋषभदेव की आयु ८४ लाख पूर्व वर्ष की थी और शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष प्रमाण थी। अजितनाथ से लेकर आयु और ऊंचाई घटते-घटते महावीर स्वामी की आयु ७२ वर्ष की और ऊंचाई ७ हाथ की रह गई।

इस काल में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव ये ६३ शलाका पुरुष होते हैं। चतुर्थकाल में कोई भी भव्यजीव तपश्चर्या के बल से कर्मों को नाशकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। पंचमकाल में हीन संहनन होने से कोई भी मनुष्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है। फिर भी पंचमकाल के अंत तक धर्म रहता है, क्योंकि आचार्यों ने कहा है कि—

'इतने मात्र समय में चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा।[५]'

इस दुषमकाल में धर्म, आयु और ऊंचाई आदि कम होती जाएगी फिर अन्त में इक्कीसवां कल्की उत्पन्न होगा। उसके समय में वीरांगज मुनि, सर्वश्री आर्यिका, अग्निदत्त श्रावक और पंगुश्री श्राविका ये चतुर्विध संघ होगा। वह कल्की मंत्री द्वारा मुनि के हाथ से प्रथम ग्रास को कर के रूप में मांगेगा तब मुनिराज अंतराय करके वापस आकर आर्यिका आदि को बुलाकर सल्लेखना देकर आप स्वयं सल्लेखना ग्रहण कर लेंगे। कार्तिक कृ. अमावस्या के प्रातः ये मुनि आदि शरीर छोड़कर स्वर्ग प्राप्त करेंगे तब धर्म का नाश हो जायेगा। मध्यान्ह में असुरदेव कल्की राजा को मार डालेगा और सायंकाल में अग्नि नष्ट हो जाएगी।[६]

इसके बाद तीन वर्ष, साढ़े आठ मास बीत जाने पर छठा काल आयेगा। उस समय के मनुष्य घर, वस्त्र

---

१. तिलोयपण्णत्ति पृ. ३३८। २. तिलोयपण्णत्ति पृ. ३४५। ३. तिलोयपण्णत्ति पृ. १९५। ४. उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा। क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभगुणैः।। १८३ आदि पु. पर्व १६, पृ. ३६२। ५. तिलोयपण्णत्ति पृ. ३४०। ६. तिलोयपण्णत्ति पृ. ३४३ से ३४५।

आदि से रहित, अतीव दुःखी, मांसाहारी होंगे। इस काल के अंत में महाप्रलय होगा, भीषण वायु चलेगी। बर्फ, क्षार जल, विष जल, धुंआ, धूलि, वज्र और अग्नि की वर्षा सात-सात दिनों तक होगी। उस समय कुछ मनुष्य और तिर्यंच युगलों को देव, विद्याधर रक्षा करके विजयार्ध पर्वत की गुफा आदि में रख देंगे। यहां आर्यखंड की चित्रा पृथ्वी के ऊपर स्थित वृद्धिंगत एक योजन की भूमि जलकर नष्ट हो जायेगी।[१]

अनंतर पुनः उत्सर्पिणी काल का पहला अतिदुषमा नाम का काल आएगा जिसमें इस छठे काल जैसी व्यवस्था होगी। ये ही सुरक्षित रखे गए मनुष्य, तिर्यंच गुफा आदि से निकलकर पृथ्वी पर फैल जायेंगे। ऐसे ही क्रम से दुषमा आदि से लेकर सुषमा-सुषमा तक छहों काल वर्तन करेंगे।

ऐरावत क्षेत्र के मनुष्य—इस भरतक्षेत्र के समान ही जंबूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र के आर्यखंड में छहकाल परिवर्तन होता है तथा धातकी खंड के २ भरत, २ ऐरावत और पुष्करार्धद्वीप के भी २ भरत, २ ऐरावत क्षेत्रों में यही काल परिवर्तन होता रहता है।

इस प्रकार से ५ भरत और ५ ऐरावत के आर्यखंडों में षट्काल परिवर्तन में तीन-तीन कालों में भोगभूमि की व्यवस्था रहती है और तीन-तीन कालों में कर्मभूमि की व्यवस्था होती है। बीस कोड़ाकोड़ी सागर के कल्पकाल में १८ कोड़ाकोड़ी सागर तक भोगभूमि और २ कोड़ाकोड़ी सागर तक ही कर्मभूमि की व्यवस्था है।

महाविदेहक्षेत्र का विस्तार ३३६८४,४/१९ योजन है[२]। इसके ठीक बीच में सुमेरु पर्वत है। सुमेरु के दक्षिण में देवकुरु और उत्तर में उत्तरकुरु क्षेत्र हैं तथा पूर्व-पश्चिम में सीता-सीतोदा नदी बहती है। सुमेरु के पूर्व में पूर्व विदेह और पश्चिम में पश्चिम विदेह है।

महाविदेह के ३२ क्षेत्र—सीता नदी के दोनों पार्श्व भागों में ४-४ वक्षार पर्वत और ३-३ विभंगा नदियों से सीमित ८-८ क्षेत्र हैं। ऐसे ही सीतोदा के दोनों पार्श्व भागों में ४-४ वक्षार और ३-३ विभंगा से सीमित ८-८ क्षेत्र हैं। इस तरह ये ३२ क्षेत्र हैं। कच्छा, सुकच्छा, महाकच्छा, कच्छकावती, आवर्ता, लांगलावर्ता, पुष्कला, पुष्कलावती, वत्सा, सुवत्सा, महावत्सा, वत्सकावती, रम्या, सुरम्यका, रमणीया, मंगलावती, पद्मा, सुपद्मा, महापद्मा, पद्मकावती, शंखा, नलिना, कुमदा, सरिता, वप्रा, सुवप्रा, महावप्रा, वप्रकावती, गंधा, सुगंधा, गंधिला और गंधमालिनी, क्रम से उन ३२ विदेहक्षेत्रों के ये नाम हैं। प्रत्येक क्षेत्र का पूर्व-पश्चिम विस्तार २२१२,७/८ योजन है तथा लम्बाई १६५९२, २/१९ योजन है[३]।

कच्छा आदि प्रत्येक विदेहक्षेत्र में ठीक बीच में एक-एक विजयार्ध पर्वत है जो ५० योजन विस्तृत, २२१२,७/८ योजन लंबे तथा २५ योजन ऊंचे, तीन कटनी वाले हैं। सीता-सीतोदा के दक्षिण तट के क्षेत्रों में गंगा-सिंधु नाम की दो-दो नदियाँ निषध पर्वत की तलहटी के कुण्ड से निकलकर विजयार्ध की गुफा में प्रवेश कर जाती हैं। ऐसे सीता-सीतोदा के उत्तर तट के क्षेत्रों में नील पर्वत की तलहटी के कुण्डों से निकलकर रक्ता-रक्तोदा नदियां बहती हैं। इस तरह प्रत्येक कच्छा आदि क्षेत्रों में विजयार्ध पर्वत और दो-दो नदियों के निमित्त से ६-६ खण्ड हो जाते हैं।

आर्यखण्ड—इस प्रकार से इन छह खण्डों में नदी की तरफ के मध्य का एक आर्यखण्ड है, शेष ५ म्लेच्छखंड हैं। प्रत्येक ३२ क्षेत्रों के ३२ आर्यखंडों के बीच-बीच में जो प्रमुख नगरी हैं उनके क्रम से क्षेमा, क्षेमपुरी, अरिष्टा, अरिष्टपुरी, खड्गा, मंजूषा, औषधि, पुण्डरीकिणी, सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरा, अंका, पद्मवती, शुभा, रत्नसंचया, अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, वीतशोका,

१. तिलोयपण्णत्ति पृ. ३४६, ३४७। २. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ३७४। ३. तिलोयपण्णत्ति पृ. ४२३ से ४२६।

विजया, वैजयंता, जयंता, अपराजिता, चक्रपुरी, खड्गपुरी, अयोध्या और अवध्या ये नाम हैं। ये महायोजन से ९ योजन चौड़ी और १२ योजन लम्बी हैं।

यहां भरतक्षेत्र के आर्यखंड में जैसे अयोध्या है ऐसे ही ये नगरियां हैं। ये ही वहां की राजधानी हैं। वहां विदेहक्षेत्र में सदा ही तीर्थंकर देव, गणधर देव, अनगार मुनि, केवली, ऋद्धिधारी मुनि आदि रहते हैं। चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव भी हुआ करते हैं। वहां के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष और शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष की रहती है। असि, मषि आदि षट्कर्मों से आजीविका चलती है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीन ही वर्ण होते हैं। वहां पर सतत मोक्षगमन चालू रहता है। तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने अवधिज्ञान से इस विदेहक्षेत्र की वर्ण व्यवस्था आदि को जानकर ही यहां भरतक्षेत्र में वैसी व्यवस्था बनाई थी।

विद्याधर मनुष्य—यह भरतक्षेत्र ५२६,३/१९ योजन है। हिमवान् पर्वत इससे दूने प्रमाण १०५२,१२/१९ योजन विस्तार वाला है। इस भरतक्षेत्र के ठीक बीच में एक विजयार्ध पर्वत है, वह रजतमय है। यह २५ योजन ऊँचा और मूल में ५० योजन विस्तृत है तथा पूर्व-पश्चिम में दोनों तरफ लवण समुद्र को स्पर्श कर रहा है। १० योजन ऊपर जाकर इसके दोनों पार्श्व भागों—दक्षिण, उत्तर में १० योजन ही विस्तृत विद्याधरों की १-१ श्रेणियां हैं। दक्षिण श्रेणी में ५० एवं उत्तर श्रेणी में ६० नगर हैं।[१] किन्नामित, किंकरगीत आदि इनके नाम हैं। इन नगरों में विद्याधर मनुष्य रहते हैं। ये लोग असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प और विद्या इन छह कर्मों से आजीविका करते हैं। इन विद्याधर स्त्री-पुरुषों को सदा तीन प्रकार की विद्यायें प्राप्त रहती हैं—कुल विद्या, जाति विद्या और साधित विद्या। जो कुल परम्परागत प्राप्त हो जाती हैं वे कुल विद्या हैं, जो मातृ पक्ष से प्राप्त होती हैं वे जाति विद्या हैं और जिन्हें मंत्र जपकर आराधना विधि से सिद्ध करते हैं वे साधित विद्या हैं।

इस विजयार्ध पर्वत पर इस विद्याधर श्रेणी से १० योजन ऊपर जाकर दोनों तरफ १०-१० योजन विस्तृत दूसरी श्रेणी है। इसमें अभियोग्य जाति के देवों के भवन बने हुए हैं। इससे ५ योजन ऊपर जाकर १० योजन विस्तार वाला इस पर्वत का शिखर है।[२] इस पर ९ कूट हैं जिसमें एक कूट पर जिनमंदिर है, शेष पर देवों के भवन बने हुए हैं। इस पर्वत में दो गुफायें हैं। जिनमें से गंगा, सिन्धु नदियां प्रवेश कर बाहर निकलकर क्षेत्र में बहती हैं। ये दोनों नदियां हिमावान पर्वत के पद्म सरोवर से निकलती हैं। ऐरावत क्षेत्र में भी इसी प्रकार से विजयार्ध पर्वत हैं। उस पर भी दोनों तरफ विद्याधर श्रेणियां हैं। उन पर यहीं के समान विद्याधर रहते हैं। अंतर इतना ही है कि उस पर्वत की गुफा में रक्ता-रक्तोदा नाम की नदियां प्रवेश कर बाहर निकल कर ऐरावत क्षेत्र में बहती हैं। ये नदियां शिखरी पर्वत के पुण्डरीक सरोवर से निकलती हैं।

धातकीखण्ड में दो भरत, दो ऐरावत हैं। ऐसे ही पुष्करार्ध द्वीप में भी दो भरत, दो ऐरावत हैं। इसमें भी विद्याधरों के नगर बने हुए हैं। इन पांचों ही भरत और पांचों ही ऐरावत क्षेत्रों के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता रहता है।[३] इन विजयार्ध पर्वत की विद्याधर श्रेणियों में रहने वाले विद्याधर मनुष्यों में क्रम से अवसर्पिणी में चतुर्थकाल की आदि से लेकर अन्त तक हानि होती है और उत्सर्पिणी में तृतीय काल के प्रारंभ से लेकर अन्त तक वृद्धि होती है।[४]

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ. १५५। २. तिलोयपण्णत्ति, पृ. १५८।

३. भरहेसु रेवदेसु य ओसप्पुस्सप्पिणित्ति कलिदुगा। उस्सेधाउबलाणं हाणीवड्ढी य होंतित्ति।।७७९।। त्रिलोकसार

४. तिलोयपण्णत्ति पृ. ३५३।

अवसर्पिणी के चतुर्थकाल की आदि में एक कोटि पूर्व वर्षों की उत्कृष्ट आयु है और शरीर की ऊंचाई ५०० धनुष प्रमाण है तथा अंत में १२० वर्ष की उत्कृष्ट आयु है और शरीर की ऊंचाई ७ हाथ प्रमाण रह जाती है। फिर यहां के पंचमकाल, छठे काल, वापस उत्सर्पिणी के प्रथम, द्वितीय काल, इन चारों कालों के २१-२१ हजार मिलकर ८४ हजार वर्षों तक यही जघन्य आयु और जघन्य अवगाहना बनी रहती है पुनः वृद्धि होते हुए उत्सर्पिणी के तृतीय काल के अंत में कोटिपूर्व वर्ष की आयु और ५०० धनुष की अवगाहना हो जाती है पुनः चतुर्थ, पंचम और छठे काल तक वही स्थिति बनी रह जाती है। फिर जब यहां आर्यखंड में अवसर्पिणी का चौथा काल आता है और ह्रास होना शुरू होता है तब इन विद्याधरों में भी आयु, अवगाहना आदि का ह्रास होने लगता है। तभी तो चतुर्थकाल में यहां के मनुष्यों के उन विद्याधर मनुष्यों के साथ सम्बन्ध होते रहते हैं।

विदेहक्षेत्र में कच्छा आदि ३२ विदेह देशों में ३२ विजयार्ध हैं। ये भी ५० योजन चौड़े हैं और २५ योजन ऊंचे हैं। इन पर दोनों बाजू में ५५-५५ नगरियां हैं, उनमें भी विद्याधर मनुष्य रहते हैं। इन विदेहों के विद्याधरों में सदा ही चतुर्थकाल के प्रारम्भ जैसी ही स्थिति रहती है, काल परिवर्तन नहीं होता है।

जंबूद्वीप में एक भरत, एक ऐरावत के ऐसे दो तथा विदेह के ३२, ऐसे ३४ विजयार्ध हैं। ऐसे धातकीखंड में दो भरत, दो ऐरावत और ६४ विदेह के ६४, ऐसे ६८ विजयार्ध हैं तथा पुष्करार्ध में भी ६८ हैं। कुल मिलाकर ६४+६८+६८=१७० विजयार्ध पर्वत हैं। प्रत्येक विद्याधरों की २-२ श्रेणी होने से १७०×२=३४० विद्याधर श्रेणियां हैं। ये सभी विद्याधर स्त्री-पुरुष आकाशगामी, रूपपरिवर्तिनी आदि विद्याओं के बल से अपने विमानों में बैठकर आकाशमार्ग से सर्वत्र विचरण किया करते हैं। सुमेरु पर्वत आदि अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करते रहते हैं और जिनेन्द्रदेव की तथा निर्ग्रंथ गुरुओं की भक्ति में तत्पर रहते हैं। वहां जैनधर्म के सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं है और निर्ग्रंथ गुरुओं के सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं हैं। वहां पर हमेशा ही केवली, श्रुतकेवली, महामुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकागण विद्यमान रहते हैं।

लवण समुद्र में अनेक द्वीप हैं जिनमें इस भरतक्षेत्र के विजयार्ध के विद्याधर लोग रहते हैं। रावण के पूर्वज भी यहीं से गये थे। इस बात का खुलासा पद्मपुराण में है।[१] यथा—

भरतक्षेत्र के विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी में एक चक्रवाल नाम का नगर है। उसमें पूर्णधन विद्याधर राजा था। शत्रुओं ने उसे मार दिया। अनंतर उसके पुत्र मेघवाहन को उस चक्रवाल नगर से निर्वासित कर दिया। वह मेघवाहन दुःखी हो भगवान अजितनाथ के समवशरण में आ गया, उसके शत्रु भी उसका पीछा करते हुए वहीं पर आ गये किन्तु समवशरण में सब शांतभाव को प्राप्त हो गए। वहीं पर व्यंतर देवों में से राक्षस जाति के देवों के इन्द्र, भीम और सुभीम ने प्रसन्न होकर मेघवाहन से कहा कि—इस लवण समुद्र में अतिशय सुन्दर हजारों महाद्वीप हैं, उनमें एक राक्षस द्वीप है, वह ७०० योजन लम्बा-चौड़ा है। इसके बीच में त्रिकूटाचल पर्वत है। इसके नीचे ३० योजन विस्तृत लंका नगरी है। उसमें बड़े-बड़े जिनमंदिर, सरोवर, उद्यान आदि शोभित हैं, उसमें जाकर तुम रहो, इत्यादि प्रकार से कहकर भीम इन्द्र ने मेघवाहन को एक देवाधिष्ठित हार भी दिया। उसे प्राप्तकर यह मेघवाहन अपने भाई-बन्धुओं सहित वहां जाकर लंका नगरी में रहने लगा।[२]

इन्हीं के वंश में रावण विद्याधर हुआ है।

ऐसे ही वानरवंशियों का कथन है। यथा—

---

१. सन्त्यत्र लवणाम्भौधावत्युग्रग्राह संकटे। अत्यन्त दुर्गमा रम्या महाद्वीपाः सहस्रशः।।१५२।। पद्मपुराण, पर्व ५।

२. पद्मपुराण पर्व ५, पृ. ७२ से ७९ तक, पद्मपुराण पर्व ४८ में भी यही बात है।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में मेघपुर नगर है। वहां श्रीकंठ राजा रहता था। लंका के राजा कीर्तिधवल इसके बहनोई थे। एक बार शत्रुओं से त्रसित श्रीकंठ को कीर्तिधवल ने कहा—विजयार्ध पर्वत पर तुम्हारे बहुत से शत्रु हैं अतः इस लवण समुद्र के बीच वायव्य दिशा में ३०० योजन विस्तृत एक वानर द्वीप है,[१] वहां जाकर रहो। तब इस श्रीकंठ ने वहां जाकर किष्कुपर्वत पर एक किष्कुपुर नामका नगर बसाया और वहीं रहने लगा। वहां बन्दर बहुत थे, उनके साथ क्रीड़ा करने से बन्दर के चिन्ह को मुकुट आदि में धारण करने से इन्हीं के वंशज वानरवंशी कहलाए हैं।

म्लेच्छ खण्ड के मनुष्य—गंगा-सिन्धु नदी और विजयार्ध पर्वत से भरतक्षेत्र के छह खंड हो गये हैं, जिनमें दक्षिण और उत्तर के ३-३ खंड हैं। दक्षिण भरत के मध्य का आर्यखंड है, शेष पांचों म्लेच्छ खण्ड हैं। उत्तर भरत के ३ म्लेच्छखंडों में से मध्य के खंड के ठीक बीच में एक वृषभाचल पर्वत है। यह १०० योजन ऊंचा है, भूतल पर १०० योजन विस्तृत है और घटते हुए ऊपर में ५० योजन विस्तृत है। इस पर वृषभ नाम का व्यंतर देव रहता है। उसके भवन में जिनमंदिर है।[२] भरतक्षेत्र के भरत आदि चक्रवर्तियों ने छह खंड जीतकर इसी पर्वत पर जाकर अपनी विजय प्रशस्ति लिखी है।

ऐसे ही ऐरावत क्षेत्र में भी पांच म्लेच्छखंड हैं तथा ३२ विदेहों में भी ५-५ म्लेच्छखंड हैं।[३] इस प्रकार ५ भरत, ५ ऐरावत और १६० विदेहों के ५-५ म्लेच्छखंड हैं अतः कुल (१७०×५=८५०) ८५० म्लेच्छ खण्ड हैं। इनमें भी मनुष्य रहते हैं, वे कर्मभूमिज हैं। भरत, ऐरावत के १०×५=५० म्लेच्छखंडों में चतुर्थकाल की आदि से लेकर अंत तक का परिवर्तन होता है, शेष ८०० में नहीं।[४] चूंकि चतुर्थकाल में चक्रवर्ती सम्राट वहां की ३२००० कन्याओं से विवाह करते हैं।

शेष जो विदेहक्षेत्र के म्लेच्छखंड हैं उनमें चतुर्थकाल की आदि जैसी ही व्यवस्था रहती है, काल परिवर्तन नहीं होता है। इन म्लेच्छखंडों में धर्म, कर्म से बहिर्भूत, नीच कुल से समन्वित, विषयासक्त और दुर्गति में जाने वाले म्लेच्छ मनुष्य रहते हैं।[५]

विदेहों के म्लेच्छखंड धर्मरहित हैं और धर्म कर्म से बहिर्भूत तथा खोटे कुलोत्पन्न म्लेच्छों से भरे हैं।[६]

आदिपुराण में कहा है कि ये लोग धर्मक्रियाओं से रहित हैं इसलिए म्लेच्छ माने गए हैं। धर्मक्रियाओं के सिवाय ये अन्य आचरणों से आर्यखण्ड में उत्पन्न होने वाले लोगों के समान हैं।[७]

ये म्लेच्छ राजा कुल परम्परागत देवों की उपासना भी करते हैं। यथा—चिलात और आवंत नाम के दो म्लेच्छ राजाओं ने भरत सम्राट के योद्धाओं को अपने देश पर आक्रमण करता हुआ जानकर कुल परम्परागत चले आए नागमुख और मेघमुख नाम के देवों का पूजन कर उनका स्मरण किया।[८]

इससे यह समझ में आता है कि वे म्लेच्छ राजा क्षत्रिय राजाओं के समान ही थे तभी चक्रवर्ती उनकी कन्याओं से विवाह करते थे।

भोगभूमिज मनुष्य—हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र ३६७४,४/१९ योजन विस्तृत है। उनमें सुषमा-दुषमा काल के सदृश जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था है।

विशेषता केवल यह है कि इन क्षेत्रों में हानि-वृद्धि से रहित अवस्थिति एक सी ही रहती है। हरिक्षेत्र

---

१. पद्मपुराण, पर्व ६, पृ. ९७ से १०५ तक। २. तिलोयपण्णत्ति, पृ. १७४। ३. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ३५३। ४. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ७१०। ५. सिद्धान्तसारदीपक, पृ. १५१। ६. सिद्धान्तसारदीपक पृ. २१५। ७. धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः, अन्यथाऽन्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः, १४२ आदिपुराण, पर्व ३१। ८. आदिपुराण पर्व ३२।

और रम्यक क्षेत्र का विस्तार ८४२१,१/१९ योजन है। यहाँ पर सुषमा काल के सदृश मध्यम भोगभूमि की व्यवस्था सदा एक सी रहती है। सुमेरु के दक्षिण में देवकुरु और उत्तरकुरु है। इनका उत्तर-दक्षिण विस्तार ११५९२,२/१९ योजन है। यहां पर सुषमा-सुषमा सदृश उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था सदा अवस्थितरूप से है। इस प्रकार यहां जंबूद्वीप में ६ भोगभूमि हैं। ऐसे ही धातकीखंड में पूर्व धातकी में ६ और पश्चिम धातकी में ६ हैं। पुष्करार्ध में भी पूर्व पुष्करार्ध में ६ और पश्चिम पुष्करार्ध में ६, कुल ३० भोगभूमि हैं। इन भोगभूमियों में युगल ही स्त्री-पुरुष जन्म लेते हैं। वे आर्य-आर्या कहलाते हैं और १० प्रकार के कल्पवृक्षों से भोग सामग्री प्राप्त करते हैं। जघन्य भोगभूमि में आयु १ पल्य और शरीर की ऊंचाई एक कोश प्रमाण है। मध्यम भोगभूमि में आयु २ पल्य और शरीर की ऊंचाई २ कोश है। उत्तम भोगभूमि में आयु ३ पल्य और शरीर की ऊंचाई ३ कोश ही है। आयु के अन्त में पुरुष छींक और स्त्री जंभाई के द्वारा मरण को प्राप्त होते हैं। ये मरकर देवगति को ही प्राप्त करते हैं।

कुभोगभूमिज मनुष्य—लवण समुद्र में ४८ और कालोद समुद्र में ४८ ऐसी ९६ कुभोगभूमि हैं। इन्हें कुमानुष द्वीप या अंतरद्वीप भी कहते हैं। जम्बूद्वीप की जगती से ५०० योजन जाकर ४ दिशा के ४ और ४ विदिशा के ४ ऐसे ८ द्वीप हैं। इन आठों की अन्तर दिशाओं में ५५० योजन जाकर ८ द्वीप हैं तथा भरत-ऐरावत के विजयार्ध के दोनों तटों से और हिमवान तथा शिखरी पर्वत के तटों से ६०० योजन समुद्र में जाकर ८ द्वीप हैं। दिशागत द्वीप १०० योजन विस्तृत हैं, विदिशा के द्वीप ५५ योजन, दिशा-विदिशा के अन्तराल के द्वीप ५० योजन और पर्वत के तटों के द्वीप २५ योजन विस्तृत हैं। ये सभी द्वीप जल से एक योजन ऊंचे हैं।[१]

इन द्वीपों में कुमानुष युगल ही जन्म लेते हैं और युगल ही मरण प्राप्त करते हैं। यहाँ की व्यवस्था जघन्य भोगभूमि के सदृश है अर्थात् इनकी आयु एक पल्य और शरीर की ऊंचाई एक कोश है। मरण के बाद ये देवगति को ही प्राप्त करते हैं।[२]

पूर्वादि दिशाओं के मनुष्य क्रम से एक जंघा वाले, पूंछ वाले, सींग वाले और गूंगे हैं। विदिशाओं में क्रम से शष्कुलीकर्ण, कर्णप्रावरण, लम्बकर्ण और शशकर्ण जैसे कर्ण वाले हैं। अंतर दिशाओं के मनुष्य क्रम से सिंह, अश्व, श्वान, महिष, वराह, शार्दूल, घूक और बन्दर के समान मुख वाले हैं। हिमवान के दोनों तटों के क्रम से मत्स्यमुख और कालमुख वाले हैं। भरत के विजयार्ध के तटों के मेषमुख और गोमुख हैं। शिखरी पर्वत के तटों के मेघमुख और विद्युन्मुख हैं तथा ऐरावत के विजयार्ध सम्बन्धी तटों के आदर्शमुख और हस्तिमुख जैसे मुख वाले हैं। इन मनुष्यों के मुख, कान आदि ही पशुवत् विकृत हैं, शेष शरीर मनुष्यों का है अतएव ये कुमानुष कहलाते हैं।

इनमें से एक जंघा वाले कुमानुष गुफाओं में रहते हैं और वहां की मीठी मिट्टी खाते हैं। शेष सभी कुमानुष वृक्षों के नीचे रहकर फल, फूलों से जीवन व्यतीत करते हैं[३] अथवा ये कल्पवृक्षों से प्राप्त फलों का भोजन करते हैं[४]।

लवण समुद्र के अभ्यन्तर भाग में ये ४+४+८+८=२४ द्वीप हैं। ऐसे ही बाह्य तट की तरफ भी २४ हैं। इसी प्रकार कालोद समुद्र के अभ्यंतर बाह्य तट संबंधी २४+२४=४८ हैं अतः ये ९६ अंतरद्वीप हैं।

सम्यक्त्व से रहित कुत्सित पुण्य करके तथा कुपात्रों में दान देकर मनुष्य अथवा तिर्यंच इन कुमानुषों

---

१. त्रिलोकसार पृ. ७०१। २. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ४५८। ३. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ४५५। ४. कप्पंद्दुम दिण्ण फलभोजी (गाथा ९२०)।

में जन्म ले लेते हैं। इस प्रकार से ५ भरत, ५ ऐरावत क्षेत्रों के आर्यखंड के मनुष्य, १६० विदेहक्षेत्रों के आर्य खंडों के मनुष्य ऐसे १७० आर्यखंडों के मनुष्य, ३४० विद्याधर श्रेणियों के विद्याधर मनुष्य, ८५० म्लेच्छखंडों के मनुष्य और ९६ कुभोगभूमियों के मनुष्य, ये ५ भेदरूप मनुष्य हो जाते हैं। इनमें भरत, ऐरावत, विदेह के मनुष्य, विद्याधर श्रेणियों के मनुष्य और म्लेच्छखंडों के मनुष्य कर्मभूमिज हैं। ३० भोगभूमि और ९६ कुभोगभूमियों के मनुष्य भोगभूमिज हैं, इसलिए सभी मनुष्य दो भेदों में ही कहे गए हैं।

मानुषोत्तर पर्वत के भीतर के क्षेत्रों में ही मनुष्य होते हैं, इसके बाहर नहीं[१]। जंबूद्वीप एक लाख, लवण समुद्र दो लाख, धातकीखंड चार लाख, कालोद समुद्र आठ लाख और पुष्करार्धद्वीप आठ लाख योजन विस्तृत है। इनमें जंबूद्वीप को चारों ओर से घेरकर लवणसमुद्र आदि होने से दोनों तरफ से उनकी संख्या ली जायेगी। अतः १+२+२+४+४+८+८+८+८=४५ लाख योजन का यह मनुष्य क्षेत्र है।

इस मानुषोत्तर पर्वत से परे आधा पुष्कर द्वीप है। उसे घेरकर पुष्कर समुद्र है। इसी तरह एक-दूसरे को वेष्ठित किए हुए असंख्यात द्वीप-समुद्र इस मध्यलोक में हैं। अंतिम आधे द्वीप और पूरे समुद्र में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि सभी तिर्यंच रहते हैं।

मनुष्यराशि—पर्याप्त मनुष्यों की संख्या २९ अंक प्रमाण है। यथा—

१९८०७०४०६२८५६६०८४३९८३८५९८७५८४

भावस्त्रीवेदी मनुष्यराशि भी २९ अंक प्रमाण है। यथा—

५९४२११२१८८५६९८२५३१९५१५७९६२७५२

इनमें से अंतर्द्वीपज मनुष्य सबसे थोड़े हैं। इनसे भी संख्यातगुणे मनुष्य ५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु ऐसे १० कुरुक्षेत्रों में हैं। इनसे भी संख्यातगुणे ५ हरिवर्ष एवं ५ रम्यक क्षेत्रों में हैं। इनसे भी संख्यातगुणे ५ हैमवत और ५ हैरण्यवत क्षेत्रों में हैं। इनसे संख्यातगुणे ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्रों में हैं और इनसे संख्यात गुणे विदेहक्षेत्र में हैं अर्थात् सबसे थोड़े मनुष्य कुभोगभूमि में और सबसे अधिक मनुष्य विदेहक्षेत्रों में हैं।[२]

गुणस्थान व्यवस्था—भरत ऐरावत के ५-५ आर्यखंडों में कम से कम एक मिथ्यात्व और अधिक हों तो १४ गुणस्थान होते हैं। विदेहक्षेत्रों के १६० आर्यखंडों में कम से कम ६ और अधिक हों तो १४ गुणस्थान होते हैं। सर्व भोगभूमिजों में अधिकतम ४ गुणस्थान हैं। चूंकि ये व्रती नहीं बनते हैं, सब म्लेच्छखंडों में एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही है। विद्याधरों में ५ गुणस्थान हैं, यदि वे विद्याओं को छोड़कर मुनिदीक्षा ले लेते हैं तब १४ गुणस्थान तक भी प्राप्त कर लेते हैं[३]।

ये सब मनुष्य पुरुषवेद, स्त्रीवेद अथवा नपुंसकवेद इन तीनों में से कोई एक वेद से सहित होते हैं। म्लेच्छखंडों में, भोगभूमि और कुभोगभूमि में नपुंसक वेद नहीं है।

आर्य-म्लेच्छ मनुष्य—श्री उमास्वामी आचार्य ने अन्य प्रकार से मनुष्यों में दो भेद किए हैं—यथा 'आर्याम्लेच्छाश्च'[४]। मनुष्यों के आर्य और म्लेच्छ ऐसे दो भेद हैं। टीकाकार श्री भट्टाकलंक देव ने कहा है—'ऋद्धि प्राप्त और अनृद्धि प्राप्त (बिना ऋद्धि वाले) की अपेक्षा आर्य के दो भेद हैं।' अनृद्धि प्राप्त आर्य के ५ भेद हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य। ऋद्धि प्राप्त आर्य के ८ भेद हैं—

१. प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः (३५) तत्त्वार्थसूत्र अ. ३। "नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विधाधराः ऋद्धिप्राप्ता अपि मनुष्या गच्छन्ति, अन्यत्रोपपाद समुद्घाताभ्याम्, ततोऽस्यान्वर्य संज्ञा (तत्वार्थराजवार्तिक)"

२. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ५२४। ३. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ५२५। ४. तत्वार्थसूत्र, अ. ३, सूत्र ३६।

ये ऋद्धिधारी मुनियों के भेद हैं। ऋद्धि के बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और क्षेत्र ये ८ भेद हैं। इनके अवांतर भेद ५७ या ६४ भी माने हैं।

म्लेच्छ के भी दो भेद हैं—अंतरद्वीपज और कर्मभूमिज। ९६ कुभोगभूमि में होने वाले कुमानुष अंतरद्वीपज म्लेच्छ हैं तथा यहाँ आर्यखण्ड में जन्म लेने वाले शक, यवन, शबर, पुलिंद आदि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं[१]।

इन आर्य-म्लेच्छ दो भेदों में ही उपर्युक्त कर्मभूमिज, भोगभूमिज मनुष्य अंतर्भूत हो जाते हैं। १७० कर्मभूमि के क्षत्रिय, वैश्य आदि उच्चवर्णी मनुष्य, विद्याधर तथा भोगभूमिज मनुष्य आर्य हैं। कर्मभूमि के नीच वर्णी मनुष्य, म्लेच्छखंड के मनुष्य और कुभोगभूमि के मनुष्य ये सभी म्लेच्छ हैं।

भोगभूमि—जहां कल्पवृक्षों से भोगों की सामग्री प्राप्त हो जाती है, असि, मषि, कृषि, व्यापार आदि क्रियायें नहीं करनी पड़ती हैं, वह भोगभूमि है। यहाँ मात्र सुख ही सुख है[२]।

कर्मभूमि—जहां असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह क्रियायें होती हैं, वह कर्मभूमि है। यहां पर प्रकृष्ट शुभ-अशुभ कर्म किए जा सकते हैं इसीलिए कर्मभूमि नाम सार्थक है। प्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धि के सुख प्राप्त कराने वाला पुण्य, तीर्थंकर प्रकृति का बंध, उदय और महान ऋद्धियों की उत्पत्ति आदि असाधारण पुण्य तथा संपूर्ण संसार के कारणों के अभाव रूप निर्जरा भी इस कर्मभूमि में ही संभव है तथा प्रकृष्ट—कलंकल पृथ्वी—निगोद और सप्तम नरक के महादुःखों को प्राप्त कराने वाला पाप भी यहीं संभव है। इसी कारण से इन ५ भरत, ५ ऐरावत और १६० विदेहों का कर्मभूमि नाम है[३]। इस कर्मभूमि में सुख और दुःख दोनों पाए जाते हैं[४]। यहीं से मनुष्य कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार से ४५ लाख योजन प्रमाण ढाईद्वीप में इन १७० कर्मभूमियों से ही मोक्ष होता है। स्वर्ग के देव, देवेन्द्र भी यहाँ जन्म लेना चाहते हैं, चूंकि मनुष्यगति से ही मोक्ष प्राप्त किया जाता है।

चौबीस तीर्थंकर भक्ति

लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे।
अरहंते कित्तिस्से, चउबीसं चेव केवलिणो।।2।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत-चौबीस तीर्थंकरभक्ति गाथा-2)

अर्थ-लोक को प्रकाशित करने वाले, धर्मरूपी तीर्थ के कर्त्ता जिनवरों की मैं वंदना करता हूँ और अर्हंत पद को प्राप्त, केवलज्ञानी चौबीस तीर्थंकरों की मैं स्तुति करता हूँ।

---

१. तत्वार्थराजवार्तिक पृ. २०० से २०४। २.तिलोयपण्णत्ति, पृ. ५२७ (३० भोगभूमि, ९६ कुभोगभूमि में केवल सुख है)। ३. तत्वार्थराजवार्तिक, अ. ३, सूत्र ३७ की टीका। ४. कर्मभूमियों में सुख और दुःख दोनों ही होते हैं। तिलोयप., पृ. ५२७।

६. सप्तव्यसन त्याग

(पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रंथ के आधार से विशेषार्थ सहित)

सात व्यसनों के नाम

–अनुष्टुप्–

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः ।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः।।१६।।

जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सातों व्यसन महापाप को उत्पन्न करने वाले हैं अतएव बुद्धिमान पुरुष इनका त्याग अवश्य कर देवें।

संस्कृत में व्यसन का अर्थ दुःख है, जो दुःख के कारण हैं अथवा दुःखरूप ही हैं वे व्यसन कहलाते हैं अथवा व्यसन का अर्थ आदत भी है, जो बुरी आदत जीवन में जल्दी न छूट सके उसे ही व्यसन कहते हैं। इस दृष्टि से ये सातों ही व्यसन जीवन में दुःख के कारण हैं, दुःखरूप हैं और इनमें से यदि एक व्यसन भी जीवन में लग जाये तो उसका छूटना कठिन हो जाता है इसीलिए ये व्यसन नाम से कहे गये हैं। इनका त्याग किये बगैर कोई भी श्रावक नहीं बन सकता है।

अब जुआ के दोष दिखाते हैं

–मालिनी–

भुवनमिदमकीर्तेश्चौर्यवेश्यादिसर्वव्यसनपतिरशेषापन्निधिः पापबीजम्।
विषमनरकमार्गेष्वग्रयायीति मत्वा क इह विशदबुद्धिर्द्यूतमङ्गीकरोति।।१७।।

इन व्यसनों में पहला व्यसन जो जुआ है वह अपकीर्ति का स्थान है, चोरी एवं वेश्यासेवन आदि अन्य सर्व व्यसनों का राजा है, समस्त आपत्तियों का खजाना है, पाप का बीज है तथा विषम नरक मार्ग में प्रस्थान कराने के लिए अग्रसर है ऐसा जानकर इस संसार में कौन सा निर्मल बुद्धि वाला मनुष्य इस जुआ व्यसन को स्वीकार करेगा ?

जुआ खेलने से लोक में निन्दा होती है, जुआरियों की संगति से वेश्यासेवन, मदिरापान आदि व्यसन सहज ही लग जाते हैं। जुए में हार जाने से चोरी करने की आदत पड़ जाती है अतएव यह एक जुआ ही सब व्यसनों को कराने वाला मुखिया बन जाता है, जुआ खेलने से दरिद्रता, मूर्खता आदि अपत्तियां स्वयमेव बिना बुलाये आ जाती हैं। सभी पापों में प्रवृत्ति कराने से यह पापों का मूल कारण हो जाता है और तो क्या नरक, निगोद आदि दुर्गतियों में ले जाने के लिए अग्रगामी — आगे चलकर मार्ग दिखाने वाला बन जाता है, इन सब दुःखों के स्थानभूत ऐसे जुआ दुर्व्यसन को उत्तम बुद्धि वाले लोग कभी नहीं खेलते हैं। जो जुआ खेलते हैं वे दुर्बुद्धि ही हैं ऐसा समझना चाहिए।

–शार्दूलविक्रीडित–

क्वाकीर्तिः क्व दरिद्रता क्व विपदः क्व क्रोधलोभादयश्चौर्यादिव्यसनं क्व च क्व नरके दुःखं मृतानां नृणाम्।
चेतश्चेद्गुरुमोहतो न रमते द्यूते वदन्त्युन्नतप्रज्ञा यद्भुवि दुर्नयेषु निखिलष्वेतद्धुरि स्मर्यते।।१८।।

यदि चित्त महामोह से जुआ में नहीं लगता है तो भला उस मनुष्य की निन्दा कहां से होगी ? निर्धनता कहां रह सकेगी ? विपत्तियां कहां से आ सकेंगी ? क्रोध, लोभ आदि कषायें कहां से पैदा होंगी ? चोरी, शिकार आदि अन्य व्यसन भी कहां से आ सकेंगे ? तथा मनुष्यों को मरकर नरक में जाकर दुःख कहां से उठाने पड़ेंगे ? अर्थात् जुआ व्यसन के त्याग कर देने से उपर्युक्त निन्दा आदि दोष नहीं होंगे, ऐसा श्रेष्ठ बुद्धि के धारक विद्वान कहते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि इस पृथ्वीतल पर समस्त दुर्व्यसनों में यह जुआ गाड़ी की धुरा के समान मुख्य माना गया है।

जो जुआ खेलते हैं वे अपकीर्ति, निर्धनता, नाना विपत्तियों, क्रोध, लोभ आदि कषायों तथा चोरी आदि व्यसनों से सहित हो जाते हैं और तो क्या, मरकर नरक में जाकर असंख्य दुःखों को भोगते हैं किन्तु जो जुए का त्याग कर देते हैं वे निन्दा, निर्धनता आदि से बच जाते हैं अतः आचार्यों का कहना है कि यह जुआ ही सर्व दुर्व्यसनों का और सर्व दुःखों का स्थान है ऐसा समझकर इससे दूर ही रहना चाहिए।

मांस व्यसन के दोष दिखाते हैं

-स्रग्धरा-

बीभत्सुप्राणिघातोद्भवमशुचि कृमिस्थानमश्लाघ्यमूलं हस्तेनाक्ष्णापि शक्यं यदिह न महतां स्पृष्टुमालोकितुं च।
तन्मांसं भक्ष्यमेतद्वचनमपि सतां गर्हितं यस्य साक्षात्पापं तस्यात्र पुंसो भुवि भवति कियत्कागतिर्वा न विद्मः।।१९।।

जो मांस घृणा को उत्पन्न करता है, हिरण आदि प्राणियों के घात से उत्पन्न होता है, अपवित्र है, कृमि आदि नाना कीड़ों का स्थान है, जिसकी उत्पत्ति अत्यंत निंदनीय है, जिसे महापुरुष हाथ से स्पर्श भी नहीं करते और न आंख से देख ही पाते हैं। ऐसा मांस खाने योग्य है ऐसा बोलना भी सज्जन पुरुषों के लिये निंदाजनक है फिर ऐसे अशुचि मांस को जो पुरुष साक्षात् खाता है उसको यहां संसार में कितना पाप होता है ? तथा उसकी क्या अवस्था होती है ? इस बात को हम नहीं जान सकते हैं।

यह मांस ऐसी वस्तु है कि जो बिना जीव हिंसा के उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। हिरण, सिंह, बकरा, गाय, भैंस, मुर्गा आदि प्राणियों को मारकर उनके कलेवर को ही मांस कहा जाता है। ऐसे मांस को देखते ही ग्लानि आती है। प्रतिक्षण उसमें सूक्ष्म तो सूक्ष्म, स्थूल भी कीड़े उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार यह मांस अनंत जीवों का पिंड माना जाता है। श्रीअमृतचंद्र सूरि ने कहा भी है —

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्।।६७।।
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिंडं बहुजीवकोटीनाम्।।६८।।

चाहे कच्चा मांस हो, चाहे पकाया हुआ हो, चाहे पकाया जा रहा हो, मांस की डलियों की सर्व ही अवस्थाओं में प्रतिसमय उस-उस जाति के अनंत निगोद जीव उत्पन्न होते ही रहते हैं इसलिए जो कोई भी कच्चे या पके हुए कैसे भी मांस के टुकड़े को खाता है वह अनेक करोड़ों जीवों की हिंसा का पाप संचित कर लेता है।

इसी प्रकार यह मांस कभी भी किसी स्थिति में भी प्रशंसनीय नहीं हैं प्रत्युत निंद्य ही है।

प्रश्न — यदि कोई स्वयं जीवों की हिंसा न करे और न ही दूसरों से करावे किन्तु स्वयं मरे हुए प्राणी का

मांस खा लेवे तब तो बहुत पाप नहीं लगना चाहिए ?

उत्तर—आपका ऐसा प्रश्न भी ठीक नहीं है, चूंकि वह मांस भी अनंत जीवों का पिंड होने से महान हिंसा को उत्पन्न करने वाला है।

श्रीअमृतचंद्र सूरि ने कहा है—

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्[१]।।६६।।

स्वयं ही मरे हुए भैंसा, बैल आदि प्राणियों के मांस में भी उसी जाति के जिस जीव का वह मांस है अनंतानंत निगोदिया जीव जन्म लेते रहते हैं और उस मांस के खाने से उनका घात होने से महान् हिंसा का पाप लगता है इसलिए मांस कथमपि ग्राह्य नहीं है।

प्रश्न—कुछ मुर्गी, कबूतर आदि के अंडे निरामिष माने जाते हैं अर्थात् जीव रहित निर्जीव माने जाते हैं, उनके खाने में कोई पाप नहीं होना चाहिए ?

उत्तर—जो मुर्गी, कबूतर आदि के गर्भ में बनकर उत्पन्न होते हैं वे ही अंडा कहलाते हैं। ये कोई भी अंडा कभी भी निर्जीव नहीं हैं। हां, जन्म लेने के बाद यदि मुर्गी आदि उनकी मातायें उन्हें सेती नहीं हैं तो वे मर जाते हैं पुनः उनसे मुर्गा या कबूतर आदि पैदा नहीं हो सकते हैं फिर भी वे पहले जीव का कलेवर होने से स्वयमेव ही मरे हुए प्राणियों के कलेवर के समान ही अनंतानंत निगोद जीवों के स्थान हैं, मृत प्राणी के कलेवर होने से मांस ही हैं अतः उनका भक्षण भी महान पाप है, चूंकि कोई भी अंडे निरामिष होते ही नहीं हैं। यह तो स्वयं को भ्रमित करने का एक कुप्रयास है। गर्भ में जीव आने के बाद ही अंडा का आकार बनता है, बिना जीव के अंडा बन ही नहीं सकता है ऐसा समझकर अंडे का भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए और जिन खाने की चीजों में अंडा पड़ता है ऐसे 'केक' 'डबलरोटी' आदि पदार्थों को कतई नहीं खाना चाहिए।

अपने संबंधी भी प्रिय हैं पुनः दूसरे का मांस कैसे खाना ?

–शिखरिणी–

गतो ज्ञातेः कश्चिद्वहिरपि न यद्येति सहसा शिरो हत्वा हत्वा कलुषितमना रोदिति जनः।
परेषामुत्कृत्य प्रकटितमुखं खादति पलं कले रे निर्विण्णा वयमिहभवच्चित्रचरितैः।।२०।।

यदि कोई अपना बंधु—कुटुंब का मनुष्य कहीं बाहर जाकर यथासमय वापस नहीं आता है तो मनुष्य व्याकुल होता हुआ उसके अनिष्ट की आंशका से शिर को पीट-पीटकर रोने लगता है। पुनः वही मनुष्य अन्य प्राणियों को मारकर उनके मांस को अपने मुख में रखकर खाता है। अरे कलिकाल! हम लोग तेरी इन विचित्र प्रवृत्तियों से इस समय बहुत ही निर्वेद को—वैराग्य को प्राप्त हो रहे हैं।

लोक में देखा जाता है कि अपने संबंधी भाई, भतीजा आदि कोई भी व्यक्ति यदि किसी कार्यवश कहीं बाहर चले जाते हैं पुनः समय पर जल्दी नहीं आते हैं तो उनका कहीं मरण तो नहीं हो गया ? ऐसी आशंका से लोग आकुल-व्याकुल होकर शिर पीट-पीटकर रोने लगते हैं, हाहाकार मचा देते हैं। आचार्य कहते हैं—देखो, ऐसे भी व्यक्ति अन्य किसी भी जीव को उनके माता-पिता आदि से छुड़ाकर उनको मारकर उनका मांस खाते समय अपना मुंह फाड़-फाड़ कर मांस डलियां भला कैसे खाते हैं ? अरे कलिकाल! ये सब तेरी निंद्य

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

चेष्टाएँ हैं अर्थात् इस कलिकाल के प्रभाव से ही आज इतने अधिक मांसाहारी दिख रहे हैं। भारत में अनेक जातियों में बहुत संख्या ऐसी है जो कि मांसाहारी है। विदेशों में तो शाकाहारी लोगों की संख्या बहुत ही मुश्किल से दिखती है।

जिन्हें अपने कुटुंबी, इष्ट-मित्रों के प्रति खूब ही प्रेम है, उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी हो उठते हैं ऐसे लोग भी अंडे, मछली आदि को खाते हुए दया नहीं लाते हैं। यह सब इस दुःषमकाल का ही प्रभाव है। फिर भी ऐसे कलिकाल में भी जो मांस के नाम से भी कांप उठते हैं, छूने और देखने की बात बहुत दूर है ऐसे महापुरुष भी बहुत देखे जाते हैं। वे भी इस कलिकाल के कुप्रभाव से बचकर अपनी आत्मा की उन्नति — सद्गति करने वाले हैं। आज हर किसी निरामिषभोजी — शाकाहारीजनों को बाजार की बनी हुई चीजें, डालडा घी, आदि जिनमें मांस, अंडों की आशंका है ऐसी वस्तुयें न खाना चाहिए, न अपने घर में लाना चाहिए और न अपने बच्चों को ही खिलाना चाहिए।

मदिरा के दोषों को दिखाते हैं

-मालिनी-

सकलपुरुषधर्मभ्रंशकार्यत्रजन्मन्यधिकमधिकमग्रे यत्परे दुःखहेतुः।
तदपि यदि न मद्यं त्यज्यते बुद्धिमद्भिः स्वहितमिहकिमन्यत्कर्म धर्माय कार्यम्।।२१।।

जो मदिरा इस जन्म में समस्त पुरुषार्थों का नाश करने वाली है और अगले भव में अत्यधिक दुःख का हेतु है उस मदिरा को यदि बुद्धिमान मनुष्य नहीं छोड़ते हैं तो पुनः यहां संसार में धर्म के निमित्त अपने लिए हितकर दूसरा कौन सा काम करने के योग्य है ? अर्थात् कोई नहीं है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ सर्वजन प्रसिद्ध हैं। मदिरा पीने वाला मनुष्य न तो धर्मकार्य कर सकता है, न इच्छानुसार इन्द्रिय विषयों का भोग ही कर सकता है फिर भला उसके लिए मोक्ष पुरुषार्थ की बात कहां हो सकती है ? वह शराबी मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को समाप्त कर देता है। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि शराबी मनुष्य अपना धन, धर्म, स्वास्थ्य और यश इन चारों को नष्ट करके निर्धन, पापी, रोगी और निंदनीय हो जाता है, लोग उसे अपने पास बैठाने में भी बुरा समझते हैं, पुनः खोटे परिणामों से मरकर नरक, तिर्यंच, निगोद आदि दुर्गतियों में चला जाता है वहां अनंत कालों तक दुःख भोगता रहता है। शराब के पीने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, हिताहित का विवेक जाता रहता है इसलिए विवेकी पुरुष ऐसी मदिरा को पीना तो दूर रहा छूते भी नहीं हैं और न शराबियों की संगति ही करते हैं।

-मन्दाक्रान्ता-

आस्तामेतद्यदिह जननीं वल्लभां मन्यमाना निन्द्याश्रेष्टा विदधति जना निस्त्रपाः पीतमद्याः।
तत्राधिक्यं पथि निपतिता यत्किरत्सारमेयाद्वक्त्रे मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणाः पिबन्ति।।२२।।

जो मदिरापान करते हैं ऐसे व्यक्ति नशे में आकर निर्लज्ज होकर यहां — अपने घर में ही माता को पत्नी मानकर निंदनीय चेष्टा करने लगते हैं। और तो क्या ? वे नशे से रास्ते में गिर जाते हैं तब उनके मुंह में कुत्ता पेशाब कर देता है और वे उसे अतिशय मधुर कहते हुए पी लेते हैं। यह बड़े दुःख की बात है।

शराब के नशे में जब मनुष्य पागल सा हो जाता है तब इधर-उधर कहीं भी गिरता पड़ता है, यद्वा-तद्वा बकने लगता है, और तो क्या माता को पत्नी और पत्नी को माता समझकर माता के सामने भी निंद्य चेष्टायें

करने लगता है। यहां तक कि यदि वह रास्ते में पड़ा हो और अकस्मात् उसके मुख में कुत्ते पेशाब कर दें तो वह नशे में चूर हुआ उसे भी मीठी कहते हुए पी जाता है। शराबी मनुष्यों की नाना निंद्य चेष्टायें लोकव्यवहार में सभी को दिखती रहती हैं, इसे विस्तार से क्या कहना ? कुल मिलाकर शराब का पीना सर्वथा खराब है। धन, धर्म, स्वास्थ्य और इज्जत इन सबको मिट्टी में मिला देता है, ऐसा समझकर जीवन भर के लिए ऐसे निंद्य व्यसन का त्याग कर देना चाहिए जिससे कि अगले भव में दुर्गतियों में न जाना पड़े।

वेश्यासेवन के दोष दिखाते हैं

याः खादन्ति पलं पिवन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम्।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम्।।२३।।

जो वेश्यायें मांस खाती हैं, मदिरा पीती हैं, असत्यवचन बोलती हैं, केवल धन प्राप्ति के लिए ही प्रेम करती हैं, धन और प्रतिष्ठा इन दोनों को ही नष्ट कर देती हैं, जो मन में अत्यंत कुटिलता को धारण करने वाली, पापिनी हैं तथा जो हमेशा नीच पुरुषों की लार को पीती रहती हैं ऐसी वेश्याओं को छोड़कर दूसरा कोई नरक नहीं है।

जो महिला विवाहिता हो या अविवाहिता, धन के लाभ में अनेक पुरुषों के साथ रमण करती है वह वेश्या कहलाती है। ऐसी वेश्यावृत्ति करने वाली महिलायें हमेशा ही मदिरा, मांस आदि अपवित्र वस्तुओं को खाती-पीती रहती हैं, किसी पुरुष पर प्रेम प्रदर्शित करती हैं, किसी को अपनेपन का विश्वास दिलाती हैं और किसी के प्रति आसक्ति प्रगट करती हैं फिर भी झूठ बोलने में कुशल होने से सबको ठगती रहती हैं, उनका अपना प्रिय एक धन के सिवाय कोई मनुष्य नहीं रहता है और जो वेश्यासेवन करते हैं, वे धन और इज्जत को खो देते हैं। ये वेश्यायें नीचों के साथ व्यभिचार करने से उनके मुख की लार पीती हैं। ये सर्वथा निंद्य हैं इनके साथ प्रेम करने वाले मनुष्य नरकगति को प्राप्त कर लेते हैं इसीलिए आचार्यों ने इन्हें ही नरक कह दिया है।

-आर्या-

रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः।
गणिकाभिर्यदि सङ्गः कृतमिह परलोकवार्ताभिः।।२४।।

ये वेश्यायें धोबी के कपड़े धोने की शिला के समान हैं, इनका आचरण कुत्तों के कपाल के समान निंद्य है ऐसी वेश्याओं के साथ जो संसर्ग करते हैं तो फिर उनके लिए परलोक की बातों से ही बस हो अर्थात् उन वेश्यालोलुपीजनों के लिए परलोक की बात ही असंभव है।

जिस प्रकार धोबी अपने घाट की शिला पर अच्छे और बुरे सभी के गंदे कपड़े धोता है, जिस प्रकार एक ही मृतक के कपाल को अनेक कुत्ते खींचते हैं और चाटते हैं उसी प्रकार जिन वेश्याओं के यहां सभी ऊंच-नीच पुरुष आते हैं, उसके साथ रमण करते हैं उन वेश्यागामी लोगों का परलोक में हित होगा, अच्छी गति होगी, यह भला कहां संभव है ? अर्थात् वेश्यासेवन व्यसन से नरक, निगोद आदि दुर्गतियों में ही जाना पड़ेगा ऐसा समझकर इस दुर्व्यसन का त्याग कर देना चाहिए।

शिकार के दोष दिखाते हैं

-स्रग्धरा-

यादुर्देहैकवित्ता वनमधिवसति त्रातृसंबन्धहीना भीतिर्यस्याः स्वभावाद्दशनधृततृणा नापराधं करोति।
वध्यालं सापि यस्मिन्ननुमृगवनितामांसपिण्डस्यलोभादाखेटेऽस्मिन्रतानामिहकुमतिकिमन्यत्रनो यद्विरूपम्।।२५।।

जो हिरणी दुःखदायक एकमात्र देहरूप धन को धारण करती हुई वन में रहती है, जिसका कोई रक्षक नहीं है, जो स्वभाव से ही सदा भयभीत रहती है तथाा दांतों के मध्य में तृण दबाये हुए है — घास खाती हुई किसी का कुछ भी अपराध — बिगाड़ नहीं करती है। आश्चर्य है कि ऐसी हिरणी मांस के पिंड के लोभी शिकार के व्यसनी जनों के द्वारा मारी जाती है ऐसे शिकार व्यसन में आसक्त हुए लोगों के इस लोक में और परलोक में कौन सा पाप नहीं होता है ?

प्राचीन काल में एक पद्धति रही है कि जो शत्रु दांतों के मध्य में तिनका दबाकर सामने आता था तब उसे वीर पुरुष हारा हुआ मानकर छोड़ देते थे, फिर उसके ऊपर वे शस्त्र प्रहार नहीं करते थे किन्तु बड़े दुःख की बात है कि शिकारी लोग ऐसे भी दीन-अनाथ, निरपराध प्राणियों का घात करते हैं जो कि घास का भक्षण करते हुए मुख में तृण दबाए रहते हैं।

-मालिनी-

तनुरपि यदि लग्ना कीटिका स्याच्छरीरे भवति तरलचक्षुर्व्याकुलो यः स लोकः।
कथमिह मृगयाप्तानन्दमुत्खातशस्त्रो मृगमकृतविकारं ज्ञातदुःखोऽपि हन्ति।।२६।।

जब अपने शरीर में कोई भी चींटी आदि चिपक जाए तब मनुष्य व्याकुल होकर चंचल नेत्रों से उसे ढूंढने लगते हैं फिर वे ही मनुष्य अपने समान दूसरे प्राणियों के दुःख का अनुभव करके भी शिकार खेलने में आनंद मानते हैं और क्रोध, वैर आदि विकृत भावों से रहित निरपराध मृग आदि प्राणियों के ऊपर शस्त्र चलाकर कैसे उनका वध कर देते हैं ?

अपने शरीर में कोई चींटी, मच्छर आदि काट लेवे तो दुःख होता है, मन व्याकुल हो उठता है पुनः निर्दयी मनुष्य कैसे दूसरों पर शस्त्र चला देते हैं, बंदूक आदि के निशाने से गोली मारकर घात कर देते हैं। वास्तव में ये शिकारी अपने मौज और शोक के लिए भी शिकार खेलते हैं जबकि अपने पुत्र, मित्र आदि को दुःखी देखकर सिहर उठते हैं अतएव दयालु मनुष्यों को शिकार खेलने का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

चोरी के दोष दिखाते हैं

-शार्दूलविक्रीडित-

यो येनैव हतः स हन्ति बहुशो हन्त्येव यैर्वञ्चितो नूनं वञ्चयते स तानपि भृशं जन्मान्तरेऽप्यत्र च।
स्त्रीवालादिजनादपि स्फुटमिदं शास्त्रादपि श्रूयते नित्यं वञ्चनहिंसनोज्झनविधौ लोकाः कुतो मुह्यते।।२७।।

जो मनुष्य जिसके द्वारा मारा जाता है वह मनुष्य अपने मारने वाले को भी अनेकों बार मारता है। इसी प्रकार जो मनुष्य जिन दूसरे लोगों के द्वारा ठगा जाता है वह निश्चित ही उन लोगों को भी इसी जन्म में और जन्मांतर में भी अवश्य ठगता है। यह बात स्त्री, बाल, वृद्ध आदि जनों में भी प्रसिद्ध है और शास्त्रों में भी स्पष्टतया सुनी जाती है, पुनः लोग हमेशा वंचना — धोखाधड़ी और हिंसा के त्याग में भला क्यों मोह को प्राप्त होते हैं ?

लोग धन के लोभ में चोरी करने की भावना से दूसरों को ठगते हैं यह चोरी ही है। एक बार दूसरों को ठगने वाला मनुष्य जन्म-जन्म में दूसरों के द्वारा ठगाया जाता है। चूँकि पाप का फल तो भोगना ही पड़ता है अतः परवंचना और हिंसा आदि को छोड़ने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। चोरी करना, पर धन चुराना, हड़पना यह छठा व्यसन है।

अर्थादौ प्रचुरप्रपञ्चरचनैर्ये वञ्चयन्ते परान्नूनं ते नरकं व्रजन्ति पुरतः पापिव्रजादन्यतः।
प्राणाः प्राणिषु तन्निवन्धनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने यावान् दुःखभरो नरे न मरणे तान्नहि प्रायशः।।२८।।

जो मनुष्य धन आदि के कमाने में अनेक प्रपंचों को रचकर दूसरों को ठगा करते हैं वे निश्चित ही इस पाप के निमित्त से आगे के भवों में नरकों में चले जाते हैं क्योंकि प्राणियों में प्राण धन के निमित्त से ही ठहरते हैं, धन के नष्ट हो जाने पर मनुष्य को जितना अधिक दुःख होता है उतना प्रायः उसे मरते समय भी नहीं होता है।

धन को लोक में मनुष्यों का ग्यारहवां प्राण माना गया है। श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी कहा है—

अर्थानाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्[१]**।।१०३।।**

जिस प्रकार संसारी जीवों के जीवन में कारणभूत ऐसे पांच इंद्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दस प्राण होते हैं वैसे ही मनुष्यों के धन आदि बाह्य पदार्थ—धन, धान्य, संपदा, हाथी, घोड़ा, दासी, दास, महल, जमीन, पुत्र, स्त्री, वस्त्राभूषण जो भी बाह्य पदार्थ हैं वे सब बाह्य प्राण माने गये हैं क्योंकि ये सब बाह्य पदार्थ भी मनुष्यों के जीवन में निमित्त देखे जाते हैं। इनमें से किसी एक, दो आदि के वियोग में जीवों के प्राणघात के समान दुःख होता है। यही कारण है कि जो मनुष्य जिस किसी के धन आदि को हरता है वह उसके प्राणों को हरता है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए चोरी दुर्व्यसन भी साक्षात् हिंसा ही है।

अब परस्त्रीसेवन के दोष दिखाते हैं

चिन्ताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशोऽतिदाहभ्रमक्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणान्येतान्यहो आसताम्।
यान्यत्रैव पराङ्गनाहतमतेस्तद्भूरिदुःखं चिरं श्वभ्रे भावि यदग्निदीपितवपुर्लोहाङ्गनालिङ्गनात्।।२९।।

जो परस्त्री में मन को आसक्त रखने वाले हैं उनके अगले जन्म की बात तो दूर ही रहे इसी जन्म में चिंता, आकुलता, भय, द्वेषभाव, बुद्धि का विनाश, अतीव दाह, संताप, भ्रांति, भूख, प्यास, मन पर आघात, रोगवेदना और मरण ये दुःख प्राप्त होते हैं पुनः जन्मान्तर में इस परस्त्री सेवन के पाप के निमित्त से नरक गति में अग्नि में तपाई हुई लोहमयी पुतली के आलिंगन से चिरकाल तक बहुत दुःख भोगना पड़ता है। आश्चर्य है कि यह व्यसनी जीव उधर ध्यान ही नहीं देता है।

अपनी विवाहिता स्त्री के सिवाय अन्य महिलायें परायी स्त्री होने से परस्त्री कहलाती हैं। इसमें कुमारिकाएं भी सम्मिलित हैं चूंकि वे भी जब तक माता-पिता के द्वारा दी नहीं जाती हैं तब तक पराई ही हैं अथवा भविष्य में उनके माता-पिता उन कन्याओं को अन्य के साथ विवाहते हैं इसलिए भी वे परस्त्री कहलाती हैं। आचार्यों ने कहा है कि—

जो मनुष्य अपने से बड़ी महिला को माता, बराबर वाली को बहिन और अपने से छोटी को पुत्री के समान मानकर उनके प्रति विकारभाव को मन में भी नहीं लाता है वही परस्त्री का त्यागी है। यह एकदेश ब्रह्मचर्य व्रत भी महान है। शास्त्रों में परस्त्री लंपट पुरुषों के नीचगति के उदाहरण भरे पड़े हैं। ऐसे ही स्त्रियों के लिए भी अपने पति के सिवाय अन्य पुरुष भी पिता, भाई और पुत्र के समान हैं ऐसा जो मानती हैं वे ही सीता, मनोरमा आदि के समान पूज्यता को प्राप्त कर लेती हैं। ऐसी सती महिलाओं के ऊपर ही भारतीय संस्कृति जीवित है।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

-शार्दूलविक्रीडित-

धिक्तं पौरुषमासतामनुचितास्ताबुद्धयस्तेगुणा माभून्मित्रसहायसम्पदपि सा तज्जन्म यातु क्षयम्। लोकानामिह येषु सत्सु भवति व्यामोहमुद्राङ्कितं स्वप्नेऽपि स्थितिलङ्घनात्परधनस्त्रीषु प्रसक्तं मनः।।३०।।

वह अनुचित पौरुष, वह अनुचित बुद्धि, वे अनुचित गुण दूर ही रहें, उस अयोग्य पौरुष को धिक्कार हो। ऐसे मित्रों की सहायतारूप संपत्ति भी मत हो, वह जन्म भी नाश को प्राप्त हो जावे कि जिनके होने पर लोगों का मन व्यामोह को प्राप्त होता हुआ मर्यादा का उल्लंघन करके स्वप्न में भी परधन एवं परस्त्रियों में आसक्त होता है।

भावार्थ— पौरुष, बुद्धि, गुण, मित्रों की सहायता और मनुष्य पर्याय में जन्म इन सबको प्राप्त करके भी यदि किसी का मन मर्यादा को तोड़कर परधन या परस्त्री की स्वप्न में भी भावना करता है तो ये पौरुष, बुद्धि, गुणादि धिक्कार के योग्य हैं, सर्वथा अयोग्य ही हैं क्योंकि ये सब इस जीव को नरक निगोदों में ले जाने वाले हैं अतः पौरुष, बुद्धि आदि का सदुपयोग यही है कि सात व्यसनों से सर्वथा मन को दूर ही रखें।

-शार्दूलविक्रीडित-

द्यूताद्धर्मसुतः पलादिह बको मद्याद्यदोर्नन्दनाश्चारुः कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृपः। चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनितादोषाद्दशास्यो हठादेकैकव्यसनोद्धता इति जनाः सर्वैर्न को नश्यति।।३१।।

जुआ खेलने से युधिष्ठिर, मांस खाने से बक राजा, शराब पीने से यादव, वेश्यासेवन से चारुदत्त सेठ, मृगों—जंगली पशुओं की हिंसा से शिकार खेलने से राजा ब्रह्मदत्त, चोरी करने से शिवभूति ब्राह्मण और परस्त्री दोष से रावण, इस प्रकार एक-एक व्यसन से ये सातों जन महान् दुःखों को प्राप्त हुए हैं। फिर भला जो सभी व्यसनों का सेवन करता है उसका विनाश क्यों नहीं होगा ? अर्थात् वह सप्तव्यसनी तो संपूर्ण दुःखों को प्राप्त करेगा ही करेगा।

विशेषार्थ— "यत् मनुष्यान् श्रेयसः कल्याणात् व्यस्यति—दूरी करोति तत् व्यसनम्।" जो मनुष्यों को श्रेयस्कर—कल्याणमार्ग से दूर कर देता है उसका नाम व्यसन है। ऐसे व्यसन सात हैं—जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना। इन सातों में से केवल एक-एक व्यसन का सेवन करने वाले पुरुष ही नाना दुःखों को प्राप्त कर चुके हैं और लोक में अपकीर्ति को भी प्राप्त हुए हैं। उनकी विशेष कथायें उन-उन के पुराण, चरित्र ग्रंथों से जानना चाहिए। यहाँ अन्य प्रकार से उनके लक्षण बताते हुए उनसे संबंधित संक्षिप्त कथायें दी जा रही हैं—

जिस काम को बार-बार करने की आदत पड़ जाती है, उसे व्यसन कहते हैं। यहाँ बुरी आदत को व्यसन कहा है अथवा दुःखों को व्यसन कहते हैं। यहाँ उपचार से दुःखों के कारणों को भी व्यसन कह दिया है। ये व्यसन सात हैं—

जुआ खेलन, मांस, मद, वेश्यागमन, शिकार।
चोरी, पररमणी रमण, सातों व्यसन निवार ।।

(१) जुआ खेलना

जिसमें हार-जीत का व्यवहार हो, उसे जुआ कहते हैं। यह रुपये-पैसे लगाकर खेला जाता है। यह सभी व्यसनों का मूल है और सब पापों की खान है। इस लोक में अग्नि, विष, सर्प, चोरादि तो अल्प दुःख देते हैं किन्तु जुआ व्यसन मनुष्यों को हजारों भवों तक दुःख देता रहता है।

उदाहरण—हस्तिनापुर के राजा धृतराज के धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर ये तीन पुत्र थे। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए और पांडु के युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ये पांच पुत्र हुए। दुर्योधन आदि कौरव तथा युधिष्ठिर आदि पांडव कहलाते थे ये सब शामिल ही राज्य करते थे।

कुछ दिन बाद कौरवों की पांडवों के प्रति ईर्ष्या देखकर भीष्म पितामह आदि बुजुर्गों ने कौरवों और पांडवों में आधा-आधा राज्य बांट दिया किन्तु इस पर दुर्योधन आदि कौरव अशांति किया करते थे।

किसी समय कौरव और पांडव जुआ खेलने लगे, उस समय दैववश दुर्योधन से युधिष्ठिर हार गये, यहाँ तक कि अपना राज्य भी जुए में हार गये। तब दुर्योधन ने दुष्टतावश बारह वर्ष तक उन्हें वन में घूमने का आदेश दे दिया और दुःशासन ने द्रौपदी की चोटी पकड़कर घसीट कर भारी अपमान किया किन्तु शील शिरोमणि द्रौपदी का वह कुछ भी बिगाड़ न सका। पांचों पांडव द्रोपदी को साथ लेकर बारह वर्ष तक इधर-उधर घूमे और बहुत ही दुःख उठाये। इसलिये जुआ खेलना महापाप है।

बालकों! तुम्हें भी जुआ कभी नहीं खेलना चाहिये। इससे लोभ बढ़ता चला जाता है पुनः आगे जाकर धर्म और धन दोनों का सर्वनाश हो जाता है।

(२) मांस खाना

कच्चे, पके हुए या पकते हुए किसी भी अवस्था में माँस के टुकड़े या अण्डे में अनंतानंत त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। यह प्रत्यक्ष में ही महानिंद्य है, अपवित्र है। इसके छूने मात्र से ही अनंत जीवों की हिंसा हो जाती है। माँस खाने वाले महापापी कहलाते हैं और अंत में दुर्गति में चले जाते हैं।

उदाहरण—किसी समय पाँचों पांडव माता कुन्ती सहित श्रुतपुर नगर में एक वणिक के यहाँ ठहर गये। रात्रि में उसकी स्त्री का करुण क्रंदन सुनकर माता कुन्ती ने कारण पूछा, उसने कहा—माता! इस नगर का बक नामक राजा मनुष्य का माँस खाने लगा था। तब नगर के लोगों ने उसे राज्य से हटा दिया। तब भी वह वन में रहकर मनुष्यों को मार-मारकर खाने लगा। तब लोगों ने यह निर्णय किया कि प्रतिदिन बारी-बारी से एक-एक घर में से एक- एक मनुष्य देना चाहिये, दुर्भाग्य से आज मेरे बेटे की बारी है।

इतना सुनकर कुन्ती ने भीम से सारी घटना बताई। प्रातः काल भीम ने उसके लड़के की बारी में स्वयं पहुँचकर बक राजा के साथ भयंकर युद्ध करके उसे समाप्त कर दिया। वह मरकर सातवें नरक में चला गया, जो कि वहाँ पर आज तक दुःख उठा रहा है।

देखो बालकों! माँस अंडे तो क्या, शक्कर की बनी हुई मछली आदि आकार की बनी मिठाई भी नहीं खानी चाहिये, उसमें भी पाप लगता है।

(३) मदिरापान करना

गुड़, महुआ आदि को सड़ाकर शराब बनाई जाती है। इसमें प्रतिक्षण अनंतानंत सम्मूर्छन त्रस जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इसमें मादकता होने से पीते ही मनुष्य उन्मत्त हो जाता है और न करने योग्य कार्य कर डालता है। इस मदिरापान से लोग माँस खाना, वेश्या सेवन करना आदि पापों से नहीं बच पाते हैं और सभी व्यसनों के शिकार बन जाते हैं।

उदाहरण—किसी समय भगवान नेमिनाथ की दिव्यध्वनि से श्रीकृष्ण को मालूम हुआ कि बारह वर्ष बाद शराब के निमित्त से द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारिका नगरी भस्म हो जावेगी। तब श्रीकृष्ण ने आकर सारी मद्य

सामग्री और मदिरा को गाँव के बाहर कन्दराओं में फिकवा दिया। अनंतर बारह वर्ष बीत चुके हैं, ऐसी भ्रान्तिवश कुछ दिन पहले ही द्वीपायन मुनि द्वारिका के बाहर आकर ध्यान में लीन हो गये।

इधर शंबु आदि यादव कुमारों ने वनक्रीड़ा में प्यास से व्याकुल होकर कन्दराओं में संचित मदिरा को जल समझकर पी लिया। फिर क्या था, वे सब उन्मत्त हुए आ रहे थे, मार्ग में द्वीपायन मुनि को देखकर उपसर्ग करना व बकना प्रारम्भ कर दिया।

मुनिराज ने बहुत कुछ सहन किया, अंत में उनके क्रोध की तीव्रता से तैजस पुतला निकला और धू-धू करते हुए सारी द्वारिका को भस्मसात् कर दिया।

उस समय वहाँ का दृश्य कितना करुणाप्रद्र होगा, उसका वर्णन कौन कर सकता है। मात्र श्रीकृष्ण और बलभद्र ही वहां से बचकर निकल सके थे।

पाठकों! इस शराब व्यसन की हाँनि को पढ़कर इसका त्याग कर देना ही उचित है।

(४) वेश्यागमन करना

वेश्या के घर आना-जाना, उसके साथ रमण करना, वेश्या सेवन कहलाता है। जो कोई मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ निवास करता है वह भील, चाण्डाल आदि का झूठा खाता है, ऐसा समझना चाहिये क्योंकि वेश्या इन सभी नीच लोगों के साथ समागम करती है। वेश्यागामी लोग व्यभिचारी, लुच्चे, नीच कहलाते हैं। इस भव में कीर्ति और धन का नाश करके परभव में दुर्गति में चले जाते हैं।

उदाहरण — चम्पापुरी के भानुदत्त सेठ और भार्या देविला के चारुदत्त नाम का पुत्र था। वह सदैव धार्मिक पुस्तकों को पढ़ने में अपना समय व्यतीत करता रहता था। वहीं के सेठ सिद्धार्थ ने अपनी पुत्री मित्रवती का विवाह चारुदत्त के साथ कर दिया किन्तु चारुदत्त अपने पढ़ने-लिखने में इतना मस्त था कि अपनी पत्नी के पास बहुत दिन तक गया ही नहीं।

तब चारुदत्त का चाचा रुद्रदत्त अपनी भावज की प्रेरणा से उसे गृहस्थाश्रम में फंसाने हेतु एक बार वेश्या के यहां ले गया और उसे चौपड़ खेलने के बहाने वहीं छोड़कर आ गया।

उधर चारुदत्त ने वसंतसेना वेश्या में बुरी तरह फंसकर कई करोड़ की सम्पत्ति समाप्त करके घर भी गिरवी रख दिया। अंत में वसंतसेना की माता ने चारुदत्त को धन रहित जानकर रात्रि में सोते में उसको बांधकर विष्टागृह (पाखाने) में डाल दिया। सुबह नौकरों ने देखा कि सूकर उसका मुख चाट रहे हैं। तब विष्टागृह से निकालकर उसकी घटना सुनकर सब उसे धिक्कारने लगे।

देखो! वेश्यासेवन का दुष्परिणाम कितना बुरा होता है। इसलिये इस व्यसन से बहुत ही दूर रहना चाहिए।

(५) शिकार करना

रसना इन्द्रिय की लोलुपता से या अपना शौक पूरा करने के लिये अथवा कौतुक के निमित्त बेचारे निरपराधी, भयभीत, वनवासी पशु-पक्षियों को मारना शिकार कहलाता है। भय के कारण हमेशा भागते हुए और घास खाने वाले ऐसे मृगों को निर्दयी लोग कैसे मारते हैं ? यह एक बड़े ही आश्चर्य की बात है! इस पाप के करने वाले मनुष्य भी अनंतकाल तक संसार में दुःख उठाते हैं।

उदाहरण — उज्जयिनी के राजा ब्रह्मदत्त शिकार खेलने के बड़े शौकीन थे। एक दिन वन में ध्यानारूढ़ दयामूर्ति मुनिराज के निमित्त से उन्हें शिकार का लाभ नहीं हुआ। दूसरे दिन भी ऐसे ही शिकार न मिलने से

राजा क्रोधित हो गया और मुनिराज आहारचर्या के लिए गये, तब उसने बैठने की पत्थर की शिला को अग्नि से तपाकर खूब गरम कर दिया।

मुनिराज आहार करके आये और उसी पर बैठ गये। उसी समय अग्निसदृश गरम शिला से उपसर्ग समझकर उन्होंने चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया। उस गरम शिला से मुनिराज को असह्य वेदना हुई फिर भी वे आत्मा को शरीर से भिन्न समझते हुए ध्यान अग्नि के द्वारा कर्मों का नाश करके अन्तकृत्केवली हो गये अर्थात् ४८ मिनट के अंदर ही केवली होकर मोक्ष चले गये।

इधर सात दिन के अंदर ही राजा को भयंकर कुष्ट हो जाने से वह अग्नि में जलकर मरकर सातवें नरक में चला गया, वहाँ से निकलकर तिर्यंचगति में दुःखों को भोगकर पुनः नरक में चला गया।

देखो बालकों! शिकार खेलने का फल भव-भव में दुःख देने वाला होता है, इसलिए इससे दूर ही रहना उचित है।

(६) चोरी करना

बिना दिये हुए किसी की कोई भी वस्तु ले लेना चोरी है। पराये धन को अपहरण करने वाले मनुष्य इस लोक और परलोक में अनेकों कष्टों को सहन करते हैं। चोरी करने वाले का अन्य मनुष्य तो क्या, खास माता-पिता भी विश्वास नहीं करते। चोर को राजाओं द्वारा भी अनेकों दण्ड मिलते हैं।

उदाहरण—बनारस में शिवभूति ब्राह्मण था, उसने अपनी जनेऊ में कैंची बाँध ली और कहता कि यदि मेरी जिह्वा झूठ बोल दे तो मैं उसी क्षण उसे काट डालूँ इसीलिए उसका नाम सत्यघोष प्रसिद्ध हो गया था।

एक बार सेठ धनपाल पाँच-पाँच करोड़ के चार रत्न उसके पास धरोहर में रखकर धन कमाने चला गया। जहाज में डूब जाने से बेचारा निर्धन हुआ सत्यघोष के पास अपने रत्न माँगने आया। सत्यघोष ने उसे पागल कहकर वहाँ से निकलवा दिया। छह महीने तक उस सेठ को रोते-चिल्लाते देखकर रानी ने युक्तिपूर्वक उसके रत्न सत्यघोष से मंगवा लिए। राजा ने सत्यघोष के लिए तीन दंड कहे—गोबर खाना या मल्लों के मुक्के खाना या सब धन देना। क्रम से वह लोभी तीनों दंड भोगकर मरकर राजा के भंडार में सर्प हो गया तथा कालांतर में अनेकों दुःख उठाये हैं।

देखो! चोरी करना बहुत ही बुरा है। बचपन में २-४ रुपये आदि की या किसी की पुस्तक आदि की ऐसी छोटी-छोटी चोरी भी नहीं करनी चाहिये।

(७) पर-स्त्री सेवन करना

धर्मानुकूल अपनी विवाहित स्त्री के सिवाय दूसरी स्त्रियों के साथ रमण करना पर-स्त्री सेवन कहलाता है। परस्त्री की अभिलाषामात्र से ही पाप लगता है, तो फिर उसके सेवन करने से महापाप लगता ही है।

उदाहरण—एक समय श्री रामचंद्र जी, सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डक वन में ठहरे हुए थे। वहाँ पर खरदूषण के युद्ध में रावण गया था तब उसने सीता को देखा, उसके ऊपर मुग्ध होकर युक्ति से उसका हरण कर लिया, सभी के समझाने पर भी जब नहीं माना, तब रामचंद्र ने लक्ष्मण को साथ लेकर अनेकों विद्याधरों की सहायता से रावण से युद्ध ठान दिया। बहुत ही भयंकर युद्ध हुआ।

अंत में रावण ने अपने चक्ररत्न को लक्ष्मण पर चला दिया। वह चक्ररत्न लक्ष्मण की प्रदक्षिणा देकर उनके हाथ में आ गया। लक्ष्मण ने उस समय भी रावण से कहा कि तुम सीताजी को वापस कर दो। रावण

नहीं माना, तब लक्ष्मण ने चक्ररत्न से रावण का मस्तक काट डाला, वह मरकर नरक में चला गया और वहाँ पर आज तक असंख्य दुःखों को भोग रहा है।

देखो! जब पर-स्त्री की अभिलाषामात्र से रावण नरक में चला गया, तब जो पर-स्त्री सेवन करते हैं वे तो महान दुःख भोगते ही हैं, ऐसा समझकर इन पापों से सदैव बचना चाहिये।

नपरमियन्ति भवन्ति व्यसनान्यपराण्यपि प्रभूतानि।
त्यक्त्वा सत्पथमपथप्रवृत्तयः क्षुद्रबुद्धीनाम्।।३२।।

केवल ये सात ही व्यसन नहीं हैं किन्तु दूसरे अन्य भी बहुत से व्यसन हैं। क्षुद्रबुद्धिजनों की सत्पथ को छोड़कर असत् मार्ग — कुत्सित कार्यों में जो भी प्रवृत्ति होती है उसी का नाम व्यसन है।

भावार्थ — संसार में जो भी खोटे कार्य हैं वे ही दुःखदायी होने से 'व्यसन' कहलाते हैं। यहां पर सात व्यसनों में ही उन्हें गर्भित कर लेना चाहिए। जैसे कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप हैं, ये भी इन व्यसनों में गर्भित हो जाते हैं। हिंसा, चोरी, कुशील, तो स्पष्ट ही हैं, जुआरी, मांसाहारी, शराबी लोग झूठ बोलते ही हैं और इनके परिग्रह की अत्यधिक लालसा होने से ये परिग्रह का परिमाण कर ही नहीं सकते हैं। अतः जो-जो भी कार्य मोक्षमार्ग से विपरीत हैं वे सब व्यसन ही हैं फिर भी यहां जो सात की संख्या कही है वह केवल स्थूलरूप से पापों से छूटने रूप है।

सर्वाणि व्यसनानि दुर्गतिपथा स्वर्गापवर्गार्गला वज्राणि व्रतपर्वतेषु विषमाः संसारिणां शत्रवः।
प्रारम्भे मधुरेषु पाककटुकेष्वेतेषु सद्धीधनैः कर्तव्या न मतिर्मनागपि हितं वाञ्छद्भिरत्रात्मनः।।३३।।

ये सभी व्यसन दुर्गति में जाने के लिए मार्ग हैं — उपाय हैं, स्वर्ग और मोक्ष के द्वार को बंद करने के लिए अर्गला — बेड़ा या मोटी सी सांकल हैं, व्रतरूपी पर्वतों को खंडित करने के लिए वज्र के समान हैं और संसारी जनों के लिए विषम शत्रु हैं। ये व्यसन यद्यपि प्रारम्भ में मधुर लगते हैं फिर भी ये कटुक फल देने वाले ही हैं इसलिए यहां आत्मा का हित चाहने वाले बुद्धिमान मनुष्यों को इन व्यसनों में किंचित् मात्र भी बुद्धि नहीं करनी चाहिए।

मिथ्यादृशां विसदृशां च पथच्युतानां मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च।
सङ्गं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव।।३४।।

हे बुद्धिमान् जनों! यदि तुम्हें उत्तम मार्ग में ही गमन करने की इच्छा है तो तुम लोग मिथ्यादृष्टि जनों की, विपरीत धर्म वालों की, सन्मार्ग से भ्रष्ट हुए जनों की, मायावी लोगों की, व्यसनी जनों की और दुष्ट जनों की संगति छोड़ो और उत्तम पुरुषों की संगति करो।

स्निग्धैरपि व्रजत मा सह सङ्गमेभिः क्षुद्रैः कदाचिदपि पश्यत सर्षपाणाम्।
स्नेहोऽपि सङ्गतिकृतः खलताश्रितानां लोकस्य पातयति निश्चितमश्रु नेत्रात्।।३५।।

हे बुद्धिमान पुरुषों! यदि ये मिथ्यादृष्टि आदि लोग तुम्हारे स्नेही — मित्र या संबंधी भी हों तो भी तुम कभी भी इनकी संगति मत करो। देखो! खलपने को प्राप्त — तेल निकल जाने के बाद सरसों की खल, इसके आश्रित हुए सरसों के दानों का तेल भी संगति को प्राप्त होकर निश्चित ही लोक — जनों के नेत्रों से अश्रु गिरा देता है।

भावार्थ — जिस प्रकार छोटे-छोटे भी सरसों के दानों से उत्पन्न हुए तेल के संयोग से उसकी तीक्ष्णता के निमित्त से मनुष्यों की आंखों से आंसू निकल आते हैं उसी प्रकार क्षुद्र मिथ्यादृष्टि, विधर्मी आदि जनों के

प्रति स्नेह होने से मनुष्यों को इहलोक और परलोक में नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं तब उनके नेत्रों से दुःख, शोक व पश्चाताप आदि के निमित्त आंसू आते ही आते हैं। यहां स्नेह के अर्थ प्रेम और तेल ऐसे दो होते हैं और खल के भी तेल का बाद में निकला निःसार भाग खल है और खल का अर्थ दुष्ट पुरुष भी है ऐसा समझना।

कलावेकः साधुर्भवति कथमप्यत्र भवने सचाघातः क्षुद्रैः कथमकरुणैर्जीवति चिरम्।
अतिग्रीष्मे शुष्यत्सरसि विचरच्चञ्चुरतया वकोटानांग्रे तरलशफरी गच्छति कियत्।।३६।।

इस लोक में कलिकाल—पंचमकाल के प्रभाव से बड़ी मुश्किल से एक दो ही साधु होते हैं। वे भी जब निर्दयी दुष्ट पुरुषों के द्वारा सताये जाते हैं तब भला बहुत दिनों तक कैसे जीवित रह सकते हैं ? अर्थात् नहीं रह सकते हैं। जैसे कि तीक्ष्ण ग्रीष्म ऋतु में ज्येष्ठ-आषाढ़ के महिने में जब तालाब का पानी सूखने लगता है तब चोंच को हिलाकर चलने वाले बगुलों के आगे चंचल मछली भला कितनी देर तक चल सकती है ? अर्थात् बहुत जल्दी ही बगुले उसे खा जाते हैं।

विशेषार्थ—यहां जो 'कलौ एकः साधुः भवति' कहा है सो इस कलिकाल नामक विकराल पंचमकाल में आज भी सच्चे साधु हो सकते हैं यह स्पष्ट हो जाता है। पुनः 'एक' शब्द से विरलता सूचित होती है। इसका अर्थ यह नहीं समझना कि एक ही साधु होगा, प्रत्युत कम होंगे, ऐसा समझना। इस शताब्दी में भी चारित्र चक्रवर्ती आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज एक महान साधु हुए हैं। उनके प्रथम शिष्य व पट्टाचार्य श्री वीरसागर जी महाराज हुए हैं, आदि अनेक आचार्य व साधु भावलिंगी हुए हैं और हो रहे हैं तथा अनेक आगे भी पंचमकाल के अंत तक होते रहेंगे। तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रंथों में अंत के श्री वीरांगज मुनि व सर्वश्री आर्यिका के नाम आये हैं। जो आज के मुनियों में से सभी को द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि कहते हैं वे जैन आगम से बहिर्भूत हैं ऐसा समझना चाहिए।

इह वरमनुभूतं भूरि दारिद्र्यदुःखं वरमतिविकराले कालवक्त्रे प्रवेशः।
भवतु वरमितोऽपि क्लेशजालं विशालं न च खलजनयोगाज्जीवितं वा धनं वा।।३७।।

इस संसार में दरिद्रता के बहुत भारी दुःख का अनुभव करना कहीं अच्छा है, इसी प्रकार अत्यन्त भयानक मृत्यु के मुख में प्रवेश करना—मर जाना भी कहीं अच्छा है, इससे अतिरिक्त यदि यहां और भी बड़े-बड़े कष्ट प्राप्त होते हैं, तो वे भले ही हों किन्तु दुष्ट जनों के संयोग को प्राप्त कर जीवित रहना अथवा धन का प्राप्त करना अच्छा नहीं है।

भावार्थ—यहां ऊपर के श्लोक से संबंध कर लेना चाहिए। जैसा कि पहले कहा है कि मिथ्यादृष्टि, विधर्मी, दुर्व्यसनी और दुष्ट प्रकृति वाले जनों की संगति छोड़ देनी चाहिए भले ही वे अपने स्नेही या संबंधी ही क्यों न हों क्योंकि इनके निमित्त से साधु भी अधिक दिन जीवित नहीं रह पाते हैं अतएव निर्धन रह जाना या मर जाना भला है किन्तु दुर्जन या दुर्व्यसनी के साथ रहकर बहुत दिन जीना या धनी बनना अच्छा नहीं है क्योंकि इनके संसर्ग से दुर्बुद्धि होकर दुर्गति के भाजन बन सकते हो।

यहां तक गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया गया है।

७. मूलाचार सार

(१) छह आवश्यक अधिकार

पंच नमस्कार—

काऊण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
आइरियउवज्झाए लोगम्मि य सव्वसाहूणं।।५०२।।
अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे।।५०५।।
दीहकालमयं जंतू उसिदो अट्ठकम्महिं।
सिद्धे धत्ते णिधत्ते य सिद्धत्तमुवगच्छइ।।५०७।।
सदा आयारबिद्दण्हू सदा आयरियं चरो।
आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे।।५०९।।
बारसंगे जिणक्खादं सज्झायं कथितं बुधे।
उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि।।५११।।
णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु तह्मा ते सव्वसाधवो।।५१२।।
एवं गुणजुत्ताणं पंचगुरूणां विसुद्धकरणेहिं।
जो कुणदि णमोक्कारं सो पावदि णिव्वुदिं सिग्घं।।५१३।।

अर्हंतों को, सिद्धों को, आचार्यों को, उपाध्यायों को और लोक में सर्व साधुओं को नमस्कार करके मैं आवश्यक अधिकार कहूँगा।

जो नमस्कार के योग्य हैं, लोक में उत्तम देवों द्वारा पूजा के योग्य हैं, आवरण कर्म और मोहनीय शत्रु का हनन करने वाले हैं इसलिए वे अरहंत कहे जाते हैं।

यह जीव अनादिकाल से आठ कर्मों से सहित है, कर्मों के नष्ट हो जाने पर सिद्ध पद को प्राप्त हो जाता है।

जो सदा आचार के ज्ञाता हैं, सदा पाँच आचार का आचरण करते हैं और शिष्यों को आचारों का आचरण कराते हैं, इसलिए वे आचार्य कहलाते हैं।

जिनेन्द्रदेव द्वारा व्याख्यात द्वादशांग को बुद्धिमानों ने स्वाध्याय कहा है, जो उस स्वाध्याय का उपदेश देते हैं वे इसी कारण उपाध्याय कहलाते हैं।

जो निर्वाण के साधक योगों में सदा अपने को लगाते हैं, सभी जीवों में समभावी हैं वे इसीलिए साधु कहलाते हैं।

इन गुणों से युक्त पाँचों परम गुरुओं को जो विशुद्ध मन-वचन-काय से नमस्कार करते हैं, वे शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार पंच नमस्कार का निरुक्तिपूर्वक व्याख्यान करके अब छह आवश्यकों को कहेंगे—

आवश्यक का निर्युक्ति अर्थ—

ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावस्सयंति बोधव्वा।
जुत्तित्ति उवायत्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती।।५१५।।

जो वश में नहीं है वह अवश है। उस अवश मुनि की क्रिया को आवश्यक कहते हैं। युक्ति और उपाय एक हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण उपाय निर्युक्ति कहलाता है। तात्पर्य यह है कि—

जो मुनि हिंसा आदि पाँच पाप, पाँच इन्द्रियाँ और क्रोध आदि कषायों के वश में नहीं हैं, वे 'अवश' हैं, उन साधुओं का अहोरात्र का आचरण वही आवश्यक कहलाता है अथवा अवश्य करने योग्य क्रियाओं को आवश्यक कहते हैं।

आवश्यक छह प्रकार के माने गये हैं। यथा—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

प्रश्न—पंडित बुधजन जी ने तो प्रत्याख्यान की जगह स्वाध्याय को लिया है। जैसा कि पाठ है—

समता धर वंदन करें नाना थुती बनाय।
प्रतिक्रमण स्वाध्यायजुत कायोत्सर्ग लगाय।।

इसी तरह छहढाला में भी पंडित दौलतराम ने स्वाध्याय ही लिया है। सो कैसे ?

इस मूलाचार में तो प्रत्याख्यान नाम से ही पाँचवाँ आवश्यक है, स्वाध्याय नाम से नहीं। जैसा कि—

सामायिय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं।
पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो।।५१६।।

ऐसे ही आचारसार अनगारधर्मामृत आदि ग्रंथों में भी मुनियों के आवश्यक में प्रत्याख्यान को ही लिया है। पंडित बुधजन कवि ने कहाँ से ऐसा पाठ लिया है, सो विद्वानों को विचार करना चाहिए।

प्रश्न—पुनः यह स्वाध्याय क्रिया मुनियों के लिए आवश्यक नहीं रही ?

उत्तर—ऐसी बात भी नहीं है, इसी मूलाचार में साधुओं द्वारा अवश्य करने वाले अट्ठाईस कृतिकर्म (विधिवत् कायोत्सर्ग) गिनाये हैं। उसमें चार बार स्वाध्याय के बारह कायोत्सर्ग लिखे गये हैं इसलिए यह चार बार का स्वाध्याय इन्हीं आवश्यकों में गर्भित हो जाता है, ऐसा समझ में आता है। यथा—

चत्तारि पडिक्कमणे किदियम्मा तिण्णि होंति सज्झाए।
पुव्वण्हे अवरण्हे किदियम्मा चोद्दसा होंति।।६०२।।

इसकी टीका में अट्ठाईस कृतिकर्म का स्पष्टीकरण है और उसी में चार बार के स्वाध्याय का खुलासा है।

सामायिक आवश्यक

प्रश्न—सामायिक का अर्थ क्या है ?

उत्तर—सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र आदि में समताभाव—राग-द्वेष रहित परिणाम ही सामायिक है तथा त्रिकाल में देववंदना अर्थात् विधिवत् 'जयतु भगवान्' इत्यादि रूप चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति का पाठ करना सो सामायिक है। यह मूलाचार के आधार से ही है। यथा—

"जीवितमरणलाभालाभसंयोगविप्रयोगबन्ध्वरिसुखदुःखादिषु यदेतत्समत्वं समानपरिणामः त्रिकालदेववंदनाकरणं च तत्सामायिकं व्रतं भवतीत्यर्थः।[१]"

प्रश्न—सामायिक संयम भी तो है जो कि पाँच भेदरूप संयम का प्रथम भेद है, उसमें और इसमें क्या अंतर है ?

---

१. गाथा २३ की टीका में।

उत्तर—'सर्वसावद्ययोगाद्विरतोऽस्मि' मैं सर्व पाप सहित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से विरक्त होता हूँ। इस प्रकार से एक अभेदरूप संयम को सामायिक संयम कहते हैं तथा मैं हिंसा को छोड़ता हूँ, असत्य को छोड़ता हूँ, चोरी को छोड़ता हूँ, मैथुन को छोड़ता हूँ और सर्व परिग्रह को छोड़ता हूँ। इस प्रकार भेद करके सर्व सावद्य—पापों का त्याग करना छेदोपस्थापना संयम है।

तीर्थंकर आदि महापुरुष एक सामायिक संयम को ही ग्रहण करते हैं। शेष साधारण पुरुष दोनों संयम को धारण करते हैं तथा बाईस तीर्थंकरों के तीर्थ में भी जन्मे पुरुष अभेदरूप संयम ही धारण करते हैं। मूलाचार में श्री कुंदकुंददेव ने कहा है—

बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य।।५३५।।

अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरों ने एक सामायिक संयम का ही उपदेश दिया है, भगवान आदिनाथ तथा भगवान महावीर ने सामायिक और छेदोपस्थापना इन दोनों संयम का उपदेश दिया है।

प्रश्न—ऐसा क्यों ?

उत्तर—अन्य शिष्यों को प्रतिपादन करने के लिए, अपनी इच्छानुसार उनका अनुष्ठान करने के लिए, विभाग करके समझने के लिए भी सामायिक संयम सरल हो जाता है इसलिए महाव्रत पाँच कहे गये हैं। इस भेद का नाम ही छेदोपस्थापना संयम है।

प्रश्न—आदि तीर्थ में और अंत तीर्थ में छेदोपस्थापना की आवश्यकता क्यों हुई ?

उत्तर—आदिनाथ के तीर्थ में शिष्य दुःख से—कठिनता से शुद्ध किये जाते थे क्योंकि वे अत्यर्थ सरल स्वभावी थे। अंतिम तीर्थंकर के तीर्थ में भी शिष्यों का कठिनता से प्रतिपालन किया जाता है क्योंकि वे अत्यर्थ वक्र स्वभावी होते हैं। ये पूर्वकाल के शिष्य और पश्चिम काल के शिष्य योग्य—उचित और अयोग्य—अनुचित को ठीक से नहीं समझते हैं इसीलिए आदि और अंत के दोनों तीर्थंकरों ने छेदोपस्थापना संयम का उपदेश दिया है।

आदिनाथ के तीर्थ के समय भोगभूमि समाप्त होकर ही कर्मभूमि प्रारंभ हुई थी अतः उस समय के शिष्य बहुत ही सरल किन्तु जड़ (अज्ञान) स्वभाव वाले थे तथा अंतिम तीर्थंकर के समय पंचमकाल का प्रारंभ होने वाला था अतः उस समय के शिष्य बहुत ही कुटिल परिणामी और जड़ स्वभावी थे इसीलिए इन दोनों तीर्थंकरों ने छेद अर्थात् भेद के उपस्थापन अर्थात् कथन रूप पाँच महाव्रतों का उपदेश दिया है। शेष बाईस तीर्थंकरों के शिष्य विशेष बुद्धिमान थे इसीलिए उन तीर्थंकरों ने मात्र 'सर्वसावद्ययोग' के त्यागरूप एक सामायिक संयम का ही उपदेश दिया है क्योंकि उनके लिए उतना ही पर्याप्त था। आज भगवान महावीर का ही शासन चल रहा है अतः आजकल के सभी साधुओं को मुख्यरूप से भेदरूप चारित्र के पालन का ही उपदेश है।

इस सामायिक के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा छह भेद हो जाते हैं।

शुभ-अशुभ नाम सुनकर राग-द्वेष नहीं करना नाम सामायिक है।

सुस्थित, सुप्रमाण, सर्व अवयवों से संपूर्ण, तदाकार मूर्तियों में और अशुभ चेष्टायुक्त, अप्रमाण, हीनावयव आदि मूर्तियों में राग-द्वेष का अभाव स्थापना सामायिक है।

सुवर्ण, चांदी, हीरा आदि और तृण, मिट्टी आदि में समभाव रखना द्रव्य सामायिक है।

रमणीय नगर, उद्यान आदि अच्छे क्षेत्र में और रुक्षस्थान, जंगल आदि में समताभाव रखना क्षेत्र सामायिक है।

वर्षा, शिशिर आदि ऋतुओं में राग द्वेष का त्याग करना काल सामायिक है अथवा जिस काल में सामायिक करते हैं वह पूर्वाण्ह, मध्यान्ह, अपराण्ह काल से भेदरूप काल सामायिक है।

सभी जीवों से मैत्री भाव रखना और अशुभ परिणामों का त्याग करना भाव सामायिक है।

सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं तं पसत्थसमगमणं।
समयंतु तं तु भणिदं तमेव सामाइयं जाण।।५१९।।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त समागम है वह समय कहा गया है, तुम उसे ही सामायिक जानो।

आगे भी ऐसे ही अनेक गाथाएँ हैं कि जिनमें राग, द्वेष का अभाव, सावद्य योग से विरति, कषायों के निग्रह आदि से परिणत हुई आत्मा के ही सामायिक कहा है। यथा—

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।
तस्स सामायियं ठादि इदि केवलिसासणे।।५२५।।

जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में स्थित है उसके ही सामायिक होता है, ऐसा श्रीकेवली भगवान के शासन में कहा है।

तात्पर्य यह है कि सामायिक के नियतकालिक और अनियतकालिक ऐसे दो भेद हैं। उनमें से त्रिकालसामायिक नियतकालिक है और सदा समताभाव सामायिक अनियतकालिक है।

नियतकालिक सामायिक करने का क्रम कहते हैं—

पडिलिहियअंजलिकरो उवजुत्तो उट्ठिऊण एयमणो।
अव्वाखित्तो वुत्तो करेदि सामाइयं भिक्खू।।५३८।।

पिच्छी को हाथ में लेकर अंजलि जोड़कर उपयोगपूर्वक उठकर, एकाग्रमना होकर मन को विक्षेपरहित करके मुनि सामायिक करते हैं।

इस सामायिक में कृतिकर्म विधिपूर्वक चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति का पाठ होता है। वह विधि क्रियाकलाप, यतिक्रियामंजरी, सामायिक[१] आदि पुस्तकों में प्रकाशित हुई है।

यह संक्षेप में सामायिक आवश्यक कहा है।

चतुर्विंशति स्तव आवश्यक

वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना चतुर्विंशति स्तव नाम का दूसरा आवश्यक है। इस स्तव में नामस्तव, स्थापनास्तव, द्रव्यस्तव, क्षेत्रस्तव, कालस्तव और भावस्तव, यह छह प्रकार का निक्षेप घटित करना चाहिए।

नाम स्तव—चौबीस तीर्थंकरों के वास्तविक अर्थ का अनुसरण करने वाले एक हजार आठ नामों से स्तवन करना नामस्तव है।

स्थापना स्तव—चौबीस तीर्थंकरों की कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाएं स्थापना प्रतिमाएं हैं। इनमें राजा, महाराजा,

१. वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला से प्रकाशित।

चक्रवर्ती, सामान्य श्रावक आदि द्वारा निर्मापित प्रतिमाएं— कृत्रिम प्रतिमाएं अगणित हैं और सुमेरु पर्वत आदि के जिनमंदिरों में विराजमान अकृत्रिम प्रतिमाएं असंख्यात हैं। उनका स्तवन करना स्थापनास्तव है।

द्रव्य स्तव— तीर्थंकरों के शरीर, जो कि परमौदारिक हैं, उनके वर्ण भेदों का वर्णन करते हुए स्तवन करना द्रव्यस्तव है। जैसे कि पद्मप्रभ और वासुपूज्य भगवान लाल कमल के वर्ण के थे। चन्द्रप्रभ और पुष्पदंत भगवान श्वेत कमल के सदृश शरीर वाले थे। "द्वौ कुंदेदु तुषारहारधवलौ" आदि।

क्षेत्र स्तव— कैलाशगिरि, सम्मेदगिरि, ऊर्जयन्तगिरि, पावापुरी, चंपापुरी आदि निर्वाणक्षेत्रों का और समवसरण क्षेत्रों का स्तवन करना क्षेत्रस्तव है।

काल स्तव— तीर्थंकरों के स्वर्गावतरण, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाणकल्याणक के काल का स्तवन करना कालस्तव है।

भाव स्तव— तीर्थंकरों के केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतवीर्य, अनंतसुख आदि गुणों का स्तवन करना भावस्तव है।

भरत और ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा यह चतुर्विंशतिस्तव कहा गया है किन्तु पूर्वविदेह और अपरविदेह की अपेक्षा से सामान्य 'तीर्थंकरस्तव' नाम का ही आवश्यक समझना चाहिए। इस प्रकार से इसमें कोई दोष नहीं है अर्थात् पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में ही काल परिवर्तन है। इनमें चतुर्थकाल में ही चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं किन्तु एक सौ साठ विदेह क्षेत्रों में हमेशा ही तीर्थंकर होते रहते हैं अतः उनकी संख्या का कोई नियम नहीं है। उन विदेह क्षेत्रों की अपेक्षा इस आवश्यक को 'तीर्थंकरस्तव' ही कहना चाहिए।

अब श्री कुंदकुंदेव स्वयं तीर्थंकरस्तव करते हुए एक गाथा कहते हैं—

लोगुज्जोए धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते।
कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु।।५४१।।

लोक में उद्योत करने वाले, धर्मतीर्थ के कर्ता, अर्हंत, केवली, जिनेश्वर प्रशंसा के योग्य हैं। वे मुझे उत्तम बोधि प्रदान करें। तात्पर्य यह है कि लोक को प्रकाशित करने वाले, धर्म तीर्थकर, जिनवर, केवली, अर्हंत भगवान उत्तम हैं। इस प्रकार से उनका कीर्तन करना, उनकी प्रशंसा करना तथा 'वे मुझे बोधि प्रदान करें ऐसा कहना ही तीर्थंकरों का स्तव है।

अब इन पदों में दश भेद करके उनका खुलासा करते हैं। उनमें से सर्वप्रथम 'लोकोद्योतकर' विशेषण को कहते हैं— लोक— लोकन करना— अवलोकन करना, जिनेन्द्रदेव द्वारा यह सर्व जगत् लोकित— अवलोकित कर लिया जाता है, इसीलिए इसकी 'लोक' यह संज्ञा सार्थक है अथवा जहाँ तक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल ये पाँचों द्रव्य देखे जाते हैं वह 'लोक' है, उससे परे अलोक है। मूलाचार में इस लोक के नाम, स्थापना आदि के भेद से नव भेद किये हैं। विशेष जिज्ञासु को वहीं से देख लेना चाहिए।

उद्योत— प्रकाश, इसके दो भेद हैं— द्रव्य उद्योत और भाव उद्योत। अग्नि, चन्द्र, सूर्य और मणि आदि द्रव्य उद्योत हैं चूँकि इनसे बाह्य वस्तुएँ देखी जाती हैं। ज्ञान को भाव उद्योत कहा है क्योंकि वह ज्ञान ही स्व-पर प्रकाशक है। इसके मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँच भेद हैं। द्रव्योद्योत अन्य प्रकाश से बाधित होता है तथा परिमित क्षेत्र में रहता है किन्तु भावोद्योत लोक-अलोक को प्रकाशित करने में समर्थ है।

चौबीसों तीर्थंकर भाव उद्योत से सर्वलोक को प्रकाशित करने वाले हैं, इसलिए 'लोकोद्योतकर' कहलाते हैं।

अब 'धर्मतीर्थकर' पद का व्याख्यान करते हैं—

धर्म—जो उत्तम सुख में धरे—पहुँचावे, वह धर्म है। इसके तीन भेद हैं—श्रुतधर्म, अस्तिकायधर्म और चारित्रधर्म। यहाँ पर श्रुतधर्म की प्रमुखता है क्योंकि इससे ही संसार समुद्र को पार किया जाता है।

तीर्थ के दो भेद हैं—द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ। दाह को उपशम करना, तृष्णा का नाश करना और मल—कीचड़ को धो डालना, इन तीन कारणों से युक्त तीर्थ गंगा, पुष्कर आदि द्रव्य तीर्थ हैं। दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन कारणों से युक्त तीर्थ भावतीर्थ हैं।

चौबीसों तीर्थंकर भावतीर्थ के कर्ता हैं इसलिए वे 'धर्मतीर्थंकर' कहलाते हैं।

अब 'जिनवर' पद को स्पष्ट करते हैं—

जिन—जो क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत चुके हैं, वे 'जिन' कहलाते हैं। उनमें वर—प्रधान को 'जिनवर' कहते हैं।

'अर्हंत' पद को कहते हैं—

अरि—कर्म शत्रुओं का और जन्म का हनन करने वाले होने से ये तीर्थंकर 'अर्हंत' कहलाते हैं अथवा जो वंदना और नमस्कार के योग्य हैं, पूजा सत्कार के योग्य हैं और सिद्धि गमन के योग्य हैं, वे 'अर्हंत' कहलाते हैं। अरिहंत और अर्हंत, ऐसे दो पद माने गये हैं। व्युत्पत्ति के अनुसार अरि अर्थात् मोह का हनन करने वाले 'अरिहंत' हैं और अर्ह—योग्य—समर्थ अर्थ में जो इंद्रों द्वारा पूजा आदि के योग्य हैं, वे 'अर्हंत' कहलाते हैं। महामंत्र में 'अरिहंताणं' और 'अरहंताणं' ऐसे दोनों पाठ बोले जाते हैं। ये दोनों ही शुद्ध हैं।

इस प्रकार ये तीर्थंकर लोकोद्योतकर हैं, धर्मतीर्थ के कर्ता हैं, जिनवर हैं और अर्हंत हैं।

किसलिए इनका कीर्तन करना ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—कीर्तनीय—ये चौबीसों तीर्थंकर, सुर-असुर आदि सभी के द्वारा कीर्तन, वर्णन और प्रशंसन करने योग्य इसीलिए हैं कि इन्होंने दर्शन आदि के विनय का उपदेश दिया है।

ये तीर्थंकर केवली हैं—

केवली—ये अर्हंत भगवान केवलज्ञान के विषयभूत संपूर्ण लोक-अलोक को जानते हैं तथा देखते हैं और इनका चारित्र केवलज्ञान ही है अर्थात् इनके अशेष व्यापार छूट चुके हैं, इसीलिए ये 'केवली' कहलाते हैं।

ये तीर्थंकर 'उत्तम' हैं—

उत्तम—ये तीर्थंकर मिथ्यात्व, ज्ञानावरण और चारित्रमोह इन तीन तम—गाढ़ अंधकार से उन्मुक्त हो चुके हैं इसलिए ये 'उत्तम' कहलाते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि इन विशेषणों से सहित तीर्थंकर हमें क्या देवें ? सो ही कहते हैं—

आरोग्ग-बोहिलाहं दिंतु समाहिं च मे जिणवरिंदा।
किं ण हु णिदाणमेयं णवरि विभासेत्थ कायव्वा।।५६८।।

वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें।

प्रश्न—क्या यह निदान नहीं है ?

उत्तर—नहीं है, यहाँ केवल विकल्प समझना चाहिए।

अर्थात् यह भक्ति का एक प्रकार है। आगे उसी को कहते हैं—

भासा असच्चमोसा णवरि हु भत्तीय भासिदा एसा।
ण हु खीणरागदोसा दिंति समाहिं च बोहिं च।।५६९।।

जं तेहिं दु दादव्वं तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
दंसणणाणचरित्तस्स एस तिविहस्स उवदेसो।।५७०।।

यह असत्यमृषा भाषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति से कही गई है क्योंकि राग द्वेष से रहित भगवान् समाधि और बोधि को नहीं देते हैं। उनके द्वारा जो देने योग्य था, वह सभी जिनवरों ने दे ही दिया है। सो वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का उपदेश है अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने रत्नत्रय का उपदेश दिया है, वही बोधि है।

इस प्रकार तीर्थंकरों की भक्ति से क्या-क्या फल मिलते हैं ?

सो ही बताते हैं—

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति।।५७१।।
अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु।
धम्मम्हि य जो राओ सुदे य जो बारसविधम्हि।।५७२।।
आयरियेसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे।
एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु।।५७३।।
तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीए।
तो भत्ति 'रागपुव्वं' वुच्चइ एदं ण हु णिदाणं।।५७४।।

जिनेन्द्रदेव की भक्ति से पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो जाते हैं और आचार्यों की भक्ति के प्रसाद से विद्या और मंत्रों की सिद्धि होती है। राग, द्वेष रहित अर्हंतों में, धर्म में, द्वादशांग श्रुत में, अचार्यों में, मुनियों में, और चारित्र युक्त बहुश्रुत विद्वानों में जो राग होता है, वह प्रशस्त-शुभ राग है वह सभी सरागी मुनियों में पाया जाता है अर्थात् सरागसंयमी मुनि इन सभी में अनुरागरूप भक्ति करते ही हैं। उनके अभिमुख होने से तथा उनकी भक्ति से मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं इसलिए यह भक्ति रागपूर्वक ही कही गई है। यह निदान नहीं कहलाती है, 'क्योंकि इससे संसार के कारणों का अभाव होता है[१]।'

मुनिराज चार अंगुल के अंतराल से पैर रखकर खड़े होकर पिच्छिका लेकर हाथ जोड़कर एकाग्रमना होकर चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करते हैं।

यहाँ यह स्तव आवश्यक पढ़कर यह समझना कि आज पंचमकाल में आहार-विहार आदि क्रियाओं को करने वाले मुनि सराग संयमी ही हैं उन्हें यह क्रिया करनी ही होती है। वे भी अपने योग्य आरोग्य, बोधिलाभ, समाधिलाभ आदि की याचना करते हैं। न यह याचना निदान है और न ईश्वर को कर्ता मानने का दोष ही आता है।

ऐसे ही श्रावकगण यदि ऐसा बोलते हैं कि—

"दरिद्रीन को द्रव्य के दान दीने, अपुत्रीन को तू भले पुत्र कीने।" इत्यादि स्तोत्र पाठ बोलने से भगवान को कर्तापने का आरोप नहीं होता है किन्तु भक्त की भक्ति विशेष उसके मनोरथों को निश्चित ही सफल कर देती है। वास्तव में कोई भी गृहस्थ क्यों न हो वह दरिद्री, निःसंतान या रोगी नहीं रहना चाहता है तो यदि वह कुदेवों को छोड़कर जिनेन्द्रदेव की भक्ति करते हुए कुछ याचना कर भी लेता है तो भी उसका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता है। प्रथमानुयोग में ऐसे अनेक-अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

---

१. तस्माद्भक्ती रागपूर्वकमेतदुच्यते न हि निदानं, संसारकारणाभावादिति। (मूलाचार टीका, गाथा ५७४)

यहाँ जब मुनियों के लिए भक्तिमार्ग की इतनी विशेषता, महानता व प्रधानता कही है तब गृहस्थ श्रावकों के लिए तो जिनेन्द्रदेव की भक्ति अधिक रूप में करते रहना चाहिए। संकट के समय शांति विधान, सिद्धचक्र विधान, इन्द्रध्वज विधान आदि अनुष्ठान करना चाहिए। विधिवत् किये गये ये विधान आज भी भक्तों के अभीष्ट को सिद्ध करते हैं, यह प्रत्यक्ष देखा जा रहा है।

अतः प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन देवपूजा अवश्य करे, यदि न कर सके तो देवदर्शन तो अवश्य ही करे और अपने बालकों में भी दर्शन करने के संस्कार डाले।

वंदना आवश्यक

सामान्यरूप से 'जयति भगवान् हेमांभोजप्रचारविजृंभिता–' इत्यादि चैत्यभक्ति से लेकर पंचगुरुभक्ति पर्यंत विधिवत् जो स्तुति की जाती है, उसे वंदना कहते हैं अथवा शुद्ध भाव से पंचपरमेष्ठीविषयक नमस्कार करना वंदना है। इसके भी छह भेद हैं—नामवंदना, स्थापनावंदना, द्रव्यवंदना, क्षेत्रवंदना, कालवंदना और भाववंदना।

एक तीर्थंकर का नाम उच्चारण करना तथा सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का नाम उच्चारण करना **नामवंदना** है।

एक तीर्थंकर के प्रतिबिम्ब का तथा सिद्ध, आचार्यादि के प्रतिबिम्बों का स्तवन करना **स्थापनावंदना** है।

एक तीर्थंकर के शरीर का तथा सिद्ध और आचार्य आदि के शरीर का स्तवन करना **द्रव्यवंदना** है।

इन एक तीर्थंकर, सिद्ध और आचार्य आदि से अधिष्ठित जो क्षेत्र हैं, उनकी स्तुति करना **क्षेत्रवंदना** है।

इन एक तीर्थंकर तथा सिद्ध, आचार्य आदि से युक्त जो काल है, उसके आश्रित स्तुति करना **कालवंदना** है।

एक तीर्थंकर और सिद्ध तथा आचार्यों के गुणों का शुद्ध परिणाम से स्तवन करना **भाववंदना** है।

नामवंदना का विस्तार से वर्णन—कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म, ये वंदना के पर्यायवाची नाम हैं। फिर भी इन चारों का अर्थ कहते हैं—

कृतिकर्म—जिस अक्षर समूह से या जिस परिणाम से अथवा जिस क्रिया से आठ प्रकार के कर्मों को काटा जाता है—छेदा जाता है, वह कृतिकर्म है अर्थात् पापों के विनाशन का उपाय कृतिकर्म है।

चितिकर्म—जिन अक्षरों से या जिन परिणामों से अथवा जिस क्रिया से तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य कर्म का चयन—संचय हो जाता है—सम्यक्प्रकार से अपने साथ एकीभावरूप हो जाता है। ऐसा यह पुण्यकर्म के संचय का कारण चितिकर्म कहलाता है।

पूजाकर्म—जिन अक्षरों के द्वारा या जिन परिणामों अथवा क्रियाओं से अरहंत देव आदि पूजे जाते हैं। उन्हें आह्वानन आदि कर जो पुष्प माला[१], चंदन आदि चढ़ाया जाता है, वह पूजाकर्म—पूजा क्रिया है।

विनयकर्म—जिसके द्वारा कर्मों का निराकरण किया जाता है, उन्हें संक्रमण, उदय या उदीरणा आदि भाव से परिणत करा दिया जाता है, वह विनयक्रिया है, जो कि गुरुजनों की शुश्रूषारूप है।

यह वंदना क्रिया नामक आवश्यक कर्म किसे करना चाहिए? किसकी करना चाहिए? किस विधान से करना चाहिए? किस अवस्था विशेष में करना चाहिए? और कितनी बार करना चाहिए? इसमें कितनी अवनति (प्रणाम) होती हैं? कितनी शिरोनति होती हैं? कितने आवर्त होते हैं? और कितने दोषों से रहित

१. तत्पूजाकर्म बहुवचनोच्चारणस्रकचंदनादिकं (मूलाचार-टीका अंश)

यह 'वंदना' नामक कृतिकर्म होता है ?

इस प्रकार यहाँ नव प्रश्न हुए हैं, इन प्रत्येक का उत्तर देते हैं—

(१) यह कृतिकर्म, विनयक्रिया अथवा 'वंदना' कौन करते हैं ?

ऐसा प्रश्न होनेपर श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—जो पाँच महाव्रतों से युक्त हैं, धर्म और धर्म के फल में हर्ष से रोमांचित हो जाते हैं, आलस्य रहित हैं, मान कषाय से रहित हैं और कर्मों की निर्जरा करने के इच्छुक हैं, ऐसे मुनिराज ही अरहंत, सिद्ध, आचार्यादि की और अपने से दीक्षा में बड़े मुनियों की वंदना करते हैं।

(२) वह वंदना कृतिकर्म किसका करना चाहिए ?

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इन पाँचों की कृतिकर्म विधिपूर्वक वंदना करनी चाहिए।

(३) गुरुजन किस तरह विराजमान हों, जब वंदना करे ?

आसन पर बैठे हुए हों, शांतचित्त हों एवं सन्मुख मुख किये हुए हों, उनकी अनुज्ञा लेकर विद्वान् मुनि 'वंदना' विधि का प्रयोग करें।

(४) वंदना कब करना ?

दोषों की आलोचना के समय, छह आवश्यक क्रियाओं के समय, प्रश्न करने के समय, पूजा के समय, स्वाध्याय के समय, अपने से कुछ अपराध हो जाने पर, गुरू—आचार्य, उपाध्याय आदि की वंदना करे।

(५) कितनी बार वंदना करना चाहिए ?

त्रिकाल—तीन बार देववंदना के छह कृतिकर्म होते हैं, दो बार के प्रतिक्रमण के आठ, चार बार के स्वाध्याय के बारह और प्रातः-सायं दो बार योगभक्ति के दो ऐसे ६+८+१२+२=२८ बार कृतिकर्म विधिपूर्वक वंदना होती है।

इसका स्पष्टीकरण ऐसा है कि मुनियों के अहोरात्र संबंधी अट्ठाईस कायोत्सर्ग कहे गये हैं। इन कायोत्सर्गों में कृतिकर्म की विधि से वंदना की जाती है। इनमें देववंदना, श्रुतवंदना ही प्रधान है, गुरुओं की वंदना भी है किन्तु इन २८ कृतिकर्म में गौण है।

एक देववंदना में चैत्य और पंचगुरुभक्ति संबंधी दो कृतिकर्म होते हैं इसलिए त्रिकाल देववंदना के ६ कृतिकर्म हुए। प्रतिक्रमण में सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमण भक्ति, वीरभक्ति और चौबीस तीर्थंकर भक्ति इन चार संबंधी चार कृतिकर्म होते हैं इसलिए दैवसिक प्रतिक्रमण के ४ और रात्रिक के ४ ऐसे ८ कृतिकर्म हो गये। पूर्वाण्ह स्वाध्याय में प्रारंभ में श्रुत व आचार्य भक्ति तथा समापन में श्रुतभक्ति इन तीन भक्ति संबंधी ३ ऐसे अपराण्ह, पूर्वरात्रिक और अपररात्रिक इन चार बार के स्वाध्याय के १२ कृतिकर्म हुए। रात्रियोग ग्रहण और विसर्जन इन दो समयों में दो बार योगभक्ति संबंधी २ कृतिकर्म ये सब मिलकर २८ कृतिकर्म होते हैं।

गुरुओं की वंदना त्रिकाल सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्तिपूर्वक होती है। विशेष प्रसंगों में भी भक्तिपाठपूर्वक होती है तथा सामान्यतया 'नमोऽस्तु' कहकर नमस्कार कर लेने रूप भी होती है।

कितनी अवनति ? कितनी शिरोनति ? और कितने आवर्त होते हैं ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री कुंदकुंदेव कहते हैं—

दोणदं तु जहाजादं बारसावत्तमेव च।
चदुस्सिरं तिसुद्धं च किदियम्मं पउंजदे।।६०३।।

यथाजात मुद्राधारी मुनि दो नमस्कार, बारह आवर्त और चार शिरोनति करते हुए मन-वचन-काय की

शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म को करे।

महामंत्र पढ़ने की आदि में एक बार भूमिस्पर्शनात्मक नमस्कार तथा चतुर्विंशति स्तव के दूसरी बार अवनति — भूमि स्पर्शनात्मक नमस्कार, ये दो अवनति एक कृतिकर्म में की जाती हैं।

महामंत्र के आदि और अंत में दो हाथ मुकुलित जोड़कर माथे से लगाना तथा चतुर्विंशति स्तव के आदि और अंत में हाथ मुकुलित जोड़कर माथे से लगाना, ऐसी ये चार शिरोनति होती हैं।

महामंत्र उच्चारण के आदि में जुड़ी हुई अंजलि को दाहिनी तरफ से तीन बार घुमाना सो तीन आवर्त हुए। सामायिक दंडक की समाप्ति में ऐसे ही तीन आवर्त करना। चतुर्विंशति स्तव के आदि में और अंत में तीन-तीन बार अंजलि को घुमाना ऐसे ये बारह आवर्त होते हैं।

इस विधि का स्पष्टीकरण यह है —

एक बार के कायोत्सर्ग में यह उपर्युक्त विधि की जाती है। उसी का नाम कृतिकर्म है। यह विधि देववंदना, प्रतिक्रमण आदि सर्व क्रियाओं में भक्तिपाठ के प्रारंभ में की जाती है। जैसे देववंदना में चैत्यभक्ति के प्रारंभ में —

"अथ पौर्वाण्हिक-देववंदनायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं श्रीचैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं।"

यह प्रतिज्ञा हुई, इसको बोल कर भूमिस्पर्शनात्मक पंचांग नमस्कार करें, यह एक अवनति हुई। अनंतर तीन आवर्त और एक शिरोनति करके "णमो अरिहंताणं,.....चत्तारि मंगलं.....अड्ढाइज्जदीव.....इत्यादि पाठ बोलते हुए.....दुच्चरियं वोस्सरामि" तक पाठ बोले यह 'सामायिक स्तव' कहलाता है। पुनः तीन आवर्त और एक शिरोनति करें। इस तरह सामायिक दण्डक के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति होने से छह आवर्त और दो शिरोनति हुईं। पुनः नौ बार णमोकार मंत्र को सत्ताईस स्वासोच्छ्वास में जपकर भूमिस्पर्शनात्मक नमस्कार करें। इस तरह प्रतिज्ञा के अनंतर और कायोत्सर्ग के अनन्तर ऐसे दो बार अवनति हो गईं।

बाद में तीन आवर्त और एक शिरोनति करके "थोस्सामि स्तव" पढ़कर अन्त में पुनः तीन आवर्त, एक शिरोनति करें। इस तरह चतुर्विंशति स्तव के आदि और अन्त में तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करने से छह आवर्त और दो शिरोनति हो गईं। ये सामायिक स्तव संबंधी छह आवर्त, दो शिरोनति तथा चतुर्विंशति स्तव संबंधी छह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं।

जुड़ी हुई अंजुलि को दाहिनी तरफ से घुमाना सो आवर्त का लक्षण है। यहाँ पर टीकाकार ने मन वचन काय की शुभ प्रवृत्ति का करना आवर्त कहा है जो कि उस क्रिया के करने में होना ही चाहिए।

इतनी क्रियारूप कृतिकर्म को करके "जयतु भगवान्" इत्यादि चैत्यभक्ति का पाठ पढ़ना चाहिए। ऐसे ही जो भी भक्ति जिस क्रिया में करनी होती है तो यही विधि की जाती है।

(९) कितने दोषों से रहित कृतिकर्म करना चाहिए ?

कृतिकर्म — विधि वंदना — देववंदना बत्तीस दोषों से रहित करना चाहिए। उन दोषों के नाम निम्न प्रकार हैं — अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्यत्व, ऋद्धिगौरव, गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, प्रदुष्ट, तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिबलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तरचूलिका, मूक, दर्दुर और चुलुलित इस

प्रकार साधु इन बत्तीस दोषों से रहित—विशुद्ध कृतिकर्म का प्रयोग करते हैं।

इन बत्तीस दोषों का अर्थ मुनिगण, आर्यिकाओं या श्रावक-श्राविकाओं को भी मूलाचार, अनगार-धर्मामृत आदि से देख लेना चाहिए।

यदि साधु इन बत्तीस दोषों से रहित पूर्वोक्त विधि से देववंदना करता है तो वह विपुल कर्मों की निर्जरा करता है क्योंकि इन बत्तीस दोषों के परिहार से बत्तीस ही गुण होते हैं। इसी प्रकार हास्य, भय, आसादन, राग, द्वेष, गौरव, आलस्य, मद, लोभ, चौर्यभाव, प्रतिकूलता, बालभाव, उपरोध हीन या अधिक पाठ बोलना, शरीर का स्पर्श करना, वचन बोलना, भृकुटी चढ़ाना, खात्कार—खखारना—खांसना इत्यादि दोषों को छोड़कर वंदना करे। जिनकी वंदना कर रहे हैं ऐसे भगवान् या गुरु आदि में अपने मन को लगाकर उनके गुणों का चिंतवन करते हुए अन्य कार्यों से उपयोग हटाकर विशुद्ध मन-वचन-काय से मौनपूर्वक वंदना करें तथा भक्तिपाठ आदि का उच्चारण ऐसा करें, जो स्वयं को प्रिय लगे व सुनने वालों को भी अच्छा लगे।

जिनकी वंदना करनी है और जो वंदना करते हैं उन दोनों में एक हाथ का अंतर रहना चाहिए अर्थात् गुरु या जिनप्रतिमा की वंदना करते समय उनसे एक हाथ के अंतर से स्थित होकर उनको बाधा न करते हुए वंदना करें। अपने शरीर का स्पर्श और प्रमार्जन करके शरीर की शुद्धि करके पहले देव या गुरु के समक्ष वंदना की याचना करें। अर्थात् हे भगवन्! मैं आपकी वंदना करूँगा। ऐसी प्रार्थना करके गुरु का उपयोग अपनी तरफ करके उनकी वंदना और प्रणाम करें।

संयत महाव्रती मुनि व आर्यिकाएं अपने असंयत माता-पिता की, असंयत विद्यागुरु की, चारित्र में भ्रष्ट दीक्षागुरु या विद्या गुरु की वंदना न करें। राजा, पाखंडी, तापसी, शास्त्रादि के ज्ञानी भी देशव्रती श्रावकों की या नाग, यक्ष, चंद्र, सूर्य इन्द्रादि देवों की भी वंदना करें तथा पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञक और मृगचरित्र शिथिलचारित्री दिगम्बर साधु हैं, इनकी भी वंदना न करें।

यहाँ तक तो वंदना करने वालों की बात हुई, अब जिनकी वंदना करते हैं, वे क्या करें ? सो बताते हैं—

'देववंदना' में वर्तमान में श्रीजिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं के समक्ष वंदना की जाती है अथवा वैसी सुविधा न होने से परोक्ष में भी की जाती है। साधुओं की यह त्रिकाल सामायिक क्रिया है। भगवान् की वंदना से तो विपुल कर्मों की निर्जरा और महान् पुण्यबंध होता है।

आचार्य, उपाध्याय आदि की वंदना करने से वे 'प्रतिवंदना' करते हुए अपने शिष्यों की वंदना स्वीकार करते हैं अर्थात् जब शिष्य मुनि गुरुओं की वंदना करते हैं तब 'नमोऽस्तु' शब्द का उच्चारण करके हाथ में पिच्छिका लेकर अंजलि जोड़कर वंदना करते हैं। उसके बाद आचार्य आदि भी हाथ में मुकुलित मुद्रा से पिच्छिका लेकर 'नमोऽस्तु' बोलकर प्रतिवंदना करते हैं यही वंदना की स्वीकृति होती है।

नमस्कार व आशीर्वाद की पद्धति—जब आर्यिकाएँ आपस में 'गणिनी' आदि बड़ी आर्यिकाओं को 'वंदामि' कहकर वंदना करती हैं तब वे बड़ी आर्यिकाएँ भी 'वंदामि' कहकर ही प्रतिवंदना करती हैं।

आर्यिकाएँ तथा क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ जब आचार्य आदि मुनियों को 'नमोस्तु' कहकर वंदना करती हैं तब मुनिगण दाहिना हाथ उठाकर 'समाधिरस्तु' ऐसा आशीर्वाद देते हैं। यही आशीर्वाद व्रतिकों को आर्यिकाएँ भी देती हैं।

क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएं आपस में 'इच्छामि' करते हैं। क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएं भी व्रतिकों को समाधिरस्तु आशीर्वाद देते हैं। मुनि, आर्यिकाएँ, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएं ये सभी सामान्य जैन को सद्धर्मवृद्धिरस्तु आशीर्वाद

देते हैं। विधर्मियों को 'धर्मलाभोऽस्तु' आशीर्वाद देते हैं और पामर, चांडाल, हिंस्र आदिवासी आदि को नमस्कार करने पर 'पापं क्षयोऽस्तु' आशीर्वाद देते हैं।

ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी को श्रावक 'वंदना' कहकर हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं। बदले में वे 'दर्शन-विशुद्धि' कहकर आशीर्वाद देते हैं।

यही शास्त्रों की और संघों की परम्परा है।

देववंदना—मुनि-आर्यिकाएँ आदि त्रिकाल सामायिक में ही उपर्युक्त विधि से चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति पढ़कर देववंदना करें। यह देववंदना ही सामायिक है और सामायिक ही देववंदना है। आचारासार, चारित्रसार और अनगारधर्मामृत में इसका अच्छा खुलासा है। जयधवला टीका में भी यही विधि वर्णित है। जिज्ञासुओं को वहाँ से ही देख लेना चाहिए। ऐसे ही प्रातःकाल और मध्यान्ह में सामायिक के बाद तथा सायंकाल में प्रतिक्रमण के बाद विधिवत् कृतिकर्मपूर्वक आचार्यदेव की गुरुवंदना करे तथा अन्य समय में भी आचार्य की वंदना करें। उपाध्याय, साधु आदि की तथा अपने से दीक्षा में बड़े मुनियों की भी वंदना करें।

प्रतिक्रमण आवश्यक

कृत, कारित, अनुमोदना से अपने व्रतों में लगे हुए अतिचारों को दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसे छह भेद हैं।

नाम प्रतिक्रमण—पाप हेतुक नामों से हुए अतिचारों को दूर करना या प्रतिक्रमण के दण्डक सूत्रों का उच्चारण करना नाम प्रतिक्रमण है।

स्थापना—सराग प्रतिमाओं से परिणाम का हटाना स्थापना प्रतिक्रमण है।

द्रव्य—पापकारक द्रव्यों के सेवन से परिणाम का हटाना द्रव्य प्रतिक्रमण है।

क्षेत्र—क्षेत्र के आश्रित हुए अतिचारों से दूर होना क्षेत्र प्रतिक्रमण है।

काल—काल के निमित्त से हुए अतिचारों से दूर होना काल प्रतिक्रमण है।

भाव—राग, द्वेष आदि भावों के निमित्त से हुए अतिचारों को दूर करना भाव प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के भेद—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण के ये सात भेद हैं।

(१) दिवस भर के किये हुए दोषों को दूर करने हेतु सूर्यास्त के पूर्व जो प्रतिक्रमण होता है वह दैवसिक है।

(२) रात्रि में हुए अतिचारों को दूर करने के लिए जो सूर्यादय से पूर्व—रात्रि के अंत में प्रतिक्रमण किया जाता है वह रात्रिक है।

(३) चार हाथ आगे देखकर चलते हुए भी जो जीव विराधना आदि दोषों को दूर करने के लिए किया जाता है वह ईर्यापथ प्रतिक्रमण है।

(४) पंद्रह अहोरात्र में जो दोष हुए हैं, उनका शोधन करने के लिए जो प्रत्येक चतुर्दशी या अमावस और पूर्णिमा को जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह पाक्षिक है।

(५) चार महीने हो जाने पर जो कार्तिकी शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णिमा को तथा फाल्गुन के अंत में जो बड़ा प्रतिक्रमण होता है वह चातुर्मासिक है।

(६) आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी या पूर्णमासी को वर्ष भर में हुए अतिचारों के शोधन हेतु सांवत्सरिक प्रतिक्रमण किया जाता है।

(७) उत्तम अर्थ — सल्लेखना से संबंधित प्रतिक्रमण उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। इसमें यावज्जीवन चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है अर्थात् मरण के काल में जो चतुर्विध आहार त्याग कर दीक्षित जीवन भर के दोषों का शोधन किया जाता है वह उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

अनगारधर्मामृत में सात बृहत्प्रतिक्रमण और सात लघु प्रतिक्रमण, ऐसे चौदह प्रतिक्रमण माने हैं।

बृहत्प्रतिक्रमण के नाम — व्रतारोपिणी, पाक्षिक, कार्तिकान्तचातुर्मासिक, फाल्गुनान्तचातुर्मासी, आषाढ़ान्तसांवत्सरी, सार्वातिचार और उत्तमार्थ ये सात बृहत्प्रतिक्रमण हैं।

लघु प्रतिक्रमण के नाम — लोच प्रतिक्रमण, रात्रिक, दैवसिक, गोचारप्रतिक्रमण, निषेधिकागमन प्रतिक्रमण, ईर्यापथप्रतिक्रमण और अतिचार प्रतिक्रमण ये सात लघु प्रतिक्रमण हैं।

तथा पाँच वर्ष में करने योग्य जो प्रतिक्रमण है वह 'युगप्रतिक्रमण[१]' है। ये सर्व प्रतिक्रमण के भेद उपर्युक्त सात में ही गर्भित हो जाते हैं।

इस प्रतिक्रमण के विषय में प्रतिक्रामक, प्रतिक्रमण और प्रतिक्रमितव्य — प्रतिक्रमण करने योग्य वस्तु इन तीनों को जानना आवश्यक है।

जो साधु अपने किये हुए दोषों को अपने से हटाते हैं, वे प्रतिक्रामक हैं।

महाव्रत आदि में लगे हुए अतिचारों से विरति अथवा व्रत शुद्धि निमित्त अक्षरों का समूह प्रतिक्रमण है।

मिथ्यात्व, असंयम और कषाय आदि अतिचाररूप द्रव्य त्याग करने योग्य हैं, इन्हें ही प्रतिक्रमितव्य कहते हैं।

जिन द्रव्यों से, जिन क्षेत्रों से, जिन कालों में और जिन भावों से अपने व्रतों में दोष लगता है, वे छोड़ने योग्य हैं।

प्रतिक्रमण के दो भेद भी माने हैं — द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण।

मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और अप्रशस्त योग का प्रतिक्रमण भाव प्रतिक्रमण है और प्रतिक्रमण पाठ के दण्डक सूत्रों का उच्चारण द्रव्य प्रतिक्रमण है।

यह प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही होता है अतः यहाँ पर आलोचना भी सात प्रकार की होती है — दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ।

गुरु के पास अपने अपराध का निवेदन करना अथवा गुरु के अभाव में अर्हंत भगवान की प्रतिमा के समक्ष अपने दोषों को प्रगट करना यह आलोचना है। गुरु के सामने चारित्राचारपूर्वक दोषों की आलोचना कर देने पर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की शुद्धिरूप आराधना सिद्ध होती है तथा दोषों की आलोचना न करने से आराधना की सिद्धि होनी कठिन है।

किनके लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक ही है ?

प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव और अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी इन दोनों का धर्म प्रतिक्रमण सहित है। अपराध हों अथवा न हों किन्तु इनके तीर्थ में रहने वाले साधुओं को प्रतिक्रमण करना ही चाहिए किन्तु अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत मध्य के बाईस तीर्थंकरों का धर्म अपराध के होने पर ही प्रतिक्रमण

१. तथा पंचसंवत्सरान्ते विधेया यौगान्ती प्रतिक्रमण। (अनगार धर्मामृत, अध्याय ८)

करने रूप है क्योंकि उनके शिष्यों में अपराध की बहुलता नहीं होती है। तात्पर्य यही है कि भगवान आदिनाथ और भगवान महावीर स्वामी के तीर्थ में रहने वाले मुनि-आर्यिकाएं चाहें उनसे अपराध हो या न हो फिर भी वे यथासमय दैवसिक आदि प्रतिक्रमण के काल में पूरा प्रतिक्रमण पाठ पढ़ते हुए सर्व दण्डकसूत्रों का उच्चारण करें ही करें तथा शेष बाईस तीर्थंकरों के शासन में रहने वाले साधुओं से जो अपराध होवे, उसका ही प्रतिक्रमण करें, इन सातों प्रतिक्रमणों को समय-समय पर करना जरूरी नहीं है।

ऐसा क्यों ? प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

मज्झिमया दिढबुद्धी एयग्गमणा अमोहलक्खा य।
तम्हा हु जमाचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति।।६३१।।
पुरिमचरिमादु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य।
तो सव्वपडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंतो।।६३२।।

मध्य तीर्थंकरों के शिष्य दृढ़बुद्धि वाले, एकाग्रमन सहित और मूढ़ मन रहित होते हैं इसलिए जिस दोष को लगाते हैं उसकी गर्हा—प्रतिक्रमण करके ही शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु प्रथम और चरम तीर्थंकर के शिष्य चंचलचित्त होते हैं तथा मूढ़चित्त वाले होते हैं—उनको बहुत बार शास्त्रों का प्रतिपादन करने पर भी नहीं समझते हैं अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के शासन के शिष्यों में अति सरलता और अति जड़ता रहती थी और आज अंतिम तीर्थंकर के शासन में शिष्यो में कुटिलता और जड़ता रहती है इसीलिए इन साधुओं के लिए सर्व प्रतिक्रमण के काल में विधिवत् सर्व दण्डकों के पढ़ने का विधान है। इसके लिए अंधे घोड़े का दृष्टांत दिया गया है—

किसी राजा का घोड़ा अंधा हो गया, उसने उस घोड़े के लिए वैद्य के पुत्र से औषधि पूछी। वह वैद्यक शास्त्र जानता नहीं था और उसका पिता वैद्य अन्य ग्राम को चला गया था। तब उस वैद्यपुत्र ने घोड़े की आँख के निमित्त सभी औषधियों का प्रयोग कर दिया अर्थात् सभी औषधि उस घोड़े की आँख में लगा दिया। उन औषधियों के प्रयोग से वह घोड़ा स्वस्थ हो गया अर्थात् जो आँख खुलने की औषधि थी उसी में वह भी आ गई। उसके लगते ही घोड़े की आँख खुल गई। वैसे ही साधु भी यदि एक प्रतिक्रमण दण्डक में स्थिरचित्त नहीं होता तो अन्य दण्डक में हो जावेगा अथवा यदि अन्य दण्डक में भी स्थिरमना नहीं होगा तो अन्य किसी दण्डक में स्थिरचित्त हो जावेगा इसलिए सर्व दण्डकों का उच्चारण करना न्याय ही है और इसमें विरोध भी नहीं है क्योंकि प्रतिक्रमण के सभी दण्डक सूत्र कर्मक्षय करने में समर्थ हैं।

इस प्रकार यह प्रतिक्रमण नाम की आवश्यक क्रिया मुनियों के लिए कही गई है। व्रतिक श्रावक भी अपने पद के अनुरूप व्रतों में लगे हुए अतिचारों के शोधन के लिए प्रतिक्रमण करते हैं।

प्रत्याख्यान आवश्यक

अतिचार के लिए कारणभूत ऐसे सचित्त, अचित्त एवं मिश्र द्रव्यों का त्याग करना तथा तप के लिए प्रासुक—भक्ष्य द्रव्यों का भी त्याग करना 'प्रत्याख्यान' है।

इसके भी नाम स्थापना आदि से छह भेद हैं—

नाम प्रत्याख्यान—अयोग्य नाम पाप के हेतु हैं और विरोध के कारण हैं। ऐसे नामों का न रखना, न रखवाना, न रखते हुए की अनुमोदना करना। यह नाम प्रत्याख्यान है।

स्थापना — अयोग्य स्थापनारूप मूर्तियाँ पाप बंध के लिए कारण हैं, मिथ्यात्व आदि की प्रवर्तक हैं तथा जो काल्पनिक रूप देवता आदि के प्रतिबिम्ब हैं वे भी पाप के कारण हैं ऐसी अयोग्य स्थापना रूप — प्रतिबिम्बों को न करना, न कराना न अनुमति देना स्थापना प्रत्याख्यान है।

द्रव्य — पापबंध के कारणभूत सदोष द्रव्य कन्दमूल आदि हैं तथा तप के निमित्त से त्यागे गये जो निर्दोष द्रव्य — नमक, घी आदि हैं इनको ग्रहण न करना, न त्यागी वस्तु को ग्रहण कराना, न अनुमति देना यह द्रव्य प्रत्याख्यान है।

क्षेत्र — असंयम आदि के कारणभूत ऐसे क्षेत्र को छोड़ देना, क्षेत्र प्रत्याख्यान है।

काल — जिस काल में असंयम आदि होते हैं, उसको छोड़ देना काल प्रत्याख्यान है।

भाव — मिथ्यात्व, असंयम, कषाय आदि भावों का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

प्रश्न — प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में क्या अंतर है ?

उत्तर — अतीत काल में लगे हुए दोषों का शोधन करना प्रतिक्रमण है और अतीत, अनागत तथा वर्तमान इन तीनों काल के अतिचारों का त्याग करना प्रत्याख्यान है अथवा व्रत आदि के अतिचारों का शोधन करना प्रतिक्रमण है और सचित्त आदि वस्तु का तथा तप के लिए योग्य भी वस्तु का त्याग करना प्रत्याख्यान है।

जब मुनि-आर्यिका आदि संयमी साधु-साध्वी आहार के लिए जाते हैं वहाँ नवधाभक्ति के बाद पूर्व में जो चतुर्विध आहार का त्याग था, उसका निष्ठापन करके आहार ग्रहण कर लेते हैं। पुनः मुखशुद्धि के बाद वहीं पर तत्क्षण ही आगे आहार न लेने तक सिद्धभक्तिपूर्वक विधिवत् चतुर्विध आहार का त्याग कर देते हैं। अनंतर गुरु के पास आकर अथवा गुरु के अभाव में भगवान् के पास आकर लघु सिद्ध भक्ति, लघु योग भक्ति पढ़कर अगले दिन आहार ग्रहण के पूर्व तक चतुर्विध आहार का त्याग ले लेते हैं। फिर गुरुभक्तिपूर्वक गुरुवंदना करते हैं। यह प्रतिदिन के प्रत्याख्यान आवश्यक की विधि है।

इसके प्रत्याख्यायक, प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यातव्य ये तीनों ही जानने योग्य हैं।

संयम से सहित मुनि प्रत्याख्यान करने वाले होने से प्रत्याख्यायक हैं।

त्यागरूप परिणाम प्रत्याख्यान है।

सदोष हों या निर्दोष, सचित्त, अचित्त और मिश्र ये तीन प्रकार के द्रव्य प्रत्याख्यान करने — त्यागने योग्य पदार्थ हैं इन्हें ही प्रत्याख्यातव्य कहते हैं।

जैन साधु के मूलगुण २८ होते हैं और उत्तरगुण ३४। बाईस परीषहजय और बारह प्रकार के तप ही उत्तरगुण कहलाते हैं।

इन उत्तर गुणों में अनेक प्रकार के सिंहनिष्क्रीडित, आचाम्ल, कवलचांद्रायण आदि व्रत, उपवास जो भी हैं वे सब प्रत्याख्यान कहलाते हैं।

सो यह भी उपवास आदि रूप प्रत्याख्यान यहाँ मूलाचार में दश भेद रूप माना गया है — अनागत, अतिक्रांत, कोटिसहित, निखंडित, साकार, अनाकार, परिणामगत, अपरिशेष, अध्वानगत और सहेतुक।

(१) भविष्यतकाल के किए जाने वाले उपवास आदि पहले कर लेना, जैसे चतुर्दशी आदि में जो उपवास करना था उसको त्रयोदशी आदि में कर लेना अनागत प्रत्याख्यान है।

(२) अतीतकाल के किए जाने वाले उपवास आदि को आगे करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है। जैसे — चतुर्दशी आदि में जो उपवास आदि करना है, उसे प्रतिपदा आदि में करना।

(३) शक्ति आदि की उपेक्षा से संकल्प सहित उपवास करना कोटिसहित प्रत्याख्यान है। जैसे—कल प्रातः स्वाध्याय बेला के अनन्तर यदि शक्ति रहेगी तो उपवास आदि करूँगा, यदि शक्ति नहीं रही तो नहीं करूँगा। इस प्रकार से जो संकल्प करके प्रत्याख्यान होता है, वह कोटिसहित है।

(४) पाक्षिक आदि में अवश्य किये जाने वाले उपवास का करना निखण्डित प्रत्याख्यान है।

(५) भेद सहित उपवास करने वाले को साकार प्रत्याख्यान कहते हैं। जैसे—सर्वतोभद्र, कनकावली आदि व्रतों की विधि से उपवास करना, रोहिणी आदि नक्षत्रों के भेद से उपवास करना।

(६) स्वेच्छा से उपवास करना, जैसे—नक्षत्र या तिथि आदि की अपेक्षा के बिना ही स्वरुचि से कभी भी उपवास कर लेना अनाकार प्रत्याख्यान है।

(७) प्रमाण सहित उपवास को परिणामगत कहते हैं। जैसे—बेला-तेला, चार उपवास, पाँच उपवास, सात दिन, पन्द्रह दिन, एक मास आदि काल के प्रमाण से उपवास आदि करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है।

(८) जीवन पर्यंत के लिए चार प्रकार के आहार आदि का त्याग करना अपरिशेष प्रत्याख्यान है।

(९) मार्गविषयक प्रत्याख्यान अध्वानगत है। जैसे—जंगल, नदी आदि से निकलने के प्रसंग में उपवास आदि करना अर्थात् इस वन से बाहर पहुँचने तक मेरे चतुर्विध आहार का त्याग है या इस नदी से पार होने तक चतुर्विध आहार का त्याग है। ऐसा उपवास करना सो अध्वानगत प्रत्याख्यान है।

(१०) हेतु सहित उपवास सहेतुक है। यथा—उपसर्ग आदि के निमित्त से उपवास आदि करना सहेतुक नाम का प्रत्याख्यान है।

जिस प्रत्याख्यान में विनय के साथ, अनुभाषा के साथ, प्रतिपालन के साथ और परिणाम शुद्धि के साथ आहार आदि का त्याग होता है वह प्रत्याख्यान इन चार भेद से भी कहा गया है—

(१) कृतिकर्म, औपचारिक विनय तथा दर्शन, ज्ञान और चारित्र में विनय, जो इन पाँच विध विनय से युक्त है, वह विनय शुद्ध प्रत्याख्यान है।

(२) गुरु के वचन के अनुरूप वचन बोलना, अक्षर पद, व्यंजन क्रम से विशुद्ध उच्चारण करना तथा घोष—ह्रस्व, दीर्घ आदि वर्णों का यथायोग्य उच्चारण करना, इस प्रकार जो प्रत्याख्यान है वह अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान है।

(३) आकस्मिक व्याधि, उपसर्ग, श्रम, आहार का अलाभ—अंतराय आदि और गहन वन प्रवेश आदि के समय जो चतुर्विध आहार का त्याग किया हो, उसको भंग न करना अनुपालना शुद्ध है अर्थात् सहसा कोई व्याधि, वेदना उठ गई या तिर्यंच आदि द्वारा उपसर्ग हो गया या अधिक श्रमादि से मरणासन्न स्थिति आ गई या निर्जनवन में मार्ग भूल गये, इत्यादि प्रसंगों पर ऐसा प्रत्याख्यान करना चाहिए कि इस कष्ट से छूटने तक मेरे चतुर्विध आहार का त्याग है, इसको पूरा निभाना अनुपालना शुद्ध प्रत्याख्यान है।

(४) राग-द्वेष आदि परिणामों से जो दूषित नहीं हो अर्थात् सम्यग्दर्शन आदि युक्त, कांक्षा रहित, वीतराग, समभावयुक्त और अहिंसादि व्रतों से सहित शुद्ध भाव वाले मुनियों का प्रत्याख्यान परिणाम शुद्ध प्रत्याख्यान है।

आहार के चार भेद कौन से हैं ?

क्षुधा—भूख को शांत करने वाला भोजन—रोटी, पूड़ी, भात, दाल आदि अशन पदार्थ 'अशन' हैं। प्राणों पर अनुग्रह करने वाले पदार्थ—ठंडाई, दूध, रस, जल आदि 'पान' है। जो खाया जाये वह 'खाद्य'—

लड्डू आदि वस्तुएँ एवं जिसका स्वाद लिया जाये, वे 'स्वाद्य' — इलायची आदि पदार्थ स्वाद्य हैं।

गृहस्थाश्रम में रहते हुए श्रावक-श्राविकाएँ भी प्रत्याख्यान करते हैं। रात्रि में चतुर्विध आहार का त्याग करना बहुत बड़ा प्रत्याख्यान है। इसमें एक वर्ष में छह महीने के उपवास का फल मिल जाता है। यदि चारों विध का त्याग न कर सके तो कम से औषधि, दुग्ध आदि के सिवाय अन्न आदि पदार्थ रात्रि में छोड़ देना चाहिए। प्याज, लहसुन आदि अभक्ष्य वस्तुएँ, चलितरस — जिन पर फफूंदी आदि लग गई हैं ऐसे पदार्थ भी छोड़ देने चाहिए। घर में शुद्ध, सात्विक भोजन बनाकर खाना चाहिए।

व्रतों में सोलहकारण, दशलक्षण, आष्टान्हिक आदि पर्वों में व अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वों में उपवास अथवा एक बार भोजन आदि से व्रत किये जाते हैं। शास्त्रों में रोहिणी, जिनगुणसंपत्ति, रविवार आदि बहुत से व्रत प्रचलित हैं, ये सब तप हैं, इनसे इस लोक में सुख, संपत्ति, संतति आदि प्राप्त होती हैं और परलोक में स्वर्ग के सुख प्राप्त कर परम्परा से मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाती है। यदि गृहस्थ सोते समय इतना भी नियम कर लेता है कि 'निद्रा में रहने तक मेरे चतुर्विध आहार का त्याग है तो भी उसका यह त्याग प्रत्याख्यान कहलाता है। कदाचित् वह निद्रा में ही सर्प के काटने से या किसी छत आदि के गिर जाने से मर गया तो उत्तम-देवगति प्राप्त कर सकता है इसलिए प्रतिदिन और प्रतिक्षण कुछ न कुछ त्याग अवश्य करते रहना चाहिए। यह परलोक सिद्धि के लिए बहुत ही लाभप्रद है।

कायोत्सर्ग आवश्यक

काय — शरीर का त्याग करना अर्थात् शरीर से ममत्व छोड़ कर महामंत्र का चिंतवन करना 'कायोत्सर्ग' है।

इसके भी नाम आदि की अपेक्षा छह भेद हैं —

(१) तीक्ष्ण, कठोर आदि पापयुक्त नाम के द्वारा उत्पन्न हुए अतिचारों का शोधन करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, वह नाम कायोत्सर्ग है।

(२) अशुभ या सरागमूर्ति की स्थापना द्वारा हुए अतिचारों के शोधन हेतु कायोत्सर्ग करना स्थापना कायोत्सर्ग है।

(३) सदोष द्रव्य के सेवन से उत्पन्न हुए अतिचारों को दूर करने के लिए जो कायोत्सर्ग होता है, वह द्रव्य कायोत्सर्ग है।

(४) सदोष क्षेत्र से होने वाले अतिचारों को नष्ट करने के लिए जो कायोत्सर्ग हो, वह क्षेत्र कायोत्सर्ग है।

(५) सदोष काल के आश्रय से हुए दोषों का परिहार करने के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाए, वह काल कायोत्सर्ग है।

(६) मिथ्यात्व आदि अतिचारों के शोधन के लिए किया गया कायोत्सर्ग भाव कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग, कायोत्सर्गी और कायोत्सर्ग के कारण इन तीनों को जानना जरूरी है।

(१) चार अंगुल के अंतर से समपाद रूप, दोनों भुजाओं को लटका कर, सर्वांग के हलन-चलन से रहित जिनमुद्रा से धर्मध्यान या शुक्लध्यान में लीन हो जाना या बैठकर पद्मासन मुद्रा से — योगमुद्रा से ध्यान करना यह कायोत्सर्ग है।

(२) मोक्ष का इच्छुक, भव्य, निद्राविजयी, जिनागम के ज्ञान में निपुण, चारित्रधारी मुनि, देशव्रती श्रावक या असंयत सम्यग्दृष्टी श्रावक, विशुद्ध परिणामी ही कायोत्सर्ग करते हैं अतः ये ही कायोत्सर्गी

कहलाते हैं।

(३) राग, द्वेष कषाय आदि से हुए अतिचारों को दूर करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है अथवा देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि के द्वारा उपसर्ग के आ जाने पर भी कायोत्सर्ग किया जाता है या कायोत्सर्ग में स्थित हों और उपसर्ग आदि आ जावे तो उन्हें सहन करना चाहिए।

कायोत्सर्ग का फल—कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष पर्यंत है, अंतर्मुहूर्त का काल जघन्य है और अंतर्मुहूर्त से एक समय अधिक लेकर एक वर्ष में एक समय कम शेष जितना भी काल है, वह सब मध्यम है, इसके अनेक भेद हो जाते हैं।

कायोत्सर्ग में उच्छ्वासों की गणना—अप्रमत्त साधु और वीरभक्ति में दैवसिक के १०८, रात्रिक के ५४, पाक्षिक के ३००, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में ४०० और वार्षिक प्रतिक्रमण में ५०० उच्छ्वासों में कायोत्सर्ग करें। तात्पर्य यह है कि दैवसिक प्रतिक्रमण पाठ में चार भक्तियाँ होती हैं—सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति और चौबीस तीर्थंकर भक्ति। इनमें से तीन भक्ति के कायोत्सर्ग २७ उच्छ्वासों में होते हैं तथा वीर भक्ति का कायोत्सर्ग १०८ उच्छ्वासों में होता है। इसमें ३६ बार महामंत्र का उच्चारण किया जाता है।

उच्छ्वास की गणना कैसे लेना ?

एक बार णमोकार मंत्र के जप में तीन उच्छ्वास होते हैं, यथा 'णमो अरिहंताणं' श्वांस ऊपर खींचना और 'णमो सिद्धाणं' बोलकर श्वांस नीचे छोड़ना, यह एक श्वासोच्छ्वास हुआ। ऐसे ही 'णमो आइरियाणं' 'णमो उवज्झायाणं' इन दो पदों में एक श्वासोच्छ्वास तथा 'णमो लोए' पद व 'सव्व साहूणं' पद इनके उच्चारण में एक श्वासोच्छ्वास ये तीन श्वासोच्छ्वास हुए। इस तरह नौ बार णमोकार मंत्र के जपने से २७ श्वासोच्छ्वास, अठारह बार णमोकार मंत्र के जपने से ५४ एवं ३६ बार जाप से १०८ श्वासोच्छ्वास हो जाते हैं।

अन्य क्रियाओं में उच्छ्वासों की गणना—गोचार प्रतिक्रमण में, एक गाँव से दूसरे गाँव जाने पर, जिनेन्द्र देव की निर्वाणभूमि आदि कल्याणक स्थानों की वंदना के समय, मुनियों के निषद्या स्थान की वंदना में, मल-मूत्र विसर्जन के बाद २५ उच्छ्वास में कायोत्सर्ग करना चाहिए।

ग्रंथ के प्रारंभ में, समाप्ति में, स्वाध्याय में, देववंदना-गुरु वंदना में और अशुभ परिणाम से हुए दोषों के शोधन में २७ उच्छ्वासों में कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग काल में चिंतन—कायोत्सर्ग करते समय साधु यदि ईर्यापथ दोष विशोधन हेतु कायोत्सर्ग कर रहे हैं तो चलने की क्रिया से हुए दोषों के विनाश का चिंतवन करके पुनः महामंत्र के अर्थ का स्मरण करते हुए धर्मध्यान और शुक्लध्यान का चिंतवन करें।

कायोत्सर्ग का प्रत्यक्ष फल—कायोत्सर्ग में हलन-चलन रहित शरीर की मुद्रा स्थिर होने से जैसे शरीर के अवयव भिद जाते हैं वैसे ही कायोत्सर्ग के द्वारा कर्मधूलि भी आत्मा से पृथक् हो जाती है।

कायोत्सर्ग के दोष—इस कायोत्सर्ग के भी घोटक, लता, स्तंभ, कुड्य आदि ३२ दोष माने हैं। उन दोषों से रहित स्थिर योगमुद्रा या जिनमुद्रा से स्थित होकर कायोत्सर्ग करना चाहिए। इन दोषों के लक्षण मूलाचार, अनगार धर्मामृत आदि से देख लेना चाहिए।

कायोत्सर्ग के चार भेद—उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्टनिविष्ट, ये चार भेद कायोत्सर्ग के होते हैं।

(१) उत्थितोत्थित—दोनों प्रकार से खड़े होकर जो कायोत्सर्ग होता है अथवा जिसमें शरीर से भी

अचल खड़े हैं और परिणाम से भी खड़े हैं, धर्मध्यान या शुक्लध्यान कर रहे हैं, वह कायोत्सर्ग प्रथम भेदरूप है। यह महान से भी महान सर्वश्रेष्ठ है।

(२) उत्थितनिविष्ट — जो शरीर से तो खड़े हैं फिर भी भावों से निविष्ट — बैठे हैं अर्थात् आर्तध्यान या रौद्रध्यान में उपयोग जा रहा है उस समय वह कायोत्सर्ग उत्थितनिविष्ट कहलाता है।

(३) उपविष्टोत्थित — जो शरीर से तो बैठे हुए हैं किन्तु भावों से खड़े हैं अर्थात् बैठकर भी धर्मध्यान या शुक्लध्यान का चिंतन कर रहे हैं, उनका यह कायोत्सर्ग उपविष्टोत्थित होता है।

(४) जो शरीर से भी बैठे हुए हैं और भावों से भी, उनका वह कायोत्सर्ग उपविष्टनिविष्ट कहलाता है।

इन चारों प्रकार के कायोत्सर्गों में पहला और तीसरा भेद ही ग्राह्य है — उत्तम है, कर्मनिर्जरा का कारण है और दूसरा तथा चौथा भेदरूप कायोत्सर्ग अग्राह्य — त्यागने योग्य एवं कर्मबंध का कारण है।

शुभ मनःसंकल्प — दर्शन, ज्ञान और चारित्र में जो मन का लगाना है, वह शुभ मनःसंकल्प है। ऐसे ही संयम, प्रत्याख्यान आदि क्रियाएँ, धर्मध्यान आदि परिणाम, समिति, विद्या, व्रताचरण, समाधि, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव आदि भाव, विनय, श्रद्धान आदि में मन का उपयोग जाना सो यह सब प्रशस्त और विश्वस्त संकल्प है, यह सब जिनशासन में सम्मत है।

अशुभ मनःसंकल्प — परिवार, ऋद्धि, सत्कार, पूजा, भोजन-पान, शयन, आसन आदि के लिए मन का उपयोग चला जाना यह सब अप्रशस्त मन का संकल्प कायोत्सर्ग के समय छोड़ने योग्य है।

इस प्रकार यहाँ संयम, तप और ऋद्धि के इच्छुक निर्ग्रंथ महार्षियों के लिए यह कायोत्सर्ग आवश्यक कहा गया है।

पूर्व काल में श्रावक भी अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्वों में श्मशाम भूमि या निर्जन वन में जाकर दिगम्बर होकर रात्रि में प्रतिमायोग में खड़े होकर कायोत्सर्ग किया करते थे। इसके लिए सेठ सुदर्शन, श्रेणिकपुत्र वारिषेण आदि श्रावकों के उदाहरण प्रसिद्ध हैं। आज भी श्रावक-श्राविकाएं मंदिर में, घर में या तीर्थों पर जो निश्चल आसन से बैठकर महामंत्र का जाप्य करते हैं, वह इस कायोत्सर्ग में सम्मिलित है।

णमोकार मंत्र के जप करने के तीन प्रकार माने गये हैं — मानसिक, उपांशु और वाचनिक।

वाचनिक जाप्य में शब्दों का उच्चारण स्पष्ट होता है। उपांशु जाप्य में शब्द भीतर ही भीतर कंठस्थान में गूंजते रहते हैं तथ मानसिक जाप्य में बाहर और भीतर दोनों तरह से शब्दोच्चारण का प्रयास रुक जाता है। हृदय में ही मंत्राक्षरों का चिंतवन चलता रहता है। यही क्रिया ध्यान का रूप धारण कर लेती है।

पुण्यफल — वाचनिक जाप्य से सौगुणा अधिक पुण्य उपांशु जाप से होता है और उससे हजार गुणा अधिक पुण्य मानस जाप से होता है।

इस प्रकार यह कायोत्सर्ग आवश्यक पूर्णरूप से मुनियों में ही होता है फिर भी श्रावकों को भी इसका अभ्यास करते रहना चाहिए। जो मुनि इन आवश्यकों को यथासमय करते हैं, उनमें हानि नहीं करते हैं, उनके 'आवश्यक अपरिहाणि' नाम की भावना भी हो जाती है।

सव्वावासणिजुत्तो णियमा सिद्धोत्ति होइ णायव्वो।
यह णिस्सेसं कुणदि ण णियमा आवासया होंति।।६८६।।

सर्व आवश्यकों से परिपूर्ण हुए मुनि नियम से सिद्ध हो जाते हैं और जो इन्हें परिपूर्ण नहीं कर पाते हैं वे नियम से स्वर्गादि में निवास करते हैं।

आसिका और निषीधिका का लक्षण—

जो होदि णिसीदप्पा णिसीहिया तस्स भावदो होदि।
अणिसिद्धस्स णिसीहियसद्दो हवदि केवलं तस्स।।६८९।।

जो नियमित आत्मा हैं उनके भाव से निषिधिका होती है और जो अनियंत्रित हैं उनके निषीधिका शब्द मात्र है।

आसाए विप्पमुकस्स आसिया होदि भावदो।
आसाए अविप्पमुक्कस्स सद्दो हवदि केवलं।।६९०।।

जो आशा से रहित हैं उनके भाव से आसिका होती है और जो आशा से सहित हैं उनके शब्द मात्र होती है।

इसी मूलाचार में चतुर्थ अध्याय में कहा है—

"णिग्गमणे आसिया भणिया। पविसंते य णिसीही। णिग्गमणे—निर्गमनकाले। आसिया—आसिका देवगृहस्थादीन् परिपृच्छय यानं पापक्रियादिभ्यो मनो निर्वर्तनं वा। भणिया—भणिताः कथिताः। पविसंते य—प्रविशति च प्रवेशकाले, णिसिही—निषेधिका तत्रस्थानभ्युपगम्य स्थानकरणं सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा।"

वसति से निकलकर गमन करते समय देव, गृहस्थ आदि को पूछकर निकलना अथवा पाप क्रिया आदि से मन को दूर करना यह 'आसिका' क्रिया है। प्रवेश के समय वहाँ के देवता, गृहस्थ आदि को पूछकर निःसही शब्द का प्रयोग कर उनकी स्वीकृति लेकर वहाँ रहना यह 'निषेधिका' क्रिया है।

इस आवश्यक अधिकार में सर्वप्रथम पाँच परमेष्ठी का स्वरूप बताया है और उन्हें नमस्कार किया है पश्चात् छह आवश्यक क्रियाओं को कहकर आसिका, निषीधिका का वर्णन किया है। ये तेरह प्रकार की क्रियाएँ या करण कहलाती हैं अर्थात् पाँच परमेष्ठी को नमस्काररूप से पाँच, छह आवश्यक क्रियारूप से छह और असही, निसही ये तेरह क्रियाएँ साधुओं को अहर्निश करनी होती हैं।

(२) द्वादश अनुप्रेक्षा अधिकार

अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णसंसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जरधम्मं बोधिं च चिंतेज्जो।।६९४।।

अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व या अशुभत्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधिदुर्लभ ये द्वादश अनुप्रेक्षा हैं। इनका चिंतवन करना चाहिए।

अध्रुव अनुप्रेक्षा—

सामग्गिंदियरूवं मदिजोवणजीविय बलं तेजं।
गिहसयणासणभंडादिया अणिच्चेति चिंतेज्जो।।६९६।।

सामग्री—राज्य आदि, इन्द्रियाँ, रूप, मति, यौवन, जीवन, बल, तेज, गृह, शयन, आसन और भांड—वस्त्र, कार्पास आदि सर्व पदार्थ अनित्य हैं, ऐसा चिंतवन करना चाहिए।

अशरण अनुप्रेक्षा—

मरणभयह्मि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारंति।
धम्मो त्ताणं सरणं गदित्ति चिंतेहि सरणत्तं।।६९९।।

मरण का भय प्राप्त होने पर इंद्र सहित सुर और असुर भी रक्षा नहीं कर सकते हैं। जिनेन्द्र द्वारा कथित एक धर्म ही रक्षक है, शरण है और गति है—उसी का आश्रय लेने से उत्तम गति है। इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षा का चिंतवन करना चाहिए।

एकत्व अनुप्रेक्षा—

एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं।।७०१।।

यह जीव अकेला ही शुभ-अशुभ कर्म करता है, अकेला ही इस दीर्घ संसार में भ्रमण करता है, अकेला ही जन्म धारण करता है और अकेला ही मरण करता है, ऐसी एकत्व भावना का चिंतवन करो।

अन्यत्व अनुप्रेक्षा—

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादात्ति एवं चिंत्तेहि अण्णत्तं।।७०४।।

यह शरीर, इंद्रियां और मन आदि भी जब मेरे से अन्य—भिन्न हैं, तो पुनः जो बाह्य द्रव्य—घर, पुत्र, धन आदि हैं, वे तो अन्य हैं ही किन्तु ज्ञान-दर्शन ही अपने आत्मा के हैं, वे भिन्न नहीं हैं, ऐसा अन्यत्व भाव का चिंतवन करो।

संसार अनुप्रेक्षा—

मिच्छत्तेणाछण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो।
भमिहदि भीमकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे।।७०५।।

मिथ्यात्वरूप अंधकार से व्याप्त हुआ यह जीव जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग को नहीं देख पाता है अतः अत्यन्त भयंकर इस संसाररूपी वन में भ्रमण कर रहा है।

एवं बहुप्पयारं संसारं विविहदुक्खथिरसारं।
णाऊण विचिंतिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं।।७१२।।

इस प्रकार यह संसार नाना प्रकार का है और अनेक प्रकार के दुःख ही इसमे स्थिर हैं, ऐसा यह संसार है उसको जानकर इस संसार के निःसार स्वरूप का शीघ्र ही विचार करना चाहिए।

लोक अनुप्रेक्षा—

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिप्पण्णो।
जीवाजीवेहिं भुडो णिच्चो तालरुक्खसंठाणो।।७१४।।

यह लोक अकृत्रिम है, अनादि अनिधन है, स्वभाव से बना हुआ है, जीव-अजीव द्रव्यों से परिपूर्ण—भरा हुआ है, नित्य है और तालवृक्ष के समान आकार वाला है अर्थात् पुरुषाकार है।

णाऊण लोगसारं णिस्सारं दीहगमणसंसारं।
लोगग्गसिहरवासं झाहि पयत्तेण सुहवासं।।७२१।।

लोक का सार निःसार है, यह संसार दीर्घ गमनरूप अनंत अपार है, इसमें लोक के अग्रभाग पर निवास करना ही सुखवास है, ऐसा चिंतवन करो।

अशुभ अनुप्रेक्षा—

मोत्तूण जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो।।७२८।।

सुर-असुरों में, तिर्यंचों में, नारकी और मनुष्यों में, सर्वत्र इस संसार में जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म को छोड़कर और कुछ भी शुभ नहीं है। मात्र एक धर्म ही शुभ है ऐसा चिंतवन करना अशुभ अनुप्रेक्षा है अथवा शरीर के अशुचिपने का विचार करना अशुचित्व अनुप्रेक्षा है।

आस्त्रवानुप्रेक्षा—

दुःखभयमीणपउरे संसारमहण्णवे परमघोरे।
जंतू जं तु णिमज्जदि कम्मासवहेदुयं सव्वं।।७२९।।

जिसमें दुःख और भय को करने वाले बहुत से मत्स्य—मीन भरे हुए हैं, जो बहुत ही भयंकर—घोर है, ऐसे संसाररूपी महासमुद्र में यह जीव डूब रहा है, उसमें कर्मों का आस्त्रव ही कारण है।

संवर अनुप्रेक्षा—

तम्हा कम्मासवकारणाणि सव्वाणि ताणि रुधेज्जो।
इंदियकसायसण्णागारवरागादिआदीणि ।।७४०।।

इसलिए इंद्रिय, कषाय, संज्ञा, गारव और राग आदि, इन सर्व कर्मों के आस्त्रव के कारणों को रोकना चाहिए, यही संवर है।

संवरफलं तु णिव्वाणमेत्ति संवरसमाधिसंजुत्तो।
णिच्चुज्जुत्तो भावय संवर इणमो विसुद्धप्पा।।७४५।।

संवर का फल निर्वाण है, ऐसा जानकर नित्य ही उद्यमशील, विशुद्ध आत्मा संवर और समाधि से संयुक्त होता है। इस प्रकार संवर भावना को भाओ।

निर्जरा अनुप्रेक्षा—

रुद्धासवस्स एवं तवसा जुत्तस्स णिज्जरा होदि।
दुविहा य सा वि भणिया देसादो सव्वदो चेव।।७४६।।

जिन्होंने आस्त्रव के कारणों को रोककर संवर किया है, तपश्चरण से युक्त ऐसे मुनि के कर्मों की निर्जरा होती है। उसके दो भेद हैं—कर्मैकदेश निर्जरा और सर्वकर्म निर्जरा। एकदेश निर्जरा होते-होते जब सर्वकर्म निर्जरा हो जाती है व मोक्ष हो जाता है, ऐसा चिंतवन करना निर्जरा अनुप्रेक्षा है।

धर्म अनुप्रेक्षा—

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थंकरेहिं अक्खादो।
धण्णा तं पडिवण्णा विसुद्धमणसा जगे मणुया।।७५२।।

उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म सर्व जगत् का हित करने वाला है, यह धर्म तीर्थंकरों के द्वारा कथित है। इस धर्म को जिन्होंने विशुद्ध चित्त से ग्रहण किया है, वे धन्य हैं, ऐसा चिंतवन करना धर्म अनुप्रेक्षा है।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—

सेयं भवभयमहणी बोधी गुणवित्थडा मए लद्धा।
जदि पडिदा ण हु सुलहा तम्हा ण खमो पमादो मे।।७६०।।

यह बोधि (रत्नत्रय) भव — संसार के भय को नष्ट करने वाली है, गुणों से विस्तृत है — सर्व गुणों का आधार है, ऐसी बोधि — रत्नत्रय या सम्यग्दर्शन मुझको प्राप्त हो गया है। यदि पुनः यह बोधि मुझसे गिर जायेगी — नष्ट हो जाएगी, तो पुनः इस संसार में सुलभ नहीं है — बहुत ही दुर्लभ है इसलिए मुझे प्रमाद नहीं करना चाहिए। ऐसा चिंतवन करना बोधिदुर्लभ भावना है।

यह बारह अनुप्रेक्षाएं वैराग्य की जननी — माता हैं —

दस दो य भावणाओ एवं संखेवदो समुद्दिट्ठा।
जिणवयणे दिट्ठाओ बुहजणवेरग्गजणणीओ।।७६५।।

ये बारह भावनाएँ इस प्रकार यहाँ संक्षेप से कही गई हैं। ये जिनेन्द्रदेव के आगम में विद्वानों के लिए वैराग्य को उत्पन्न करने में माता के समान देखी — मानी गई हैं।

अणुवेक्खाहिं एवं जो अत्ताणं सदा विभावेदि।
सो विगदसव्वकम्मो विमलो विमलालयं लहदि।।७६६।।

इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं के द्वारा जो अपनी आत्मा को सदा भावित करता रहता है — आत्मा की भावना करता है, वह विमल आत्मा सर्व कर्मों से छूटकर विमलस्थान — मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

यह बारह भावनाएँ वैराग्य को जन्म देने के लिए माता हैं। तीर्थंकरों ने भी विरक्त होते ही इन बारह भावनाओं का चिंतवन किया है। यहाँ मूलाचार में वैराग्य को प्राप्त दीक्षित हुए मुनियों के लिए मध्य में इनका उपदेश है अतः ये वैराग्य को दृढ़ करने, बढ़ाने व परीषह — उपसर्ग को सहन कराने में समर्थ हैं। संवर के कारणों में श्री उमास्वामी आचार्य ने इन्हें लिया है। यथा — "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।[१]"

इस अनुप्रेक्षा अधिकार के बाद अनगार भावना अधिकार और समयसार अधिकार है जिनमें श्री वट्टकेर स्वामी ने जिनकल्पी महामुनियों की चर्या का प्रधानरूप से कथन किया है। स्थविरकल्पी — संघ में रहने वाले मुनि भी उन भावनाओं को भाते हुए यथाशक्ति उनका पालन करते हैं।

(३) अनगार भावना अधिकार

लिंगं वदं च सुद्धी वसदिविहारं च भिक्ख णाणं चं।
उज्झणसुद्धी य पुणो वक्कं च तवं तधा झाणं।।७७१।।
एदमणयारसुत्तं दसविधपद विणयअत्थसंजुत्तं।
जो पढइ भत्तिजुत्तो तस्स पणस्संति पावाइं।।७७२।।

लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, वसतिशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झनशुद्धि, वाक्यशुद्धि, तपःशुद्धि और ध्यानशुद्धि, ये दश प्रकार के अनगार सूत्र हैं, जो कि विनय और अर्थ संयुक्त हैं जो इनको पढ़ते हैं, उनके पाप नष्ट हो जाते हैं।

(१) लिंगशुद्धि — जो मनुष्य इस शरीर को नश्वर जानकर गृह भोगों से विरक्त हो जिनवर मत में प्रीति से युक्त हो निर्ग्रन्थ जिनमुद्रा धारण कर लेते हैं, उनके लिंग शुद्धि होती है। इस लिंगशुद्धि में ही सम्यग्दर्शन शुद्धि, ज्ञानशुद्धि, तप शुद्धि और चारित्रशुद्धि भी आ जाती है।

(२) व्रतशुद्धि — जीवहिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह इन पापों का मन, वचन, काय से

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९।

त्यागकर पाँच महाव्रतों में दृढ़ बुद्धि रखना व्रत शुद्धि है। ये मुनि सर्व आरंभ से निवृत्त होकर जिनवर कथित धर्म में उद्युक्त रहते हैं। ये महासाधु मुनिपद के अयोग्य ऐसे बालमात्र परिग्रह में भी ममत्व नहीं करते हैं। और तो क्या अपने शरीर से भी ममत्व नहीं करते हैं, उन्हीं के यह शुद्धि होती है।

(३) वसतिशुद्धि—गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा।
सवणा फासुविहारी विवित्त एगंतवासी ये।।७८९।।

जो मुनि गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच दिवस रहते हैं पुनः प्रासुक प्रदेश देखकर विहार कर जाते हैं, वे प्रायः एकांत प्रदेश में रहते हैं। उन्हीं के यह वसतिशुद्धि होती है।

एगंतं मग्गंता सुसमणा वरगंधहत्थिणो धीरा।
सुक्कज्झाणरदीया मुत्तिसुहं उत्तमं पत्ता।।७८८।।

एकांत स्थान की खोज करने वाले ये मुनि उत्तम गंधहस्ती के समान धीर, वीर होते हैं और शुक्लध्यान में लीन होकर उत्तम मुक्ति सुख को प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ शुक्लध्यान करने में सक्षम ऐसे जिनकल्पी मुनि की ही यह चर्या है, सामान्य स्थविरकल्पी मुनि के लिए यह अनिवार्य नहीं है, चूँकि वे एक स्थान पर एक माह भी रह सकते हैं। चूँकि इनके लिए और भी कहा है—

एयाइणो अविहला वसंति गिरिकंदरेसु सप्पुरिसा।
धीरा अदीणमणसा रममाणा वीरवयणम्मि।।७८९।।

ये मुनि एकाकी रहते हैं, विह्वलता से रहित, धैर्य आदि गुणों से सहित होकर पर्वत व कंदराओं में निवास करते हैं तथा दीनता रहित होकर वीरप्रभु के वचन में ही अनुराग रखते हैं। कई गाथाओं में इनके निर्जन, घनघोर, भयंकर वनों में निवास का वर्णन है। ऐसे महाधीर, उत्तम संहनन वाले मुनि के लिए यह वसति शुद्धि पूर्णरूप से होती है।

(४) विहारशुद्धि—जो मुनि सर्वसंग रहित होकर वायु के समान नगर, उद्यान आदि से सहित वसुधा में सर्वत्र स्वच्छंद—इच्छानुसार विचरण करते हैं उन्हीं के यह शुद्धि होती है। ये नाना देशों में विहार करते हुए भी ज्ञान के उपयोग से व समितिपूर्वक विहार करने से जीवों में बहुल प्रदेश में भी पाप से लिप्त नहीं होते हैं। ये साधु सदा गर्भवास आदि दुःखों से भयभीत रहते हैं—

घोरे णिरयसरिच्छे कुंभीपाए सुपच्चमाणाणं।
रुहिरचलाविलपउरे वसिदव्वं गब्भवसदीसु।।८०८।।

घोर, नरक के समान, कुंभीपाक में पकते हुए नारकियों को जैसा दुःख होता है, वैसा ही रुधिर से बीभत्स गर्भवास में निवास करने से दुःख होता है, ऐसा विचार करते हुए ये मुनि वैराग्य भावना का चिंतवन करते रहते हैं।

(५) भिक्षाशुद्धि—दो, तीन, चार, पाँच आदि उपवासों को करके वे तपस्वी मुनि श्रावक के घर में आहार लेते हैं। चारित्रसाधना के लिए और क्षुधा बाधा को दूर करने के लिए वे आहार ग्रहण करते हैं, सरस भोजन आदि की लंपटता के लिए नहीं लेते हैं, उन्हीं मुनि के यह भिक्षा शुद्धि होती है।

(६) ज्ञानशुद्धि—जिनको ज्ञान चक्षु प्राप्त हो चुका है और उस ज्ञान प्रकाश से जिन्होंने परमार्थ को देख लिया है, वे निःशंकित और निर्विचिकित्सा गुणों से सहित होते हुए अपनी शक्ति के अनुसार उत्साह

धारण करते हैं। ये तपश्चरण के बल से क्षीणशरीरी होकर भी अंग-पूर्व ग्रंथों का अथवा अपने समय के अनुसार श्रुत का सतत अध्ययन मनन करते रहते हैं। उन्हीं मुनि के यह ज्ञानशुद्धि होती है।

(७) उज्झनशुद्धि—जो मुनि अपने शरीर में भी स्नेह रहित होकर बंधु आदि में स्नेह का त्याग कर देते हैं तथा संस्कार आदि नहीं करते हैं उन्हीं के यह शुद्धि होती है। ये मुनि व्याधि से वेदना के होने पर भी उसका प्रतिकार नहीं चाहते हैं। ये क्या औषधि लेते हैं ?

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं।
जरमरणबाहिवेयण खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।८४३।।

जिनेन्द्र भगवान के वचन ही महाऔषधि हैं, ये विषय सुख का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतरूप हैं, जरा मरणरूपी व्याधि की वेदना और सर्व दुःखों का क्षय करने वाले हैं। शरीर तो रोगों का घर है उसके प्रति ऐसा विचार करने वाले मुनि के यह शुद्धि होती है।

(८) वाक्यशुद्धि—जो मुनि कानड़ी, मराठी, गुजराती, हिन्दी, संस्कृत आदि भाषा को विनयपूर्वक बोलते हैं। धर्म विरोधी वचन नहीं बोलते हैं। आगम के अनुकूल स्व-पर हितकर वचन ही बोलते हैं अथवा मौन रखते हैं उन्हीं के वाक्यशुद्धि होती है। ये मुनि स्त्रीकथा आदि विकथा नहीं करते हैं।

(९) तपःशुद्धि—जो मुनि हेमंत ऋतु में धैर्य से युक्त हो खुले मैदान में रात्रि में बर्फ, तुषार को झेलते हैं। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तरफ मुख करके खड़े हो जाते हैं और वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे बूंदों को सहन करते रहते हैं, इत्यादि नाना प्रकार के तपश्चरण में लगे हुए मुनि के यह तपःशुद्धि होती है।

(१०) ध्यानशुद्धि—पांच इन्द्रियों का दमन करने वाले और मन को जीतने वाले मुनि धर्म, शुक्ल-ध्यान की शुद्धि को करते हैं। ये मुनि—

णिट्ठिविदकरणचरणा कम्मं णिद्धुद्धदं धुणित्ताय।
जरमरणविप्पमुक्का उवेंति सिद्धिं धुदकिलेसा।।८८७।।

पूर्णरूप से त्रयोदशविध और क्रिया और त्रयोदशविध चारित्र के पालन में निष्णात ये मुनि गाढ़ कर्मबंधन को नष्टकर जन्म, मरण से मुक्त होकर और सर्व अघातिया कर्मों से भी छूटकर सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं।

ये दश प्रकार की शुद्धि पालने वाले मुनि किन-किन नामों से कहे जाते हैं ?

समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति।
णामाणि सुविहिदाणं अणगार भदंत दंतोत्ति।।८८८।।

श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत और दांत ये सब इन साधुओं के सुविहित—अन्वर्थ नाम कहे जाते हैं। इस प्रकार से इस अनगार भावना अधिकार में विस्तार से उत्कृष्ट मुनियों की चर्या कही गई है।

(४) समयसार अधिकार

इस अधिकार में सर्व आगम का सार अथवा स्व समय और पर समय का सार है। टीकाकार कहते हैं—

"समयसारं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां सारं परमतत्त्वं मूलोत्तरगुणानां च दर्शनज्ञानचारित्राणां शुद्धिविधानस्य च भिक्षाशुद्धेश्च सारभूतं स्तोकं वक्ष्ये।"

यह समयसार द्वादशांग और चौदह पूर्वों का सार—परम तत्त्व है। मूलगुण, उत्तरगुण, दर्शन, ज्ञान,

चारित्र की शुद्धि और भिक्षाशुद्धि का सारभूत है, ऐसे इस समयसार को संक्षेप से मैं कहूँगा। चूँकि इस आचारांग के अंतर्गत मूलाचार में मुनियों का आचार ही प्रधान है। उसी से स्वात्मतत्त्व की सिद्धि निश्चित है।

क्योंकि—

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप।
दुक्खं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं।।८९९।।

हे मुने! तुम भिक्षावृत्ति से आहार लो, वन में रहो, थोड़ा सा भोजन करो, बहुत मत बोलो, दुःख-परीषह सहन करो, निद्रा को जीतो, मैत्री भाव को भावो और अच्छी तरह वैराग्य का चिंतवन करो। और भी कहते हैं—

थोवम्हि सिक्खिदे जिणइ बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण।।८९९।।

थोड़ा पढ़े हुए भी मुनि चारित्र को परिपूर्ण कर बहुत ज्ञानी को जीत लेते हैं क्योंकि जो चारित्र से हीन हैं उनके बहुत श्रुतज्ञान से क्या लाभ ?

णाणं पयासओ तओ सोधओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पिय संपजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो।।९०१।।

ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है, संयम गुप्ति को करने वाला है। इन तीनों के मिलने से जिनशासन में मोक्ष माना गया है।

चार प्रकार के लिंग कल्प माने हैं—

अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णायव्वो।।९१०।।

आचेक्य—वस्त्र का त्याग—नग्नमुद्रा, लोच, व्युत्सृष्टशरीरता—शरीर के स्नान आदि संस्कार का त्याग और प्रतिलेखन—पिच्छिका ग्रहण ये चार लिंग दिगम्बर मुनि के चिन्ह हैं।

अचेलकत्व आदि दश स्थितिकल्प—

अच्चेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंड किदियम्मं।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो।।९११।।

अचेलकत्व, औद्देशिक, शय्यागृह, राजपिंड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्या ये दश मुनियों के स्थितिकल्प होते हैं।

अचेलकत्व—वस्त्र आदि परिग्रह का त्याग।

औद्देशिक—अपने उद्देश्य से बनाया हुआ आहार औद्देशिक है, उसका त्याग अनौद्देशिक है।

शय्यागृह त्याग—जो मेरी वसतिका में ठहरेगा, उसे ही मैं आहार दूँगा, ऐसे संकल्प करने वाले वसतिका के स्वामी के यहाँ आहार नहीं लेना।

राजपिंडत्याग—गरिष्ठ भोजन का त्याग या दानशाला के भोजन का त्याग।

कृतिकर्म—विधिवत् कृतिकर्मपूर्वक वंदना आदि करना।

व्रत—पाँच महाव्रत आदि का पालन।

ज्येष्ठ—श्रावक आदि में श्रेष्ठ होने से ज्येष्ठता—पूजनीयता। यह मुनि पद इन्द्र, चक्रवर्ती से भी श्रेष्ठ होने से ज्येष्ठ है।

प्रतिक्रमण—सात प्रकार के प्रतिक्रमणों से आत्मा की भावना।

मासस्थितिकल्प—वर्षायोग से पूर्व एक माह और पश्चात् भी एक माह उस ग्राम में रहना। अथवा प्रत्येक ऋतु में एक माह एक ग्राम में रहना, एक माह विहार करना।

पर्या—निषद्यका और तीर्थंकरों के पंचकल्याण स्थानों की वंदना पर्या स्थितिकल्प है।

ये दश श्रमणकल्प कहलाते हैं।

मयूर पंख की पिच्छिका में पाँच गुण होते हैं—

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति।।९१२।।

यह पिच्छिका धूलि और पसीने से खराब नहीं होती, मृदु है, सुकुमार है और लघु है। ये पाँच गुण मयूर पंख से बनी पिच्छी में ही होते हैं अन्य में नहीं।

मुनि अपने मूलगुणों की रक्षा करते हुए योग आदि उत्तर गुणों का पालन करें—

मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं।
बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति।।९२०।।

जो मुनि मूलगुणों की विराधना कर बाह्य—आतापन आदि योग धारण करता है उसके वे योग मूलरहित होने से निष्फल हैं।

जो जत्थ जहा लद्धं गेण्हदि आहारमुवधिमादीयं।
समणगुणमुक्कजोगी संसारपवड्ढओ होइ।।९३२।।

जो साधु जिस किसी शुद्ध या अशुद्ध देश में जो कुछ भी प्राप्त हुआ शुद्ध या अशुद्ध आहार, उपकरण आदि ले लेता है, वह मुनि के गुण से रहित संसार को बढ़ाने वाला ही है अर्थात् आगम के अनुकूल ही आहार आदि लेना चाहिए।

फासुगदाणं फासुगउवधिं तह दो वि अत्तसोधीए।
जो देदि जो य गिण्हदि दोण्हं पि महप्फलं होई।।९३८।।

प्रासुक आहार और प्रासुक उपकरण—वसतिका आदि ये दोनों आत्मशुद्धि के लिए होते हैं। जो गृहस्थ प्रासुक आहार आदि देते हैं वे तथा जो ऐसा प्रासुक ही लेते हैं वे मुनि, इन दोनों को महाफल होता है क्योंकि आचार्य वैद्य हैं, विरक्त मुनि रोगी हैं, निर्दोष आहार चर्या ही औषधि है। आचार्यदेव क्षेत्र, बल, काल और पुरुष को जानकर शिष्य को स्वस्थ कर देते हैं।

आगे कहते हैं—

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु।।९६१।।

जो श्रमण आचार्यकुल—गुरुसंघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है और गुरु का उपदेश नहीं ग्रहण करता है वह पापश्रमण—पापयुक्त साधु है क्योंकि स्वैर विहार में अनेक दोष आ जाते हैं—

चदुरंगुला य जिब्भा असुहा चदुरंगुलो उवत्थो वि।
अट्ठंगुलदोसेण दु जीवो दुक्खं खु पप्पोदि।।९९१।।

चार अंगुल प्रमाण जिह्वा अशुभ है और चार अंगुल प्रमाण ही उपस्थ—पुरुष का लिंग है। इन आठ

अंगुल के दोष से यह जीव अनंत संसार में दुःख भोग रहा है। अतः हे मुने! तुम रसना इन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के कामजन्य विषय को जीतो क्योंकि जितेन्द्रिय मुनि चलते-फिरते भगवान हैं—

भिक्खं वक्कं हिययं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुट्ठिद साहू भणिओ जिणसासणे भयवं।।१००६।।

जो मुनि भिक्षा, वचन और हृदय को शुद्ध करके अर्थात् आहार शुद्धि, वचनशुद्धि और मनःशुद्धि को करके नित्य ही विचरण करते हैं, ऐसे साधु सुस्थित—सच्चे साधु हैं उन्हें जिनशासन में 'भगवान्' कहा है।

श्री गणधर देव ने तीर्थंकर परमदेव से पूछा—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कथं भुंजेज्ज भासेज्ज कधं पावं ण वज्झदि।।१०१४।।

हे भगवन्! मैं कैसे आचरण करूँ? कैसे ठहरूं? कैसे बैठूं? कैसे सोऊं? कैसे भोजन करूँ? और कैसे बोलूं? कि जिससे पाप का बंध न होवे।

तब भगवान् उत्तर देते हैं—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ।।१०१५।।

हे मुनियों! तुम यत्नपूर्वक आचरण करो, यत्नपूर्वक ठहरो, यत्नपूर्वक बैठो, यत्नपूर्वक भोजन करो और यत्नपूर्वक बोलो, इससे पाप का बंध नहीं होता है। क्योंकि—

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि।।१०१६।।

यत्नपूर्वक—सावधानीपूर्वक आचरण करते हुए, दयालु मुनि के नवीन कर्म नहीं बंधते हैं और पुराने कर्म झड़ जाते हैं। यहाँ पर समयसार अधिकार में मुनियों की उत्कृष्ट चर्या को दिखाया है।

(५) शीलगुणाधिकार

इस शील-गुण अधिकार में शील के अठारह हजार भेदों को और गुणों के चौरासी लाख भेदों को गिनाया है तथा उनको संख्या, प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, परिवर्तन इन पाँच गणित भेदों से बताया है।

उनमें से सर्वप्रथम शील के मूलभेदों को कहते हैं—

जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य।
अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसीलसहस्साइं।।१०१९।।

योग, करण, संज्ञा, इंद्रिय, पृथिवी आदि दश और दश श्रमण धर्म, इनको परस्पर गुणित करने से शील के १८००० भेद हो जाते हैं। मन-वचन-काय का शुभ क्रियाओं से संयोग होना योग है यह तीन प्रकार का है। क्रिया या परिणामों को करण कहते हैं, मन-वचन-काय का अशुभ क्रिया से संयोग होना करण है, यह भी मन, वचन, काय की अपेक्षा तीन प्रकार का है। संज्ञाएं चार हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह। इंद्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये पृथिवी आदि दश प्रकार के जीव भेद हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य से दश श्रमण धर्म हैं। इस प्रकार-३×३=९, ९×४=३६,

३६×५=१८०,१८०×१०=१८००, १८००×१०=१८००० शील के भेद हो जाते हैं।

शीलों के आलाप की उत्पत्ति में निमित्त अक्षसंचार के विशेष हेतु को संख्या कहते हैं। इनके स्थापन का नाम प्रस्तार है। अक्ष संचार का नाम परिवर्तन है। संख्या रख कर अक्ष निकालना नष्ट है और अक्ष रखकर संख्या निकालना उद्दिष्ट है। इस तरह संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट और उद्दिष्ट, इन पाँच प्रकारों से शील और गुणों को जानना चाहिए[१]।"

इन भेदों में प्रथम शील के भेद का उच्चारण इस प्रकार होता है—मनोगुप्ति से गुप्त, मनःकरण से रहित, आहार संज्ञा रहित, स्पर्शन इन्द्रियविजयी, पृथिवीकायिक संयम से युक्त और क्षमागुण संयुक्त मुनि के अट्ठारह हजार शील के भेदों में यह पहला भेद कहा है। ऐसे ही सर्व भेद कोष्ठक से निकाल लेना चाहिए। ये सर्व भेद केवली भगवान के ही पूर्ण होते हैं।

गुणों के भेद—

इगवीस चदुर सदिया दस दस दसगा य आणुपुव्वीय।
हिंसादिक्कमकाया विराहणा लोयणा सोही।।१०२५।।

इक्कीस, चार, सौ, दस, दस, दस, ऐसे अनुक्रम से हिंसादि त्याग को परस्पर गुणा करने से ८४ लाख उत्तर गुण हो जाते हैं।

हिंसादि २१—प्राणिवध, मृषावाद, अदत्त, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, अरति, रति, जुगुप्सा, मनोमंगुल, वचनमंगुल, कायमंगुल, मिथ्यादर्शन, प्रमाद, पैशून्य, अज्ञान और अनिग्रह, ये इक्कीस हिंसादि दोष हैं।

अतिक्रमादि ४—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार ये चार दोष हैं।

पृथिवी आदि १००—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति, अनंतकाय वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनको आपस में गुणने से १०० भेद हो जाते हैं।

अब्रह्म १०—स्त्रीसंसर्ग, प्रणीतरसभोजन, गंधमाल्यसंस्पर्श, शयनासन, भूषण, गीतवादित्र, अर्थसंप्रयोग, कुशीलसंसर्ग, राजसेवा और रात्रिसंचरण ये दश अब्रह्म हैं।

आलोचना के दोष १०—आकंपित, अनुमानित, यद्दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये दश दोष आलोचना के हैं।

प्रायश्चित्त के दोष १०—आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश दोष प्रायश्चित्त के हैं।

इन सब दोषों से रहित उतने ही गुण हो जाते हैं। इनको परस्पर में गुणित करनेसे २१×४=८४, ८४×१००=८४००, ८४००×१०=८४०००, ८४०००×१०=८४००००, ८४००००×१०=८४००००० उत्तर गुण होते हैं।

इसका पहला भेद इस प्रकार है—

प्राणातिपातविरत, अतिक्रमणदोष रहित, पृथिवीकाय आरंभ से शून्य, स्त्रीसंसर्गवियुत, आकंपितदोषरहित और आलोचना शुद्धियुत वीर मुनि के यह चौरासी लाख गुणों में प्रथम गुण का उच्चारण होता है। ये सर्व भेद सिद्धों में ही पूर्ण होते हैं।

पूर्व कथित शील और गुणों को जानकर जो उनका पालन करते हैं वे इन शील गुणों को पूर्ण कर सर्वकल्याण को प्राप्त कर लेते हैं।

---

१. मूलाचार गाथा १०३८।

(६) पर्याप्ति अधिकार

इस अधिकार में पर्याप्तियों का कथन करेंगे। यहाँ पर 'पर्याप्ति' यह उपलक्षण मात्र है। इससे १. पर्याप्ति, २. देह, ३. काय संस्थान, ४. इन्द्रिय संस्थान, ५. योनि, ६. आयु, ७. प्रमाण, ८. योग, ९. वेद, १०. लेश्या, ११. प्रवीचार, १२. उपपाद, १३. उद्वर्तन, १४. स्थान, १५. कुल, १६. अल्पबहुत्व, स्थिति अनुभाग, १७. प्रकृतिबंध, १८. स्थिति बंध, १९. अनुभाग बंध और २०. प्रदेश बंध इसमें इन बीस सूत्र पदों का निरूपण किया गया है।

पर्याप्ति के छह अधिकार हैं—

संज्ञा, लक्षण, स्वामित्व, संख्यापरिमाण, निर्वृति और स्थितिकाल ये छह अधिकार पर्याप्तियों के होते हैं।

१. पर्याप्ति—आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनप्राण—श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह भेद पर्याप्ति के हैं।

एकेन्द्रिय जीवों के प्रारंभ की चार पर्याप्तियाँ होती हैं। द्वीन्द्रिय से असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक पाँच एवं पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों को छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

तिर्यंच और मनुष्यों में पर्याप्तियों की पूर्णता भिन्न मुहूर्त में (एक समय कम दो घड़ी में) होती है और देव, नारकियों के पर्याप्ति की पूर्णता प्रतिसमय होती है अर्थात् देव, नारकियों के सर्व अवयवों की रचना अंतर्मुहूर्त काल में ही हो जाती है। तिर्यंच और मनुष्यों के शरीर की रचना में बहुत काल लगता है किन्तु पर्याप्तियाँ अंतर्मुहूर्त में ही पूर्ण हो जाती हैं।

चारों प्रकार के देवों के यहाँ उपपाद गृह में उपपाद शिला है। उसका आकार शुक्तिपुट के समान है। उसके ऊपर मणिखचित पलंग हैं। उसमें दिव्य शय्या पर दिव्य रूप से देव सम्पूर्ण यौवन सहित, सर्व आभरणों से भूषित उत्पन्न होते हैं।

२. देह—देवों का शरीर अंतर्मुहूर्त में ही पूर्ण बन जाता है। इसमें सात धातु, रक्त, शुक्र, वीर्य, मल-मूत्रादि नहीं होते हैं। उनका शरीर दिव्य वैक्रियिक रहता है।

नारकियों का शरीर भी अंतर्मुहूर्त में बन जाता है। वैक्रियिक है फिर भी अत्यंत घिनावना, दुर्गंधियुक्त, भयंकर होता है।

तिर्यंचों के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत अनेक भेद हैं, मनुष्य पंचेन्द्रिय ही होते हैं।

नारकी नीचे की सात पृथिवियों में रहते हैं। देव अधोभाग में, मध्यलोक में व ऊर्ध्वलोक में रहते हैं। मनुष्य ढाई द्वीप तक रहते हैं और तिर्यंच सारे मध्यलोक में रहते हैं। प्रकरण प्राप्त मध्यलोक के द्वीप, समुद्र का किंचित् वर्णन करते हैं—

जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करवरद्वीप, वारुणीवरद्वीप, क्षीरवरद्वीप, घृतवरद्वीप, क्षौद्रवरद्वीप, नंदीश्वरद्वीप, अरुणद्वीप, अरुणभासद्वीप, कुण्डलवरद्वीप, शंखवरद्वीप, रुचकवरद्वीप, भुजगवरद्वीप, कुशवरद्वीप और क्रौंचवरद्वीप।

जंबूद्वीप को घेर कर लवण समुद्र है, धातकीखण्ड के बाद कालोदधि समुद्र है। शेष समुद्र अपने-अपने द्वीप के नाम वाले ही हैं।

एक द्वीप के बाद समुद्र और समुद्र को घेरकर द्वीप ऐसे द्वीप-समुद्र असंख्यात हैं। प्रारंभ में द्वीप है और अंत में स्वयंभूरमण समुद्र है।

लवणसमुद्र का जल नमक जैसा है, वारुणीवर समुद्र का जल मद्य जैसा है, क्षीरवर समुद्र का जल दूध रूप है और घृतवरसमुद्र का जल घीरूप है। कालोदसमुद्र, पुष्करवरसमुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र का जल जल के स्वाद जैसा है। शेष सर्व असंख्यातों समुद्रों का जल मधुर रस वाला है।

जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और मानुषोत्तर से पूर्व आधा पुष्करद्वीप इन ढाई द्वीपों तक ही मनुष्य होते हैं। इनसे आगे सर्वत्र द्वीपों में पंचेन्द्रिय भोगभूमिज तिर्यंच हैं। आगे अंतिम स्वयंभूरमण के उस तरफ आधे में कर्मभूमिज तिर्यंच हैं।

लवणसमुद्र, कालोदसमुद्र और स्वयंभूरमण समुद्र में जलचर जीव, मत्स्य, मगर आदि पाए जाते हैं। शेष समुद्रों में जलचर जीव नहीं हैं।

यहाँ लवण समुद्र के नदीमुख के स्थान में नौ योजन प्रमाण देहधारी मत्स्य हैं, आगे स्वयंभूरमण समुद्र में एक हजार योजन प्रमाण शरीरधारी महामत्स्य होते हैं।

३. कायसंस्थान—तिर्यंचों और मनुष्यों में छहों संस्थान होते हैं। नारकी के हुंडक संस्थान ही है और देवों में एक समचतुरस्र संस्थान ही है।

४. इन्द्रिय संस्थान—श्रोत्रेन्द्रिय का आकार जव की नली के समान है, चक्षु इन्द्रिय का मसूर के समान है, घ्राणेन्द्रिय का तिल के पुष्प समान है, जिह्वा का आकार अर्धचन्द्राकार है और स्पर्शन इन्द्रिय के अनेक आकार होते हैं।

५. योनि—सचित्त, शीत, संवृत, अचित्त, उष्ण, विवृत, सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृतविवृत ये नव प्रकार की योनियाँ हैं।

शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्र ये तीन भेद भी योनि के होते हैं। कूर्मोन्नत योनि से तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुष जन्म लेते हैं। वंशपत्र योनि से अन्य सभी भोगभूमिज, कर्मभूमिज मनुष्य जन्मते हैं और शंखावर्त योनि में गर्भ नहीं रहता है।

योनि के ८४ लाख भेद भी होते हैं।

६. आयु—शुद्ध पृथिवीकायिक की उत्कृष्ट आयु १२ हजार वर्ष है। खर पृथिवीकायिक की २२ हजार वर्ष है। जलकायिक की ७ हजार वर्ष, अग्निकायिक की ७ दिन, वायुकायिक की ३ हजार वर्ष और वनस्पति कायिक की १० हजार वर्ष की उत्कृष्ट आयु है। द्वीन्द्रिय की १२ वर्ष, तीन इन्द्रिय की ४९ दिन, चतुरिन्द्रिय की ६ महीने उत्कृष्ट आयु है। पंचेन्द्रिय मत्स्य की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्षों की है।

मनुष्यों में भोगभूमिजों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है और कर्मभूमिजों की एक कोटि वर्ष पूर्व की है। नारकी और देवों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर प्रमाण है। तिर्यंच व मनुष्यों की जघन्य आयु अंतर्मुहूर्त है और देव, नारकियों की जघन्य आयु दश हजार वर्ष है।

७. प्रमाण—प्रथम नरक में नारकियों के शरीर का प्रमाण—ऊँचाई जघन्य रूप से तीन हाथ प्रमाण है। सातवें नरक में उत्कृष्ट प्रमाण पाँच सौ धनुष है। देवों में सर्वार्थसिद्धि के देवों का शरीर प्रमाण एक हाथ प्रमाण है। भवनवासी देवों में उत्कृष्ट ऊँचाई पच्चीस धनुष है। तिर्यंचों में उत्कृष्ट ऊँचाई एक हजार योजन है। जघन्य घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र है। मनुष्यों की जघन्य ऊँचाई छठे काल में एक हाथ है और उत्कृष्ट ऊँचाई सवा पाँच सौ धनुष प्रमाण है।

८. योग—मन-वचन-काय के निमित्त से जो आत्मप्रदेशों में चंचलता होती है, वह योग है। यह

मन-वचन-काय से तीन भेदरूप है। एकेन्द्रिय जीवों के एक काययोग है, द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक काययोग और वचनयोग हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय में तीनों योग रहते हैं।

९. वेद—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी और संमूर्च्छन जीव इनके एक नपुंसक वेद ही है। देव और भोगभूमिजों में स्त्रीवेद और पुरुषवेद ये दो वेद होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्यों में तीनों वेद होते हैं।

१०. लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्या हैं।

नारकियों में प्रारंभ की तीन अशुभ लेश्या ही हैं। देवों में तीन शुभ लेश्या हैं। तिर्यंच और मनुष्यों में छहों लेश्याएँ होती हैं।

११. प्रवीचार—तिर्यंच और मनुष्यों में काय—शरीर से प्रवीचार—काम सुख होता है। भवनवासी व्यंतर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ईशान स्वर्ग तक देवों में काय से प्रवीचार सुख है। इससे ऊपर सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग में स्पर्शजन्य प्रवीचार है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव और कापिष्ठ स्वर्गों में रूप देखने का प्रवीचार है। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार स्वर्गों में शब्द का प्रवीचार है अर्थात् ये देव देवांगनाओं का रूप देखकर या शब्द सुनकर काम सुख की तृप्ति कर लेते हैं। आगे आनत, प्राणत, आरण और अच्युत स्वर्गों में देव-देवांगना अपने-अपने पति-पत्नियों का मन में विचार कर ही कामसुख से सुखी हो जाते हैं। आगे नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तरों में देवांगनाएं ही नहीं हैं।

१२. उपपाद—असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच पहले नरक पृथिवी तक जाते हैं। सरीसृप आदि दूसरी पृथिवी तक, पक्षी तीसरी तक, उरः सर्प आदि चौथी तक, सिंह आदि पाँचवीं तक, स्त्रियाँ छठे तक और मनुष्य तथा महामत्स्य आदि तिर्यंच सातवीं पृथिवी तक जाते हैं।

सर्व अपर्याप्तकों में, सर्वसूक्ष्म जीवों में, सर्व अग्निकायिक, वायुकायिक और सर्व असंज्ञी जीवों में तिर्यंच और मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

जिन्होंने दान दिया है या दान की अनुमोदना की है, ऐसे मनुष्य और तिर्यंच भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य सम्यक्त्व के बिना ही भवनत्रिक देवों में जन्म लेते हैं। सम्यक्त्व और व्रत सहित तिर्यंच सोलहवें स्वर्ग तक जा सकते हैं। मनुष्य सम्यक्त्व सहित या रहित भी नवग्रैवेयक तक भी जाते हैं किन्तु इससे आगे सम्यक्त्व—व्रत से सहित ही जन्मते हैं।

१३. उद्वर्तन—सातवें नरक से निकले नारकी तिर्यंच ही होते हैं। छठे नरक के मनुष्य भव पा सकते हैं, उन्हें सम्यक्त्व हो भी सकता है। पाँचवें नरक से निकलकर संयम लाभ कर सकते हैं। चौथे से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। तीसरे, दूसरे व पहले नरक से निकलकर नारकी तीर्थंकर भी हो सकते हैं किन्तु नरक से निकले जीव चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण नहीं होते हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि और वनस्पतिकायिक अपर्याप्त जीव वहाँ से निकलकर तिर्यंच या मनुष्य भी हो सकते हैं तथा विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्धि अपर्याप्तक जीव तिर्यंच या मनुष्य हो सकते हैं। देव, नारकी और भोगभूमियाँ जीव मरकर लब्धि अपर्याप्तक नहीं होते हैं।

भवनत्रिक देव व ईशान स्वर्ग तक के देव वहाँ से च्युत होकर कदाचित् एकेन्द्रिय भी हो जाते हैं। उसमें पर्याप्तक ही होते हैं। आगे तीसरे स्वर्ग से बारहवें स्वर्ग तक के देव कदाचित् पंचेन्द्रिय तिर्यंच हो जाते हैं। इससे ऊपर के देव मरकर मनुष्य ही होते हैं।

मनुष्य मरकर सर्व एकेन्द्रिय आदि तिर्यंचों में, नरकों में व देवों में जन्म ले सकता है और यदि पुरुषार्थ

करे तो कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सव्वट्ठादो य चुदा भज्जा तित्थयर चक्कवट्टित्ते।
रामत्तणेण भज्जा णियमा पुण णिव्वुदिं जंति।।११८६।।
सक्को सहग्गमहिसी सलोगपाला य दक्खिणिंदा य।
लोगंतिगा य णियमा चुदा दु खलु णिव्वुदिं जंति।।११८७।।

सर्वार्थसिद्धि से च्युत हुए जीव तीर्थंकर पद, चक्रवर्ती पद और बलभद्र पद के धारक होते हैं अथवा नहीं भी होते हैं, परन्तु वे नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

सौधर्म इन्द्र शची देवी, लोकपाल, दक्षिण इन्द्र और लौकांतिक देव ये वहाँ से च्युत होकर मनुष्य होकर नियम से मोक्ष प्राप्त करते हैं।

१४. स्थान—इसमें जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणा आदि का विस्तार से वर्णन है। जैसे एकेन्द्रिय के सूक्ष्म-बादर दो भेद हैं, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय ये सात हुए, इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक से दो-दो भेद करने से चौदह जीवसमास होते हैं।

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयत, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व और आहारक ये चौदह मार्गणा हैं।

इन मार्गणाओं के अवांतर भेद करके उनमें गुणस्थान और जीवसमास को घटाया है।

१५. कुल—संपूर्ण जीवों के कुलों की संख्या एक कोड़ाकोड़ी, सत्तानवे लाख, पचास हजार कोटि है।

१६. अल्पबहुत्व—मनुष्यगति में सबसे थोड़े मनुष्य हैं, फिर भी श्रेणी के असंख्यात भाग मात्र हैं। मनुष्यों से असंख्यात गुणश्रेणी नारकी हैं। नारकियों से देवगति में देव असंख्यात गुणे अधिक हैं। देवों से अनंतगुणे अधिक जीव सिद्धगति में हैं और सिद्धों से भी अनंतगुणे तिर्यंचगति के जीव हैं।

१७. प्रकृतिबंध—यह जीव मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग के निमित्त से कर्मों को ग्रहण करता है। उन कर्म पुद्गलों का जीव के आत्मप्रदेशों में मिल जाना—एकमेक हो जाना बंध है। इसके प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाग बंध और प्रदेशबंध ये चार भेद हैं। उसमें से प्रथम प्रकृति बंध के आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। इनके उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं।

१८. स्थितिबंध—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय इन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर है। मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है। नाम और गोत्र की बीस कोड़ाकोड़ी सागर और आयु की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर प्रमाण है।

वेदनीय की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त है, शेष पाँच कर्मों की अंतर्मुहूर्त है।

१९. अनुभाग बंध—ज्ञानावरणादि कर्मों का जो परिणामों के द्वारा शुभ-अशुभ रस—अनुभव उत्पन्न होता है जो कि जीव को सुख और दुःख देता है, वह अनुभाग बंध है।

ज्ञानावरण आदि चार घातिया कर्म पापरूप हैं और चार अघातिया कर्मों में पाप तथा पुण्य ये दोनों रूप हैं।

नीम, कांजीर, विष और कालकूट, अशुभ प्रकृतियों के ये चार स्थान हैं। गुड़, खांड, शर्करा और अमृत,

शुभ प्रकृतियों के ये चार स्थान हैं।

मोहनीय और अंतराय को छोड़कर शेष छह कर्मों का उत्कृष्ट अनुभाग चार स्थानों का है और जघन्य अनुभाग दो स्थानों का है। बाकी का अनुभाग बंध — अनुत्कृष्ट और अजघन्य दो, तीन और चारस्थान युक्त है। मोहनीय का उत्कृष्ट अनुभाग चतुःस्थानिक है, जघन्य अनुभाग एकस्थानिक है। अवशेष — अजघन्य, अनुत्कृष्ट अनुभाग एक, दो, तीन व चतुःस्थानिक है। अंतराय का उत्कृष्ट अनुभाग चतुःस्थानिक है। जघन्य अनुभाग एकस्थानरूप है और शेष में सर्व हैं।

प्रदेशबंध — आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनंत कर्म आकर स्थित हो जाते हैं, ये सूक्ष्म हैं, मन, वचन, काय के विशिष्ट व्यापार से आते हैं, आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर और ज्ञानावरणादि रूप से परिणत होकर तिल में तेल के समान रहते हैं। इसे ही प्रदेशबंध कहते हैं।

आत्मा के साथ एक समय में बंधे हुए कर्म समयप्रबद्ध नाम से कहे जाते हैं। इस एक समयप्रबद्ध में आयु का एक भाग है। नाम और गोत्र को आयु से अधिक भाग मिलता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय को इन नाम-गोत्र से अधिक भाग मिलता है। इनसे अधिक मोहनीय का भाग है और इस मोहनीय से अधिक वेदनीय का हिस्सा है।

प्रकृति बंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध ये चार भेद जिनके हैं वे कर्म मूल में आठ भेदरूप हैं और इनके उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं अथवा ये भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं। इन कर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा ज्ञानादि अनंतगुण स्वरूप, परमज्योतिर्मय हो जाता है।

इस आचार ग्रंथ के आधार से निर्दोष चर्या को पालन करने वाले मुनि इन कर्मों का नाश करते हैं। यहाँ गुणस्थान के क्रम से कर्मों के नाश — क्षपणविधि को कहते हैं —

कर्मक्षपण विधि —

मोहस्सावरणाणं खयेण अह अंतरायस्स य एव।
उववज्जइ केवलयं पयासयं सव्व भावाणं।।१२५०।।

मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय के क्षय से सर्व पदार्थों का — लोक, अलोक का प्रकाशक केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। उन कर्मों के नाश का क्रम यहाँ कहते हैं —

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियों का असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत ऐसे चार गुणस्थानों में से किसी भी गुणस्थान में नाश करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाते हैं। जो मुनि क्षपकश्रेणी में आरोहण करके कर्मों का क्षय करने वाले हैं उनके नरक, तिर्यंच और देव इन तीनों आयु की सत्ता ही नहीं है। पुनः सातवें से आठवें गुणस्थान में जाकर नवमें में पहुँचते हैं, वहाँ उस गुणस्थान के नव भागों में से प्रथम भाग में नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, उद्योत, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म और स्थावर इन सोलह प्रकृतियों का नाश करते हैं। दूसरे भाग में अप्रत्याख्यानावरण की चार और प्रत्याख्यानावरण की चार ऐसी आठ प्रकृतियों का नाश होता है। तीसरे भाग में नपुंसक वेद, चौथे भाग में स्त्रीवेद, पाँचवें भाग में हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का नाश होता है। छठे भाग में पुरुषवेद, सातवें में संज्वलन क्रोध, आठवें भाग में संज्वलन मान और नवमें भाग में संज्वलन माया का नाश होता है। ये छत्तीस प्रकृतियाँ नवमें गुणस्थान में नष्ट हो जाती हैं।

दशवें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का नाश होता है। इसके बाद बारहवें क्षीणकषाय नाम के गुणस्थान में ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पाँच, निद्रा और प्रचला इन सोलह प्रकृतियों का नाश होता है। इसके बाद तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर अर्हंत केवली हो जाते हैं। ऊपर में कही ये प्रकृतियाँ त्रेसठ हैं। यथा ७+३+३६+१+१६=६३, इन त्रेसठ प्रकृतियों के सर्वथा विनाश हो जाने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। यद्यपि चार घातिया—मोहनीय, दर्शनावरण, ज्ञानावरण और अंतराय इनका नाश कहा है फिर भी नामकर्म की तेरह और आयु की तीन ऐसे सोलह प्रकृतियाँ भी इनमें शामिल हैं।

ये सयोगकेवली भट्टारक कुछ भी कर्मक्षपण नहीं करते हैं। पुनः क्रम से विहार करते हुए अंत में योग निरोध कर अयोगकेवली हो जाते हैं।

तत्तोरालियदेहो णामा गोदं च केवली जुगवं।
आऊण वेदणीयं चदुहिं खिवइत्तु णीरओ होई।।१२५१।।

तदनंतर वे अयोगकेवली औदारिक शरीर, नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुकर्म और वेदनीय कर्म ऐसे चार कर्मों का युगपत् क्षय करके नीरज—सर्व कर्मरज से रहित सिद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

अयोगकेवली भगवान के अपने काल के द्विचरम समय में पाँच शरीर, पाँच संघात, पाँच बंधन, छह संस्थान, तीन अंगोपांग, छह संहनन, पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, साता-असाता में से कोई एक वेदनीय, दो विहायोगति, अपर्याप्त, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुस्वर-दुःस्वर, सुभग, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र, ऐसी बहत्तर प्रकृतियों का नाश होता है। अनंतर उनके चरम समय में शेष रही एक वेदनीय, मनुष्यगति, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, आदेय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र और तीर्थंकर प्रकृति इन तेरह प्रकृतियों का नाश कर एक समय में ही सिद्ध होकर यहाँ से ऊर्ध्वगमन कर लोक के अग्रभाग में जाकर विराजमान हो जाते हैं। ये सिद्ध भगवान औदारिक शरीर से रहित—अशरीरी, कर्मरज रहित, निर्मल, निर्लेप, अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य सहित, अक्षय, अविनाशी, अनंतगुणों के आधार हो जाते हैं।

एसो मे उवदेसो संखेवेण कहिदो जिणक्खादो।
सम्मं भावेदव्वो दायव्वो सव्वजीवाणं।।

जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित यह मुनियों के चारित्र का उपदेश मैंने संक्षेप से कहा है। हे साधुओं! तुम्हें सतत सम्यक् प्रकार से इसकी भावना करनी चाहिए—इसे ग्रहण करना चाहिए और सर्व भव्य जीवों के लिए यह उपदेश देना चाहिए, उन्हें ग्रहण करना चाहिए।

दइदूण सव्वजीवे दमिऊण य इंदियाणि तह पंच।
अट्ठविहकम्मरहिआ णिव्वाणमणुत्तरं जाथ[१]।।

हे साधुगण! तुम सर्व जीवों पर दया करो तथा पाँचों इन्द्रियों का दमन करो, आठ प्रकार के कर्मों से रहित होकर सबसे उत्कृष्ट निर्वाण पद को प्राप्त करो।

८. नियमसार का सार

इस द्रव्यानुयोग के वर्णन में जिस महान ग्रंथ नियमसार को लिया जा रहा है, वह इस युग के सर्वाधिक पूज्य आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित हैं। ये वे ही कुन्दकुन्दाचार्य हैं, जिनका नाम समस्त जैन समाज में प्रत्येक मंगलमय अवसर पर अत्यंत श्रद्धापूर्वक लिया जाता है।

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलं।।

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव ने जिन पाँच सार रूप ग्रंथों को लिखा है, उन्हीं में से यह एक है। भगवान महावीर एवं गौतम गणधर के पश्चात् जिनका नाम हम परम आदरपूर्वक लेते हैं। उनकी महिमा शब्दों में वर्णित नहीं की जा सकती। जिन्होंने स्वयं अध्यात्म रस में निमग्न होकर अपनी अनुभव पूर्ण लेखनी से उस प्राप्त आनंद का अंश लिपिबद्ध किया है, उस रस का आस्वाद स्वयं चखने वाले को ही अनुभव में आ सकता है।

जब आत्मा की बात पढ़ने व सुनने में ही सुखद लगती है, तो जो स्वयं उसमें सराबोर हो जाते हैं, उस रूप ही हो जाते हैं, उनके आनंद का तो कहना ही क्या है। वैसे तो सारा संसार आनंद की प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रयत्नशील है, किन्तु उस जन्य पुरुषार्थ विपरीत दिशा में चल रहा है, जिसके कारण उस प्राप्ति की दूरी बढ़ती जा रही है।

मैंने भक्ति रस में व अध्यात्म रस में गोते लगाकर जो रत्नकण एकत्रित किये हैं, उसी के फलस्वरूप उनमें से एक यह नियमसार ग्रंथ की ''स्याद्वादचन्द्रिका'' नाम की संस्कृत टीका एवं मेरे द्वारा लिखी गई हिन्दी टीका 'नियमसार प्राभृत'' ग्रंथ के रूप में आपके सामने आई है।

णमिऊण जिणं वीरं अणंतरवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवली भणिदं।।१।।

नियमसार ग्रंथ के इस मंगलाचरण से ग्रंथ का विषय और ग्रंथकर्ता आचार्य कुन्दकुन्ददेव के भावों का अच्छी तरह से परिचय प्राप्त हो जाता है।

'णमिऊण' गाथा के इस प्रथम अक्षर से श्रद्धा भक्ति विनय के भाव प्रतिभासित होते हैं। जब नमस्कार किया जाता है, तो यह बात निश्चित हो जाती है कि जिसे नमस्कार किया है, वह महान है, गुणवान है, पूज्य है। नमसकार मन-वचन-काय तीनों से होता है। गुणों का अनुरागी ही गुणवान को नमस्कार करता है। यहाँ तो नमस्कार करने वाला स्वयं ही महान आचार्य हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि जिन्हें नमस्कार किया है, वह उनसे भी अधिक महान है। आचार्य से महान तो अरहंत सिद्ध हो सकते हैं।

आचार्यदेव ने अपने आराध्य का नाम भी स्पष्ट कर दिया है कि मेरी आराधना के पात्र वीर जिन हैं। कैसे हैं वे वीर महावीर ? अनंत ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले हैं।

नमस्कार सकारण ही किया जाता है, या अकारण भी ? अकारण नमस्कार भी सकारण ही होता है किन्तु सकारण में कोई विशेष विषय लक्षित रहता है। चूँकि यहाँ आचार्यदेव नियमसार नामक ग्रंथ का सृजन कर रहे हैं। इसलिए सकारण नमस्कार है। यहाँ नमस्कार में यह भावना निहित है कि अभीष्ट की सिद्धि हो अर्थात् नियम का सार स्वपर हितकारी हो।

मंगलाचरण में दिये गये 'केवलिसुदकेवलीभणिदं' शब्दों में ग्रंथकर्ता आचार्य के परिणामों की सुकोमलता

एवं लाघवता भी दृष्टिगत होती है। साथ ही उन्होंने अपने आपको प्रतिज्ञाबद्ध भी किया है कि मैं इस ग्रंथ में उसी बात को कहूँगा, जिसे केवली एवं श्रुतकेवलियों ने कहा है। विषय की प्रमाणता उसके कहने वाले से जानी जाती है। यदि कहने वाला प्रामाणिक नहीं है, तो उसकी बात अप्रमाणीक ही होगी।

इस प्रकार मंगलाचरण में आचार्य श्री ने सब बातों का स्वयं स्पष्टीकरण कर दिया है जिससे कि पाठक के मन में किसी प्रकार का कोई ऊहापोह न होने पावे। क्या कहेंगे यह भी बता दिया कि 'नियमसार' को कहूँगा। नियम 'शब्द रत्नत्रय के अनुष्ठान में लिया गया है। रत्नत्रय भेद तथा अभेद दो रूप से है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कृत इन गाथाओं पर मैंने विस्तारपूर्वक स्याद्वादचन्द्रिका नाम से संस्कृत टीका रची है तथा शब्दों की भावात्मक व्युत्पत्ति करते हुए विषय को स्पष्ट किया है। जैसे कि —

'वीर' शब्द का प्रयोग तीन प्रकार से किया जा सकता है। 'वि'-विशिष्ट 'ई'-लक्ष्मी तां र-राति ददाति इति 'वीर'। संसार जनों को सदा लक्ष्मी-धन-सम्पदा की अभिलाषा रही है। जहाँ धन प्राप्त होता है वहीं मनुष्य जाता है तथा जैसे भी धन प्राप्त हो, वह कार्य करता है। पारमार्थिक दृष्टि से अन्तरंग लक्ष्मी अनन्तदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनन्तवीर्य है तथा बहिरंग लक्ष्मी समवसरण आदि की विभूति है। उसे, जो देते हैं वे 'वीर' हैं। अतः भगवान महावीर का यह वीर नाम सार्थक ही है। जो उनका आश्रय करता है, भक्ति करता है, उनके गुणों में तन्मय होता है, उसे उपरोक्त दोनों प्रकार की लक्ष्मी की सहजरूप से प्राप्ति हो जाती है।

लौकिक सम्पदा प्राप्ति के लिए जितना प्रयास संसारी जन करते हैं, वह वास्तव में निरर्थक है, क्योंकि वह तो भाग्याधीन है। यदि पूर्व पुण्य का उदय हुआ, तब तो लाभ होता है अन्यथा कितना भी परिश्रम किया जाये, निरर्थक ही जाता है। उसकी अपेक्षा पारमार्थिक पुरुषार्थ जितना अधिक किया जाता है, उतना अधिक आत्म शांति रूप लाभ भी मिलता है। अंतरंग लक्ष्मी की प्राप्ति से स्थाई सुख मिलता है, जबकि बाह्य सम्पत्ति क्षणिक सुख प्रदान करती है।

'भुक्ति मुक्ति दातार, चौबीसों जिनराजवर' जो अंतरंग अभ्युदय को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उसे लौकिक सुख तो अनाज के साथ उत्पन्न हुए घास की तरह स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। फिर सच्चा सुख तो मुक्ति में ही हैं सांसारिक सुख को आचार्यों ने सुखाभास कहा है।

दूसरे अर्थ में जो 'वी' विशेष रीति से 'ईर्ते' अर्थात् जानने हैं सम्पूर्ण पदार्थ और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायें जिनके ज्ञान में एक साथ झलकती रहती हैं, ऐसे वीर जिन हैं। अथवा जिन्होंने कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अपना वीर नाम सार्थक किया है।

गाथा में वीर के पहले 'जिन' विशेषण उनके महान गुणों का द्योतक है। अनंतसंसार के कारणभूत सम्पूर्ण मोह, राग-द्वेष आदि का नाश करके जिन्हें यह जिन संज्ञा प्राप्त हुई है, घातिया कर्मों का नाश करके अनंतदर्शन, अनंतज्ञान अनंतसुख, अनंतवीर्य रूप महान गुणों के स्वामी बने।

यहाँ अनंतज्ञान आदि गुणों के स्मरणरूप भाव नमस्कार किया गया है, जो कि अशुद्ध निश्चयनय से है। 'नत्वा' शब्द के द्वारा वचनात्मक नमस्कार व्यवहार नय की अपेक्षा से किया गया है। शुद्ध निश्चयनय से तो अपनी आत्मा में ही आराध्य आराधक भाव है। इस प्रकार नयों का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

इनमें से आदि के दो नमस्कार तो छठे गुणस्थान तक होते हैं तथा शुद्ध निश्चयनय से जो नमस्कार किया जाता है, वह सातवें गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान पर्यंत होता है, उसके आगे

तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानवर्ती केवली अर्हंत भगवान और गुणस्थान से परे सिद्ध भगवान हैं, वे तो नमस्कार के योग्य ही होते हैं।

व्यवहार-निश्चय रत्नत्रय अवलम्बन से शुद्ध आत्मा का ज्ञान होना या शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो जाना ही इस ग्रंथ का प्रयोजन है।

आगे आचार्य देव आत्मा का हित और उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हैं।

मार्ग व मार्ग का फल—

मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं, जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं, होइ णिव्वाणं।।२।। (नियमसार)
मारग व मार्गफल ये दो, प्रकार हैं यहां।
जिनदेव के शासन में ये, गणधर ने है कहा।।
जो मोक्ष का उपाय है, वो मार्ग कहाया।
उसका है फल निर्वाण, ये ऋषियों ने बताया।।२।।

मार्ग और मार्गफल जिनशासन में ये दो भेद कहे गए हैं। इसमें से मोक्ष के उपाय का नाम मार्ग है और उसका फल निर्वाण है।

सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाना मोक्ष है अथवा अनंतचतुष्टय की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है। सो ही वृहद्द्रव्यसंग्रह में कहा है—

"यद्यपि सामान्य से सम्पूर्ण कर्म कलंक को जिसने दूर कर दिया है ऐसे अशरीरी आत्मा को आत्यंतिक, स्वाभाविक, अचिन्त्य, अद्भुत, अनुपम, सकल, विमल, केवलज्ञानादि अनंत गुणों के स्थानस्वरूप एक भिन्न अवस्था का हो जाना ही मोक्ष है तो भी विशेष की अपेक्षा से मोक्ष के दो भेद हैं— भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। संपूर्ण द्रव्यरूप ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों के क्षय करने में निमित्तभूत निश्चय रत्नत्रयात्मक कारण समयसार रूप जो आत्मा का परिणाम है वह भावमोक्ष है। इसे ही सिद्धांत भाषा में शुक्लध्यान और अध्यात्म भाषा में शुद्धोपयोग कहते हैं। यहां बारहवें गुणस्थान का अंतिम क्षण ही विवक्षित है और अयोगकेवली के चरम समय में टंकोत्कीर्ण शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव वाले परमात्मा के आयु आदि शेष अघाति कर्मों का भी आत्यंतिक पृथग्भाव हो जाना वह द्रव्यमोक्ष है[१]।"

यद्यपि यहां पर घाति कर्म के क्षय में कारणभूत ऐसे निश्चयरत्नत्रय रूप परिणाम को भावमोक्ष कहा है जो कि क्षीणकषाय गुणस्थान के अंतिम क्षण में होता है अतः उसके पूर्व के—द्विचरम समय के रत्नत्रय को मोक्षमार्ग संज्ञा है तथापि केवली भगवान के अघातिया कर्मों के निमित्त से चारित्र गुणों में आनुषंगिक दोष माने जाते हैं और उनके सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती व व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान भी उपचार से कहे गये हैं इसलिए निश्चयनय से अयोगकेवली के अन्त्य समय का परिणाम भी रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग ही है।

श्रीविद्यानंद महोदय ने कहा भी है—

'निश्चयनयादयोगकेवलिचरमसमयवर्तिनोरत्नत्रयस्य मुक्तेर्हेतुत्वव्यवस्थितेः[२]।'

निश्चयनय से अयोगकेवली के चरम समय में होने वाला, रत्नत्रय मोक्ष के हेतुरूप से व्यवस्थित है।

इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि चौदहवें गुणस्थान के अन्त तक मोक्षमार्ग संज्ञा है और उसके

१. वृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा। २. श्लोकवार्तिक प्र. अ. पृ. १४८।

आगे उस मार्ग का फल निर्वाण है।

यहां तक मोक्ष का विचार किया अब उसके मार्ग का विचार करते हैं। "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।" सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मोक्षमार्ग है।

यदि इन तीनों में एक-एक या दो-दो लिए जावें तो मोक्षमार्ग नहीं बन सकते हैं जैसा कि श्री अकलंकदेव ने कहा है—

ये तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग है, एक-एक या दो-दो से नहीं क्योंकि तीनों के बिना मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती है, रसायन के समान। "सम्यक्त्व और चारित्र का अभाव होने से मात्र मोक्षमार्ग के ज्ञान से जान लेने से ही मोक्ष नहीं मिल सकता है। श्रद्धान मात्र से ही मोक्ष मिल जाये सो भी नहीं है क्योंकि मोक्षमार्ग को जानना और उस ज्ञानपूर्वक क्रिया का अनुष्ठान करना ये दोनों ही उसके नहीं हैं।" वैसे ही क्रिया मात्र से ही मोक्ष हो सो नहीं कह सकते चूंकि ज्ञान और श्रद्धान का अभाव है तथा ज्ञान और श्रद्धान — विश्वास से रहित क्रिया निष्फल ही है और यदि ज्ञानमात्र से ही प्रयोजन की सिद्धि कहीं पर देखी गई हो तो आप कहिए ? किन्तु ऐसा तो है नहीं इसलिए तीनों के मिलने से ही मोक्षमार्ग होता है यही मान्यता श्रेयस्कर है[१]। लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि यदि किसी ने रसायनरूप औषधि को जान लिया किन्तु उसके प्रति न उसका विश्वास है, न सेवन ही करता है तेा वह स्वस्थ नहीं हो सकता तथा यदि ज्ञान, श्रद्धान दोनों भी हैं किन्तु सेवन नहीं करता है तो भी श्रद्धान व जानने मात्र से वह रोगमुक्त नहीं हो सकता है। यही बात प्रवचनसार में भी कही गई है। यथा—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं, जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि[२]।।३७।।

अर्थ—यदि उसका पदार्थों पर श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगम के ज्ञान से वह सिद्ध नहीं हो सकता है और यदि अर्थों में श्रद्धान करता है किन्तु असंयत है तो भी वह निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है।

टीकाकार श्री अमृचंद्रसूरि अपने वचनों से अमृत झराते हुए कहते हैं—

"श्रद्धानशून्य आगम ज्ञान से कोई सिद्ध नहीं होता और यदि आगमजनित ज्ञान व श्रद्धान इन दोनों से सहित भी कोई है किन्तु संयम से शून्य है तो वह सिद्ध नहीं हो सकता है।"

जो असंयत है उसका यथोक्त आत्मप्रतीतिरूप श्रद्धान अथवा यथोक्त आत्मतत्त्व की अनुभूतिरूप ज्ञान क्या कर सकेगा ? इसलिए संयमशून्य श्रद्धान से अथवा ज्ञान से सिद्धि नहीं है अतः आगमज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व सम्यक्चारित्र ये तीनों यदि युगपत् नहीं हैं तो उसका मोक्षमार्गपना विघटित ही हो जाता है।[१]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो कोई जीव श्रद्धानशून्य हैं अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र में से किसी भी एक से या किन्हीं भी दो से मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं और जो इन तीनों का समुदाय ही मोक्षमार्ग है, ऐसा श्रद्धान करते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं। इन सम्यग्दृष्टि अथवा देशव्रती श्रावकों के मोक्षमार्ग उपचार से ही होता है क्योंकि अमृतचन्द्रसूरि के शब्दों में मोक्षमार्ग रत्नत्रयधारी मुनियों के ही होता है तथा उनके भी यह मोक्षमार्ग व्यवहारनय से ही समझना चाहिए। चूंकि वास्तव में मोक्षमार्ग तो अध्यात्म की दृष्टि से बारहवें गुणस्थान में है और सिद्धान्त की दृष्टि से चौदहवें गुणस्थान के अंत में है अतः छठे, सातवें आदि गुणस्थानों में मोक्षमार्ग परंपरा से ही माना जाता है।

---

१. "अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्त्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियम्येत।" प्रवचनसार, अध्याय-३, गाथा-३६ की टीका। २. प्रवचनसार, अध्याय-३, गाथा-३७।

आज के युग के साधु छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती ही होते हैं। छठे गुणस्थान में भेद रत्नत्रय अथवा व्यवहार रत्नत्रय होता है जो कि निःशंकित आदि गुणों से सहित सम्यग्दर्शन चारों अनुयोगोंरूप ज्ञान और अट्ठाईस मूलगुण रूप चारित्र पालन रूप है। अपने शुद्ध चिच्चैतन्य स्वरूप आत्मा का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी में स्थिर हो जाने रूप चारित्र, ऐसे इन तीनों की एकाग्र परिणति को अभेद रत्नत्रय अथवा निश्चय रत्नत्रय कहते हैं। यह सातवें से प्रारंभ होता है व बारहवें में पूर्ण होता है। ऐसे निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति हेतु व्यवहार रत्नत्रय को धारण करना अति आवश्यक है। आज तक बिना व्यवहार चारित्र के कोई भी जीव निश्चय चारित्र को प्राप्त नहीं कर सके हैं, न कर सकते हैं, न कर सकेंगे ही। ऐसा दृढ़ विश्वास करके आपको सतत् महाव्रत ग्रहण करने की भावना करनी चाहिए और शक्ति के अनुसार देशव्रत, पांच अणुव्रत, सात शील, व ग्यारह प्रतिमा तक कुछ भी व्रत ग्रहण करने चाहिए और यदि आप देशव्रत ग्रहण नहीं कर सकते तो सम्यक्त्व के आठ अंगों को धारण कर नित्य ही देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन छह आवश्यकों को करते हुए आपको देशव्रतों को प्राप्त करने की भावना भानी चाहिए क्योंकि क्रम से भाई गई भावनाएं ही सिद्धि को प्राप्त कराने में समर्थ हैं, अक्रम से नहीं।

इसी प्रकार से सामायिक के समय तत्त्वों का विचार करते हुए ऐसा चिंतवन करना चाहिए कि निश्चयनय से मेरी आत्मा शुद्ध है, सिद्ध सदृश है। उसकी भावना में निम्न पाठ पढ़ते हुए उसके अर्थ का विचार करना चाहिए—

मेरा तनु जिनमंदिर उसमें, मन कमलासन शोभे सुन्दर।
उस पर मैं ही भगवान् स्वयं, राजित हूँ चिन्मय ज्योतिप्रवर।।
मैं शुद्ध बुद्ध हूँ सिद्ध सदृश, कर्मांजन का कुछ लेप नहीं।
मैं स्वयं स्वयंभू परमात्मा, मेरा पर से संश्लेष नहीं।।१।।

मैं भावकर्म औ द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित शुद्धात्मा हूँ।
मैं अरस, अगंध, अरूपी हूँ, स्पर्श रहित सिद्धात्मा हूँ।।
संस्थान शरीर वचन मन से, विरहित पुद्गल से भिन्न कहा।
मैं आयू श्वासोच्छ्वास रहित, जीवन औ मरण विविक्त रहा।।२।।

मैं आधि व्याधि शोकादि रहित, मद मोह विषाद विवर्जित हूँ।
क्रोधादि कषायों से विरहित, विषयादिक सौख्य विवर्जित हूँ।।
मैं निर्मम हूँ एकाकी हूँ, मेरा अणुमात्र नहीं कुछ भी।
मैं ज्ञायक एक स्वभावी हूँ, पर में अनुराग नहीं कुछ भी।।३।।

मैं वीतमोह मैं वीतराग, मैं वीतद्वेष मैं भवविरहित।
मैं इन्द्रिय सुख और दुःखरहित, मैं इन्द्रिय ज्ञानरहित हूँ नित।।
मैं सकल विमल केवलज्ञानी, परमाल्हादैक सुखास्वादी।
मैं चिन्मयमूर्ति अमूर्तिक हूँ, निज समरस भाव सुधास्वादी।।४।।

मैं हूँ अपने में स्वयं सिद्ध, पर की भक्ति का काम नहीं।
मैं भक्त नहीं भगवान स्वयं, मेरा निज पद शिवधाम सही।।

मैं हूँ अनंत गुणपुंज अतुल, अविनाशी ज्योतिस्वरूपी हूँ।
मैं हूँ अखण्ड चित्पिंड परम, आनन्द सौख्य चिद्रूपी हूँ।।५।।

व्यवहार रत्नत्रय उपादेय है या नहीं ?

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।३।।
जो करने योग्य है नियम से, वो ही 'नियम' है।
वो ज्ञान दरस औ, चरित्र रूप धरम है।।
विपरीत के परिहार हेतु, 'सार' शब्द है।
अतएव नियम से, 'नियमसार' सार्थ है।।३।।

अर्थ—नियम से जो करने योग्य है वह 'नियम' कहलाता है। वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही है। इसमें विपरीत को दूर करने के लिए 'सार' यह पद कहा गया है। (नियमसार-श्रीकुंदकुंददेव कृत)

श्रीकुंदकुंददेव ने इस गाथा में रत्नत्रय को 'नियम' शब्द से कहा है और उसमें विपरीत अर्थात् मिथ्यात्व को दूर करने के लिए 'सार' यह शब्द प्रयुक्त किया है। इस तरह ग्रन्थ का नाम 'नियमसार' रखने की सार्थकता व्यक्त की है। वास्तव में यह 'सार' शब्द 'सम्यक्' शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किया गया है। जैसे 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' में सम्यक् शब्द मिथ्यात्व का परिहार करके सबके साथ लग जाता है उसी प्रकार से यहां पर सार शब्द से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का परिहार होकर 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र' का ग्रहण हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

शंका—मेरी समझ में यह 'सार' शब्द विपरीत—विकल्प अर्थात् भेद रत्नत्रय का परिहार करने के लिए दिया गया है क्योंकि इस ग्रन्थ में निर्विकल्परूप अभेद रत्नत्रय का ही प्रतिपादन किया गया है ?

समाधान—आपका यह कथन नितांत गलत है क्योंकि इस तीसरी गाथा के अनंतर चौथी गाथा से ही लेकर आगे चतुर्थ अध्याय पर्यन्त गाथा ७५ तक व्यवहार रत्नत्रय को कहा है पुनः इस चतुर्थ अध्याय की अंतिम गाथा ७६ में स्पष्ट कर दिया है कि 'मैंने यहां तक व्यवहारनय के चारित्र को कहा है अब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूंगा[१]' इत्यादि। पुनः ये ही श्री कुंदकंददेव यहीं पर सार शब्द से उस भेद रत्नत्रय का परिहार करने के लिए कैसे कह सकते थे ?

देखिए! अगली गाथा में ही श्री कुन्दकुन्द देव क्या कहते हैं—

"नियम—ज्ञान, दर्शन, चारित्र "यह मोक्ष का उपाय है और इसका फल परमनिर्वाण है। अब यहां इन तीनों की—प्रत्येक की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा होती है।"[२]

इस गाथा में श्री कुन्दकुन्ददेव ने भेद रत्नत्रय को कहने का संकल्प किया है, पुनः आगे क्रम से दर्शन, ज्ञान, चारित्र का वर्णन करते हैं। उसमें सबसे पहले सम्यक्त्व का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

"आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है[३]।"

यह सम्यक्त्व का लक्षण व्यवहारपरक ही है। यदि श्री आचार्य महोदय को 'सार' शब्द से व्यवहार सम्यक्त्व का परिहार करना इष्ट होता तो वे इस महान् ग्रन्थ में उसका लक्षण क्यों कहते ?

---

१. एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं। णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।७६।।
२. नियमसार गाथा ४। ३. नियमसार गा. ५ का पूर्वार्ध।

पुनः आगे इसी गाथा के उत्तरार्ध में आप्त का लक्षण बताते हुए कहते हैं—

"जो अशेष दोषों से रहित हैं और सकल गुणों से सहित हैं वे ही आप्त कहलाते हैं।"

"अशेष दोष क्या हैं ?"

"क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये अठारह महादोष हैं। ये ही अशेष दोष कहलाते हैं क्योंकि अन्य जो भी दोष होंगे वे सब इन्हीं के अन्तर्गत आ जावेंगे। इन महादोषों के नष्ट हो जाने पर सर्व दोषों से रहित अरिहंत परमेष्ठी ही 'आप्त' कहलाते हैं। इस प्रकार से जो इन सर्व दोषों से रहित हैं और केवलज्ञान आदि परम वैभव से युक्त हैं वे ही परमात्मा कहलाते हैं किन्तु जो इनसे विपरीत होते हैं वे परमात्मा नहीं हैं।[१]"

यह आप्त का लक्षण नियमसार में कहा गया है। इन दोनों गाथाओं में प्रकारांतर से वीतराग और सर्वज्ञ इन दो विशेषणों को पुष्ट किया गया है क्योंकि राग-द्वेष आदि अठारह दोषों के न होने से वीतरागता और केवलज्ञान आदि गुणों के होने से सर्वज्ञता प्रकट होती है, पुनः आगे आगम का लक्षण कहते हैं।

"उन आप्त के मुख से निकले हुए वचन जो कि पूर्वापर विरोध दोष से रहित हैं और शुद्ध हैं, उन्हें ही 'आगम' यह संज्ञा है तथा इस आगम के द्वारा कहे गए पदार्थ ही तत्त्वार्थ कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह तत्त्वार्थ इस नाम से कहे गए हैं। ये नाना गुण और नाना पर्यायों से संयुक्त हैं[२]।"

आचार्य महोदय ने इस गाथा में आगम और तत्त्वों के लक्षण बता दिए हैं तथा प्रकारांतर से आप्त के गुणों में जो हितोपदेशपना गुण है, वह भी इस गाथा से लिया जा सकता है अतः आप्त का लक्षण जो अन्यत्र ग्रन्थों में देखने को मिलता है कि वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशता ये तीनों गुण यहां पर भी आप्त में घटित हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण भी आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान रूप हैं। यह लक्षण व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही है क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन के बिना निश्चय सम्यग्दर्शन अथवा व्यवहार रत्नत्रय के बिना निश्चय रत्नत्रय होना असंभव ही है इसीलिए व्यवहार रत्नत्रय हेय न होकर उपादेय ही है क्योंकि वह निश्चय रत्नत्रय के लिए कारण है और परम्परा से मोक्ष का भी कारण है न कि संसार का।

यहां पर व्यवहार से व्यवहाराभास या लोकव्यवहार को नहीं लेना चाहिए क्योंकि जिसके चार अनन्तानुबन्धी और तीन दर्शनमोह ये सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के होने पर सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है उसी को आप्त, आगम और तत्त्वों पर सच्चा श्रद्धान हो सकता है अन्य को नहीं, ऐसा समझना चाहिए।

तात्पर्य यह हुआ कि 'नियम' शब्द से 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र' को लेकर 'सार' शब्द से मिथ्यात्व का परिहार करके 'सम्यक्' अर्थ ग्रहण करना चाहिए, पुनः प्रत्येक का वर्णन करने में सबसे पहले सम्यक्त्व के लक्षण में सच्चे देव, शास्त्र और उनके द्वारा कथित तत्त्वों पर श्रद्धान करना चाहिए। यहां 'तत्त्वार्थ' से छह द्रव्य ही कहे गए हैं। इस व्यवहार रत्नत्रय को सर्वथा उपादेय ही समझना चाहिए क्योंकि जिसने एक बार भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है जब वह भी नियम से मोक्ष जाएगा ही जाएगा, तब जिसने तीनों रत्न प्राप्त कर लिए हैं वह निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी क्यों नहीं होगा ? अवश्य ही होगा।

जीव का लक्षण—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई।
णाणुवजोगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणं ति।।१०।।

---

१. नियमसार गा. ६, ७। २. नियमसार गा. ८-९।

उपयोगमय लक्षण सहित है जीव जगत् में, उपयोग कहा ज्ञान व दर्शन है द्विविध में।
ज्ञानोपयोग दो प्रकार से हैं बताये, स्वभाव ज्ञान और विभावज्ञान हैं गाये।।१०।।

जीव का लक्षण उपयोग है। वह उपयोग ज्ञानदर्शन स्वरूप है। ज्ञानोपयोग के दो भेद हैं—स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान।

जो ज्ञान केवल इन्द्रियरहित और असहाय है, वह स्वभाव ज्ञान है अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के पूर्णतया विनष्ट हो जाने से प्रकट होने वाला केवलज्ञान स्वभावज्ञान है। विभावज्ञान के दो भेद हैं—संज्ञान—सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान।

इस विभाव संज्ञान के चार भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान। अज्ञान के तीन भेद हैं—कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान।

उसी प्रकार से दर्शनोपयोग के भी स्वभावदर्शन और विभावदर्शन की अपेक्षा दो भेद होते हैं। जो दर्शन केवल इंद्रियरहित और असहाय है वह स्वभाव दर्शन है और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा अवधिदर्शन के भेद से विभाव दर्शनोपयोग के तीन भेद हो जाते हैं।

इस तरह से स्वभाव ज्ञान और स्वभावदर्शन से केवलज्ञान और केवलदर्शन विवक्षित हैं तथा विभाव ज्ञान से चार ज्ञान, तीन अज्ञान एवं तीन दर्शन मिलकर क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन के दश भेद हो जाते हैं।

यहां पर केवलज्ञान और केवलदर्शन को इन्द्रियों की अपेक्षा से रहित तथा असहाय कहा गया है क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रियों से होने वाला दर्शन वर्तमानकालीन मूर्तिक पदार्थों को ही विषय कर सकता है, त्रिकालवर्ती अमूर्तिक या सूक्ष्मादि पदार्थों को नहीं। अतीन्द्रियज्ञान के विषय में अन्यत्र भी कहा है कि 'जो ज्ञान कालाणु, परमाणु आदि अप्रदेशी को, जीव-अजीव आदि सप्रदेशी पदार्थों को, पुद्गल द्रव्य और अशुद्ध संसारी जीवरूप मूर्तिक को, शुद्ध जीव और धर्म-अधर्म आदि अमूर्तिक को तथा जो पर्यायें अभी उत्पन्न ही नहीं हुई हैं ऐसी भावी पर्यायों को व जो पर्यायें उत्पन्न होकर नष्ट हो गईं ऐसी भूतकालीन पर्यायों अर्थात् सभी ज्ञेय पदार्थों को जानता है वह ज्ञान अतीन्द्रिय कहलाता है।

शंका—आपके सर्वज्ञ का अतीन्द्रियज्ञान सूक्ष्मादि पदार्थों को जानता है सो तो ठीक है किन्तु वह वर्तमानकालीन पदार्थों को ही जान सकेगा न कि भूत-भविष्यत्कालीन को क्योंकि भूतकालीन पदार्थ तो सर्वथा नष्ट हो चुके हैं और भावीकालीन पदार्थ तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुए हैं पुनः उनको कैसे जान सकेगा ?

समाधान—आपकी आशंका ठीक है किन्तु वे विनष्ट और अनुत्पन्न पदार्थ भी उस अतीन्द्रिय केवलज्ञान में वर्तमान के समान प्रतिभासित होते हैं जैसे कि दीवाल पर बनाये गये राम, रावण व महापद्म आदि के चित्र।

श्रीकुन्दकुन्द देव ने स्वयं ही इस बात को स्पष्ट किया है। यथा—अतीत और अनागत पर्यायें भी तात्कालिक इव अर्थात् वर्तमान पर्यायों के समान ही उस ज्ञान में झलकती हैं।[१] जो पर्यायें अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं अथवा जो पर्यायें नष्ट हो चुकी हैं वे अविद्यमान भूत भावी पर्यायें भी सर्वज्ञदेव के ज्ञान में प्रत्यक्ष होती रहती हैं। यदि भावी पर्यायें तथा भूत पर्यायें केवलज्ञान के प्रत्यक्ष न होवें तो वह ज्ञान 'दिव्य' है ऐसा कौन कहेंगे ? अर्थात् वह ज्ञान दिव्य नहीं माना जा सकेगा।[२]

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवलज्ञान स्वभावज्ञान है, वह सर्वथा पूर्ण ज्ञान है, उसमें तीन

---

१. तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं। वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।।३७।। (प्रवचनसार, प्रथम अधिकार)। २. प्रवचनसार, प्रथम अधिकार, गाथा ३८, ३९।

लोक और तीन कालवर्ती समस्त पदार्थ एक समय में प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। यह स्वभाव ज्ञान संपूर्ण कर्मों के अभाव से प्रकट होता है। यद्यपि शुद्धनय से यह ज्ञान संपूर्ण संसारी जीवों में विद्यमान है अथवा शक्तिरूप से सर्व अशुद्ध जीवों में पाया जाता है फिर भी व्यक्तरूप से इस ज्ञान को प्रकट करने के लिए ही ज्ञानीजन व्रत, संयम, नियम आदि को धारण कर अथक परिश्रम करते हैं, तीर्थंकरों की उसी भव से मुक्ति निश्चित है फिर भी वे महापुरुष दीक्षा लेते हैं। सर्व सावद्य योग से निवृत्त होकर हजारों वर्ष तक घोर तपश्चरण करते हैं तब कहीं इस केवलज्ञान की प्राप्ति कर पाते हैं। वृषभदेव भगवान ने दीक्षा लेकर एक हजार वर्ष तक तपश्चरण किया था तब वे इस केवलज्ञान को प्रकट कर पाये थे। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अपने स्वभाव ज्ञान को प्रकट करने के लिए हमें भी शक्ति के अनुसार व्रत, संयम को ग्रहण करना होगा। प्रमाद छोड़कर आचारसार में कहे अनुसार चारित्र को धारण करना ही होगा अन्यथा स्वात्मसिद्धि बहुत ही दूर है।

णरणारयतिरियसुरा, पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधि-विवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।१५।।

नर, नारकी, तिर्यंच, देव के जनम धरें, इनका विभाव पर्ययों से सब कथन करें।
कर्मों की उपाधि से रहित जो हैं दशायें, उनको स्वभाव पर्ययों से साधु बतायें।।१५।।

जीव की नर, नारक, तिर्यंच और देवरूप जो पर्यायें हैं वे विभाव पर्यायें हैं तथा कर्मों की उपाधि से रहित जो पर्यायें हैं वे स्वभाव पर्यायें हैं।

कर्मों की उपाधि से रहित जो पर्याय है वह सिद्धों के ही होती है अतः वह स्वभाव पर्याय है तथा संसारी जीवों की जो चतुर्गति में परिभ्रमण करनेरूप अवस्थायें हैं, वे सब विभाव पर्यायें हैं क्योंकि वे कर्मों की उपाधि से ही निर्मित हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

मनुष्य के दो भेद हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज। इन कर्मभूमिज मनुष्यों के भी आर्य और मलेच्छ की अपेक्षा दो भेद हो जाते हैं इत्यादि तथा नारकियों के सात भेद हैं—सात प्रकार की नरक भूमियों की अपेक्षा से अर्थात् प्रथम, द्वितीय आदि से लेकर नरकभूमियां सात हैं उनकी अपेक्षा से नारकियों के यहां पर श्री कुन्दकुन्ददेव ने सात भेद किए हैं।

तिर्यंचों के चौदह भेद हैं—एकेन्द्रिय के सूक्ष्म और बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय के सैनी-असैनी, ये सब मिलकर सात भेद हुए। इनके पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे दो-दो भेद कर देने से तिर्यंचों के चौदह भेद हो जाते हैं। देवों के चार भेद होते हैं—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। इनके अवान्तर भेद भी अनेक होते हैं। श्रीकुन्दकुन्ददेव का कहना है कि इन जीवों के भेदों का विस्तार लोक-विभाग ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। यथा—

'एदेसिं वित्थारं लोयविभागेसु णादव्वं।'

इस कथन से आचार्यदेव का लोकविभाग आदि करणानुयोग ग्रन्थों के स्वाध्याय करने का आदेश भी स्पष्ट हो जाता है।

अन्यत्र ग्रन्थों में अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय ऐसे भी दो भेद पर्याय के माने गए हैं। उनमें से अगुरुलघुगुण के निमित्त से षट्गुणवृद्धि और षट्गुणहानिरूप जो सूक्ष्म परिणमन होता है जो कि प्रत्येक शुद्ध द्रव्यों में प्रतिसमय पाया जाता है वह मात्र आगमगम्य है चूंकि वचनों के अगोचर है, वही अर्थपर्याय है। जीव

का नर, नारकादिरूप परिणत होना तथा पुद्गल का स्कंधरूप परिणत होना यह व्यंजन पर्याय है। यह अर्थ पर्याय ही स्वभाव पर्याय है क्योंकि यह कर्मों की उपाधि से रहित है।

श्री कुन्दकुन्द देव के शब्दों में तो स्वभाव पर्याय पूर्णतया सिद्धों के ही होती है क्योंकि मनुष्यगति आदि औदयिक भावों का उदय चौदहवें के अन्त तक पाया जाता है अथवा ये औदयिक भाव मोहनीय के बिना अपना कुछ कार्य करने में असमर्थ हैं अतः सयोगकेवली के भी स्वभाव पर्याय परिणति मान लेने में कोई बाधा नहीं है।

आगे ग्रन्थकार कहते हैं कि—

कत्ता भोत्ता आदा पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारा।
कम्मजभावेणादा कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो।।१८।।

यह आत्मा व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता है तथा निश्चयनय से कर्मजनित भावों का कर्ता, भोक्ता है।

अब यहां समझने की बात यही है कि यदि कोई अध्यात्मवादी आत्मा को सर्वथा अकर्ता और अभोक्ता ही मान लेवे तो संसार और मोक्ष की व्यवस्था ही समाप्त हो जावेगी अतः श्री कुंदकुंद देव की इस गाथा को सदैव ध्यान में रखना चाहिए।

सिद्धान्त के अनुसार यह जीव प्रतिसमय कर्मों को ग्रहण करता है, यही उन कर्मों का कर्तृत्व है और प्रतिसमय पौद्गलिक कर्म उदय में आते रहते हैं यही उनका भोक्तृत्व है। यथा—

सत्तरसेकग्गसयं चउसत्तत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी।
बंधा णवट्ठवण्णा दुवीस सत्तारसेकोघे[१]।।१०३।।

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में क्रम से ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२, १७, १, १, १ इतनी प्रकृतियों का बंध होता है, दूसरे में १०१ का, इसी तरह ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में १, १, १ का बंध होता है। चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगीजिन अबंधक हैं क्योंकि वहां बंध के कारणभूत योग का भी अभाव हो चुका है।

ऐसे ही उदय में देखिए—

सत्तरसेक्कारखचदुसहियसयं णगिसीदि छदुसदरी।
छावट्ठि सट्ठि णवसगवण्णास दुदाल बारुदया।।२७६।।

पहले गुणस्थान से लेकर क्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२ और १२ प्रकृतियों का उदय रहता है। ऐसे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली के १२ प्रकृतियों का उदय रहता है।

इस प्रकार से उपर्युक्त कथित प्रकृतियों के बंध को करते रहने से यह आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता है और गाथा २७६ कथित प्रकृतियों के उदय को प्राप्त करने से यह आत्मा ही इन पुद्गल कर्मों का भोक्ता है।

इसी प्रकार से कर्मों के उदय से होने वाले राग द्वेष, मोह, क्रोध, मानादि भावकर्मों का भी यह आत्म कर्ता है अथवा तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाताः ज्ञानदर्शनावरणयोः।" इस सूत्र के अनुसार ज्ञान, दर्शन में दोष लगाना, छिपाना, मात्सर्य करना, अन्तराय करना, आसादना करना या उपघात करना आदि

१. गोम्मटसारकर्मकाण्ड।

कारणों को करके यह जीव ज्ञानावरण, दर्शनावरण का बंध कर लेता है। इससे यह भाव भी भावकर्मरूप ही हैं। अशुद्ध निश्चयनय से यह जीव इन भावों का कर्त्ता है और उनके फलस्वरूप सुख-दुःखों का भोक्ता भी है किन्तु शुद्ध निश्चयनय से अपने शुद्ध भावों का ही कर्त्ता भोक्ता है।

यहां पर यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि व्यवहारनय से जो पुद्गल कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता है उसमें तो निमित्तरूप से है न कि उपादानरूप से किन्तु अशुद्ध निश्चयनय से जो भावकर्मों का कर्त्ता, भोक्ता है उसमें उपादानरूप से है न कि निमित्तरूप से।

आगे श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि—

द्रव्यार्थिकनय से सभी जीव पूर्वकथित स्वभाव-विभाव पर्यायों से रहित हैं तथा पर्यायार्थिक नय से दोनों प्रकार की पर्यायों से सहित हैं। यहां पर भी सामान्य द्रव्यार्थिक नय से सिद्ध जीव अपनी शुद्ध पर्यायों से रहित हैं और संसारी जीव अपनी अशुद्ध पर्यायों से रहित हैं क्योंकि द्रव्यार्थिकनय का विषय मात्र द्रव्य ही है, पर्याय नहीं है। उसी तरह से पर्यायार्थिक नय से सिद्ध जीव शुद्ध पर्यायों से सहित है एवं संसारी जीव अशुद्ध पर्यायों से संयुक्त है क्योंकि यह नय पर्यायों को ही विषय करता है।

इस नियमसार में श्री कुन्दकुन्ददेव ने नियम शब्द का अर्थ रत्नत्रय किया है, पुनः प्रत्येक की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा करने की प्रतिज्ञा करके सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया है। उस लक्षण में आप्त, आगम और तत्त्वों का श्रद्धान करना कहा है। आप्त का लक्षण बताकर उनके मुखकमल से विनिर्गत वचनों को आगम संज्ञा दी है पुनः उस आगम में कहे गए विषय को तत्त्वार्थ कहा है। उन तत्त्वार्थों में सबसे प्रथम जीवतत्त्व ही आता है अतः उस जीव का वर्णन करते हुए उसके स्वभाव विभाव गुण एवं स्वभाव विभाव पर्यायों का निरूपण किया है, पुनः नय विवक्षा से जीव के कर्तृत्त्व, भोक्तृत्त्व को बतलाकर जीव को पर्यायरहित और पर्याय सहित भी सिद्ध किया है।

इस जीव तत्त्व का श्रद्धान करके हमें यह समझना चाहिए कि हमारी आत्मा भी शुद्ध निश्चयनय से स्वभाव ज्ञान दर्शन से सहित है और स्वभाव पर्याय वाली है तथा अशुद्ध निश्चयनय से विभाव ज्ञानदर्शन से सहित और विभाव पर्याय वाली है। उसमें भी जो विभाव श्रुतज्ञान है और विभाव मनुष्य पर्याय है वह वर्तमान में हमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और देश चारित्र के लिए साधक बना है अतः हमारे लिए उपयोगी है क्योंकि हमें इस विभाव गुण पर्याय से परिणत होते हुए ही स्वभाव गुण पर्यायों को प्रकट करना है, इसलिए हमें सतत ही अपने स्वभाव गुण पर्यायों को प्राप्त करने के लिए उद्यमशील रहना चाहिए।

अजीव तत्त्व—अजीव द्रव्य के ५ भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

पुद्गलद्रव्य—अणु और स्कन्ध के भेद से पुद्गलद्रव्य के दो भेद हैं। उसमें से स्कंध के छह भेद हैं और परमाणु के दो भेद हैं। अतिस्थूल, स्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म, इस प्रकार से पृथ्वी आदि स्कंध के ये छह भेद होते हैं। घी, जल, तेल आदि स्कंध स्थूल होते हैं। छाया, आतप आदि स्थूल स्कंध हैं। नेत्र के अतिरिक्त चार इंद्रियों के विषय सूक्ष्मस्थूल हैं। कर्मवर्गणा के योग्य स्कंध सूक्ष्म हैं और इससे विपरीत स्कंध अतिसूक्ष्म कहलाते हैं। स्कंध के ये छह भेद हुए हैं।

परमाणु के कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु ऐसे दो भेद हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार धातुओं के लिए जो हेतु हैं वह कारण परमाणु हैं और स्कन्धों का जो अवसान (अंतिम हिस्सा) है वह कार्य परमाणु है।

जिसका स्वयं स्वरूप ही आदि है, मध्य है और अंत है, जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता है ऐसे अविभागी पुद्गलद्रव्य को परमाणु कहते हैं। एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श एक स्वभाव गुण हैं अर्थात् एक परमाणु में ये गुण हैं अतः ये स्वभाव गुण हैं। सभी रस, रूप, गंध, स्पर्शादि प्रकट हों वे विभावगुण हैं अर्थात् स्कंध में अनेक रस, रूपादि स्पष्ट रहते हैं अतः वे विभाव गुण हैं।

अन्य द्रव्य से निरपेक्ष जो परिणाम है वह स्वभाव पर्याय है तथा स्कंध रूप से जो परिणमन है वह विभाव पर्याय है।

अभिप्राय यह है कि जीवद्रव्य के सदृश पुद्गल द्रव्य के भी गुण और पर्यायें होती हैं तथा इसमें भी स्वभाव-विभाव गुण और स्वभाव-विभाव पर्यायें होती हैं। परमाणु के गुण और पर्यायें स्वभावगुण पर्यायें हैं तथा स्कंध की गुणपर्यायें विभाव पर्यायें हैं।

नयों की अपेक्षा भी पुद्गलद्रव्य में घटित करते हैं—निश्चयनय से परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है किन्तु व्यवहारनय से स्कंध को भी पुद्गलद्रव्य कहते हैं।

दो, तीन आदि अनेक अणुओं के मिलने से जो स्कंध बनता है वह अशुद्ध पुद्गलद्रव्य कहा है।

धर्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गलों के गमन में सहकारी है वह धर्मद्रव्य है।

अधर्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहकारी है वह अधर्मद्रव्य है।

आकाशद्रव्य—जो सर्व द्रव्यों को अवकाश देता है वह आकाश द्रव्य है।

कालद्रव्य—जो द्रव्यों के परिवर्तन में सहकारी है वह कालद्रव्य है।

इस कालद्रव्य के समय और आवली की अपेक्षा दो भेद हैं अथवा, भूत, वर्तमान और भविष्य की अपेक्षा तीन भेद हैं। संख्यात आवली से गुणित सिद्धराशि के समान भूतकाल के समय हैं। सर्व जीवराशि और पुद्गल राशि से अनंतगुणा भावी काल है और एक समय मात्र वर्तमानकाल है। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित हैं, ये असंख्यात कालाणु ही परमार्थ काल हैं। जीवादि सर्व द्रव्यों के परिवर्तन (परिणमन) में कारण यह कालद्रव्य है।

इन धर्म आदि चारों द्रव्यों के स्वभाव गुण और स्वभाव पर्यायें ही होती हैं। उपर्युक्त गति, हेतु आदि लक्षण ही गुण हैं और स्वभाव में षट्गुणी वृद्धि, षट्गुणी हानिरूप से परिणमन होना स्वभाव पर्यायें हैं।

अस्तिकाय—काल के अतिरिक्त जीव आदि पांच द्रव्यों को 'अस्तिकाय' यह संज्ञा है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है क्योंकि ये द्रव्य काय के समान बहुप्रदेशी हैं। पुद्गलद्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात प्रदेश होते हैं। लोकाकाश में भी असंख्यात प्रदेश हैं। (जितने आकाश में जीवादि पांचों द्रव्य पाये जाते हैं उतने का नाम लोकाकाश है) अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं और कालद्रव्य एकप्रदेशी ही है अतः उसे कायपना नहीं होने से वह 'अस्ति' तो है किन्तु 'अस्तिकाय' नहीं है।

मूर्त-अमूर्त द्रव्य—पुद्गलद्रव्य मूर्तिक है, शेष द्रव्य अमूर्तिक हैं।

चेतन-अचेतन द्रव्य—जीव द्रव्य चेतन स्वभावी है और शेष द्रव्य चैतन्यगुण से शून्य अचेतन हैं।

प्रश्न—इस प्रकार से अजीव द्रव्य को जानकर क्या करना है क्योंकि वह तो अप्रयोजनीभूत तत्त्व है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, बल्कि आगम में तो छहों द्रव्यों के विस्तार को जानने का विधान किया है। प्रमाण-नयों के द्वारा, नामादि निक्षेपों के द्वारा, निर्देश, स्वामित्व आदि के द्वारा तथा सत्, संख्या, क्षेत्र आदि के

द्वारा छहों द्रव्यों को अच्छी तरह से समझना चाहिए और उन पर दृढ़ श्रद्धान करना चाहिए। इसके साथ-साथ यह भी समझना चाहिए कि एक जीव द्रव्य ही महान है और वही चिच्चैतन्य स्वरूप होने से अन्य संपूर्ण द्रव्यों का ज्ञाता, द्रष्टा है, अमूर्तिक है। इस अमूर्तिकपने के बारे में इतना अवश्य समझना कि संसारी जीवात्मा कर्मों के संबंधित होने से कथंचित् मूर्तिक भी है अन्यथा उसके कर्मों का बंध नहीं हो सकता है और वर्ण, रस, गंध तथा स्पर्श ये पुद्गल के गुण हैं, इनके न होने से जीव द्रव्य अमूर्तिक ही है। यद्यपि संसार में पुद्गल द्रव्य का तथा अन्य द्रव्यों का भी जीव द्रव्य पर उपकार है किन्तु उससे जीव को कोई लाभ नहीं है। लाभ है तो पुद्गल का संबंध छोड़ने में ही है और जब तक उसका सम्बन्ध नहीं छोड़ सकते तब तक उसको अपने से भिन्न—पर समझकर उससे ममत्त्व बुद्धि हटाना ही श्रेयस्कर है और इसी का नाम सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति कैसे होती है ?—आप्त, आगम और तत्त्वों पर श्रद्धान करने के बाद सम्यग्दृष्टि जीव आत्मतत्त्व और परतत्त्वों का निर्णय करता है, वही सम्यग्ज्ञान है। श्रीकुंदकुंद देव ने पुनरपि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का लक्षण पृथक्-पृथक् स्पष्ट किया है। पुनः व्यवहार और निश्चय चारित्र का वर्णन करने के लिए संकल्प सूचित किया है।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान—विपरीत अभिप्राय से रहित तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। संशय, विमोह और विभ्रम से रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। चल, मलिन, अगाढ़ दोष से रहित श्रद्धान करना सम्यक्त्व है तथा हेय और उपादेय तत्त्वों को जानना वह सम्यग्ज्ञान है।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के कारण—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।५३।।

जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सूत्र और उसके जानने वाले पुरुष (महर्षिगण) सम्यक्त्व के लिए निमित्त कारण हैं ऐसा श्रीकुंदकुंद देव का कथन है। उसी प्रकार से उन सूत्रों के जानने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधुगण यद्यपि ये जीव हैं तो भी अन्य जीव के लिए ये भी परद्रव्य हैं, फिर भी ये भव्य जीव के सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए कारण हैं। ये बाह्य कारण हैं इनके होने पर ही अंतरंग कारण दर्शनमोहनीय का उपशम आदि होता है अन्यथा नहीं। हां, इन बाह्य कारणों के होने पर अंतरंग में दर्शनमोह का उपशम हो न भी हो किन्तु यदि उपशम आदि होगा तो नियम से इन बाह्य कारणों में से किसी न किसी के होने पर ही होगा। इसीलिए यह कारण कहलाता है करण नहीं।

इसी बात को धवला ग्रन्थ में भी कहा है—

''**जाइस्सरणजिणबिंबदंसणेहि विणा उप्पज्जमाणणइसग्गियपढमसम्मत्तस्स असंभवादो**[१]।।''

जातिस्मरण और जिनबिंबदर्शन, इनके बिना उत्पन्न होने वाला नैसर्गिक नामक प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन का होना भी असंभव है अर्थात् धवला में प्रथमोपशम सम्यक्त्व के उत्पत्ति के कारण बतलाकर अनंतर नैसर्गिक सम्यक्त्व के विषय में भी कह दिया है कि धर्मोपदेश श्रवण के अतिरिक्त जातिस्मरण या जिनबिंबदर्शन के बिना यह नैसर्गिक सम्यग्दर्शन भी उत्पन्न नहीं हो सकता है—असंभव है। इससे मालूम होता है कि बाह्य कारणों के बिना सम्यक्त्व की उत्पत्ति असंभव है।

जो बाह्य निमित्त कारणों की उपेक्षा करते हैं उन्हें इन कुंदकुंददेव और धवलाकार की पंक्तियों का अच्छी तरह से मनन करना चाहिए।

---

१. धवला पुस्तक ६, पृ. ४३०।

पुनः आचार्यप्रवरकुंदकुंद देव कहते हैं—

"मोक्ष के लिए सम्यक्त्व होता है और सम्यग्ज्ञान होता है तथा सम्यक्चारित्र होता है, इसलिए अब मैं व्यवहार और निश्चयनय से चारित्र को कहूँगा, सो सुनो।

व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है और निश्चयनय के चारित्र में निश्चयनय का तपश्चरण होता है।[१]"

इस प्रकार से इस सम्यग्ज्ञान (शुद्ध भाव) नामक तृतीय अधिकार के अंतिम सूत्र में श्री कुंदकुंद देव ने कहा है कि व्यवहारनय का चारित्र और निश्चयनय का चारित्र, ऐसे चारित्र के दो भेद होते हैं। व्यवहारनय के आश्रय से होने वाला चारित्र जहाँ तक रहता है, व्यवहार तपश्चरण भी वहीं तक रहता है पुनः निश्चयनय का चारित्र जहां से प्रारम्भ होता है निश्चयनय का तपश्चरण भी वहीं से शुरू हो जाता है।

आचार्यश्री के शब्दों में पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति यह तेरह प्रकार का चारित्र व्यवहारचारित्र है। पाँच परमेष्ठी की भक्ति व्यवहारचारित्र है। यह छठे गुणस्थान में मुनियों द्वारा आश्रयणीय होता है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि छठे गुणस्थान से ऊपर ही निश्चयनय का चारित्र शुरू होता है जो कि ध्यानरूप है। इस बात का स्पष्टीकरण स्वयं ग्रन्थकार श्रीकुंदकुंद देव आगे सूत्रों द्वारा करेंगे ही।

अतः श्रावकों का चारित्र तो व्यवहार चारित्र ही है। वह विकल या एकदेश चारित्र है। वह चारित्र सकलचारित्र अर्थात महाव्रत के लिए कारण है और महाव्रतरूप चारित्र निश्चयचारित्र व निश्चय तपश्चरण के लिए कारण है, निश्चय रत्नत्रय केवलज्ञान के लिए कारण है और केवलज्ञान होने पर नियम से मोक्ष की प्राप्ति होती ही होती है ऐसा समझकर शक्ति के अनुसार चारित्र को ग्रहण करना चाहिए।

सम्यक्चारित्र—श्रीकुन्दकुन्ददेव ने 'नियम' शब्द से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को कहा है। प्रथम और द्वितीय अधिकार में जीव-अजीव द्रव्य का वर्णन करके उन पर श्रद्धान करने का उपदेश दिया है। तृतीय अधिकार में हेय और उपादेय तत्त्व का ज्ञान कराकर अब चौथे अधिकार में सम्यक्चारित्र का वर्णन करते हैं—

पांच महाव्रत—कुल, योनि, जीवसमास और मार्गणास्थान आदि में जीवों को जानकर उनके आरम्भ को त्याग करने का जो परिणाम है वह प्रथम व्रत है। राग से, द्वेष से अथवा मोह से असत्य भाषा के परिणाम को जो छोड़ देते हैं उन साधु के द्वितीय महाव्रत होता है। ग्राम में, नगर में अथवा वन में अन्य वस्तु को देखकर जो साधु उसको ग्रहण करने का भाव नहीं करते उनके तृतीय अचौर्यव्रत होता है। स्त्री के रूप को देखकर जो उनमें वांछाभाव को छोड़ देते हैं अथवा मैथुनसंज्ञा से रहित परिणाम को चतुर्थ महाव्रत कहते हैं। निरपेक्ष भावनापूर्वक जो संपूर्ण ग्रन्थ—परिग्रह का त्याग करते हैं ऐसे चारित्र के भार को धारण करने वाले साधु के पांचवां अपरिग्रह महाव्रत होता है।

पांच समिति—जो श्रमण दिवस में प्रासुकमार्ग से सामने चार हाथ प्रमाण जमीन का अवलोकन करते हुए गमन करते हैं उनके ईर्यासमिति होती है। पैशून्य, हास्य, कर्कश, परनिंदा और आत्मप्रशंसा के वचनों को छोड़कर जो स्वपर हितकर वचन बोलते हैं उनके भाषासमिति होती है। कृत, कारित और अनुमोदना से रहित तथा प्रासुक और प्रशस्त भोजन, जो कि पर के द्वारा दिया गया है उसको जो सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है उसके एषणासमिति होती है। पुस्तक, कमंडलु आदि के उठाने और धरने में जो प्रयत्नरूप परिणाम है उसे

१. नियमसार गाथा ५४-५५।

आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। एकांत, अन्य के द्वारा रुकावट से रहित, प्रासुक भूमि प्रदेश में मल-मूत्रादि का त्याग करना प्रतिष्ठासमिति है।

तीन गुप्ति—कालुष्य, मोह, संज्ञा और रागद्वेष आदि अशुभ भावों को छोड़ना यह मनोगुप्ति है जो कि व्यवहारनय से कही गई है। स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा आदि वचन जो कि पाप के हेतु हैं उनका परिहार करना वचनगुप्ति है। अथवा असत्य आदि वचनों से निवृत्त होना वचनगुप्ति है। बंधन, छेदन, मारण आदि तथा हाथ, पैर आदि का संकोचना, फैलाना आदि जो काय की क्रियायें हैं उनसे निवृत्त होना सो कायगुप्ति है।

रागादि भावों से निवृत्त होना सो मनोगुप्ति है ऐसा तुम समझो। असत्यादि वचनों से निवृत्त होना अथवा मौन धारण करना सो वचोगुप्ति है। काय की क्रियाओं से निवृत्त होकर कायोत्सर्ग करना सो कायगुप्ति है अथवा हिंसादि से निवृत्त होना सो काय गुप्ति है ऐसा समझना।

यहां तक तेरह प्रकार के चारित्र का वर्णन हुआ। अब पंचपरमेष्ठी के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

अरिहंत परमेष्ठी—जो अघाति कर्मों से रहित हैं, केवलज्ञान आदि परम गुणों से सहित हैं और चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं ऐसे अरिहंत परमेष्ठी होते हैं।

सिद्ध परमेष्ठी—जिन्होंने आठ कर्मों के बंध का नाश कर दिया है, जो आठ महागुणों से समन्वित हैं, परम—सर्वश्रेष्ठ हैं और जो लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं ऐसे वे सिद्ध परमेष्ठी हैं।

आचार्य परमेष्ठी—जो पांच प्रकार के आचारों से सहित हैं, पंचेन्द्रियरूपी हाथी के दर्प का दलन करने वाले हैं, धीर हैं और गुणों से गंभीर हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी—जो रत्नत्रय से संयुक्त हैं, जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित पदार्थों का उपदेश करने वाले हैं, शूर हैं, निःकांक्ष भावना से सहित हैं, ऐसे उपाध्याय गुरु होते हैं।

साधु परमेष्ठी—जो सर्व प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, चार प्रकार की आराधनाओं में आसक्त हैं, निर्ग्रन्थ हैं और निर्मोही हैं ऐसे साधु परमेष्ठी होते हैं।

अब श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि—

एरिसय भावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।७६।।

इस पूर्व कथित भावना में व्यवहारनय का चारित्र होता है तथा निश्चयनय के चारित्र को इसके अनन्तर मैं कहूँगा।

सम्यग्ज्ञान का विषय—

हेय-उपादेय तत्त्व—

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो।।३८।।

जीवादि तत्त्व बाह्य हैं वे हेय बताये।
आत्मा ही आत्मा को उपादेय कहाये।।
कर्मों की उपाधि से हुए जो भी गुण कहें।
पर्यायें भी उन सबसे भिन्न आत्म शुद्ध हैं।।३८।।

जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं और कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुए गुण पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा ही आत्मा को उपादेय हैं।

शुद्धात्मा का स्वरूप—जीव के स्वभाव स्थान नहीं हैं, मान-अपमान के भाव स्थान नहीं हैं, हर्ष भाव स्थान नहीं हैं और विषाद भाव भी स्थान नहीं हैं। स्थितिबंध स्थान, प्रकृति स्थान और प्रदेश स्थान नहीं हैं, अनुभाग स्थान नहीं हैं और उदय स्थान भी नहीं हैं। क्षायिकभाव स्थान, क्षायोपशमिकभाव स्थान, औदयिकभाव स्थान और औपशमिकभाव स्थान भी नहीं हैं। चर्तुगति भव का परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक जीव के नहीं हैं तथा कुल, योनि, जीवस्थान और मार्गणास्थान भी जीव के नहीं हैं।

यह आत्मा दण्डरहित, द्वन्दरहित, ममतारहित, शरीररहित, आलंबनरहित, रागरहित, दोषरहित, मूढ़तारहित और भयरहित है। यह आत्मा निर्ग्रन्थ, नीराग, निःशल्य, सर्वदोष से रहित, निष्काम है। क्रोधरहित, मानरहित और मदरहित है।

वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री, पुरुष और नपुंसकवेद, संस्थान तथा संहनन ये सभी कुछ जीव के नहीं हैं।

तब जीव का स्वरूप है क्या ?—यह जीव अरस है, अरूप है, अगंध है, अव्यक्त है, चेतना गुण सहित है, अशब्द है, लिंग के द्वारा उसका ग्रहण नहीं किया जाता है और उसके आकार का भी कथन नहीं किया जा सकता है अर्थात् जीवात्मा रस, रूप, गंध से रहित है, व्यक्त नहीं है, शब्द से रहित है, किसी भी चिन्ह के द्वारा उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता है, उसका कुछ भी आकार नहीं कहा जा सकता है और वह चेतना गुण से सहित है।

पुनः उसका क्या स्वरूप है ?—जिस प्रकार के सिद्ध जीव हैं, संसार में रहने वाले जीव वैसे ही हैं, इसी हेतु से ये जरा, मरण और जन्म से मुक्त हैं और आठ गुणों से अलंकृत हैं। अशरीरी, अविनाशी, अनिन्द्रिय, निर्मल ऐसे विशुद्धात्मा जिस प्रकार से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं वैसे ही संसार में रहने वाले संसारी जीव हैं, ऐसा जानना चाहिए।

"पुनः संसार और मोक्ष की व्यवस्था ही क्यों हुई ?"

"सो ही बताते हैं।"

ये सभी भाव (प्रकृति स्थान आदि) व्यवहारनय की अपेक्षा से कहे गए हैं किन्तु शुद्धनय से संसार के सभी जीव सिद्ध स्वभाव वाले हैं।

पूर्व में कहे गए संपूर्ण भाव परद्रव्य हैं और पर स्वभाव हैं इसलिए वे हेय हैं तथा स्वयं का द्रव्य ही उपादेय है वह अंतस्तत्व आत्मा ही है।

प्रश्न—जीव के क्षायिकभाव स्थान नहीं हैं ऐसा जो कहा है सो कैसे ? क्योंकि क्षायिकभाव तो सिद्धों के भी पाये जाते हैं ?

उत्तर—आपका कथन ठीक है परन्तु इस अधिकार में श्री कुन्दकुन्द देव ने 'शुद्धनय' की अपेक्षा से जीव द्रव्य का वर्णन किया है जैसा कि गाथा नं. ४९ में कहा गया है।

जीव सदाकाल से शुद्ध ही है, न कभी अशुद्ध हुआ था, न है उसके साथ अनादिकालीन कर्मबन्ध का सम्बन्ध शुद्धनय से नहीं है पुनः जब कर्म का बंध ही उसके नहीं था तो उनके क्षय से होने वाले क्षायिकभाव कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि 'क्षायिक' यह शब्द उपाधिरूप है, क्षय से प्रकट हुए भाव क्षायिक हैं अतः शुद्धनय क्षायिकभाव नहीं है। मात्र जीव के सहज, शुद्धज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण ही जीव में हैं वही

जीव तत्त्व अंतस्तत्त्वरूप है। यही सम्यग्ज्ञान का विषय है।

हां, व्यवहारनय से ये सभी भाव जीव के ही हैं, ऐसा समझना। अतः नयों की विवक्षा से ही स्वद्रव्य उपादेय है और परद्रव्य तथा पर पुद्गल कर्मों के निमित्त से होने वाले भाव पर होने से वे सब हेय हैं ऐसा दृढ़ श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव अपने इस हेयोपादेय ज्ञान के बल से ही परद्रव्य से ममत्व छोड़कर संयम आदि रूप चारित्र को ग्रहण करने में प्रमादी नहीं होता है प्रत्युत उत्साही होता है, ऐसा ही श्रीकुन्दकुन्ददेव का अभिप्राय है।

निश्चय प्रतिक्रमण—संपूर्ण व्यवहार चारित्र तेरह भेद रूप या अट्ठाईस मूलगुण रूप है और उत्तर गुणों की अपेक्षा बहुत ही भेद रूप है, उसका फल स्वर्ग है और परंपरा से मोक्ष है तथा व्यवहार चारित्र से अतिरिक्त जो निश्चय चारित्र है वह साक्षात् मोक्ष का कारण है अतः निश्चय चारित्र के अंतर्गत ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्तव, वंदना आदि आवश्यक क्रियायें निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान आदि कहलाती हैं। इनका संबंध मात्र आत्मा से ही रहता है। उन्हीं निश्चय अर्थात् परमार्थ प्रतिक्रमण आदि का वर्णन इस प्रकार है—

यह स्पष्ट है कि व्यवहार चारित्र के बिना निश्चयचारित्र सर्वथा असंभव है अतः व्यवहार चारित्र ही निश्चय चारित्र के लिए कारण है और वह व्यवहार चारित्र मुनियों के ही होता है क्योंकि स्वयं श्री कुन्दकुन्द देव ने व्यवहार चारित्र का वर्णन करते हुए चतुर्थ अध्याय में मुनियों के तेरह प्रकार के चारित्र का निरूपण किया है। गृहस्थ तो मात्र एकदेश रूप विकल चारित्र को ही धारण कर सकते हैं अतः वे निश्चय चारित्र को प्राप्त करने के अधिकारी कथमपि नहीं हो सकते हैं।

यहां इस नियमसार के पंचम अध्याय में आचार्यदेव निश्चय अथवा परमार्थ प्रतिक्रमण का निरूपण करते हैं, उसमें सबसे पहले पांच गाथाओं द्वारा पंचरत्न का स्वरूप दिखलाते हैं—

मैं नारक पर्याय नहीं हूँ, तिर्यंच पर्याय, मनुष्य पर्याय अथवा देव पर्यायरूप भी नहीं हूँ। इन पर्यायों का न मैं कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न करते हुए को अनुमोदना देने वाला ही हूँ।

मैं मार्गणास्थान नहीं हूँ, मैं गुणस्थान अथवा जीवसमास स्थान भी नहीं हूँ, न मैं इन अवस्थाओं का कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न अनुमति देने वाला ही हूँ।

मैं बालक नहीं हूँ, वृद्ध नहीं हूँ तथा युवा भी नहीं हूँ। न मैं इन पर्यायों का कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न ही इनकी अनुमोदना करने वाला ही हूँ।

मैं राग नहीं हूँ, द्वेष नहीं हूँ तथा मोह नहीं हूँ। इन भावों का न मैं कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न ही करने वालों को अनुमति देने वाला ही हूँ।

न मैं क्रोध हूँ, न मान हूँ, न माया हूँ, न लोभ हूँ, इन कषायरूप परिणामों का न मैं कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ और न इन भावों के करने वालों को अनुमति देने वाला ही हूँ।[१]

इन पांच गाथाओं को टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने पंचरत्न यह संज्ञा दी है। इन गाथाओं द्वारा आचार्य महोदय ने शुद्ध आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए उसमें द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म के निमित्त से हुई अवस्थाओं विशेष के कर्तृत्त्व का निराकरण किया है क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा में ये नरक, तिर्यंच आदि पर्यायें, मार्गणा, गुणस्थान आदि अवस्थायें, बाल, वृद्ध आदि दशायें एवं क्रोध मान आदि विभाव भाव कुछ भी नहीं हैं अतः यह शुद्ध आत्मा इनका न करने वाला है, न दूसरों द्वारा कराने वाला है और न

१. नियमसार गाथा नं. ७७, ७८, ७९, ८०, ८१।

करते हुए अन्य जनों को अनुमोदना देने वाला ही है।

आगे आचार्य कहते हैं—

इस प्रकार से भेद के अभ्यास से जीव मध्यस्थ भाव को प्राप्त हो जाता है इसलिए उसके राग द्वेष रहित परम वीतराग चारित्र प्रगट होता है अतः उस चारित्र को दृढ़ करने के लिए मैं प्रतिक्रमण आदि को कहूँगा।

इन्हीं कुन्दकुन्द देव ने अपने द्वारा रचित मूलाचार ग्रन्थ में मुनियों के लिए प्रतिक्रमण करने का विधान किया है। उसमें यह बताया है कि इस पंचमकाल में मुनियों को जिस किसी विषय में दोष नहीं भी लगे तो भी उन सब दोषों का प्रतिक्रमण प्रतिदिन करना ही चाहिए। उस व्यवहार प्रतिक्रमण में दत्तचित्त हुए मुनियों के ही यह निश्चय प्रतिक्रमण संभव है, अन्य के नहीं।

आगे पुनः कहते हैं—

वचन रचना को छोड़कर और रागादि भावों का निवारण करके जो मुनि अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं उनके ही यह प्रतिक्रमण होता है अर्थात् 'मिच्छा मे दुक्कडं' आदि वचनों के उच्चारणरूप वचनों से परे रागादि विभाव भावों से रहित जो शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प ध्यान है वही निश्चय प्रतिक्रमण कहलाता है।

ऐसे ही जो विशेषरूप से विराधना (जीवों की विराधना) को छोड़कर दर्शन, ज्ञान आदि चतुर्विध आराधना में वर्तन करते हैं, वे मुनि ही प्रतिक्रमण कहलाते हैं क्योंकि वे उस समय प्रतिक्रमणमय हैं अर्थात् वे प्रतिक्रमणरूप परिणत हो जाने से स्वयं ही प्रतिक्रमण कहलाते हैं।

जो मुनि अनाचार को छोड़कर अपने आचार में स्थिर भाव को प्राप्त हो गए हैं, वे मुनि ही प्रतिक्रमण कहलाते हैं क्योंकि वे उस समय प्रतिक्रमणमय हैं।

जो मुनि उन्मार्ग—मिथ्यामार्ग को छोड़कर जिनेन्द्रदेव के बताये हुए निर्ग्रन्थरूप मोक्षमार्ग में स्थिर भाव को करते हैं वे मुनि ही प्रतिक्रमणमय हैं।

जो साधु माया, मिथ्या, निदानरूप शल्य भावों को छोड़कर निःशल्य भाव से परिणमन करते हैं, वे साधु ही प्रतिक्रमण कहलाते हैं क्योंकि वे प्रतिक्रमणमय हो चुके हैं।[१]

यहां पर इस गाथा में 'साहू' शब्द है जो कि मध्य दीपक है। अतः उसका पूर्व की गाथा और आगे की गाथाओं के साथ सम्बन्ध समझ लेना चाहिए क्योंकि प्रतिक्रमणरूप आवश्यक क्रिया मुनि के लिए ही है न कि श्रावकों के लिए। श्रावकों की आवश्यक क्रियायें तो देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये ही बताई गई हैं।

जो साधु अगुप्तिभाव—गुप्ति रहित अवस्था को छोड़कर त्रिगुप्ति से गुप्त होता है वह प्रतिक्रमण कहलाता है क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है। यहां इस गाथा में भी 'साहू' शब्द से साधु को ही गुप्तियां होती हैं ऐसा स्पष्टीकरण हो जाता है।

जो साधु आर्त, रौद्रध्यान को छोड़कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याता है वह प्रतिक्रमण कहलाता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव के द्वारा निर्दिष्ट सूत्रों में कहा गया है।

इस जीव ने पूर्व में चिरकाल तक मिथ्यात्व, असंयम आदि भावों को ही भाया है किन्तु इसने कदाचित् भी सम्यक्त्व, संयम आदि भावनाओं को अभी तक नहीं भाया है।

---

१. मोत्तूण सल्लभावं, णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि। सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा।।८७।।

इसलिए जो मुनि सम्पूर्ण रूप से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को छोड़कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भाता है वह मुनि ही प्रतिक्रमणस्वरूप है।

यह आत्मा ही उत्तम अर्थ है और इसमें स्थित हुए मुनिवर ही कर्मों का नाश करते हैं अतः ध्यान ही उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण है।

यहां इस गाथा में भी 'हणदि मुणिवरा कम्मं' पाठ में मुनिवर शब्द आया हुआ है अत मुनिराज ही इस प्रतिक्रमण के अधिकारी होते हैं ऐसा स्पष्ट समझना चाहिए। यहां पर उत्तमार्थ प्रतिक्रमण को घटित किया है, मूलाचार में प्रतिक्रमण के सात भेद माने गए हैं—ईर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ।

मार्ग में चलने से जो दोष लगता है उसके निराकरण हेतु ईर्यापथ प्रतिक्रमण किया जाता है। दिवस के अन्त में दैवसिक, रात्रि के अन्त में रात्रिक, पन्द्रह दिन में पाक्षिक, चार महीने में चार्तुमासिक, एक वर्ष में आषाढ़ शुक्ला चर्तुदशी या पूर्णिमा के दिन वार्षिक प्रतिक्रमण किया जाता है तथा मरण के काल में जब साधु सल्लेखना लेकर संस्तर ग्रहण कर लेते हैं तब संपूर्ण दोषों की शुद्धि के लिए गुरु के पादमूल में वे जो प्रतिक्रमण करते हैं उसका नाम 'उत्तमार्थ' है। यहां पर उसी को निश्चयरूप से घटित करते हुए बताया है कि यह आत्मा ही उत्तम अर्थ—पदार्थ है, उसमें तन्मयतारूप से स्थित हुए साधु ही कर्मों के नाश करने में समर्थ होते हैं अतः उनका वह ध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

आगे पुनः कहते हैं—

ध्यान में लीन हुए साधु ही सर्व दोषों का त्याग कर देते हैं इसलिए ध्यान ही सर्वातिचार का प्रतिक्रमण है। मूलाचार में संपूर्ण अतिचारों को दूर करने के लिए एक सर्वातिचार प्रतिक्रमण होता है। यहां पर उसी को लक्ष्य करके निश्चयपरक अर्थ घटाया है। यहां पर भी गाथा में 'झाणणिलीणो साहु' शब्द रखकर ध्यान के अधिकारी साधुओं को ही माना गया है अतः वे ही सर्वातिचार प्रतिक्रमण कर सकते हैं।

अंत में आचार्यदेव कहते हैं कि—

प्रतिक्रमण नाम वाले सूत्र में जैसे प्रतिक्रमण का वर्णन किया गया है उसको जानकर जो मुनि उसको भाते हैं अर्थात् उन प्रतिक्रमण के दण्डकों का उच्चारण करते हुए प्रतिक्रमण करते हैं उनके ही उस काल में प्रतिक्रमण होता है क्योंकि जिन मुनियों ने सूत्र में कथित प्रतिक्रमण पाठ की उपेक्षा कर दी है वे मुनि कथमपि निश्चय प्रतिक्रमण को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

व्यवहार प्रतिक्रमण कितना कार्यकारी है। उसके बिना निश्चय प्रतिक्रमण असंभव है और आज के युग में तो निश्चय प्रतिक्रमण की मात्र भावना ही की जा सकती है। क्रिया में तो व्यवहार प्रतिक्रमण ही करना होता है। आज जो मुनि व आर्यिकायें प्रतिक्रमण सूत्रों का पाठ करते हैं वह श्री गौतमस्वामी के मुखकमल से निकला हुआ है।

निश्चय प्रत्याख्यान—जो मुनि समस्त जल्प को छोड़कर और अनागत शुभ-अशुभ का निवारण करके अपनी आत्मा को ध्याते हैं उनके ही यह प्रत्याख्यान आवश्यक होता है।

टीकाकार कहते हैं—'अत्र व्यवहारनयादेशात् मुनयो भुक्त्वा दैनं दैनं पुनर्योग्यकालपर्यन्तं प्रत्यादिष्टान्न-पानखाद्यलेह्यरुचयः एतद् व्यवहारप्रत्याख्यानस्वरूपं। निश्चयनयतः प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनाप्रपंच-परिहारेण शुद्धज्ञानभावनासेवाप्रसादादभिनवशुभाशुभद्रव्यभाव-कर्मणां संवरः प्रत्याख्यानं[१]।'

१. नियमसार गाथा ९५, की टीका।

व्यवहार नय की अपेक्षा से मुनिगण दिन-दिन में आहार करके पुनः योग्य काल पर्यंत अन्न, पान, खाद्य, लेह्य इन चार प्रकार के आहार का त्याग कर देते हैं यह व्यवहार प्रत्याख्यान है पुनः निश्चयनय से प्रशस्त-अप्रशस्तरूप समस्त वचनों के विस्तार को छोड़कर शुद्ध ज्ञान की भावना के प्रसाद से जो नवीन शुभ-अशुभ द्रव्य कर्मों तथा भाव कर्मों का संवर होना सो निश्चय प्रत्याख्यान है।

यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि मुनिराज अपनी षट् आवश्यक क्रियाओं में इस प्रत्याख्यान क्रिया को पालते हैं। वे दिन में एक बार आहार लेकर पुनः सिद्धभक्तिपूर्वक अगले दिन आहार लेने पर्यन्त के लिए चतुराहार का त्याग कर देते हैं सो यह उनका व्यवहार प्रत्याख्यान है। पुनः जब वे शुभ-अशुभरूप अन्तर्जल्प से भी छूटकर श्रेणी में आरोहण कर शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हुए उसी में तन्मय हो जाते हैं उस समय उनके निश्चय प्रत्याख्यान होता है। उसी समय मुनि के समस्त कर्मों का संवर हो जाता है और वे केवली हो जाते हैं। यही बात टीकाकार ने अपने शब्दों में स्पष्ट की है।

आगे देखिए—

ज्ञानी मुनि ऐसा चिन्तवन करे कि जो केवलज्ञानस्वभावी, केवलदर्शनस्वभावी, पूर्ण सुखमयी और केवलशक्तिस्वभावी आत्मा है वह मैं हूँ अर्थात् मैं निश्चयनय की अपेक्षा से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलशक्ति स्वभावी हूँ।

जो आत्मा निजभाव को नहीं छोड़ता है तथा किंचित् भी परभाव को ग्रहण नहीं करता है, मात्र सर्व को जानता और देखता है, वह मैं हूँ ऐसा ज्ञानी मुनि चिन्तवन करे।

जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार प्रकार के बन्धों से रहित आत्मा है, वह मैं हूँ। इस प्रकार से चिन्तवन करता हुआ मुनि उसी आत्मा में स्थिर भाव को करता है अर्थात् शुद्धोपयोग में लीन हो जाता है।

पुनः साधु निश्चय प्रत्याख्यानमय होने के लिए क्या-क्या भावना भाते हैं ?

मैं ममत्व को छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थित होता हूँ। यह मेरा आत्मा ही मेरा अवलंबन है उससे अतिरिक्त अन्य सभी का मैं त्याग करता हूँ।

वास्तव में मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन में आत्मा है, मेरे चारित्र में आत्मा है मेरे प्रत्याख्यान में आत्मा है, मेरे संवर में आत्मा है तथा मेरे योग—निर्विकल्प ध्यान में आत्मा है अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र प्रत्याख्यान संवर और ध्यान में मेरी आत्मा का ही अनुभव प्रधान है।

यह जीव अकेला ही मरता है और स्वयं अकेला ही जन्मता है। इस अकेले जीव का ही जन्म और मरण होता है तथा यह एक ही कर्मरज से रहित होता हुआ सिद्धपद को प्राप्त करता है।

मेरा आत्मा एक है, शाश्वत है और ज्ञानदर्शन स्वरूप है, शेष सभी संयोग से होने वाले जो भाव हैं वे सभी मेरे से भिन्न हैं।

जो कुछ भी मेरा दुश्चरित्र है मैं उन सबको मन वचन कायपूर्वक छोड़ता हूँ और जो सामायिक चारित्र है, मैं उसको निराकार-निर्विकल्परूप करता हूँ।

सर्व जीवों के प्रति मेरा साम्यभाव है, मेरा किसी के साथ वैर भाव नहीं है। मैं सर्व आशा को छोड़कर समाधि को प्राप्त होता हूँ अर्थात् निर्विकल्प ध्यान का आश्रय लेता हूँ।

जो मुनि निष्कषाय—सम्पूर्ण कषाय रहित क्षीणमोह हो चुके हैं, पूर्ण जितेन्द्रिय हैं, शूरवीर हैं,

व्यवसायी हैं—सिद्ध सुख को प्राप्त करने में उद्यमी हैं और संसार से पूर्णतया भयभीत हैं ऐसे मुनि के ही सुखपूर्वक प्रत्याख्यान होता है।

अन्त में श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा।।१०६।।

इस प्रकार से जो नित्य ही जीव और कर्म में भेद का अभ्यास करता है, वह संयत—महामुनि नियम से प्रत्याख्यान को धारण करने में समर्थ होता है।

इस गाथा का 'संजदो' पद ध्यान देने योग्य है। इस पद से यह स्पष्ट हो रहा है कि श्री कुंदकुंददेव स्वयं कह रहे हैं कि यह प्रत्याख्यानरूप आवश्यक क्रिया मुनियों के लिए ही है न कि श्रावकों के लिए। क्योंकि श्रावक जब तक व्यवहार प्रत्याख्यानरूप क्रिया में नहीं आया है तब तक वह निश्चय प्रत्याख्यान को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

टीकाकार ने भी 'स परमसंयमी' पद रखकर स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रत्याख्यान के अधिकारी असंयमी अथवा देशसंयमी नहीं हो सकते हैं।

'पुनः अपना क्या कर्तव्य है ?'

अपना कर्त्तव्य यही है कि इस निश्चय प्रत्याख्यान के अभिलाषी जो मुनिगण व्यवहार प्रत्याख्यान का अवलंबन लेकर आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज की परम्परा को अक्षुण्ण चला रहे हैं, उन मुनिराजों की परमभक्ति करते हुए सदैव यह भावना भाते रहें कि हमें भी इस जीवन में वह दिन प्राप्त होवे कि जिस दिन मुनिमुद्रा में विचरण करते हुए इस प्रत्याख्यान आवश्यक क्रिया को प्राप्त करने का अधिकारी बनूं और जब तक उस अवस्था को नहीं प्राप्त कर सकें तब तक उन मुनियों के संसर्ग को न छोड़ें।

निश्चय आलोचना—जो नोकर्म, (औदारिक, वैक्रियक, आहारकशरीर और छह पर्याप्ति) कर्म (ज्ञानावरण आदि) से रहित तथा विभाव गुण पर्यायों से भिन्न ऐसी शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है उस श्रमण के यह (निश्चय) आलोचना होती है।

टीकाकार कहते हैं कि "……त्रिकालनिरावरणनिरंजनपरमात्मानं त्रिगुप्तिगुप्तपरमसमाधिना यः परमश्रमणो नित्यमनुष्ठानसमये वचनरचनाप्रपंचपराङ्मुखः सन् ध्यायति, तस्य भावश्रमणस्य सततं निश्चयालोचना भवतीति[१]।"

जो परम श्रमण वचन रचना के विस्तार से पराङ्मुख होकर नित्य ही अनुष्ठान के समय तीन गुप्तियों से सहित ऐसी परम समाधि में स्थित होकर त्रिकाल निरावरण निरंजन परमात्मा का ध्यान करते हैं उस भाव श्रमण के हमेशा ही निश्चय आलोचना होती है। इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि निश्चय आलोचना के अधिकारी निर्ग्रन्थ मुनि ही होते हैं और उसमें भी तीन गुप्ति के पालन करने वाले ही होते हैं।

अब आगे कहते हैं कि जैन आगम में आलोचना के स्वरूप के चार भेद किए हैं—आलोचन, आलुन्छन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि।

(१) जो समभाव में अपने परिणाम को स्थापित करके अपनी आत्मा का अनुभव करते हैं उसे तुम आलोचना समझो ऐसा परम जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।

टीकाकार स्पष्ट कर रहे हैं कि "पूर्व निजपरिणामं समतावलंबनं कृत्वा परमसंयमीभूत्वा तिष्ठति

१. नियमसार, पद्मप्रभमलधारी देवकृत-तात्पर्यवृत्ति टीका, पृ. २९२, गाथा १०७।

तदेवालोचनास्वरूपं" जो साधु पूर्व में अपने परिणाम को सुख-दुःख, जीवित-मरण आदि में समरूप करके परम संयमी होकर स्थित होते हैं, वही आलोचना का स्वरूप है। इस कथन से भी यह स्पष्ट हो रहा है कि इस नियमसार ग्रंथ में कही गई आलोचना को प्राप्त करने के अधिकारी श्रावक कथमपि नहीं हो सकते। अब आलुन्छन का स्वरूप देखिए—

(२) कर्मरूपी वृक्ष के मूल को छेदन करने में समर्थ ऐसा जो समभावरूप अपनी आत्मा के आश्रित अपना परिणाम है उसे आलुन्छन कहा है। यहां पर भी अपनी आत्मा के आश्रित जो निज परिणाम है वह शुद्धोपयोग में ही घटित होता है।

(३) जो मध्यस्थ—राग द्वेष रहित वीतराग भावना में स्थित होकर विमल गुणों के स्थान स्वरूप तथा कर्मों से भिन्न ऐसी आत्मा का अनुभव करता है उस जीव को अविकृतिकरण जानना।

यहां पर टीकाकार कहते हैं कि "इह हि शुद्धोपयोगिनो जीवस्य परिणतिविशेषः प्रोक्तः" अर्थात यहां पर शुद्धोपयोगी महामुनि की परिणति विशेष कही गई है। इस कथन से भी स्पष्ट है कि यह अविकृतिकरण नाम की आलोचना वीतरागी महामुनि के ही होती है। इसी टीका के अंतिम कलश में टीकाकार कहते हैं कि— 'जिसने अपनी आत्मा के स्वाभाविक तेज से रागरूपी अंधकार को नष्ट कर दिया है, जो मुनिवरों के मन के गोचर है, शुद्ध-बुद्ध है, विषयसुख का अनुभव करने वालों के लिए सर्वदा दुर्लभ है, परमसुख का समुद्र है और जिसने निद्रा को समाप्त कर दिया है ऐसा यह शुद्धबोध जयशील होवे।'

इस कलश में भी यह स्पष्ट है कि यह निश्चय आलोचना मुनिवरों को ही प्राप्त हो सकती है। विषयों के आधीन हुए श्रावकों को नहीं प्राप्त हो सकती।

(४) जो मद, मान, माया और लोभ रहित भाव है वही भाव शुद्धि है। ऐसा भव्यों को श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

टीकाकार एक कलश काव्य में कहते हैं कि—

आलोचना सतत्शुद्धनयात्मिका या।
निर्मुक्तमार्गफलदा यमिनामजस्रम्।।
शुद्धात्मतत्त्वनियता चरणानुरूपा।
स्यात्संयतस्य मम सा किल कामधेनुः।।१७२।।

संयमियों को सदा मोक्षमार्ग का फल देने वाली तथा शुद्ध आत्मतत्त्व में नियत तन्मय रूप जो आचरण है उसके अनुरूप ऐसी निरंजन शुद्धनय के अवलंबनरूप जो आलोचना है वह मुझ संयमी पद्मप्रभमलधारी मुनि को कामधेनु सदृश होवे।

निश्चय प्रायश्चित—पांच महाव्रत, पांच समिति, शील और संयमरूप जो परिणाम है तथा पांच इन्द्रियों के निग्रहरूप जो भाव है सो ही प्रायश्चित है। ऐसे प्रायश्चित को निरंतर करना चाहिए।

प्रायः अर्थात् प्रचुरता से निर्विकाररूप चित्त का होना प्रायश्चित है। यह प्रायश्चित महामुनियों के ही होता है। जो मुनि महाव्रत आदि रूप से अपने चारित्र में पूर्ण प्रवृत्ति कर रहे हैं ऐसे महामुनि के जो इन व्रतों की परिणतिरूप से विशुद्ध परिणाम होते हैं वे ही परिणाम पापों के क्षालन में अथवा कर्मों की निर्जरा में निमित्त होते हैं अतः उन परिणामों को ही यहां प्रायश्चित नाम दिया है।

क्रोध, मान, माया आदि रूप जो अपने भाव हैं, उनको क्षय करने की या उपशम करने की भावना को

करना सो प्रायश्चित है तथा अपने आत्मगुणों का चिंतन करना सो यह निश्चय प्रायश्चित है।

किस कषाय का कैसे निग्रह करना ? सो ही बताते हैं—

महायोगी क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से इस प्रकार चारों ही कषायों को जीत लेते हैं।

उसी अर्थात् कषायरहित आत्मा का जो उत्कृष्ट बोध है, ज्ञान है, जो मुनी उसी ज्ञान में ही अपने चित्त को धरते हैं—एकाग्र करते हैं उन मुनि के ही यह निश्चय प्रायश्चित होता है अर्थात् जो पर संयमी नित्य ही अपने उपयोग को ज्ञानरूप रखते हैं, एकाग्र होकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाते हैं उन्हीं के ही यह निश्चय प्रायश्चित होता है।

श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि—

अधिक कहने से क्या ? महर्षियों का जो श्रेष्ठ तपश्चरण है वह सभी प्रायश्चित है क्योंकि वह तपश्चरण ही उन मुनि के अनेक विध कर्मों के क्षय का हेतु है अर्थात् महामुनिगण जो भी उत्तम-उत्तम तपश्चरण करते हैं उसके द्वारा वे अपने अनंत कर्मों का नाश कर देते हैं इसलिए वह तपश्चरण ही प्रायश्चित है।

इस गाथा की टीका में टीकाकार ने एक बहुत ही सुन्दर कलश लिखा है—

अध्यात्मशास्त्रामृत-वारिराशेर्मयोद्धृता संयमरत्नमाला।
बभूव या तत्त्वविदां सुकण्ठे, सालंकृतिर्मुक्तिवधूधवानाम्।।१८७।।[१]

अध्यात्मशास्त्ररूपी अमृत समुद्र से मैंने जो संयमरूपी रत्नमाला निकाली है वह संयम रत्नमाला मुक्तिरूपी स्त्री के वल्लभ ऐसे तत्त्वज्ञानियों के सुकण्ठ का आभूषण है।

इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अध्यात्मशास्त्र के अभ्यासीजन संयम को ग्रहण करके मुक्ति के अधिकारी बनते हैं न कि संयम और संयमियों की उपेक्षा करके।

आगे श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

अनंत-अनंत भवों में संचित किया गया जो शुभ-अशुभ कर्मों का समूह है वह सब तपश्चरण के द्वारा नष्ट हो जाता है इसलिए तपश्चरण ही प्रायश्चित है।

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि मुनि या श्रावक के द्वारा उनके व्रतों में जो भी दोष लग जाते हैं तब वे उस दोष के दूर करने के लिए गुरु से प्रायश्चित की याचना करते हैं। उस समय गुरुदेव दोष के विशोधन हेतु उन शिष्यों को उपवास, रस परित्याग आदि रूप से तपश्चरण का ही आदेश देते हैं अतः यह विदित होता है कि वह तपश्चरण ही प्रायश्चित है।

आगे कहते हैं—

कोई भी महामुनि आत्मस्वरूप के अवलंबनरूप भाव से ही सर्व भावों का (शुभ-अशुभ विकल्पों का) परिहार करने में समर्थ होते हैं अतः वह शुद्धात्मतत्त्व का ध्यान ही सब कुछ है।

जो मुनि शुभ-अशुभरूप वचनों के विस्तार का तथा रागद्वेष आदि भावों का निवारण करके अपनी आत्मा को ध्याते हैं उन मुनि के ही नियम से नियम होता है अर्थात् जो मुनि अंतर्बाह्य विकल्प से रहित होकर निर्विकल्प रूप शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं उन मुनि के ही निश्चय से प्रायश्चित होता है।

जो मुनि शरीर आदि परद्रव्य में 'यह स्थिर है' ऐसी बुद्धि को छोड़कर निर्विकल्परूप से अपनी आत्मा

---

१. नियमसार गाथा ११७ की टीका में।

को ध्याता है उस मुनि के ही कायोत्सर्ग होता है अर्थात् प्रायश्चित में १०८, ३००, ५०० आदि श्वासोच्छ्वास-रूप से कायोत्सर्ग करने का विधान है वह व्यवहार प्रायश्चित कहलाता है। इसीलिए यहां ध्यान को निश्चय कायोत्सर्गरूप निश्चय प्रायश्चित कहा है।

विशेष—नियमसार में श्री कुन्दकुन्ददेव ने साधुओं के निश्चय प्रायश्चित का वर्णन किया है। यह निश्चय प्रायश्चित वे ही करने में समर्थ होते हैं कि जो व्यवहार प्रायश्चित के ग्रहण करने में सावधान हैं। मूलाचार में श्री कुन्दकुन्द देव ने स्वयं ही इस प्रायश्चित को अंतरंग तप का एक भेद मानते हुए उसके दश भेद बताये हैं। यथा—

आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये प्रायश्चित तप के दश भेद हैं।

आचार्य अथवा भगवान् के पास जाकर चारित्राचारपूर्वक उत्पन्न हुए अपने दोषों को कहना आलोचना है। रात्रिभोजन त्याग सहित पांच महाव्रतों का उनकी भावना के साथ उच्चारण करना या दैवसिक अथवा पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण है। आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों ही करना तदुभय प्रायश्चित है। गणविवेक और स्थानविवेक ऐसे विवेक के दो भेद हैं। कायोत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है। अनशन आदि करना तप है। पक्ष, मास, वर्ष इत्यादि काल के प्रमाण से दीक्षा कम करना छेद है, फिर प्रारम्भ से दीक्षा देना मूल है। संघ से पृथक् करना परिहार प्रायश्चित है और तत्त्व में रुचि करना अथवा क्रोधादिक का परित्याग श्रद्धान प्रायश्चित है। आचार्य शिष्य के दोषों के अनुसार इनमें से यथायोग्य प्रायश्चित उन्हें देते हैं।

श्रावकों के लिए भी प्रायश्चित का विधान है। उनके आठ मूलगुण, बारह उत्तरगुण, ग्यारह प्रतिमा में या किसी भी लिए गए नियम, व्रत आदि में यत्किंचित् दोष लग जाने पर या व्रतों के भंग हो जाने पर प्रायश्चित का विधान है। श्रावक या श्राविका विनयपूर्वक दिगम्बर जैनाचार्य के पास में जाकर एकांत में बैठकर उनके निकट में दोषों के अनुसार शास्त्रविहित प्रायश्चित देकर उसको दोषों से मुक्त कर देते हैं।

परमसमाधि—परमभक्ति—वचन उच्चारण की क्रिया को छोड़कर वीतराग भाव से जो साधु आत्मा को ध्याता है उसके परम समाधि होती है। जो साधु संयम, नियम और तप से तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान से आत्मा को ध्याता है उसी साधु के परमसमाधि होती है।

यहां मूल गाथा में यद्यपि साधु शब्द नहीं है फिर भी वचनोच्चारण क्रियारहित वीतरागभाव और संयम तथा शुक्लध्यान साधु के ही हो सकते हैं, गृहस्थ के नहीं। तथा आगे गाथा में श्रमण शब्द भी दे रहे हैं—

जिस श्रमण के समता भाव नहीं है उसके लिए वनवास—वन में रहना, कायक्लेश करना, नाना प्रकार के उपवास करना, ग्रन्थों का अध्ययन करना और मौन से रहना आदि क्या करते हैं ? वीतराग भावरहित साधु के ये वनवास आदि मोक्ष को प्राप्त नहीं करा सकते हैं।

आगे कहते हैं यह समताभावरूप सामायिक किनके होता है ?

जो सर्व सावद्य से विरत हैं, तीन गुप्ति से सहित हैं, इंद्रियों के व्यापार को समाप्त कर दिया है, उन्हीं के सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है। जो त्रस और स्थावर सभी जीवों के प्रति समभाव रखते हैं उन्हीं के सामायिक स्थायी है, ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा गया है। जिनकी आत्मा संयम, नियम और तप में सन्निहित है उनके सामायिक स्थायी है ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है। जिनके हृदय में राग या द्वेष विकृति को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं उनके ही सामायिक स्थाई होता है ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है। जो मुनि नियम से आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़ देते हैं उनके

ही सामायिक स्थाई है ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है।

जो मुनि नियम से पुण्य और पाप इन दोनों भावों को छोड़ देते हैं अर्थात इन भावों से ऊपर उठकर शुद्धोपयोग में पहुंच चुके हैं, उन्हीं के स्थायी सामायिक है ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है। जो मुनि हास्य, रति, शोक और अरति को नियम से छोड़ देते हैं उन्हीं के स्थाई सामायिक होता है ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा गया है। उसी प्रकार से जो मुनि जुगुप्सा, भय और वेद (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) नियम से इन सभी को छोड़ देते हैं अर्थात् अपने उपयोग में इन्हें नहीं आने देते हैं उन्ही के स्थाई सामायिक होता है।

पुनः करते क्या हैं ? सो ही बताते हैं कि—

जो मुनि नियम से धर्मध्यान और शुक्लध्यान को ध्याते हैं उन्हीं के सामायिक स्थायी है ऐसा केवली भगवान के शासन में कहा है।

यहां पर जो सामायिक का वर्णन किया है उस सामायिक को ही परम साम्यभाव, उपेक्षा संयम वीतराग चारित्र, निर्विकल्प समाधि और परमसमाधि कहते हैं। यह परमसमाधि उत्तम संहननधारी महामुनियों के ही होती है जो कि प्रायः तीन गुप्ति से परिणत होने में समर्थ हैं।

हां, इस युग में जो मुनि हैं वे पापभाव और आर्त, रौद्र ध्यानरूप अशुभोपयोग से तो अपने को बचा सकते हैं किन्तु पुण्यभाव और धर्मध्यान को नहीं छोड़ सकते हैं क्योंकि आज शुक्लध्यान हो नहीं सकता है और शुक्लध्यान के बिना पुण्यास्रव का निरोध संभव नहीं है अतः यह परमसमाधि वीतराग अवस्था में ही संभव है। जो कि सप्तम गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाती है।

आगे आचार्य परमभक्ति का वर्णन करते हैं—

जो श्रावक या श्रमण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में भक्ति करता है उसी के निवृत्ति भक्ति (निर्वाण भक्ति) होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। यहां पर एक महत्त्वपूर्ण बात यह समझने की है कि इस नियमसार में प्रारम्भ से लेकर १३१ गाथा तक कहीं पर भी 'श्रावक' शब्द का प्रयोग नहीं आया है किन्तु इसी गाथा में 'सावगो समणो' ऐसा शब्द आया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व की सारी क्रियायें मुनि से ही संबंधित हैं तथा टीकाकार ने भी 'परमश्रावकाणां परमतपोधनानां' आदि पदों से श्रावक और मुनि दोनों के लिए है[१], ऐसा कहा है।

पुनः आगे श्री कुंदकुंददेव कहते हैं—

जो जीव मोक्ष को प्राप्त हुए पुरुषों के गुण भेदों को जानकर उनकी भी भक्ति करता है वह जीव व्यवहारनय से निर्वाण भक्ति करने वाला है। जो जीव मोक्षमार्ग में सम्यक् प्रकार से अपनी आत्मा को स्थापित करके निर्वाण की भक्ति करता है, उस भक्ति के प्रसाद से जीव असहाय गुण वाले निज आत्मा को प्राप्त कर लेता है।

जो साधु रागादि के परिहार में आत्मा को लगाता है। वह योग की भक्ति करने से योगभक्तियुक्त है। इससे अतिरिक्त दूसरे को योग कैसे हो सकता है ? जो साधु सर्व विकल्पों के अभाव में आत्मा को लगाता है वह योगभक्ति वाला है। इसके अतिरिक्त दूसरे को योग कैसे हो सकता है ? विपरीत अभिनिवेश को छोड़कर जो जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्त्वों में अपनी आत्मा को लगाता है उस आत्मा का वह निजभाव ही योग कहलाता है। वृषभ, अजित आदि जिनवरेन्द्र तीर्थंकर भी इसी प्रकार से योग की उत्तम भक्ति करके निर्वाण सुख को

१. सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो। तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदित्ति जिणेंहि पण्णत्तं।।१३४।। नियमसार।

प्राप्त हुए हैं। इसलिए हे मुने! योग की उत्तम भक्ति को धारण करो।

इस प्रकार की परमनिर्वाण भक्ति और परम योगभक्ति कब और किनके होतीहै सो ही टीकाकार दिखाते हैं—

रागद्वेषपरंपरापरिणतं चेतो विहायाधुना,
शुद्धध्यान समाहितेन मनसानंदात्मतत्त्वस्थितः।
धर्मं निर्मलशर्मकारिणमहं लब्ध्वा गुरोः सन्निधौ,
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि।।२३४।।

गुरु के सान्निध्य में निर्मल सुखकारी धर्म को प्राप्त करके, ज्ञान के द्वारा जिसने समस्त मोह की महिमा को समाप्त कर दिया है, ऐसा मैं, अब रागद्वेष की संतति से परिणत हुए चित्त को छोड़कर शुद्ध ध्यान के द्वारा एकाग्र हुए मन से आनंदस्वरूप तत्त्व में स्थित होता हुआ परमब्रह्मस्वरूप निज परमात्मा में लीन होता हूँ।

इस प्रकार से ये उपर्युक्त भक्तियां महामुनियों के शुद्धोपयोगरूप ध्यान में ही घटित होती हैं। वास्तव में बात यह है कि मूलाचार, आचारसार आदि ग्रन्थों में मुनियों के लिए नित्य नैमित्तिक क्रियाओं में भक्तियों के करने का आदेश है, उसमें दैवसिक-रात्रिक प्रतिक्रमण में सिद्ध, प्रतिक्रमण, वीर और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति ऐसी चार भक्तियों का विधान है। देववंदना में चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्तिरूप से दो भक्ति का विधान है। ऐसे ही नैमित्तिक क्रियाओं में 'वीर निर्वाण' के समय सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति को करते हुए निर्वाणक्षेत्र या जिनप्रतिमा की प्रदक्षिणा का विधान है। ऐसे ही ध्यान में लीन हुए या आतापन आदि योग में प्रवीण हुए योगियों की वंदना करते समय योगभक्ति करने का विधान है। ये सब भक्ति पाठ आदि क्रियायें व्यवहार चारित्र के अन्तर्गत हैं।

इन व्यवहार क्रियाओं में कुशल हुए बगैर कोई भी मुनि निश्चय क्रिया को प्राप्त भी नहीं कर सकते हैं इसलिए आज के युग में मुनि और आर्यिकायें इन आवश्यक क्रियाओं में ही अपना समय यापन करते रहते हैं क्योंकि आज इस निर्विकल्प ध्यान में स्थिर होना और निश्चयरूप निर्वाणभक्ति तथा योगभक्ति को प्राप्त कर सकना बहुत ही कठिन है। हां, इतना अवश्य है कि जो साधु इन व्यवहार क्रियाओं को करते हुए अप्रमादी रहते हैं और निश्चय क्रिया को प्राप्त करने की भावना भाते रहते हैं वे ही सच्चे साधु हैं क्योंकि यदि आगम में कथित नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं में से एक भी क्रिया समय पर नहीं होती है तो आगम में प्रायश्चित का विधान किया गया है, इसलिए जब तक निश्चय क्रियारूप निर्विकल्प समाधि और परम भक्ति को न प्राप्त कर लें तब तक व्यवहार क्रियाओं में सावधान रहते हुए आगम के अनुसार उनको यथासमय करते ही रहना चाहिए।

निश्चय परमावश्यक—जो मुनि अन्य के वश में नहीं है वह अवश है और उस अवश का कर्म आवश्यक कहलाता है अर्थात् जो मुनि विषय और कषायों के वश में नहीं है वह अवश है, उसकी क्रिया का नाम आवश्यक है क्योंकि कर्म को नष्ट करने वाला जो योग — ध्यान है वह मोक्ष का मार्ग है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

पुनः कहते हैं—

'णवसो अवसो' जो वश नहीं है वह अवश है और अवश का कर्म-क्रिया है वह आवश्यक है। वह युक्ति है, अवयव रहित अर्थात् शरीर रहित होने का उपाय है ऐसा निर्युक्ति अर्थ है।

जो श्रमण अशुभभाव से वर्तन करता है वह अन्य के वश में हुआ कहलाता है इसलिए उसकी क्रिया आवश्यक लक्षणरूप नहीं है। जो संयत शुभ भाव में आचरण करता है, वह भी अन्य के वश में हुआ

कहलाता है इसलिए उसकी क्रिया भी आवश्यक लक्षण वाली नहीं है। जो मुनि द्रव्य—गुण और पर्यायों में मन को लगाता है वह भी अन्यवश है। मोहान्धकार से रहित श्रमण अर्थात् सर्वज्ञ या गणधर देव ऐसा कहते हैं।

तो पुनः आत्मवश कौन होता है ?

जो मुनि परभाव को छोड़कर निर्मल स्वभाव आत्मा का ध्यान करते हैं वे आत्मवश होते हैं और उनकी क्रिया ही आवश्यक कही जाती है।

अब यहां पर समझने की बात यह है कि श्री कुंदकुंददेव के अनुसार पहले तो अशुभ क्रिया से परिणत हुए साधु अन्यवश हैं तो वहां अर्थापत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे साधु शुभ में प्रवृत्ति कर रहे हैं। वास्तव में ये साधु सरागचर्या वाले हैं पुनः वीतरागचर्या में शुभ भावों में प्रवृत्ति करना भी अन्यवश होना है अतः शुभ-अशुभ से रहित शुद्धोपयोगी मुनि ही अन्यवश हैं ऐसा कहा है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि श्रावक को तो यहां पर अधिकार ही नहीं है।

आगे कहते हैं—

यदि तुम आवश्यक की इच्छा करते हो तो आत्मस्वभाव में स्थिरता को प्राप्त होवो क्योंकि इस आवश्यक से ही जीव के श्रामण्य गुणों की पूर्णता होती है। जो श्रमण आवश्यक क्रिया से हीन—रहित है वह चारित्र से भ्रष्ट है, इसलिए पूर्वोक्त क्रम से तुम्हें आवश्यक क्रिया करनी चाहिए। यहां पर टीकाकार कहते हैं—'अत्र व्यवहारनयेनापि समतास्तुतिवंदनाप्रत्याख्यानादिषडावश्यकपरिहीणः श्रमणश्चारित्रपरिभ्रष्ट इति यावत्' यहां व्यवहारनय से भी समता, स्तुति, वंदना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग इन छः आवश्यक क्रिया से रहित है वह श्रमण चारित्र से भ्रष्ट है।

जो आवश्यक क्रिया से युक्त है वह श्रमण अंतरात्मा है और जो आवश्यक क्रिया से हीन है वह श्रमण बहिरात्मा है। यहां पर टीकाकार बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीणमोह मुनि को उत्तम अंतरात्मा, असंयत सम्यग्दृष्टि को जघन्य अंतरात्मा और पांचवे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती तक को मध्यम अंतरात्मा कहते हैं। यहां पर छठे गुणस्थान से लेकर ऊपर तक को अंतरात्मा मानने से व्यवहारनय की आवश्यक क्रिया में छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती आते हैं, निश्चयनय की आवश्यक क्रिया में आठवें से बारहवें गुणस्थान तक जीव अंतरात्मा हैं।

पुनः आचार्यदेव कहते हैं—जो मुनि अंतर्जल्प और बाह्यजल्प में वर्तन करते हैं वे बहिरात्मा हैं और जो इन उभय जल्प में प्रवर्तमान नहीं हैं वे अंतरात्मा हैं। जो धर्म या शुक्लध्यान से परिणत हो रहे हैं वे अंतरात्मा हैं और जो इन ध्यान से रहित हैं वे श्रमण बहिरात्मा हैं ऐसा समझो।

यहां पर भी अन्तर्बाह्य जल्प के अभाव वाले निर्विकल्प ध्यान में स्थित महामुनि ही अन्तरात्मा हैं किन्तु शुभ जल्प में भी वर्तन करने वाले बहिरात्मा हैं अथवा शुभ अन्तर्बाह्य जल्प में वर्तन करने वाले छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती भी अन्तरात्मा हैं किन्तु अशुभ अन्तर्बाह्य जल्प में वर्तन करते समय मुनि बहिरात्म अवस्था में माने जाते हैं। यहां सर्वथा मिथ्यात्व की विवक्षा से ही बहिरात्मा नहीं कहा है। वैसे ही धर्मध्यानी मुनि छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती हैं इससे ऊपर मुनि शुक्लध्यानी हैं।

प्रतिक्रमण आदि क्रिया को करते हुए मुनि के निश्चयनय का चारित्र होता है इसलिए श्रमण विराग चारित्र में अपने आपको स्थित करते हैं।

पुनः आचार्य कहते हैं—

वचनरूप प्रतिक्रमण, वचनरूप प्रत्याख्यान, वचनरूप नियम—क्रियायें और वचनरूप आलोचना ये सब स्वाध्यायरूप हैं, ऐसा समझो। यहां पर सूत्ररूप प्रतिक्रमण पाठ का उच्चारण आदि जितनी भी वाचनिक क्रियायें हैं वे सब श्री कुन्दकुन्द देव के शब्दों में स्वाध्यायरूप ही हैं।

जिनमें आवश्यक क्रिया को करने की क्षमता नहीं है उनके लिए श्रीकुन्दकुन्द देव कहते हैं—

'हे मुने! यदि करना शक्य है तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि करो, यदि शक्ति नहीं है तो श्रद्धान ही करना चाहिए।'[१]

टीकाकार कहते हैं—'संहननशक्तिप्रादुर्भावे सति हंहो मुनिशार्दूल!.....शक्तिहीनो यदि दग्धकालेऽकाले केवलं त्वया निजपरमात्मतत्त्वश्रद्धानमेव कर्तव्यमिति। संहननशक्ति अर्थात् उत्तम संहनन की शक्ति के अभाव में हे मुनिसिंह! यदि तुम इस दग्धकालरूप अकाल में पंचमकाल में शक्तिहीन हो तो तुम्हें केवलमात्र निज परमात्म तत्त्व का श्रद्धान ही करना चाहिए।

इसीपर कलशकाव्य देखिए—

असारे संसारे कलिविलसिते पापबहुले।
न मुक्तिर्मार्गेऽस्मिन्ननघजिननाथस्य भवति।।
अतोऽध्यात्मं ध्यानं कथमिह भवेन्निर्मलधियां।
निजात्मश्रद्धानं भवभयहरं स्वीकृतमिदम्।।२६४।।

इस असार संसार में पाप से भरपूर ऐसे कलिकाल का विलास होने पर, निर्दोष श्रीजिनदेव के शासन में मुक्ति नहीं होती है अतः इस काल में अध्यात्मध्यान कैसे हो सकता है ? अतः नहीं हो सकता है इसलिए निर्मल बुद्धि वाले साधुओं को भव भय को नाश कराने वाला ऐसा निज आत्मा का श्रद्धान ही स्वीकार करते हैं।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में उत्तम संहनन के अभाव में शुद्ध निज आत्मा का ध्यान संभव नहीं है। हां, पंचपरमेष्ठी के अवलंबनरूप पिंडस्थ, पदस्थ आदि ध्यान का अभ्यास अवश्य संभव है अतः जो आत्मा के ध्यान की चर्चा करते हैं वे जिनशासन की आज्ञा से बहिर्भूत होने से केवल अपनी आत्मा की वंचना ही कर लेते हैं।

पुनः आगे आचार्य महोदय कहते हैं—

जिनदेव कथित परमसूत्र में प्रतिक्रमण आदि की स्पष्टतया परीक्षा करके—समझ करके योगी को मौनव्रत सहित होकर नित्य ही निजकार्य की साधना करनी चाहिए।

नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं और नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, ऐसा समझकर बुद्धिमानों को स्वसमय-परसमय के साथ वचन विवाद नहीं करना चाहिए अर्थात् वीतरागी बनना चाहिए।

अध्यात्म योगी का कर्त्तव्य है—

जैसे कोई एक दरिद्र मनुष्य निधि को पाकर गुप्त स्थान में रहकर उसके फल को भोगता है, उसी प्रकार से ज्ञानी मुनि परजनों के समूह को छोड़कर अपनी ज्ञाननिधि का अनुभव करते हैं।

अब इस परमावश्यक अधिकार का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

सभी पुराण पुरुष—तीर्थंकर आदि महापुरुष इसी प्रकार से आवश्यकों का पालन कर अप्रमत्त,

---

१. जदि सक्कदि कादुं जे पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं। सत्तिविहीणो जा जइ सद्दहणं चेव कादव्वं।।१५४।।

अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली अवस्था को प्राप्त हुए हैं।

यहाँ पर तात्पर्य यही है कि सभी तीर्थंकर, गणधर आदि महापुरुष व्यवहार आवश्यक क्रियाओं के बल से ही निश्चय आवश्यक क्रिया को प्राप्त करते हैं क्योंकि ये निश्चय क्रियायें पूर्णतया निर्विकल्प ध्यानरूप ही होती हैं। पुनः वे महामुनि छठे-सातवें गुणस्थान से ऊपर उठकर आठवें, नवमें, दशवें गुणस्थान तक पहुँचकर मोहनीय कर्म का सर्वथा—जड़मूल से विनाश कर बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का भी सर्वनाश करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर केवली अर्हंत हो जाते हैं।

अतः आज के युग में मुनि-आर्यिकाओं को व्यवहार क्रिया को निरतिचार करते रहना चाहिए और निश्चयध्यान की शक्ति के होने से निज आत्मा के ध्यान का श्रद्धान करते रहना चाहिए तथा श्रावकों को तो मुनिपद की भावना करते हुए सर्वथा दान, पूजन आदि क्रियाओं में ही अपना उपयोग लगाना चाहिए। यही क्रम एक दिन निर्वाण को प्राप्त कराने वाला है।

मार्ग का फल—श्री कुन्दकुन्ददेव ने इस नियमसार में मार्ग और मार्ग का फल इन दो बातों को कहने की प्रतिज्ञा की थी सो उसमें प्रथम और द्वितीय अधिकार में मार्ग के अन्तर्गत सम्यग्दर्शन का वर्णन किया है, पुनः तृतीय अधिकार में सम्यग्ज्ञान का वर्णन है। चतुर्थ अधिकार में मुनियों के सकल चारित्र का वर्णन है क्योंकि यहां मार्गस्वरूप रत्नत्रय में सकल चारित्र की ही अपेक्षा थी। आगे पंचम अधिकार से लेकर ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आदि रूप से निश्चय रत्नत्रय का वर्णन किया है। अब बारहवें अधिकार में उस व्यवहार निश्चय रत्नत्रय के फलस्वरूप जो अर्हन्त और सिद्ध हैं उनका वर्णन है—

व्यवहारनय से केवली भगवान सर्व को जानते हैं और देखते हैं और निश्चयनय से केवली भगवान अपनी आत्मा को ही जानते देखते हैं। केवली भगवान के ज्ञान और दर्शन एक साथ वैसे ही होते हैं जैसे कि सूर्य का प्रकाश और प्रताप एक साथ होता है ऐसा समझना चाहिए।

ज्ञान परप्रकाशक है और दर्शन आत्मा का प्रकाशक है तथा आत्मा स्वपर प्रकाशक है यदि कोई ऐसा मानता है तो क्या दूषण आता है सो ही अगली गाथा में दिखाते हैं—

यदि ज्ञान परप्रकाशक है तो ज्ञान से दर्शन भिन्न ही रहा क्योंकि वह दर्शन परद्रव्यों का प्रकाशक नहीं है ऐसा आप कह रहे हैं।

और यदि आत्मा परप्रकाशक है तो आत्मा से दर्शन भिन्न रहा क्योंकि इस स्थिति में तो वह दर्शन परद्रव्यों का प्रकाशक नहीं है ऐसा आप कह रहे हैं।

आचार्य दूषण दिखलाकर अब अपना अभिप्राय प्रगट कर रहे हैं—

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है इसलिए दर्शन भी परप्रकाशक है। उसी तरह व्यवहारनय से आत्मा परप्रकाशक है, वैसे ही दर्शन भी परप्रकाशक है। इसी तरह निश्चयनय की अपेक्षा ज्ञान अपनी आत्मा का प्रकाशक है इसलिए दर्शन भी आत्मा का प्रकाशक है। ऐसे ही निश्चयनय से आत्मा भी अपनी आत्मा का प्रकाशक है।

यहां तक दर्शन के बारे में शंका-समाधान हुआ है। अब आगे केवली भगवान के बारे में शंका होती है—

केवली भगवान् केवल अपनी आत्मा के स्वरूप को ही देखते हैं, लोक-अलोक को नहीं देखते हैं। यदि कोई ऐसा कहते हैं तो उनके लिए क्या दूषण आता है ? सो ही आगे बताते हैं—

मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन द्रव्यों को, अपने को और अन्य समस्त वस्तु को देखने वाले का ज्ञान

प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय होता है। ऐसे नाना गुण, पर्यायों से युक्त पूर्वोक्त संपूर्ण द्रव्यों को जो सम्यक् प्रकार से नहीं देखता है उसका दर्शन परोक्ष दर्शन ही कहलाता है।

पुनः प्रश्न उठता है—

केवली भगवान् लोकालोक को जानते हैं किन्तु अपनी आत्मा को नहीं जानते हैं। यदि कोई ऐसा कहता है तो उसके लिए क्या दूषण आता है ? अगली गाथा में समाधान करते हैं—

ज्ञान आत्मा का स्वरूप है इसलिए आत्मा अपनी आत्मा को जानता है। यदि आत्मा अपनी आत्मा को नहीं जानेगा तो वह अपनी आत्मा से ही व्यतिरिक्त—भिन्न हो जायेगा इसलिए आत्मा को ही ज्ञान समझो और ज्ञान को ही आत्मा समझो इसमें संदेह मत करो। इस कारण जैसे ज्ञान स्वपर प्रकाशक है वैसे ही दर्शन भी स्वपर प्रकाशक होता है।

अब आचार्यदेव कहते हैं कि—

केवली भगवान का जानना और देखना ईहापूर्वक (इच्छापूर्वक) नहीं होता है। यही कारण है कि उन केवली भगवान् के कर्मों का बंध नहीं होता है।

ऐसा क्यों ? सो ही समाधान करते हैं—

परिणामपूर्वक (मन के अभिप्रायपूर्वक) वचन जीव के लिए बंध के कारण होते हैं और केवली भगवान् के वचन परिणामपूर्वक नहीं होते हैं इसलिए उनके कर्मों का बंध नहीं होता है। ईहापूर्वक (इच्छापूर्वक) वचन जीव के बंध के लिए कारण होते हैं और केवली भगवान् के वचन इच्छारहित हैं इसलिए उनके कर्मों का बंध नहीं होता है।

तब यह प्रश्न हो जाता है कि बिना इच्छा के केवली भगवान विहार, उपदेश वगैरह कैसे करते हैं ? इसी पर आचार्य उत्तर दे रहे हैं—

खड़े होना, बैठना और विहार करना, ये सब क्रियायें केवली भगवान की इच्छापूर्वक नहीं होती है, इसीलिए उनके कर्मों का बंध नहीं होता है। बंध तो मोहनीय कर्म के वश हुए और इंद्रिय विषयों में प्रवृत्ति करने वाले जीवों के ही होता है।

यहां तक ज्ञान-दर्शन आत्मा के गुण हैं आत्मा से पृथक् नहीं हैं, इसका वर्णन करके आचार्यश्री ने केवली भगवान् के केवलज्ञान-केवलदर्शन गुण का वर्णन किया है और यह भी बतलाया है कि मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अंतराय इन चार घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से केवली भगवान यद्यपि समवशरण में बैठते हैं, विहार करते हैं, खड़े होते हैं, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है फिर भी मोहनीय के अभाव में उनकी कोई भी क्रिया इच्छापूर्वक नहीं है, नैसर्गिक ही होती है अतः उनके कर्मों का बंध नहीं होता है।

पुनः आयु कर्म के क्षय हो जाने से शेष प्रकृतियों का भी संपूर्ण नाश हो जाता है, पश्चात् वे केवली भगवान् शीघ्र ही एक समय मात्र में लोक के अग्रभाग पर पहुंच जाते हैं। तब वे सिद्ध परमात्मा कहलाते हैं। वे परमात्मा जन्म-जरा-मरण से रहित, परम, आठों कर्मों से वर्जित, शुद्ध अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत सुख और अनंतवीर्य इन चार स्वाभाविक गुणों से सहित, अक्षय, अविनाशी और अच्छेद्य—भेदन रहित हो जाते हैं। अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य-पाप से निर्मुक्त, पुनरागमन से रहित, नित्य, अचल और अवलंबन रहित हो जाते हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव सिद्ध परमात्मा का स्वरूप बताकर अब निर्वाण का स्वरूप बतलाते हैं—

जहां पर न दुःख है, न सुख (इन्द्रियजन्य) है, न पीड़ा है, न बाधा है, न मरण है और न जन्म ही है वहीं पर निर्वाण है। जहाँ पर न इन्द्रियां हैं, न उपसर्ग हैं, न मोह है, न आश्चर्य है, न निद्रा है, न तृषा है और न क्षुधा ही है वहीं पर निर्वाण होता है। जहां पर न कर्म हैं न नोकर्म—शरीर आदि हैं, न चिंता है न आर्त-रौद्रध्यान है और न धर्म-शुक्लध्यान ही है वहीं पर निर्वाण होता है अर्थात् धर्म-शुक्लध्यान भी तो कर्म निर्जरा के लिए कारण है और जब पूर्णतया निर्जरा होकर मोक्ष हो चुका है तब इन ध्यानों की भी सिद्ध अवस्था में कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

पुनः प्रश्न होता है कि जब दुःख-सुख आदि नहीं हैं तब फिर वहां पर है क्या ? सो ही आचार्य बताते हैं—

वहां पर केवलज्ञान है, केवलदर्शन है, केवलसुख है और केवलवीर्य है। अमूर्तत्त्व, अस्तित्त्व और सप्रदेशत्त्व गुण भी विद्यमान है।

पुनरपि आचार्य निर्वाण और सिद्ध में अभेद सिद्ध कर रहे हैं—

निर्वाण ही सिद्ध भगवान हैं और सिद्ध भगवान ही निर्वाण हैं, ऐसा आगम में कहा गया है क्योंकि कर्मों से विनिर्मुक्त आत्मा लोक के अग्रभाग पर्यन्त चला जाता है, तभी उसे निर्वाण हुआ कहते हैं।

यहाँ प्रश्न यह भी हो सकता है कि यह आत्मा कर्मों से मुक्त होने के बाद लोक के ऊपर अलोकाकाश में क्यों नहीं चला जाता है ? इसी के उत्तर में आचार्यदेव कहते हैं—

'जीवों और पुद्गलों का गमन वहां तक जानो कि जहां तक धर्मास्तिकाय पाया जाता है। आगे अलोकाकाश में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से ये जीव और पुद्गल इस लोकाकाश के परे नहीं जा सकते हैं।'[१]

आजकल कुछ लोगों का कहना है कि सिद्ध भगवान में आगे जाने की योग्यता नहीं है इसलिए वे लोकाग्र से परे नहीं जा पाते हैं। उन्हें इन कुंदकुंददेव के वचनों पर लक्ष्य देना चाहिए कि[२] धर्मास्तिकाय के अभाव में वे उसके परे नहीं जा सकते हैं। यदि योग्यता के अभाव की बात होती तो श्री कुंदकुंददेव भी यह कह सकते थे कि 'योग्यताया अभावात् तस्मात् परतो न गच्छंति' किन्तु ऐसा कथन आगम में कहीं पर भी नहीं आया है अतः धर्मास्तिकाय ऐसा निमित्त है कि जिसके बिना किसी भी जीव और पुद्गल का गमन नहीं हो सकता है। इस निमित्त को मानने से सिद्धों को सर्वशक्तिमान कैसे माना जाए ? यह कोई आपत्तिजनक बात भी नहीं प्रतीत होती है।

आगे आचार्य अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

नियम और नियम के फल का जो हमने कथन किया है वह केवल प्रवचन की भक्ति से ही किया है। इसमें यदि कहीं पर कुछ पूर्वापर विरोध होवे तो आगम के ज्ञाता पुरुष उसे दूर कर इसे पूरा कर दें।

अभिप्राय यह है कि नियम का अर्थ प्रारम्भ में ही तीसरी गाथा में किया था कि 'ज्ञान, दर्शन और चारित्र' का नाम नियम है तथा उसके फल को निर्वाण कहा है। सो इस ग्रंथ में आचार्य महोदय ने जिनागम की भक्ति के निमित्त से इन दोनों का वर्णन किया है। जो यहां पर कहना है कि यदि पूर्वापर विरोध हो तो उसे दूर कर पूरा कर दो, सो 'समयण्हा' अर्थात् आगम के पूर्ण ज्ञाता श्रुतकेवली जैसों के लिए है न कि हम और आप जैसे साधारण अल्पज्ञानी मनुष्यों के लिए क्योंकि उन श्रीकुंदकुंददेव की अपेक्षा आज के युग के किसी भी साधु का ज्ञान अधिक तो कहा ही नहीं जा सकता है बल्कि आज के युग में कोई भी महापुरुष उनके चरण की धूलि भी नहीं हो सकते हैं पुनः आज के किसी व्यक्ति को श्री कुंदकुंददेव के आगम को संशोधित करने का अधिकार नहीं है। यदि कोई करते भी हैं तो यह उनका अतिसाहस ही है।

---

१. जीवाणं पुग्गलाणं गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थी। धम्मत्थिकायाभावे तत्तो परदो ण गच्छंति।।१८४।।

आगे आचार्य कहते हैं—

यद्यपि यह जैनमार्ग सर्वथा हितकर ही है तो भी ईर्ष्याभाव से कोई लोग इस सुन्दर मार्ग—जैनशासन की निंदा करते रहते हैं, उनके वचनों को सुनकर हे भव्यजीवों! तुम लोग इस जैनधर्म में अभक्ति—अरुचि मत करो।

पुनः अंत में कहते हैं—

मैंने जो यह 'नियमसार' नाम का शास्त्र बनाया है सो केवल अपनी स्वात्म भावना के लिए ही बनाया है। सो मैंने पूर्वापर दोष से रहित ऐसे जिनेन्द्रदेव के उपदेश को प्राप्त कर बनाया है अर्थात् इस ग्रन्थ में मैंने अपने मन से कुछ नहीं लिखा है। हमें जिनेन्द्रदेव के उपदेश के अनुसार आगम में जो भी उपलब्ध हुआ है उसी के अनुसार ही मैंने यह ग्रन्थ बनाया है।

नियमसार का सार—'इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय क्या है ?'

'मार्ग और मार्ग का फल।'

'मार्ग क्या है ? और मार्ग का फल क्या है ?'

'मोक्ष का उपाय और निर्वाण।'

'मोक्ष का उपाय क्या है ?'

'णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।'

नियम से जो करने योग्य है वह नियम है, वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र है।

उसमें विपरीत—मिथ्यात्व का परिहार करने के लिए 'सार' शब्द लगाया है।

'विपरीत का अर्थ आपने मिथ्यात्व कैसे किया क्योंकि इसमें तो निर्विकल्प रूप निश्चयरत्नत्रय का वर्णन है अतः विपरीत का अर्थ विकल्प अर्थात् भेद रत्नत्रय करना चाहिए ?'

'यहीं पर अर्थ का अनर्थ हो रहा है। यदि विपरीत से भगवान कुन्दकुन्द देव का भेद रत्नत्रय का परिहार करना इष्ट होता तो वे स्वयं चार अधिकार तक इस व्यवहार रत्नत्रय का प्रतिपादन क्यों करते ? देखिए! चतुर्थ गाथा में वे ही कहते हैं कि एदेसिं तिण्हं पिय पत्तेयपरूवणा होइ।' इन तीनों में भी प्रत्येक की प्ररूपणा करते हैं।

पुनः सम्यक्त्व का लक्षण करते हुए कहते हैं—

'आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है। पुनः आप्त, आगम और तत्त्वों का लक्षण स्वयं बताते हैं। पहले अधिकार में गाथा १६ तक जीव तत्त्व का वर्णन है।'

द्वितीय अध्याय में गाथा ३७ तक पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनका वर्णन करते हैं। यहां तक व्यवहार सम्यक्त्व के लिए श्रद्धान के विषयभूत छह द्रव्यों का वर्णन हो चुका है। आगे शुद्ध जीवतत्त्व का वर्णन करके नय विवक्षा खोलते हैं।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।।४७।।
असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।४८।।
एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।।४९।।

जैसे सिद्धात्मा हैं वैसे ही भव में रहने वाले संसारी जीव हैं और इसी कारण से वे जरा, मरण, जन्म से

रहित हैं और आठ गुणों से अलंकृत हैं।

जिस प्रकार से अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल, विशुद्धात्मा सिद्धलोक के अग्रभाग पर स्थित हैं, वैसे ही जीव संसार में है ऐसा जानना।

पुनः तत्क्षण ही नय विवक्षा को स्पष्ट कर देते हैं। पूर्वोक्त सभी भाव (स्थिति, अनुभाग, बंध, स्थान आदि) व्यवहारनय का आश्रय करके कहे गए हैं।

किन्तु शुद्धनय से संसार में सभी जीव सिद्ध स्वभाव वाले हैं। यहां पर आचार्यदेव का अभिप्राय व्यवहारनय से असत्य का नहीं है अन्यथा वे व्यवहार, निश्चय, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा आत्मा को शुद्ध, सिद्ध बनाने का उपाय क्यों प्रदर्शित करते। वे कह सकते थे कि 'वास्तव में मार्ग का फल निर्वाण है और मार्ग—जो मोक्ष का उपाय है वह असत्य है।' क्योंकि मोक्ष का उपाय तो व्यवहारनय के आश्रित ही है किन्तु ऐसा न कहकर व्यवहार का उपदेश दिया है। आगे पुनः चतुर्थ अधिकार में पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति का कथन किया है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने महाव्रत और समिति में निश्चयनय को न घटाकर गुप्ति में अवश्य घटाया है, पुनः पंचपरमेष्ठी का लक्षण बताकर अन्तिम गाथा में कहते हैं—

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।७६।।

इस पूर्वोक्त भावना में (गाथा ७५ तक की भावना में) व्यवहारनय के अभिप्राय से चारित्र होता है, अब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूँगा।

इसके आगे पांचवे अधिकार से लेकर ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त, परमसमाधि, परमभक्ति और निश्चय परम आवश्यक इन सातों का वर्णन किया है जो ध्यान के आश्रित ही है।

आगे ग्यारहवें अधिकार के अन्त में कहते हैं—

सव्वे पुराणपुरिसा, एवं आवासयं य काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं, पडिवज्ज य केवली जादा।।१५८।।

सभी पुराण पुरुष इसी प्रकार से आवश्यक क्रियाओं को करके अप्रमत्त आदि (अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-करण आदि) गुणस्थानों को प्राप्त करके केवली हो गए हैं।

इसके आगे अन्तिम बारहवें अधिकार में केवली भगवान का वर्णन करके अंत में निर्वाण को प्राप्त सिद्धों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार से आचार्य महोदय ने अपने कहे अनुसार ग्यारह अधिकार में मार्ग और बारहवें अधिकार में मार्ग के फल को कहा है। उस मार्ग के व्यवहार-निश्चय दो भेद करके चार अधिकार तक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को कहकर पुनः आगे ग्यारहवें तक निश्चय मोक्षमार्ग को कहा है। इस तरह से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय के लिए साधन है। निश्चय रत्नत्रय साध्य भी है और मोक्ष के लिए साधन भी है। इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रंथ मुनियों के चारित्र का ही वर्णन करता है। इसमें श्रावकों के चारित्र का कोई लेश नहीं है। इन्हीं कुन्दकुन्द आचार्य ने चारित्रपाहुड़ में तथा रयणसार में पृथक् से श्रावकों के सम्यक्त्व और चारित्र का वर्णन किया है, सो उन ग्रन्थों का भी स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए।

९. अष्टसहस्री सार

(प्रथम परिच्छेद का सार)

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः।।

श्री विद्यानंद स्वामी का यह कहना है कि एक अष्टसहस्री को ही सुनना चाहिए। अन्य हजारों ग्रन्थों को सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि इस एक अष्टसहस्री ग्रंथ के द्वारा ही स्वसमय और परसमय का स्वरूप जान लिया जाता है।

महान् आचार्य श्री उमास्वामी जी ने महान् ग्रंथराज तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ की रचना के प्रारंभ में 'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये' इस मंगल श्लोक को रचा है। श्री समंतभद्र-स्वामी ने इस मंगलाचरण श्लोक का आधार लेकर 'आप्त मीमांसा' नाम से एक स्तोत्र रचा है, जिसका अपरनाम 'देवागमस्तोत्र' भी है। श्री भट्टाकलंक देव ने आप्तमीमांसा स्तुति पर 'अष्टशती' नाम से भाष्य बनाया है जो कि जैन दर्शन का एक अतीव गूढ़ ग्रंथ बन गया है। इसी भाष्य पर आचार्यवर्य श्री विद्यानंद महोदय ने 'अष्टसहस्री' नाम से अलंकार टीका बनाई है, जो कि जैन दर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ कहलाता है। इसमें दश परिच्छेद में १. भाव-अभाव, २. द्वैत-अद्वैत, ३. नित्य-अनित्य, ४. भेद-अभेद, ५. अपेक्षा-अनपेक्षा, ६. हेतु-आगम, ७. अंतरंगार्थ-बहिरंगार्थ, ८. दैव-पुरुषार्थ, ९. पुण्य-पाप, १०. अज्ञान-ज्ञानवाद, इन एक-एक प्रकरणों के एकांतों का पूर्वपक्षपूर्वक निरसन करके सर्वत्र स्याद्वाद प्रक्रिया से वस्तु तत्त्व को समझाया गया है। वास्तव में तत्त्व-अतत्त्व को तत्त्व में समझने के लिए यह न्याय ग्रंथ एक कसौटी का पत्थर है और अधिक तो क्या कहा जाये, स्वामी श्री समंतभद्राचार्यवर्य ने आप्त और अनाप्त की मीमांसा करते हुए आप्त अर्हंतदेव को ही न्याय की कसौटी पर कसकर सत्य आप्त सिद्ध किया है, देखिए—

देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृष्यंते नातस्त्वमसि नो महान्।।१।।

अतिशय गुणों से युक्त भगवान की स्तुति करने के इच्छुक श्री समंतभद्रस्वामी स्वयं अपनी श्रद्धा और गुणज्ञता लक्षण प्रयोजन से ही इस देवागम स्तव में आप्त की मीमांसा करते हुए भगवान से प्रश्नोत्तर करते हुए के समान ही कहते हैं अर्थात् मानो भगवान् यहां प्रश्न कर रहे हैं कि हे समंतभद्र! मुझ में देवों का आगमन, चमर, छत्रादि अनेकों विभूतियाँ हैं फिर भी तुम मुझे नमस्कार क्यों नहीं करते हो ? तब उत्तर में स्वामी जी कहते हैं कि "हे भगवन्! आपके जन्मकल्याणक आदिकों में देव, चक्रवर्ती आदि का आगमन, आकाश में गमन, छत्र, चामर, पुष्पवृष्टि आदि विभूतियाँ देखी जाती हैं किन्तु ये विभूतियाँ तो मायावी जनों में भी हो सकती हैं अतएव आप हमारे लिए महान — पूज्य नहीं हैं।

इस पर भगवान मानो पुनः प्रश्न करते हैं कि हे समंतभद्र! बाह्य विभूतियों से तुमने हमें नमस्कार नहीं किया तो न सही किन्तु मरकरी आदि में असंभवी ऐसे अंतरंग में पसीना आदि का न होना एवं बहिरंग में जो गंधोदकवृष्टि आदि महोदय हैं जो कि दिव्य और सत्य हैं वे मुझ में हैं अतः आप मेरी स्तुति करिये। इस पर श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि अंतरंग और बहिरंग शरीरादि के महोदय भी रागादिमान देवों में पाये जाते हैं

अतः इनसे भी आप महान नहीं हैं अर्थात् देवों के शरीर में भी पसीना, मलमूत्रादि नहीं है उनके यहाँ भी गंधोदक वृष्टि आदि वैभव होते हैं अतः इन महोदय से भी आप हमारे पूज्य नहीं हैं।

मानो पुनः भगवान कहते हैं कि हे समंतभद्र! रागादिमान देवों में भी असंभवी ऐसे तीर्थकृत संप्रदाय को चलाने वाला 'मैं तीर्थंकर हूँ' अतः मैं अवश्य ही तुम्हारे द्वारा स्तुति करने के योग्य हूँ। इस पर श्री समंतभद्र-स्वामी प्रत्युत्तर देते हुए के समान कहते हैं कि हे भगवन्! आगमरूप तीर्थ को करने वाले सभी तीर्थंकरों के आगमों में परस्पर में विरोध पाया जाता है अतः सभी तो आप्त हो नहीं सकते अर्थात् बुद्ध, कपिल, ईश्वर आदि सभी ने अपने-अपने आगमों को रचकर अपना-अपना तीर्थ चलाकर अपने को तीर्थंकर माना है किन्तु सभी के आगम में परस्पर में विरोध होने से सभी सच्चे आप्त नहीं हो सकते हैं इसलिए इन सभी में कोई एक ही परमात्मा — सच्चा आप्त हो सकता है, ऐसा अर्थ ध्वनित कर देते हैं। इस कारिका की अष्टसहस्री टीका में श्री विद्यानंद महोदय ने बहुत ही विस्तार से सभी सम्प्रदायों का परस्पर में विरोध दर्शाया है।

अन्य सम्प्रदायों में वेदों को प्रमाण मानने वाले वैदिक संप्रदायी हैं। उनमें मीमांसक, वैशेषिक, नैयायिक एवं सांख्य वैदिक कहलाते हैं और चार्वाक, बौद्ध आदि वेद को नहीं मानने वाले अवैदिक कहलाते हैं। आजकल कुछ लोग वेद के मानने वालों को आस्तिक एवं नहीं मानने वालों को नास्तिक कहते हैं और उसमें जैन को भी नास्तिक में लिया है क्योंकि जैन भी वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है, जो आत्मा, मोक्ष, परलोक आदि के अस्तित्व को मानते हैं वे आस्तिक एवं आत्मा आदि के अस्तित्व को न मानने वाले नास्तिक कहलाते हैं अतः चार्वाक और शून्यवादी नास्तिक हैं बाकी सभी आस्तिक की कोटि में आ जाते हैं। अस्तु! सभी के सम्प्रदायों के परस्पर विरोध का यहाँ किंचित् दिग्दर्शन कराते हैं।

चार्वाक — पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार जड़ तत्वों को ही मानता है। उसका कहना है कि इन्हीं भूतचतुष्टयों के मिलने से संसार बना है और इन्हीं भूतचतुष्टयों से आत्मा की उत्पत्ति होती है। ये चार्वाक परलोक गमन, पुण्य पाप का फल आदि नहीं मानते हैं। वेदांती एक ब्रह्मरूप ही तत्त्व स्वीकार करते हैं, उनका कहना है कि एक परम ब्रह्म ही तत्व है। संपूर्ण विश्व में जो चेतन-अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं हम और आप सभी उस एक परमब्रह्म की ही पर्यायें हैं। यह चर-अचर जगत् मात्र अविद्या का ही विलास है इत्यादि। बड़े आश्चर्य की बात है कि एक जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति मान रहा है तो दूसरा चैतन्य ब्रह्म से अचेतनों की उत्पत्ति मान रहा है, दोनों में सर्वथा परस्पर विरोध है।

ऐसे ही बौद्ध सभी वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं उनका कहना है कि एक क्षण के बाद सभी वस्तुएँ जड़-मूल से नष्ट हो जाती हैं, जो उनका ठहरना द्वितीय आदि क्षणों में दिख रहा है वह सब कल्पना मात्र है। वासना से ही ऐसा अनुभव आता है। इधर सांख्य कहता है कि सभी वस्तुएँ सर्वथा नित्य ही हैं कोई वस्तु नष्ट नहीं होती है किन्तु तिरोभूत हो जाती है एवं उत्पत्ति भी नहीं है। वस्तु का आविर्भाव ही होता है। मिट्टी से घट बनता नहीं है बल्कि मिट्टी में घट सदा विद्यमान है। कुम्हार के प्रयोग से प्रगट हो गया है इत्यादि। इन दोनों में भी सर्वथा ३६ का आंकड़ा है।

वैशेषिक — एक सदाशिव महेश्वर को मानकर उसे सृष्टि का कर्ता मानते हैं तो मीमांसक सर्वज्ञ के अस्तित्त्व को न मानकर वेद वाक्यों से ही सम्पूर्ण सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का जानना मानते हैं। वेद को प्रमाण मानने वालों में भी उन वेद वाक्यों को पृथक्-पृथक् अर्थ करके कई लोग आपस में विसंवाद करते हैं। भाट्ट वेद वाक्यों का अर्थ भावना करते हैं। प्रभाकर उन्हीं वाक्यों का अर्थ नियोग करते हैं और वेदांती उन्हीं

वाक्यों से ब्रह्मवाद को पुष्ट करते हैं।

अतएव श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं कि सभी के सम्प्रदायों में परस्पर में विरोध होने से सभी आप्त नहीं हो सकते हैं किन्तु कोई एक ही आप्त — सच्चा देव हो सकता है। पुनः मानों भगवान यह प्रश्न करते हैं कि सच्चे आप्त में आप क्या गुण चाहते हैं ? तो समंतभद्र स्वामी कहते हैं कि वह सर्वज्ञ होना चाहिए। सूक्ष्म — परमाणु आदि, अंतरित — राम, रावण आदि और दूरवर्ती — हिमवन, सुमेरु आदि पदार्थ अनुमान ज्ञान से जाने जाते हैं जैसे कहीं पर धुएं को देखकर अग्नि का अनुमान लगाया जाता है तो वह अग्नि किसी न किसी के प्रत्यक्ष अवश्य है और जिनके ये सूक्ष्मादि पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं, वे ही सर्वज्ञ हैं। पुनः प्रश्न होता है कि हम संसारी प्राणी अल्पज्ञ हैं तो सर्वज्ञ कैसे बन सकते हैं ? इस पर आचार्य कहते हैं कि दोष और आवरणों का अभाव किसी जीव में सम्पूर्ण रूप से हो सकता है क्योंकि हम लोगों में दोष — रागादि भाव और आवरण — कर्मों की तरतमता देखी जाती है। किन्हीं में रागादि दोष कम हैं किन्हीं में उससे भी कम हैं। इससे यह अनुमान लगता है कि किसी जीव में ये दोषादि सर्वथा भी नष्ट हो सकते हैं जैसे कि अपने निमित्तों से स्वर्ण पाषाण से किट्ट और कालिमा का सर्वथा अभाव हो जाता है और सुवर्ण शुद्ध हो जाता है।

प्रश्न — दोष और आवरण में क्या अन्तर है ?

उत्तर — कर्म के उदय से होने वाले जीव के राग-द्वेष, अज्ञात आदि परिणाम दोष कहलाते हैं। इन्हें भावकर्म भी कहते हैं। ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्म आवरण कहलाते हैं इन्हें द्रव्य कर्म कहते हैं। इन दोनों में परस्पर में कार्य कारण भाव निश्चित है जैसे बीज से अंकुर एवं अंकुर से बीज की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है। उसी प्रकार से दोष से आवरण और आवरण से दोष होते रहते हैं।

बौद्ध — अज्ञानादि दोष स्वपरिणाम के निमित्त से ही होते हैं इसमें आवरण (कर्म का उदय) कुछ भी नहीं कर सकता है।

जैनाचार्य — ऐसा नहीं है, यदि दोषों को स्वनिमित्तक ही मानोगे तो इनका कभी अभाव नहीं हो सकेगा पुनः इसके नाश के बिना मोक्ष होना भी असंभव हो जावेगा। जैसे — जीव के जीवत्व आदि भाव स्वनिमित्तक होने से कभी नष्ट नहीं होते हैं इसलिए दोषों को आवरणनिमित्तक मानना ही चाहिए।

सांख्य — अज्ञान आदि दोष परनिमित्तक ही हैं क्योंकि ये स्वयं प्रधान — प्रकृति — जड़ के परिणाम हैं, आत्मा के नहीं।

जैनाचार्य — ये दोष सर्वथा पर पुद्गल के निमित्त से ही हों, ऐसी बात नहीं है अन्यथा मुक्त जीवों में भी इनका प्रसंग आ जावेगा क्योंकि पुद्गल वर्गणाएं तो वहाँ भी मौजूद हैं किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है। उन सिद्धों में अज्ञान आदि दोष के न होने से केवल पुद्गल के निमित्त से वहाँ पर कर्मबंध नहीं होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि राग-द्वेष आदि से कर्मबंध होता है और कर्म के उदय से दोष होते हैं। जैसे — ज्ञानावरण कर्म के उदय से जीव में अज्ञान, दर्शनावरण के उदय से अदर्शन, दर्शनमोहनीय के उदय से मिथ्यात्व, चारित्रमोहनीय के उदय से अचारित्र आदि दोष होते हैं। वैसे ही प्रदोष, निन्हव, मात्सर्य, अंतराय आदि भावों के निमित्त से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है। केवली, श्रुत, संघ, धर्म आदि को झूठा दोष लगाने से दर्शनमोहनीय का एवं कषायों की तीव्रता से चारित्रमोहनीय का आस्रव होकर बंध होता है। इस प्रकार से भावकर्म के लिए निमित्त कारण द्रव्यकर्म हैं एवं द्रव्यकर्म के लिए निमित्त कारण भावकर्म हैं, ऐसा निश्चय हो जाता है।

जो लोग ऐसा समझते हैं कि मेरी भूल से ही संसार है कर्म का उदय मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकता, उन्हें अपनी एकांत मान्यता को हटा देना चाहिए।

प्रश्न—जैसे किसी जीव में दोष और आवरण का पूर्णतया नाश हो सकता है, ऐसे ही किसी जीव में बुद्धि ज्ञान का भी पूर्णतया नाश मान लेना चाहिए ?

उत्तर—ठीक है, हम स्याद्वादी हैं। किसी जीव ने पृथ्वीकाय आदि को शरीररूप से ग्रहण करके छोड़ दिया है अतः उन पाषाण, मिट्टी आदि में चैतन्य ज्ञान का सर्वथा अभाव हो गया। इससे यह समझना चाहिए कि भस्म, लोष्ठ आदि पृथ्वीकाय सर्वथा अजीव हैं। पृथ्वीकायिक में ही जीव विद्यमान रहता है। दूसरी बात यह है कि मति, श्रुत आदि रूप क्षयोपशम ज्ञान का अभाव हो जाता है किन्तु पूर्ण—केवलज्ञान का किसी जीव में अभाव होना संभव नहीं है क्योंकि ज्ञान यह जीव का स्वाभाविक परिणाम है।

आत्मा के परिणाम दो प्रकार के हैं—स्वाभाविक और आगंतुक। अनंतज्ञान आदि गुण स्वाभाविक हैं और अज्ञान आदि मल आगंतुक हैं। आगंतुक मिथ्यात्व, राग-द्वेष, अज्ञान आदि दोष के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन आदि गुणों की वृद्धि हो जाने से दोषों का अभाव हो जाता है।

मीमांसक—सम्पूर्ण कर्मों से रहित भी आत्मा परमाणु, धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को कैसे जानेगा ? इनका ज्ञान तो वेदवाक्यों से ही होता है अतः विश्व में कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है।

जैनाचार्य—सूक्ष्म परमाणु आदि और राम-रावण, सुमेरु आदि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं क्योंकि वे अनुमान ज्ञान के विषय हैं। सर्वज्ञ भगवान अतीन्द्रिय ज्ञान से ही सूक्ष्मादि पदार्थों को जानते हैं, इन्द्रिय ज्ञान से नहीं क्योंकि इन्द्रियाँ तो वर्तमान और नियत पदार्थ को ही विषय करती हैं, भूत, भविष्यत् के अनंत पदार्थों को नहीं। वेद-वाक्यों से सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञान मानने में तो सबसे पहले वेद को सर्वज्ञ का वाक्य कहना होगा अन्यथा हम आप जैसे अल्पज्ञ का कथन निर्दोष नहीं हो सकेगा।

अतः कोई न कोई कर्ममल कलंक रहित अकलंक आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, वही निर्दोष है यह बात सिद्ध हो जाती है। अब वह निर्दोष, सर्वज्ञ आत्मा कौन हो सकता है ? इस बात की सिद्धि करते हैं—

वे निर्दोष सर्वज्ञ आप ही हैं

चार्वाक—कोई तीर्थंकर प्रमाण नहीं हैं, न कोई आगम हैं, न वेद हैं अथवा न कोई तर्क अनुमान ही है बस एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन भूतचतुष्टय से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

जैनाचार्य—यह बात ठीक नहीं है, देखिए। यदि आप प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं तब तो कोई भी प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। अच्छा! आप पहले इन्द्रिय प्रत्यक्ष से सारे विश्व में घूमकर देख लो कि कहीं भी सर्वज्ञ तीर्थंकर नहीं हैं, तभी आपका कहना सत्य होगा और यदि आपने सारे विश्व को देख लिया, जान लिया तब तो आप स्वयं ही सर्वज्ञ बन गये क्योंकि 'सर्वं जानातीति सर्वज्ञः' जो सभी को जानता है, वही सर्वज्ञ है।

तत्त्वोपप्लववादी—सभी प्रमाण प्रमेय उपप्लुत ही हैं अर्थात् अभावरूप ही हैं इसलिए सर्वज्ञ कोई है ही नहीं।

जैनाचार्य—आप सभी प्रमाण—ज्ञान, प्रमेय—जीवादि वस्तुओं का अभाव मानते हैं, तब आप अपना और अपनी मान्यता—शून्यवाद का अस्तित्त्व स्वीकार करते हैं या नहीं ? यदि करते हैं तब तो

सर्वथा शून्यवाद नहीं रहा। यदि अपना तथा अपनी मान्यता का भी अस्तित्त्व स्वीकार नहीं करते हैं, तब तो आपका कथन भी अस्तित्त्व रहित होने से कैसे माना जायेगा, जैसे कि आकाश का कमल नहीं माना जा सकता है।

विशेष—मीमांसक, चार्वाक और तत्त्वोपप्लववादी ये तीनों सर्वज्ञ को मानते ही नहीं हैं एवं बौद्ध सांख्य, वैशेषिक और ब्रह्मवादी ये लोग सर्वज्ञ को तो मानते हैं किन्तु उनकी मान्यताएं गलत हैं, इस बात का स्पष्टीकरण आगे समयानुसार होगा। हे भगवन्! जो आत्मा कर्ममलरहित, निर्दोष और सर्वज्ञ है वह आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हैं। वह आपका अविरोध इष्ट—शासन, प्रसिद्ध—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित नहीं होता है अर्थात् घातिया कर्मों के नष्ट हो जाने से वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशता ये तीन गुण आप अर्हंत में ही घटित होते हैं अन्यत्र किसी में घटित नहीं होते हैं इसलिए आप अर्हंत ही निर्दोष सर्वज्ञ हैं क्योंकि आपके वचनों में किसी प्रकार का विरोध न होने से आपका मत बाधारहित सर्व प्राणी को हितकर है और आपके शासन में संसार और मोक्ष तथा संसार के कारण और मोक्ष के कारण ये चार तत्त्व बाधारहित हैं। ये चारों बाधारहित कैसे हैं ? इनकी समीक्षा देखिए—

मोक्ष की समीक्षा

सांख्य—प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान हो जाने पर चैतन्य मात्र स्वरूप में आत्मा का अवस्थान हो जाना मोक्ष है। सर्वज्ञता प्रधान—जड़ का स्वरूप है आत्मा का नहीं क्योंकि ज्ञानादि अचेतन हैं। वे प्रकृति के ही स्वरूप हैं।

जैनाचार्य—यह आपका कथन असंभव है। हमारे यहाँ तो अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख आदि स्वरूप चैतन्य में अवस्थान हो जाने को ही मोक्ष कहा है क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं, जैसे —चैतन्य। वे ज्ञानादि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र अचेतन में नहीं पाये जाते हैं। ज्ञान से ही आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानने पर तो आत्मा का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा।

वैशेषिक—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नव विशेष गुणों का नाश हो जाना ही मोक्ष है क्योंकि बुद्धि आदि आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, आत्मा से भिन्न हैं।

जैनाचार्य—यह आपका कथन असंभव है। हमारे यहाँ तो अनंतज्ञान, दर्शन, सुख आदि स्वरूप चैतन्य में अवस्थान हो जाने को ही मोक्ष कहा है क्योंकि ज्ञानादि आत्मा के स्वभाव हैं, जैसे—चैतन्य। वे ज्ञानादि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र अचेतन में नहीं पाये जाते हैं। ज्ञान से ही आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नहीं मानने पर तो आत्मा का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जायेगा।

यदि मुक्ति में बुद्धि—ज्ञान और सुख का ही विनाश माना जायेगा तब मुक्ति के लिए कौन बुद्धिमान प्रयत्न करेगा।

ज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न नहीं है कर्ता और करण की अपेक्षा के कथंचित् ही भिन्न है। हाँ! इतनी बात अवश्य है कि क्षायोपशमिक ज्ञान और सातावेदनीयजन्य सुख का तो हम लोग भी मुक्ति में विनाश मान लेते हैं किन्तु क्षायिक—पूर्ण ज्ञान और अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख का तो मोक्ष में अभाव नहीं है प्रत्युत ज्ञान और सुख की पूर्णता के लिए ही मोक्ष के लिए प्रयत्न किया जाता है।

वेदांतवादी—मुक्त जीव के अंनत सुख संवेदनरूप ज्ञान तो है किन्तु उन्हें बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है।

जैनाचार्य—पहले यह बताओ कि मुक्त जीव के इन्द्रियों का अभाव है इसलिए बाह्य पदार्थ का ज्ञान नहीं है या बाह्य पदार्थ का अभाव है इसलिए उनका ज्ञान नहीं है ? यदि बाह्य पदार्थ का अभाव कहें तो सुख का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि आप अद्वैतवादियों ने सुख को भी बाह्य पदार्थ ही माना है। यदि इन्द्रिय का अभाव कहो तब तो उन्हें सुख का अनुभव कैसे होगा ?

बौद्ध—आस्रवरहित चित्त की उत्पत्ति ही मोक्ष है।

जैनाचार्य—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान क्षणों में अन्वय पाया जाता है तथा निरन्वय क्षण क्षय (अन्वय रहित क्षण-क्षण में क्षय होने की व्यवस्था) को एकान्त से स्वीकार करने पर आपके द्वारा मान्य मोक्ष की सिद्धि बाधित ही है।

इस प्रकार से अन्य मतावलंबियों द्वारा मान्य मोक्ष तत्त्व में बाधा आती है अतः जैनों द्वारा मान्य 'कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षौ मोक्षः' सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से पृथक् हो जाना मोक्ष है, वहाँ पर अनंत गुणों की सिद्धि हो जाती है।

मोक्ष के कारण की समीक्षा—सांख्य ज्ञान मात्र को ही मोक्ष का कारण मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ भगवान के क्षायिक अनंत ज्ञान की पूर्णता हो जाने पर भी अघातिया कर्मों के शेष रहने से उनका परमौदारिक शरीर पाया जाता है, यदि ज्ञान उत्पन्न होते ही मोक्ष हो जावे तो यहाँ पर सर्वज्ञ का रहना, उपदेश आदि देना नहीं घटेगा तथा यदि एकांत से ज्ञान ही मोक्ष का कारण मान लिया जावे तो सभी के आगम में दीक्षा आदि बाल चारित्र का अनुष्ठान एवं सकल दोषों के अभावरूप अभ्यन्तर चारित्र का जो वर्णन है, वह सब व्यर्थ हो जावेगा किन्तु सभी ने तो दीक्षा ग्रहण, गेरुआ वस्त्र धारण और ध्यान आदि को माना ही है।

ऐसे ही कोई मात्र सम्यग्दर्शन से या कोई-कोई मात्र चारित्र से, क्रियाकांड से ही मुक्ति मानते हैं। उन सबकी मान्यता गलत है।

हम जैनों ने तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस आगम सूत्र से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता को ही मोक्ष माना है और यही मान्यता सुसंगत है इसलिए जैनाचार्य द्वारा मान्य मोक्ष के कारण तत्त्व ठीक ही हैं।

कोई मोक्ष को अकारणक ही कहते हैं किन्तु यह मान्यता बिल्कुल गलत है क्योंकि अनिमित्तक मोक्ष होने से तो हमेशा ही सभी जीवों को मोक्ष हो जावेगा पुनः कोई संसारी और दुःखी रहेगा ही नहीं किन्तु ऐसा तो प्रत्यक्ष से ही बाधित है।

संसार की समीक्षा—सांख्य कहता है कि प्रकृति—जड़ को ही संसार है आत्मा को नहीं है किन्तु ऐसी एकांत मान्यता गलत है। हम देखते हैं कि जड़ के संसर्ग से यह संसारी आत्मा संसार में जन्म, मरण आदि अनेकों दुःखों को उठा रही है। 'संसरणं संसारः' संसरण करना—एक गति से दूसरी गति में गमन करना इसी का नाम संसार है। इसके पंच परिवर्तन की अपेक्षा पाँच भेद हैं—द्रव्य संसार, क्षेत्र संसार, काल संसार, भव संसार और भाव संसार। इनका विवेचन फिर कभी किया जावेगा, इसलिए संसार तत्त्व भी सिद्ध ही है।

संसार के कारण की समीक्षा—सांख्यों ने मिथ्याज्ञान मात्र को ही संसार का कारण माना है, सो ठीक नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान का अभाव हो जाने पर भी राग आदि दोनों का अभाव न होने से संसार का अभाव नहीं होता है। यह बात स्वयं सांख्यों ने भी मान ली है एवं हम जैनों को मान्य संसार के कारण आगम में प्रसिद्ध हैं 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः' मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग

ये पाँच बंध के कारण हैं। बंध से ही संसार होता है अतः बंध के कारण ही संसार के कारण माने गये हैं।

किन्हीं का कहना है कि संसार के कारण मिथ्यात्व आदि अनादिकालीन हैं अतः ये निर्हेतुक हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है यद्यपि ये संसार के कारण अनादि हैं फिर भी अहेतुक (अकारक) नहीं हैं। इनके कारण द्रव्य कर्म मौजूद हैं तथा द्रव्यकर्म के कारण ये भावकर्म हैं, इनमें परस्पर में कार्य कारण भाव पाया जाता है इसीलिए इन मिथ्यात्व आदि कार्यों का सम्यग्दर्शन आदि कारणों से विनाश भी हो सकता है अन्यथा निर्हेतुक का विनाश होना असंभव ही हो जाता।

इस प्रकार से आप्त — अर्हंत भगवान् के शासन में मोक्ष और मोक्ष के कारण तथा संसार और संसार के कारण ये चार तत्त्व अबाधित रूप से सिद्ध हैं अतः आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी सिद्ध हैं और इसीलिए आप निर्दोष परमात्मा हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है।

हे भगवन्! अपने शासनरूपी अमृत से जो बहिर्भूत हैं और "मैं आप्त हूँ" इस प्रकार अभिमान से दग्ध हैं, उन एकांतवादियों का शासन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है। जैसे कि —

सांख्य कहता है कि सुखादि अचेतन हैं क्योंकि वे उत्पन्न होते हैं किन्तु जैनाचार्य सुख, ज्ञान आदि को चैतन्य आत्मा में ही मानते हैं अन्यत्र नहीं और प्रत्येक द्रव्य को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक मानते हैं।

बौद्ध कहता है कि वर्ण आदि परमाणु ही निर्विकल्प ज्ञान में झलकते हैं, वे ही हैं, स्कंध नाम की कोई चीज नहीं है। किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि परमाणु अत्यंत सूक्ष्म हैं। वे सर्वज्ञ के अथवा मनःपर्यय ज्ञानी, अवधिज्ञानी के ही ज्ञान का विषय हो सकते हैं अन्य मति, श्रुत ज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं। दो, तीन, चार से लेकर अनंतानंत परमाणुओं का मिलकर स्कंध बनता है, उसमें भी कुछ स्कंध अचाक्षुष हैं। शब्दादि स्कंध भी दृष्टि के विषय नहीं हैं मात्र चक्षु इन्द्रिय गम्य स्थूल स्कंध ही अपने ज्ञान में झलकते हैं और कल्पना मात्र नहीं हैं।

चार्वाक भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानता है किन्तु चैतन्य तत्त्व अनादिनिधन है। ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्म से ही चेतन-अचेतन की उत्पत्ति मानता है किन्तु सर्वथा चेतन-अचेतन द्रव्य अपनी सत्ता को लिए हुए पृथक्-पृथक् ही हैं।

हे नाथ! नित्य अथवा अनित्य आदि एकांत मान्यताओं के दुराग्रही स्व और पर के वैरी मिथ्यादृष्टि जनों में किसी के यहाँ भी पुण्य-पापादि क्रियाओं एवं परलोक आदि भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

यदि कोई कहे कि शून्यवादियों ने और अद्वैतवादियों ने तो स्वयं ही पुण्य-पाप, परलोक आदि को माना ही नहीं है अन्यथा उनका शून्यवाद नहीं टिकेगा और द्वैतवाद आ जायेगा। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उन लोगों ने भी पुण्य-पाप आदि को और परलोक को भी संवृत्ति (कल्पना) से माना है और अद्वैतवादियों ने अविद्या से प्रायः सुख-दुःख, पुण्य-पाप और इहलोक, परलोक को स्वीकार किया ही है किन्तु ये सब एकांतवादी दुराग्रही हैं अतः इनके यहाँ किसी भी तत्त्व की सिद्धि असंभव है।

सांख्य सभी तत्त्वों को भावरूप ही मानता है उसके यहाँ अभाव या विनाश नाम की कोई चीज नहीं है उसका कहना है कि मिट्टी में घट विद्यमान है, कुंभार, दण्ड, चाक आदि निमित्तों से वह घट आविर्भूत हुआ है न कि उत्पन्न। कुम्हार, चाक आदि दीपक की तरह ज्ञापक निमित्त हैं कारक निमित्त नहीं हैं इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि यदि 'अभाव' को नहीं माना जाएगा, तो प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव इन चारों अभावों का लोप हो जावेगा जो कि सर्वथा विरुद्ध है। अब इन अभावों के लक्षण बताते हैं —

प्रागभाव आदि का वर्णन

भावैकांते पदार्थाना-मभावानामपन्हवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्।।९।।

सांख्य एकांत से पदार्थों को भावरूप ही मानता है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि सभी पदार्थों को भावरूप ही मानने पर तो अभावों का लोप हो जायेगा। अभाव के चार भेद हैं — प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यंताभाव। प्रागभाव को नहीं मानने पर तो सभी कार्य अनादि हो जायेंगे। प्रध्वंस धर्म का लोप करने पर सभी अनंत हो जायेंगे। इतरेतराभाव के अभाव में सभी पदार्थ सर्वात्मक हो जायेंगे तथा अत्यंताभाव के न मानने से सभी पदार्थ अस्वरूप — अपने स्वभाव से शून्य हो जायेंगे।

प्रागभाव — कार्य का उत्पन्न होने के पहले न होना प्रागभाव है। जैसे — घट बनने के पहले मिट्टीरूप कारण में घटरूप कार्य का अभाव है वह प्राक् — पहले अभाव न होना प्रागभाव है। द्रव्य की अपेक्षा प्रागभाव अनादि है और पर्याय की अपेक्षा आदि है। घट बनाने के लिए मिट्टी के पिंड को चाक पर रखकर घुमाया। उसकी स्थास, कोश, कुशूल आदि पर्यायें बनीं उनमें जिस क्षण के बाद ही घट बनने वाला है उस क्षण को ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से प्रागभाव कहते हैं इसके पूर्व-पूर्व पर्यायों को भी प्रागभाव कहते हैं किन्तु अन्तिम क्षण की पर्याय का विनाश होने पर ही घट बनता है इसलिए प्रागभाव का अभाव होकर घट बनता है। यदि मिट्टी में घट का प्रागभाव न मानें तो घटद्रव्य अनादिकाल से मिट्टी में बना रहेगा। प्रागभाव के न मानने पर कार्य-द्रव्य अनादि हो जायेंगे अतः प्रागभाव मानना जरूरी है।

प्रध्वंसाभाव — यदि प्रध्वंस को न मानें तो घट आदि कार्यों का कभी भी नाश नहीं होगा पुनः वे अनंत हो जायेंगे किन्तु ऐसा नहीं है। विद्यमान घट में प्रध्वंसाभाव का अभाव करके अर्थात् घट का प्रध्वंस करके कपाल उत्पन्न होते हैं इसलिए प्रध्वंसाभाव भी वास्तविक है।

इतरेतराभाव — एक पर्याय का दूसरी पर्याय में न होना इतरेतराभाव है। जैसे — पुद्गल की पुस्तक पर्याय में चौकी पर्याय का अभाव है। जीव की मनुष्य पर्याय में देव पर्याय का अभाव है। यदि इस इतरेतराभाव को न माना जाय तो एक मनुष्य पर्याय में देव, नारक आदि पर्यायें आ जायेंगी पुनः सभी पदार्थ स्वरूप हो जावेंगे अतः इतरेतराभाव भी मान्य है।

अत्यंताभाव — एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव अत्यंताभाव है। जैसे — जीव द्रव्य पुद्गलरूप नहीं होता है। पुद्गल जीवरूप नहीं होता है। सांख्यमत बौद्ध आदि मत रूप नहीं होता है, इत्यादि रूप से यदि अत्यंताभाव को नहीं मानेंगे तो सभी वस्तुएँ पर स्वभाव के मिश्रण हो जाने से अपने स्वभाव से शून्य हो जायेंगी, तो वे अवस्तु हो जावेंगी अतः यह भी आवश्यक है।

भावार्थ — जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति होवे, वह प्रागभाव है। जिसके होने पर नियम से कार्य का विनाश होवे वह प्रध्वंस है।

जिसके सद्भाव में दूसरी अनंतों पर्यायों का अभाव रहे वह इतरेतराभाव है। घट-घट का परस्पर में इतरेतराभाव है।

भिन्न-भिन्न द्रव्य में अत्यंताभाव है। जीव स्वरूप से अस्तित्वरूप होकर भी पुद्गलादि से अभावरूप है क्योंकि सभी पदार्थ स्वरूप से भावरूप और पररूप से अभावरूप लक्षण वाले ही हैं।

मीमांसक शब्द को नित्य मानता है अतः उसमें प्रागभाव नहीं मानता है किन्तु जैनाचार्यों ने शब्द को पौद्गलिक शब्द वर्गणा रूप होने से नित्य माना है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य माना है इसलिए शब्द में प्रागभाव घटित हैं। वक्ता के तालु आदि प्रयत्न से शब्द उत्पन्न होते हैं और विनष्ट भी होते हैं।

नैयायिक अभाव को सर्वथा तुच्छाभावरूप ही मानता है किन्तु जैनाचार्य अभाव को भावांतररूप मानते हैं। जैसे—'अजैनः' कहने से जैन के बजाय और किसी अन्य धर्म वाले व्यक्ति का बोध होता है न कि सर्वथा अभाव का। दीपक के बुझने पर प्रकाश का अभाव हुआ मतलब अंधकार का सद्भाव हुआ। प्रकाश और अंधकार दोनों पुद्गल की ही पर्यायें हैं अतः जैनाचार्यों द्वारा मान्य अभाव भावांतर (भिन्न भाव) रूप ही है।

नैयायिक शब्द को अमूर्तिक आकाश का गुण अमूर्तिक ही मानता है उसका कहना है कि 'शब्द पुद्गल का स्वभाव नहीं है क्योंकि उसका स्पर्श नहीं पाया जाता है सुखादि के समान' यदि शब्द को पुद्गल की पर्याय मानोगे तब तो उनका चक्षु से देखना, मर्यादा को उल्लघंन कर आगे भी फैलना, बिखरना, कर्ण में भर जाना, एक ही श्रोत्रेन्द्रिय में प्रवेश हो जाना आदि अनेक दोष आते हैं।

शब्द तो निश्छिद्र महल के भीतर से निकल जाते हैं एवं आभ्यंतर में बाहर से आकर प्रवेश कर जाते हैं, व्यवधान का भेदन भी नहीं करते हैं अतएव वे पौद्गलिक नहीं हैं।

जैनाचार्य—शब्द पुद्गल की ही पर्याय हैं अतः मूर्तिक ही हैं, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से सहित हैं क्योंकि "स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः' यह सूत्र है। बहुत से पुद्गल स्कंध भी ऐसे अचाक्षुष हैं जिनका स्पर्श आदि व्यक्त नहीं है एतावता उनको अमूर्तिक नहीं कह सकते एवं न उनका अभाव ही कर सकते हैं तथा शब्द से प्रतिघात भी देखा जाता है। कोई मोटी एवं कड़ी पूड़ी आदि खा रहा है, उसके कड़-कड़ शब्दों से प्रायः प्रतिघात देखा जाता है। जैसे—कोई पुरुष उच्च ध्वनि से पाठ कर रहा है और दूसरा धीरे-धीरे बोल रहा है, तो उसकी ध्वनि दब जाती है अतः शब्द का स्पर्श नहीं मानना गलत है।

जो आपने 'चक्षु आदि से दिखना चाहिए' इत्यादि दोष दिये हैं वे भी दोष गंध परमाणुओं में भी मानने पड़ेंगे क्योंकि गंध परमाणु भी पुद्गल की पर्याय हैं, वे भी नहीं दिखते हैं। यदि आप कहें कि गंध परमाणु अदृश्य हैं अतः चक्षु इन्द्रिय से नहीं देखे जाते हैं पुनः शब्दों को भी तथैव मानो, क्या बाधा है ? पवन से प्रेरित होने पर उन शब्दों का विस्तृत होना आदि मानो तो गंध परमाणुओं में भी मानना पड़ेगा। भित्ति आदि से परमाणुओं का प्रतिघात प्रसिद्ध है तथैव शब्दों का भी प्रतिघात प्रसिद्ध है एवं जो आपने कहा कि स्कंधरूप से परिणत मूर्तिमान शब्द परमाणुओं के द्वारा श्रोता का कान पूर्णतया भर जायेगा एवं पौद्गलिक शब्द एक ही श्रोता के कान में प्रविष्ट हो जावेंगे पुनः उसी योग्य देश में स्थित अन्य श्रोताओं को कुछ भी शब्द सुनाई नहीं पड़ेंगे, इत्यादि दोष तो आपके गंध परमाणुओं में भी आ जावेंगे। वे भी गंध परमाणु नाक में भर जावेंगे तो स्वांस लेना ही कठिन हो जावेगा एवं वे नाक में भी घुस जावेंगे तो अन्य किसी सूंघने वाले को कुछ भी गंध नहीं आ सकेगी, इस पर नैयायिक ने कहा कि हमारे यहाँ ऐसा माना है कि सदृश परिणाम वाले गंध परमाणु सब तरफ फैल जाते हैं अतः उक्त दोष नहीं आते हैं। यदि समान परिणाम वाले गंध परमाणु सब तरफ फैल जाते हैं अतः उक्त दोष नहीं आते हैं तब तो समान परिणाम वाले शब्द परमाणु भी नाना दिशाओं में फैल जाते हैं अतः एक श्रोता को ही सुनाई देवे इत्यादि दोष नहीं आते हैं। यदि आप कहें कि गंध परमाणुओं को ज्ञान विशेष की अन्यथानुपपत्ति होने से निश्चय हो जाता है उसमें भाग्य की कल्पना नहीं है किन्तु शब्द के आगमन में भाग्य की कल्पना कीजिए।

इस पर आचार्यों का कहना है कि—श्रोताओं के जिन-जिन श्रुत ज्ञानावरणरूप शब्दावरण का क्षयोपशम होता है उसी प्रकार से उपलब्धि योग्य परिणाम विशेष के होने से उन-उन ही अक्षरों का सुनना होता है।

जो आपने कहा कि निश्छिद्र महल से निकलना आदि होने से शब्द पुद्गल नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि छिद्ररहित भवन से निकलना एवं प्रविष्ट होना पुद्गल में विरुद्ध नहीं है क्योंकि वे शब्द पुद्गल सूक्ष्म स्वभाव वाले हैं जैसे तेल, घी आदि चिकने पदार्थ निश्छिद्र घड़े से बाहर निकलकर घड़े को चिकना कर देते हैं एवं उष्ण, शीत, स्पर्श आदि निश्छिद्र घड़े में प्रविष्ट होकर उसकी अभ्यंतर की वस्तु गर्म या ठंडी कर देते हैं यह बात सर्वजन सुप्रसिद्ध है।

तत्त्वार्थसूत्र में "शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवंतश्च" इस सूत्र में शब्द को पुद्गल की पर्याय सिद्ध किया है। अतः शब्द आकाश का गुण नहीं है और न अमूर्तिक ही है, ऐसा समझना चाहिए। यही कारण है कि आजकल शब्दों को टेपरिकार्डर में भर लेते हैं, रेडियो, टेलीफोन आदि द्वारा हजारों मील दूर पहुँचा देते हैं यह सब पौद्गलिक शक्ति का ही विकास हो रहा है। इन सभी आविष्कारों से भी शब्द पौद्गलिक और मूर्तिक सिद्ध हो रहे हैं।

अष्टसहस्रीकार आचार्यवर्य श्री विद्यानंद महोदय ने ग्रंथ के प्रथम अध्याय में भावैकांत का खंडन किया है अर्थात् जो सांख्य आदि सभी पदार्थों को सर्वथा सद्भावरूप ही स्वीकार करते हैं उनका खंडन करके प्रागभाव आदि चार प्रकार के अभावों को सिद्ध किया है पुनः जो लोग सभी पदार्थों को अभावरूप ही मानते हैं उनका निरसन कर रहे हैं।

बौद्धों के यहाँ माध्यमिक नाम का एक भेद है। ये लोग सभी जगत को सर्वथा शून्य रूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि 'यह जगत सर्वथा शून्यरूप ही है जो कुछ भी प्रतिभास हो रहा है वह असत्य है। जो चेतन-अचेतन तत्व दिख रहे हैं, वे संवृति (कल्पना) रूप हैं एवं शून्यवाद को सिद्ध करने में जो आगम, अनुमान आदि प्रमाण हैं वे भी काल्पनिक हैं।

इस पर जैनाचार्य प्रश्न करते हैं कि आप बौद्धों के यहाँ वह 'संवृति' क्या चीज है ? यदि कहो कि संवृति का अर्थ है अपने स्वरूप से होना' तब तो हमने भी सभी वस्तुओं का स्वरूप से अस्तित्व माना है। यदि कहो कि 'संवृति—पररूप से न होना' यह अर्थ भी हमारे अनुकूल ही है क्योंकि हम लोग भी वस्तु में पररूप से नास्ति धर्म मानते हैं। यदि कहो कि 'विचारों का न होना संवृति है' तब तो शून्य के साधक वाक्य भी कैसे बनेंगे ? अतः बड़े आश्चर्य की बात है कि दिग्नागाचार्य आदि आज भी इस शून्यवाद को सिद्ध करने में लगे हुए हैं इसमें उनके मोहनीय कर्म के तीव्र उदय के सिवाय और कोई भी कारण नहीं हो सकता है क्योंकि जब सर्वथा शून्यवाद ही है तब आपके बुद्ध भगवान, आगम आदि भी कैसे सिद्ध हो सकेंगे ?

बौद्ध—वास्तव में हमारे यहाँ बुद्ध भगवान और आगम आदि सभी विभ्रमरूप ही हैं। ये सभी संवृति से ही मान्य हैं अर्थात् काल्पनिक हैं।

जैन—तब तो प्रश्न यह होता है कि इस विभ्रम में विभ्रम है या अविभ्रम ? यदि विभ्रम में अविभ्रम है तो सभी विभ्रमरूप नहीं रहे और यदि विभ्रम में भी विभ्रम है तो विभ्रम कैसे रहेगा ? अपितु विभ्रम में विभ्रम के हो जाने से अविभ्रम—सत्य ही सिद्ध हो जायेगा इसलिए सर्वथा नैरात्म्यवाद श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि उसके मानने वाले तो सबसे पहले अपना, अपने भगवान का, सभी का ही घात कर लेते हैं।

कोई-कोई भाट्ट लोग भाव और अभाव इन दोनों को भी मान रहे हैं किन्तु दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, इसलिए उनकी मान्यता भी गलत है।

क्योंकि सभी वस्तु स्वरूप के समान पररूप से अस्तिरूप एवं पररूप के समान स्वरूप से नास्तिरूप नहीं है तथा अस्ति धर्म नास्तित्व की एवं नास्ति धर्म अस्तित्व की अपेक्षा रखता है इसलिए 'उभयैकात्म्य' भी गलत है।

कोई बौद्ध लोग वस्तु को सर्वथा सत्-असत् धर्म से रहित होने से अवक्तव्य मानते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु सर्वथा 'अवाच्य' है क्योंकि शब्दों से उसका कथन नहीं कहा जा सकता है किन्तु यह एकान्त भी श्रेयस्कर नहीं है।

जैनाचार्य वस्तु को सत्रूप — भावरूप भी मानते हैं, असत् — अभावरूप भी मानते हैं, भावाभाव — उभयात्मक भी मानते हैं तथा अवक्तव्य — अवाच्य भी मानते हैं। सो कैसे ?

भावाभावाद्यनेकांत सिद्धि

हे भगवन्! आपके शासन में सभी वस्तुएँ कथंचित् भाव — अस्ति — सत्रूप हैं और वे ही सभी वस्तुएँ कथंचित् — अभाव — नास्ति — असत्रूप हैं, कथंचित् उभय आदि सप्तभंगरूप से प्रसिद्ध हैं। यथा —

'प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना-सप्तभंगी' प्रश्न के निमित्त से एक ही वस्तु में अविरोधरूप से विधि और निषेध की कल्पना सप्तभंगी कहलाती है।

इस सप्तभंगी को जीव द्रव्य में घटित करते हैं —

१. स्यात् जीव द्रव्य अस्तिरूप है,

२. स्यात् जीव द्रव्य नास्तिरूप है,

३. स्यात् जीव द्रव्य अस्तिनास्तिरूप है,

४. स्यात् जीव द्रव्य अवक्तव्य है,

५. स्यात् जीव द्रव्य अस्ति अवक्तव्य है,

६. स्यात् जीव द्रव्य नास्ति अवक्तव्य है,

७. स्यात् जीव द्रव्य अस्तिनास्ति अवक्तव्य है,

यहाँ पर अस्तित्वादि एकान्त का निषेधक और अनेकांत का द्योतक 'कथंचित्' इस अपरनाम वाला 'स्यात्' शब्द बहुत ही महत्वशाली है, उसी का स्पष्टीकरण —

प्रथम भंग में जीव द्रव्य स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से अस्तिरूप है। द्वितीय भंग में वही जीव द्रव्य पर — अजीवादि द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्तिरूप है अर्थात् जीव द्रव्य में पर — अजीव का अस्तित्व नहीं है। वही जीव द्रव्य क्रम से स्व और पर दोनों की अपेक्षा करने से अस्तिनास्ति रूप है। वही जीव द्रव्य युगपत् दोनों धर्मों को न कह सकने से अवक्तव्य — अवाच्यरूप है। वही जीव द्रव्य स्वचतुष्टय से तथा युगपत् स्वपरचतुष्टय से विवक्षित करने से 'अस्ति अवक्तव्य' इस पाँचवें भंगरूप है। वही जीवद्रव्य परचतुष्टय तथा युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से नास्ति अवक्तव्यरूप है। वही जीवद्रव्य स्वपरचतुष्टय की क्रम और युगपत् अपेक्षा रखने से 'अस्तिनास्ति अवक्तव्य' इस सातवें भंगरूप है।

यह कथन बिल्कुल ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तुएँ स्वरूप से सत्रूप एवं पररूप से असत् —

अभावरूप हैं तथा अस्ति धर्म नास्तित्व का अविनाभावी है वैसे ही नास्ति धर्म अस्तित्व के बिना नहीं रह सकता है। जब प्रथम भंग में भाव प्रधान रहता है, तब शेष छहों भंग गौण हो जाते हैं एवं जब द्वितीय भंग का अभाव धर्म प्रधान रहता है, तब भी शेष छह भंग गौण हो जाते हैं। इस प्रकार से 'अर्पितानर्पितसिद्धेः' सूत्र के अनुसार अर्पित—विवक्षित धर्म प्रधान रहता है तथा अनर्पित—अविवक्षित धर्म गौण रहता है तभी वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है। जैसे जीव का जब नित्य धर्म प्रधान किया जाता है, तब अनित्य धर्म नष्ट न होकर गौण हो जाता है एवं जब अनित्य धर्म विवक्षित—कहा जाता है तब नित्य धर्म अविवक्षित गौण हो जाता है। ये अस्ति नास्ति नित्य-अनित्य आदि धर्म यद्यपि परस्पर विरोधी दिखते हैं लेकिन प्रत्येक वस्तु में पाये ही जाते हैं।

प्रश्न—एक वस्तु में प्रत्यक्षादि से विरुद्ध भी विधि प्रतिषेध कल्पना कर लेना चाहिए?

उत्तर—नहीं, क्योंकि सूत्र में 'अविरोधेन' पद है, जिसका अर्थ है प्रत्यक्ष अनुमान और आगम आदि से अविरुद्ध धर्मों में ही सप्तभंगी घटित करना।

प्रश्न—प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म हैं अतः 'अनंत भंगी' हो जावें, सात ही भंग क्यों?

उत्तर—प्रत्येक वस्तु के अनंत धर्मों में से प्रत्येक धर्म में सप्तभंगी घटित होती है इसलिए अनंत भंगी नहीं होंगी।

भंग सात ही क्यों? शिष्यों के द्वारा उतने ही प्रश्न होते हैं। सात ही प्रश्न क्यों? तो सात प्रकार की ही जिज्ञासा होती हैं। जिज्ञासा सात प्रकार की ही क्यों? तो सात प्रकार का संशय होता है। संशय सात प्रकार का ही क्यों? तो उस संशय के विषयभूत वस्तु के धर्म सात प्रकार के ही हैं।

इस प्रकार से सप्तभंगी से सिद्ध वस्तु ही अर्थ क्रियाकारी हैं अन्यथा वह वस्तु-अवस्तु-आकाश पुष्पवत् सर्वथा ही अभावरूप हो जाएगी अतः हे भगवन्! सभी प्रकार के विरोध आदि दोषों से रहित आपका स्याद्वाद शासन जयवंत होवे।

(द्वितीय परिच्छेद का सार)

अद्वैत-द्वैत एकांत का निराकरण और स्याद्वाद सिद्धि

एक ब्रह्माद्वैतवादी जनों का सम्प्रदाय है ये लोग कहते हैं कि 'सर्वं वै खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति कश्चनं'। यह सारा जगत् एक ब्रह्म स्वरूप है, यहाँ भिन्न वस्तुएँ कुछ नहीं हैं। ये चेतन-अचेतन जितने भी पदार्थ दिख रहे हैं वे सब एक ब्रह्म की ही पर्याय हैं। ऐसे ही शब्दाद्वैतवादी सारे जगत को एक शब्द ब्रह्मस्वरूप ही मानते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी सारे जगत को एक ज्ञान मात्र ही मानते हैं, चित्राद्वैतवादी सारे जगत को चित्रज्ञान रूप कहते हैं और शून्याद्वैतवादी सब कुछ शून्यरूप ही मानते हैं। ऐसे ये पाँच अद्वैतवादी हैं, ये लोग एक अद्वैत के सिवाय द्वैतरूप (दो रूप) कोई चीज नहीं मानते हैं, इनका कहना है कि जो भी द्वैतरूप संसार दिख रहा है वह सब अविद्या या कल्पना से ही है, वास्तविक नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि पुण्य पाप, बंध-मोक्ष, सुख-दुःख, विद्या-अविद्या आदि रूप से सर्वत्र दो चीजें ही उपलब्ध होती हैं। इसमें एक को काल्पनिक कहने पर दूसरी भी काल्पनिक होने से कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तथा आपने आगम से ब्रह्म तत्त्व को सिद्ध किया तो आगम और ब्रह्म दो हो गये।

यदि आगम को ब्रह्मा का स्वभाव कहो तो भी स्वभाव और स्वभाव वाले की अपेक्षा दो हो गये। दूसरी बात यह है कि जैसे जैन के बिना अजैन नहीं बनता, वैसे ही द्वैत के बिना अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है तथा जिस अविद्या से ये भेद दिख रहे हैं वह अविद्या परम ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न कहो तो द्वैत हो गया और यदि अभिन्न कहो तो तुम्हारा ब्रह्म अविद्या से अभिन्न होने से अविद्यारूप हो गया इसलिए आपका ब्रह्म अविद्यारूप हो जाने से हमारा विद्यारूप द्वैत तत्त्व ही सिद्ध हो गया।

यौग के दो भेद हैं—नैयायिक और वैशेषिक। ये लोग द्रव्य से गुण को सर्वथा भिन्न मानते हैं। उनके मत से अग्नि से उष्णता सर्वथा भिन्न है किन्तु जैनाचार्य पूछते हैं कि उष्णता के संबंध के पहले अग्नि उष्ण थी या ठंडी ? यदि उष्ण थी, तो उष्णता के संबंध ने क्या किया, यदि अग्नि ठंडी थी और उष्णता ने उष्ण किया, तो वह पूर्व में उष्ण गुण और ठंडी अग्नि उपलब्ध नहीं होते हैं। वास्तव में उष्णता के बिना अग्नि का अस्तित्व ही असंभव है इसलिए जैनमत में द्रव्य से गुण को अभिन्न माना है और संज्ञा आदि के भेद से ही भिन्न माना है।

बौद्ध ने कार्य-कारण को परस्पर में सर्वथा भिन्न माना है, उसका कहना है कि मिट्टी का सर्वथा नाश होकर घड़ा बना है परन्तु यह बात किसी के गले नहीं उतरती है तथा इन्होंने कार्य (घड़े) के अणु-अणु को भी सर्वथा भिन्न-भिन्न माना है किन्तु ऐसा मानने से तो घड़े में पानी कैसे भरा जा सकेगा ? अभिप्राय यह हुआ कि ब्रह्माद्वैतवादी चेतन, अचेतन, संसारी, मुक्त कार्य कारण आदि सभी में अद्वैत—एकरूपता सिद्ध करते हैं। योग और सभी द्रव्य, गुण आदि में और कार्य, कारण आदि में द्वैत यानी पृथक्-पृथक्पना सिद्ध करते हैं। मीमांसक सर्वथा अद्वैत और पृथक्रूप उभय का एकान्त मानता है। बौद्ध भेदाभेद को सर्वथा अवाच्य अवक्तव्य कहते हैं। इन चारों की मान्यताएं कथमपि संभव नहीं हैं।

जैन सिद्धान्त के अनुसार सभी चेतन-अचेतन वस्तुरूप जगत अद्वैत एकरूप है क्योंकि सभी वस्तुएँ सत् सामान्य की अपेक्षा अस्तिरूप हैं।

सभी वस्तुएँ पृथक्त्वरूप हैं क्योंकि संज्ञा संख्या, लक्षण आदि से सभी में भेद हैं।

सभी वस्तुएँ उभयरूप हैं क्योंकि क्रम से अद्वैत और भेदरूप द्वैत की अपेक्षा है।

सभी वस्तुएँ अवक्तव्य हैं क्योंकि एक साथ अद्वैत और द्वैत दोनों धर्म को कह नहीं सकते।

सभी वस्तुएँ अद्वैत अवक्तव्यरूप हैं क्योंकि क्रम से अद्वैत की और युगपत् उभय की विवक्षा है।

सभी वस्तुएँ द्वैत अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से द्वैत की और युगपत् दोनों धर्मों की विवक्षा है।

इस प्रकार सभी वस्तुएँ कथंचित् भेदाभेदात्मक होकर ही प्रमाण का विषय हैं क्योंकि मुख्य और गौण की विवक्षा पाई जाती है। जब वस्तुओं में अभेद धर्म विवक्षित होता है, तब वह प्रधान हो जाता है और द्वैत धर्म गौण हो जाता है। जब द्वैत प्रधान होता है, तब अद्वैत गौण हो जाता है, यही स्याद्वाद प्रक्रिया है।

(तृतीय परिच्छेद का सार)

नित्यैकांत-अनित्यैकांत का खंडन और स्याद्वाद सिद्धि

सांख्य सभी पदार्थों को सर्वथा कूटस्थ नित्य मानते हैं, उनका कहना है कि आत्मा जाननेरूप क्रिया का भी कर्त्ता नहीं है। ज्ञान और सुख प्रकृति (जड़) के धर्म हैं केवल आत्मा इनका भोक्ता अवश्य है। ये लोग कारण में कार्य को सदा विद्यमानरूप ही मानते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि सभी पदार्थों में परिणमन दिख रहा है अतः वे सर्वथा नित्य नहीं हैं तथा ज्ञान और सुख ये आत्मा के ही स्वभाव हैं, आत्मा से भिन्न नहीं हैं। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि रूप से जो स्वसंवेदन होता है वह ज्ञान के द्वारा ही होता है और वह अनुभव सर्वथा नित्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु पूर्वाकार को छोड़कर उत्तराकार को ग्रहण करती है और उन दोनों अवस्थाओं में अन्वय संबंध पाया जाता है, इस अन्वय स्वभाव से वस्तु नित्य है तथा पूर्वाकार, उत्तराकार के त्याग और ग्रहणरूप से व्यय और उत्पाद स्वरूप भी है, अतः अनित्य भी है। जीव ने मनुष्य पर्याय को छोड़कर देव पर्याय ग्रहण की तथा दोनों अवस्थाओं में अन्वयरूप जीवात्मा विद्यमान है, ऐसा स्पष्ट है तथा मिट्टी से कुंभार घट बनाता है, घट उसमें विद्यमान था कुंभार ने प्रगट कर दिया, यह कल्पना गलत है। हाँ मिट्टी में घट शक्ति रूप से अवश्य है अर्थात् मिट्टी में घट बनने की शक्ति अवश्य है, कारक निमित्तों से प्रकट हो जाती है अतः आत्मा आदि पदार्थ द्रव्य दृष्टि से नित्य हैं, पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं।

बौद्ध का कहना है कि सभी पदार्थ सर्वथा क्षण-क्षण में नष्ट हो रहे हैं। उनमें जो कहीं स्थायित्व दिख रहा है वह सब वासनामात्र है तथा ये लोग कारण का जड़मूल से विनाश मानकर ही कार्य की उत्पत्ति मानते हैं।

इस पर जैनाचार्य कहते हैं कि सभी पदार्थों को सर्वथा क्षणिक मानने पर तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि सिद्ध नहीं होंगे, प्रातः अपने घर से निकलकर कोई भी व्यक्ति पुनः यह वही घर है, जिसमें मैं रहता हूँ, ऐसा स्मृतिपूर्वक प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकने से वापस नहीं आ सकेगा पुनः सारे लोक व्यवहार समाप्त हो जावेंगे तथा मृत्पिंड के सभी परमाणु का सर्वथा नाश हो गया पुनः घट किससे बना ? यह प्रश्न होता रहेगा, कारण के विनाश के बाद कार्य की उत्पत्ति मानने से तो मिट्टी से ही घट क्यों बने ? तंतु से घट और मृत्पिंड से वस्त्र भी बन जायेंगे, जौ के अंकुरों से चने पैदा होने लगेंगे, कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी अतः कारण का कार्यरूप परिणत हो जाना ही कार्य है। तंतु ही वस्त्ररूप परिणत होते हैं, यही सिद्धांत सत्य है।

बौद्ध कहता है कि वस्तु सत् है, असत् है, उभयरूप है, अनुभयरूप है, ये चार विकल्प ही हो सकते हैं और ये चारों ही विकल्प अवाच्य हैं—कहे नहीं जा सकते अतः 'वस्तु अवाच्य है।' जैनाचार्य कहते हैं कि भाई! 'वस्तु अवाच्य हैं' इस वाक्य से भी पुनः तुमने कैसे कहा, इस वाक्य से वाच्य कर देने से वह अवाच्य कहां रही, यह तो ऐसा है कि कोई मुँह से कहे कि 'मैं मौनव्रती हूँ' बौद्ध की एक और मान्यता बहुत ही विचित्र है वह कहता है कि 'विनाश अहेतुक है' घड़े पर मुद्गर का प्रहार हुआ वह फूट गया, तो उसका कहना है कि मुद्गर के निमित्त से घड़ा नहीं फूटा है, प्रत्युत स्वभाव से ही फूटा है। हाँ, मुद्गर के निमित्त से कपाल टुकड़े अवश्य उत्पन्न हुए हैं। जैनाचार्य तो घड़े के फूटने में और कपाल के उत्पन्न होने में दोनों में ही एक मुद्गर को ही हेतु मानते हैं क्योंकि इन्होंने पूर्वाकार घट का विनाश और उत्तराकार कपाल का उत्पाद इन दोनों को एक हेतुक और एक समय में ही माना है। घट का फूटना ही तो कपाल का उत्पाद है।

इस बेचारे बौद्ध ने तो कार्य को ही सहेतुक मान लिया है किन्तु आजकल कुछ ऐसे भी लोग हैं जो विनाश और उत्पाद दोनों को ही अहेतुक कह देते हैं, उनका कहना है कि कार्य का उत्पाद होना था तब निमित्त उपस्थित हो गया, वह सर्वथा अकिंचित्कर है, उस बेचारे ने क्या किया है ? ऐसा कहने वालों की दशा तो बौद्धों से भी अधिक शोचनीय है।

बौद्ध के सर्वथा क्षणिकमत में अपने किये हुए को नहीं भोगना और दूसरे के किए हुए का फल पाना ये दोष भी आ जाते हैं। जैसे—किसी व्यक्ति की आत्मा ने हिंसा का भाव किया, वह उसी क्षण नष्ट हो गई,

दूसरी आत्मा ने आकर हिंसा कर दी, वह भी नष्ट हो गई, तीसरी आत्मा को पाप का बंध हो गया, उसी क्षण वह भी नष्ट हो गया, चौथी आत्मा ने आकर उसका फल दुःख भोगा। अहो! यह सिद्धान्त बहुत ही हास्यास्पद है।

सप्तभंगी प्रक्रिया — जैन सिद्धान्त के अनुसार तो सभी पदार्थ कथंचित् नित्य हैं क्योंकि द्रव्यार्थिक नय से वे कभी नष्ट नहीं होते हैं।

सभी पदार्थ कथंचित् अनित्य हैं क्योंकि पर्यायों का विनाश और उत्पाद देखा जाता है।

सभी पदार्थ कथंचित् नित्य और अनित्य उभयरूप हैं क्योंकि क्रम से द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों की अपेक्षा है।

सभी पदार्थ कथंचित् अवक्तव्य हैं क्योंकि एक साथ दोनों नयों की विवक्षा होने से दोनों धर्म एक साथ कहे नहीं जा सकते हैं।

सभी पदार्थ कथंचित् नित्य और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से द्रव्यार्थिक नय और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

सभी पदार्थ कथंचित् अनित्य और अवक्तव्य इस छठे भंग रूप हैं क्योंकि क्रम से पर्यायार्थिक नय और युगपत् दोनों नयों की विवक्षा है।

सभी पदार्थ कथंचित् नित्यानित्य और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से दोनों नय और युगपत् दोनों नयों की अपेक्षा है।

इस प्रकार सप्तभंगी प्रक्रिया से सभी बातें व्यवस्थित हैं।

(चतुर्थ परिच्छेद का सार)

भेदैकांत और अभेदैकांत का खंडन और स्याद्वाद सिद्धि

योग कहता है कि कार्य-कारण, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि सभी परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। यह समवाय नाम का एक संबंध मानता है जिसका अर्थ है 'अयुतसिद्ध में संबंध होना' उस समवाय से ही सब के संबंध मानता है। जैसे — जीव से ज्ञान भिन्न है समवाय से ईश्वर संबंधित हुआ है किन्तु जीव में ज्ञान के संबंध के पहले जीव का तथा ज्ञान का पृथक्-पृथक् अस्तित्व दिख नहीं रहा है जैसे — दंड के संबंध के पहले मनुष्य और दंड दोनों अलग-अलग दिख रहे हैं पीछे उनका संबंध हो जाने से 'दंडी' यह संज्ञा हो जाती है वैसे यहाँ गुण-गुणी पृथक् रूप से दिखते नहीं है। कार्य कारण में भी सर्वथा भिन्नता नहीं है कथंचित् ही है। इनका समवाय भी सिद्ध नहीं होता है जिसे हम जैन वादात्म्य संबंध कहते हैं उसे समवाय भले ही कह दो किन्तु अलग से यह कोई समवाय संबंध सिद्ध नहीं है।

सांख्य का कहना है कि महान् अलंकार आदि कार्य हैं और प्रधान कारण है, इन दोनों में परस्पर में एकत्व ही है। आचार्य कहते हैं कि कार्य कारण में सर्वथा एकत्व मानने से तो दोनों में से कोई एक ही रहेगा और दूसरे का अभाव हो जावेगा। पुनः एक के अभाव में दूसरा भी नहीं रह सकेगा अतः कार्य, कारण आदि को सर्वथा एकरूप नहीं मानना चाहिए।

योग परस्पर निरपेक्ष भिन्नता और अभिन्नता दोनों ही मान लेते हैं। बौद्ध कहता है कि वस्तु सर्वथा अवाच्य ही है किन्तु जैनाचार्य परस्पर सापेक्षरूप से तत्त्व को भिन्न-भिन्न उभयात्मक मानते हैं और एक साथ

दोनों धर्मों को न कह सकने से चतुर्थ भंगरूप से कथंचित् 'अवाच्य' भी मान लेते हैं सर्वथा नहीं। सभी वस्तुएँ व्यंजन पर्याय की अपेक्षा वाच्य हैं और अर्थ पर्याय की अपेक्षा से अवाच्य हैं।

अद्वैतवादी का कहना है कि द्रव्य एक है वही वास्तविक है, पर्यायें अनेक हैं वे अवास्तविक हैं। द्रव्य उन पर्यायों से भिन्न है।

सौगत का कहना है कि वर्णादिकरूप अनेक पर्याये हैं, वे ही वास्तविक हैं किन्तु द्रव्य नाम की तो कोई चीज ही नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि द्रव्य और पर्यायों में कथंचित् एकत्व है क्योंकि उन दोनों को पृथक्-पृथक् करना अशक्य है।

तथैव द्रव्य और पर्यायों में कथंचित् भिन्नपना भी है क्योंकि दोनों का लक्षण भिन्न है, प्रयोजन आदि से भी भिन्नता है। द्रव्य का लक्षण सत् है, तो पर्याय का लक्षण है — उस-उस प्रतिविशिष्टरूप से होना। सहभावी गुण होते हैं और क्रमभावी पर्यायें होती हैं। द्रव्य अनादि अनंत एक स्वभाव है, पर्यायें सादि सांत अनेक स्वभाव वाली हैं। फिर भी द्रव्य से निरपेक्ष केवल पर्यायें रह नहीं सकतीं और पर्याय निरपेक्ष द्रव्य का अस्तित्व भी असंभव है। गुण और पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन त्रयात्मक ही द्रव्य है।

सप्तभंगी प्रक्रिया — द्रव्य और पर्यायों का पृथक्-पृथक् विवेचन करना अशक्य होने से दोनों में कथंचित् एकत्व है।

असाधारणरूप स्वस्वलक्षण के भेद से कथंचित् दोनों में नानापना सिद्ध है।

क्रम से दोनों नयों की अर्पणा करने से द्रव्य और पर्यायें कथंचित् एकत्व भिन्नत्वरूप उभयात्मक हैं।

युगपत् दोनों नयों की अर्पणा करने से कहना ही अशक्य है अतः कथंचित् द्रव्य और पर्यायें दोनों अवक्तव्य हैं।

भिन्न-भिन्न लक्षण और एक साथ दोनों नयों की अर्पणा करने से कथंचित् नानात्व अवक्तव्य है।

दोनों का पृथक्-पृथक् अशक्य विवेचन होने से और एक साथ दोनों नयों की अर्पणा करने से द्रव्य-पर्यायों में कथंचित् एकत्व अवक्तव्य है।

क्रम से तथा अक्रम से अर्पित दोनों नयों से द्रव्य पर्याय कथंचित् नाना एकत्व अवक्तव्यरूप है।

इस प्रकार से द्रव्य और पर्यायों में प्रमाण तथा नय से अविरुद्ध सप्तभंगी सुघटित है।

(पंचम परिच्छेद का सार)

एकांतरूप अपेक्षा-अनपेक्षा का खंडन और स्याद्वाद सिद्धि

बौद्ध का कहना है कि धर्म और धर्मी परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा से ही सिद्ध होते हैं। जैसे कि मध्यमा और अनामिका अंगुली अतः ये धर्म-धर्मी कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं क्योंकि ये निर्विकल्प ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होते हैं। ये तो निर्विकल्प के अनंतर होने वाले विकल्प ज्ञान से कल्पित किये गये हैं।

योग का कहना है कि धर्म और धर्मी सर्वथा अनापेक्षिक ही हैं — कदाचित् भी एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कथन है कि धर्म और धर्मी का स्वरूप स्वतः सिद्ध है, वह स्वरूप तो एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है किन्तु धर्म और धर्मी का अविनाभाव परस्पर में एक-दूसरे की अपेक्षा ही सिद्ध होता है। जैसे कारक के अंग कर्ता और कर्म स्वतः सिद्ध हैं। कर्ता का स्वरूप कर्म की अपेक्षा नहीं रखता है अन्यथा कर्ता के स्वरूप का अभाव हो जाने से कर्म के स्वरूप का भी अभाव हो जायेगा अतः कथंचित् ये दोनों आपेक्षिक सिद्ध नहीं हैं।

उसी प्रकार योग इन दोनों को सर्वथा अनापेक्षिक ही मानता है, सो भी ठीक नहीं है। कर्ता का व्यवहार कर्म के व्यवहार की अपेक्षा अवश्य रखता है क्योंकि कर्म के निश्चयपूर्वक ही कर्ता जाना जाता है। जैसे — ज्ञानादि गुण धर्म हैं और जीव धर्मी है, ये धर्म और धर्मी अपने-अपने स्वरूप से स्वतः सिद्ध हैं अतः परस्पर आपेक्षिक नहीं हैं। जीव का स्वरूप चैतन्य है और ज्ञान का स्वरूप जानना है। ये अपने-अपने स्वरूप में एक-दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते हैं किन्तु धर्मी के बिना धर्म अथवा धर्म के बिना धर्मी नहीं रह सकते हैं अतः कथंचित् एक-दूसरे की अपेक्षा से भी सिद्ध होते हैं।

स्याद्वाद प्रक्रिया — कथंचित् धर्म और धर्मी आपेक्षिक सिद्ध हैं क्योंकि एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं।

कथंचित् ये दोनों अनापेक्षिक सिद्ध हैं क्योंकि इन दोनों का स्वरूप स्वतः सिद्ध है।

कथंचित् ये दोनों अनापेक्षिक दोनों रूप हैं। एक साथ दोनों अपेक्षाओं का कथन न हो सकने से कथंचित् ये अवक्तव्य हैं।

क्रम से आपेक्षिक और युगपत् दोनों की विवक्षा होने से कथंचित् आपेक्षिक अवक्तव्य हैं। क्रम से अनापेक्षिक और युगपत् दोनों की विवक्षा से कथंचित् अनापेक्षिक अवक्तव्य हैं।

क्रम से और युगपत् दोनों की विवक्षा होने से कथंचित् आपेक्षिक-अनापेक्षिक अवक्तव्य हैं।

इस प्रकार से स्याद्वाद के द्वारा ही वस्तु तत्त्व की सिद्धि होती है।

(छठे परिच्छेद का सार)

एकांतिक हेतुवाद और आगमवाद का खंडन तथा स्याद्वाद सिद्धि

बौद्ध हेतु से ही तत्त्व की सिद्धि मानते हैं, ब्रह्माद्वैतवादी आगम से ही परम ब्रह्म को सिद्ध करते हैं। वैशेषिक तथा बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों से ही तत्त्वों की सिद्धि मानते हैं। आचार्य इन सबका क्रम से खंडन करते हैं।

बौद्ध — सभी उपेय तत्त्व हेतु से ही सिद्ध हैं प्रत्यक्ष से नहीं क्योंकि जो युक्ति से घटित नहीं होता, उसे हम देखकर भी श्रद्धा नहीं करते हैं।

जैन — आपके यहाँ हेतु को ही प्रमाण मानने से तो प्रत्यक्ष आगम आदि सभी अप्रमाण हो जावेंगे पुनः अनुमान ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा तथा शास्त्र के उपदेश से भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा और तब तो आपके बुद्ध भगवान भी अप्रमाण हो जावेंगे क्योंकि बुद्ध भगवान का ज्ञान हेतु से नहीं हो सकता है।

ब्रह्माद्वैतवादी — सभी तत्त्व आगम से ही सिद्ध हैं क्योंकि अनुमान से सिद्ध भी वाक्य यदि आगम से बाधित है, तो वह अग्राह्य है। जैसे-"ब्राह्मण को मदिरा पीना चाहिए क्योंकि वह द्रव्य-द्रव्य है, दूध के

समान'' यह कथन अनुमान से तो सिद्ध है किन्तु ''ब्राह्मणो ने सुरा पिबेत्'' इत्यादि आगम से बाधित है और हमारे यहाँ परम ब्रह्म भी तो आगम से ही सिद्ध है।

जैन—इस प्रकार आगम को ही प्रमाण मानने पर तो आपके यहाँ अन्य लोगों द्वारा विरुद्ध अर्थ को कहने वाले आगम भी प्रमाण हो जावेंगे क्योंकि आगम-आगम से तो सभी समान हैं। यदि आप अपने आगम को ही समीचीन कहो तो उसकी समीचीनता का निर्णय भी तो युक्ति—हेतु से ही किया जायेगा अतः आपका आगम भी तो हेतु सापेक्ष ही रहा अतः एकांत मान्यता ठीक नहीं है।

वैशेषिक-सौगत—प्रत्यक्ष और अनुमान से ही तत्त्वों की सिद्धि होती है, आगम से नहीं।

जैन—यह कथन भी सारहीन है क्योंकि ग्रहों के संचार एवं चंद्रग्रहण आदि ज्योतिष शास्त्र से ही सिद्ध हैं अतः हेतु, आगम, प्रत्यक्ष और अनुमान इन सभी से ही उपेय तत्त्व सिद्ध होते हैं।

इन दोनों का निरपेक्ष उभयैकात्म्य भी श्रेयस्कर नहीं है तथा स्याद्वाद के अभाव में अवाच्य तत्त्व कहना भी असंभव है।

स्याद्वाद सिद्धि—वक्ता के आप्त न होने पर जो हेतु से सिद्ध होता है, वह हेतु साधित है एवं वक्ता जब आप्त होता है तब उसके वाक्य से जो सिद्ध होता है वह आगम साधित है। 'यो यत्र अवंचकः स तत्राप्तः' जो जिस विषय में अवंचक—अविसंवादक है वह आप्त है, इससे भिन्न अनाप्त हैं।

कथंचित् सभी वस्तुएँ हेतु से सिद्ध हैं क्योंकि उनमें इन्द्रिय और आप्त वचन की अपेक्षा नहीं है।

कथंचित् सभी आगम से सिद्ध हैं क्योंकि इन्द्रिय और हेतु की अपेक्षा है।

कथंचित् उभयरूप हैं क्योंकि क्रम से दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् अवक्तव्य हैं क्योंकि युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् हेतु से सिद्ध और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से हेतु की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् आगम से सिद्ध और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से आगम की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् उभयरूप और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

भावार्थ—जैन सिद्धांत में 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र के द्वारा प्रमाण और नयों से वस्तु तत्त्व को समझने का उपदेश दिया गया। प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा दो भेद हैं। इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को कहीं (न्याय ग्रंथों में) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है तथा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये परोक्ष प्रमाण हैं। इन सभी के द्वारा वस्तु तत्त्व को ठीक से समझना चाहिए।

(सातवें परिच्छेद का सार)

अंतरंगार्थ एवं बहिरंगार्थ के एकांत का खंडन एवं स्याद्वाद सिद्धि

विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध कहता है कि अंतरंगार्थ विज्ञान मात्र ही एक तत्त्व है किन्तु दिखने वाले बहिरंग पदार्थ कुछ भी नहीं हैं ये तो कल्पना मात्र हैं। ये सब बाह्य पदार्थ इंद्रजालिया के खेल के समान हैं अथवा स्वप्न के राज्य समान हैं।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि आपकी इस एकांत मान्यता से तो हेतु और आगम से सिद्ध मोक्ष तत्त्व एवं अनुमान, आगम आदि सभी प्रमाण आदि मिथ्या हो जायेंगे तथा बाह्य पदार्थ भी प्रत्यक्ष में जो दिख

रहे हैं वे सर्वथा काल्पनिक नहीं हैं अन्यथा नर-नारकादि पर्यायें और उनके निमित्त से होने वाले सुख-दुःख भी काल्पनिक ही कहे जायेंगे और तब संसार भी काल्पनिक ही सिद्ध होगा तथा संसार को ही रहेगा। इस व्यवस्था से तो आपके बुद्ध भगवान काल्पनिक कहने पर तो मोक्ष भी काल्पनिक एवं आपका मत भी काल्पनिक ही हो जायेगा।

कोई बाह्य पदार्थवादी है—जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे सब ज्ञान से संबंधित हैं क्योंकि ज्ञान विषयाकार होता है अतः बाह्य पदार्थ ही वास्तविक हैं ज्ञान स्वतंत्र कोई चीज नहीं है।

इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि यदि आप सभी पदार्थों को ज्ञान से संबंधित मानेंगे तब तो प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही खत्म हो जायेंगे। तृण के अग्रभाग पर सौ हाथी बैठे हैं, इत्यादि ऊटपटांग वाक्यों का ज्ञान एवं स्वप्न का ज्ञान अपने-अपने पदार्थ से संबंधित नहीं है क्योंकि इन ज्ञानों में विसंवाद देखा जाता है।

इन अंतरंग—ज्ञानतत्त्व और बहिरंग—बाह्य पदार्थ को परस्पर निरपेक्ष मानने वाले उभयैकात्म्यवादी का सिद्धांत भी विरुद्ध ही है। उसी प्रकार दोनों तत्त्वों को एकांत से अवाच्य मानना भी अघटित ही है।

स्याद्वाद की अपेक्षा अंतरंग और बहिरंग दोनों ही तत्त्व वास्तविक हैं। सभी ज्ञान स्वरूपसंवेदन की अपेक्षा से एवं सत्व प्रमेयत्वादि की अपेक्षा से प्रमाणरूप ही हैं अतएव अंतः प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणाभास कुछ भी नहीं है किन्तु जब बहिः प्रमेय—बाह्य पदार्थों को प्रमेय करते हैं, तब ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिए अंतस्तत्त्व और बहिस्तत्त्व दोनों ही सिद्ध हैं।

जीव के अस्तित्व की सिद्धि

चार्वाक—जीव अपने स्वरूप से रहित है, वह शरीर इन्द्रिय आदि के समूहरूप ही है। जन्म के पूर्व और मरण के अनंतर चैतन्य नामक कोई तत्त्व नहीं है अतः अनादिनिधन कोई आत्मा नहीं है। चैतन्य भी सत् है और भूतचतुष्टय भी सत् है। सत् रूप से दोनों समन्वित हैं अतः जीव भूतचतुष्टय से उत्पन्न होता है किन्तु भूतचतुष्टय तो परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। उन चारों में एक विकारी समन्वय नहीं है अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों तत्त्व भिन्न-भिन्न ही हैं।

जैनाचार्य—यह आपका कथन सर्वथा असत् है। जीव गया, जीव विद्यमान है, इत्यादि रूप से यह जीव शब्द लोकव्यवहार का आश्रय लेता है। यह व्यवहार शरीर, इन्द्रिय आदि में नहीं हो सकता है। वैसे ही जन्म से पहले और मरण के अनंतर भी चैतन्य का अस्तित्त्व सिद्ध है, किसी को जातिस्मरण होता हुआ देखा जाता है, बालक माता का स्तनपान करता है इत्यादि बातें भी संस्कार से मानी जाती हैं। आपने जो भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति मानी है, वह भी सर्वथा गलत है क्योंकि अचेतन से चेतन की उत्पत्ति होना असंभव है तथा ये चारों भूतचतुष्टय परस्पर में सजातीय होने से एक-दूसरेरूप भी परिणत हो सकते हैं इसलिए ये सर्वथा भिन्न-भिन्न भी नहीं हैं। चंद्रकांत मणि रूप पृथ्वी से जल की उत्पत्ति, सूर्यकांत से अग्नि की उत्पत्ति आदि तथा जलबिन्दु से सीप में मोती की उत्पत्ति आदि देखी जाती है अतः अनादिनिधन जीव तत्त्व सिद्ध है वह ज्ञान, दर्शन, उपयोग स्वभाव वाला है।

ऐसे ही सांख्य जीव को कूटस्थ नित्य अपरिणामी ज्ञान शून्य मानते हैं। वे ज्ञान को प्रकृति (जड़) का धर्म मानते हैं। योग जीव को स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा नहीं जानने योग्य—अस्वसंविदित मानते हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि सभी शरीर में एक अभिन्न रूप (परमब्रह्म) जीवात्मा है। बौद्ध आत्मा को प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न ही

मानते हैं। इन सब के द्वारा जीव शब्द बाह्यार्थ सहित नहीं है क्योंकि यह सब मान्यता केवल कपोलकल्पित ही है।

इस प्रकार जीव तत्त्व की सिद्धि हो जाने से अंतरंग तत्त्व सिद्ध हो जाता है उसी प्रकार से बाह्य पदार्थ भी परमार्थ सत्य है क्योंकि साधन और दूषण का प्रयोग देखा जाता है। बाह्य पदार्थ के होने पर ही ज्ञान एवं शब्द प्रमाणरूप हैं, बाह्य पदार्थ के अभाव में प्रमाणभूत नहीं हैं। इस प्रकार से अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से ही सत्य और असत्य की व्यवस्था हो जाती है।

भावार्थ—जीव तत्त्व वास्तविक है अन्यथा 'न जीवः अजीवः' इस नियम से अजीव का अस्तित्व ही समाप्त हो जावेगा तथा जीव के बिना बाह्य पदार्थों को बतलाने वाला भी कोई नहीं रहेगा अतः जीव तत्त्व की निर्बाध सिद्धि हो जाने से बाह्य पदार्थ भी निर्बाधरूप से सिद्ध हो जाते हैं।

(आठवें परिच्छेद का सार)

दैव और पुरुषार्थ के एकांत का खंडन एवं स्याद्वाद की सिद्धि

कोई मीमांसक भाग्य से ही सभी कार्यों की सिद्धि मानते हैं। चार्वाक पुरुषार्थ से ही सभी कार्यों की सिद्धि कहते हैं। कोई विशेष मीमांसक स्वर्गादि को भाग्य से एवं कृषि आदि को पुरुषार्थ से मानते हैं और कोई बौद्ध लोग कार्यों की सिद्धि में इन दोनों को भी न मानकर अवक्तव्य से ही सिद्धि मानते हैं।

यहाँ सबसे प्रथम भाग्येकांत पक्ष का निराकरण करते हैं—

मीमांसक—सभी कार्य भाग्य से ही सिद्ध होते हैं पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता है।

जैन—तब तो पुण्य और पापरूप आचरण के द्वारा भाग्य का निर्माण कैसे होता है ?

मीमांसक—पूर्व-पूर्व के भाग्य से ही आगे-आगे के भाग्य का निर्माण होता है न कि पुण्य-पाप आदि आचरणों से।

जैन—तब तो इस प्रक्रिया से पूर्व-पूर्व के भाग्य से आगे-आगे के भाग्य का निर्माण होते रहने से भाग्य का अभाव कभी भी नहीं हो सकेगा और तब तो मोक्ष कभी नहीं हो सकेगा तथा मोक्ष के लिए किये गये पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जावेंगे ?

मीमांसक—पुरुषार्थ से भाग्य का निर्मूल नाश हो जाता है इसलिए मोक्ष की सिद्धि और उसके पुरुषार्थ सफल हैं।

जैन—तब आपने भी पुरुषार्थ को तो मान ही लिया पुनः भाग्य का एकांत कहाँ रहा ?

पुरुषार्थ एकांतवाद का निराकरण

चार्वाक—सभी कार्य पुरुषार्थ से ही सिद्ध होते हैं।

जैन-यह भी एकांत ठीक नहीं है क्योंकि एक साथ अनेकों जन खेती करते हैं किन्तु किसी को विशेष लाभ और किसी को हानि भी होती हुई देखी जाती है किन्तु पुरुषार्थ तो सभी के समान हैं पुनः ऐसा अन्तर क्यों है ?

इसलिए एकांत से पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि मानना गलत है।

कोई-कोई दैव-पुरुषार्थ को मान करके भी दोनों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है।

एकांत से अवक्तव्य मानने पर भी स्ववचन विरोध आता है।

अतएव स्याद्वाद की पद्धति से वस्तुतत्त्व की सिद्धि होती है—

''अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्''।।९१।।

बिना बिचारे अनायास ही जब अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य सिद्ध हो जाते हैं तब उनमें भाग्य की प्रधानता है और जब बुद्धिपूर्वक अनुकूल या प्रतिकूल कार्यों की सिद्धि होती है तब उनमें पुरुषार्थ की प्रधानता है। ये भाग्य और पुरुषार्थ एक-दूसरे की अपेक्षा रखने वाले होने से ही सम्यक् कहलाते हैं अन्यथा परस्पर निरपेक्ष होने से मिथ्या एकांतरूप हो जाते हैं अतः ये दोनों सापेक्ष ही कार्यों की सिद्धि में समर्थ होते हैं, ऐसा समझना।

सप्तभंगी की प्रक्रिया—

(१) कथंचित् सभी कार्य दैवकृत होते हैं क्योंकि अनायास ही सिद्ध हुए हैं।

(२) कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थकृत होते हैं क्योंकि बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से सिद्ध हुए हैं।

(३) कथंचित् सभी कार्य भाग्य और पुरुषार्थ दोनों कृत हैं क्योंकि दोनों की विवक्षा है।

(४) कथंचित् सभी कार्य अवक्तव्य हैं क्योंकि इन दोनों को एक साथ कह नहीं सकते हैं।

(५) कथंचित् दैवकृत और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से दैव की युगपत् दोनों की विवक्षा है।

(६) कथंचित् सभी कार्य पुरुषार्थकृत और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से पुरुषार्थ की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

(७) कथंचित् सभी कार्य दैव और पुरुषार्थकृत अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से दोनों की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

इस प्रकार स्याद्वाद की अपेक्षा से भाग्य और पुरुषार्थ दोनों ही सापेक्ष होकर कार्य साधक होते हैं अन्यथा नहीं, ऐसा समझना चाहिए।

(नवमें परिच्छेद का सार)

पुण्य और पाप के एकांत का निराकरण एवं स्याद्वाद की सिद्धि

भाग्य दो प्रकार का है—एक पुण्य और दूसरा पाप। वही प्राणियों के सुख और दुःख का कारण है।

''सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं। अतोऽन्यत्पापम्''। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र, ये पुण्यरूप हैं और इनसे विपरीत असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच गोत्र तथा चारों घातिया कर्म, ये पापरूप हैं।

कोई एकान्त से कहता है कि पर जीवों में दुःख उत्पन्न करने से पाप एवं पर में सुख उत्पन्न करने से पुण्य ही होता है। तो आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार की मान्यता से तो अचेतन दूध, घी आदि पदार्थ अन्य जीवों को सुख उत्पन्न करते हैं इसलिए उनके पुण्यबंध मानना पड़ेगा और विष, कंटक आदि पदार्थ दुःख उत्पन्न करते हैं, उनके पाप बंध मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि चेतन ही बंध के योग्य हैं, अचेतन नहीं तो भी वीतरागी मुनिराज के पर के सुख-दुःख के निमित्त से कर्मों का बंध होने लगेगा अर्थात् कोई महामुनि ध्यान में लीन हैं उन्हें देखकर भक्तजन प्रसन्न हो जाते हैं और अज्ञानीजन निंदा

करते हैं, उनसे दुःख अनुभव करते हैं एतावता ये परजीवों के सुख-दुःख में निमित्त तो हो रहे हैं किन्तु स्वयं वीतरागी हैं इनके भी कर्मबंध मानना पड़ेगा। यदि आप कहें कि उन मुनिराज का वैसा सुख-दुःख देने का मानो अभिप्राय नहीं है तब तो पर में सुख-दुःख करने से ही पुण्य बंध होता है, ऐसा आपका एकान्त कहाँ रहा ?

इससे विपरीत कोई कहता है कि अपने में दुःख को उत्पन्न करने से पुण्य एवं सुख को उत्पन्न करने से पाप बंध ही होता है। इस पर भी आचार्य कहते हैं कि ऐसा एकान्त भी श्रेयस्कर नहीं है। देखो ! यदि ऐसा ही एकांत मानोगे तो वीतरागी मुनिराज त्रिकाल योग के अनुष्ठान से और उपवास आदि से अपने में दुःख उत्पन्न करते हैं तो इन्हें पुण्य बंध हो जावेगा और विद्वान् मुनिजन तत्त्वज्ञान से संतोष लक्षण सुख को अपने में प्राप्त करते हैं तो उन्हें पाप का बंध मानना पड़ेगा। यदि आप कहें आसक्ति नहीं है अतएव ये वीतरागी और विद्वान मुनिराज पुण्य पाप से नहीं बंधते हैं, तब तो तुम्हारा एकांत समाप्त हो जाता है और यदि एकांत लेते ही हो तब तो कषायरहित वीतराग छद्मस्थ महामुनि को भी बंध होने लगेगा पुनः कदाचित् भी पुण्य-पाप का अभाव न होने से किसी को भी मुक्ति नहीं मिल सकेगी।

कोई-कोई लोग एकांत से परस्पर निरपेक्ष उपर्युक्त दोनों बातों को मानते हैं, इस पर भी आचार्यश्री का कहना है कि यह उभयैकात्म्य भी परस्पर में विरुद्ध होने से ठीक नहीं है। उसी प्रकार से कोई लोग इन पुण्य पाप के बंध की व्यवस्था को एकांत से अवाच्य कह देते हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि एकांत से अवाच्य के मानने पर पुनः उसे 'अवाच्य' इस शब्द से वाच्य कर देने पर तो स्ववचन बाधित दोष आता है अतः यह अवाच्य एकांत पक्ष भी गलत ही है।

अब आचार्य इन पुण्य-पाप के विषय में सही मान्यता को स्पष्ट करते हैं—

विशुद्धि के कारण, कार्य और स्वभाव ये विशुद्धि के अंग कहलाते हैं और संक्लेश के कारण, कार्य तथा स्वभाव संक्लेश के अंग कहे जाते हैं। इस विशुद्धि के निमित्त से होने वाला सुख अथवा दुखा चाहे निज में हो, चाहे पर में हो अथवा चाहे उभय में हो, वही पुण्यास्रव का हेतु है। उसी प्रकार संक्लेश के निमित्त से होने वाला सुख अथवा दुःख चाहे अपने में हो या चाहे उभय में हो, वही पापास्रव का हेतु है।

प्रश्न—संक्लेश क्या है ? एवं विशुद्धि क्या है ?

उत्तर—आर्त और रौद्र ध्यान को संक्लेश कहते हैं एवं धर्म तथा शुक्लध्यान को विशुद्धि कहते हैं। उनमें भी आर्तध्यान के इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाजन्य और निदान ऐसे चार भेद हैं और रौद्रध्यान के भी हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी और परिग्रहानंदी ऐसे चार भेद हैं तथा 'मिथ्यादर्शन[१], अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के हेतु कहे गये हैं। ये पाँचों ही संक्लेश परिणाम कहलाते हैं। संक्लेश के अभाव में सम्यग्दर्शन आदि के निमित्त से विशुद्धि होती है। उन धर्म, शुक्लध्यानरूप विशुद्धि के द्वारा आत्मा में स्थिरता का होना संभव है।

"विवाद की कोटि को प्राप्त काय आदि की क्रियाएँ स्व पर में सुख अथवा दुःखहेतुक संक्लेश की कारण हैं या कार्य हैं या स्वभाव हैं तो वे प्राणियों में अशुभ फलदायी पुद्गल परमाणुओं के संबंध में हेतु हैं क्योंकि वे संक्लेश की कारण हैं जैसे—विषभक्षण आदि। वैसे ही "विवाद की कोटि को प्राप्त कायादि क्रियाएँ स्व पर में सुख या दुःख हेतुक भले ही हों, यदि वे विशुद्धि की कारण हैं या कार्य हैं या स्वभाव हैं तो वे प्राणियों को शुभ फलदायी पुद्गलवर्गणाओं का संबंध कराने में हेतुक हैं क्योंकि वे विशुद्धि का अंग हैं,

१. तत्त्वार्थ. आठवीं अ. सूत्र-१।

जैसे—पथ्य आहार आदि"।

अब आचार्य सप्तभंगी प्रक्रिया के द्वारा स्याद्वाद को सिद्ध करते हैं—

कथंचित् स्व पर में स्थित सुख या दुःख पुण्यास्रव के हेतु हैं क्योंकि वे विशुद्धि के अंग हैं।

कथंचित् स्व पर में स्थित सुख या दुःख पापास्रव के हेतु हैं क्योंकि वे संक्लेश के अंगस्वरूप हैं।

कथंचित् स्व पर में स्थित सुख और दुःख पुण्यास्रव और पापास्रव दोनों में हेतु हैं क्योंकि क्रम से दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् अवक्तव्यरूप हैं क्योंकि युगपत् दोनों को कह नहीं सकते हैं।

कथंचित् पुण्यास्रव हेतुक और अवक्तव्यरूप हैं क्योंकि क्रम से विशुद्धि की और एक साथ दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् पापास्रव हेतुक और अवक्तव्य हैं क्योंकि क्रम से संलेश की और युगपत् दोनों की विवक्षा है।

कथंचित् उभयरूप और अवक्तव्यरूप हैं क्योंकि क्रम से दोनों की और युगपत् दोनों की अपेक्षा है।

यहाँ निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि धर्मध्यान आदि रूप विशुद्ध परिणामों से किसी को या अपने को दुःख भी हो जाता है, जैसे—उपवास आदि कराने में या शिष्यों को हित के लिए फटकारने में दुःख भी है फिर भी पुण्यास्रव ही होगा और यदि आर्त, रौद्र ध्यान के निमित्त से परिणामों में संक्लेश हो रहा है तो चाहे अपने में चाहे पर को सुख भी क्यों न हो, परन्तु उससे पाप का आस्रव ही होता है इसलिए परिणामों को विशुद्ध बनाना चाहिए।

(दशवें परिच्छेद का सार)

अज्ञान से बंध और ज्ञान से मोक्ष के एकांत का विचार एवं स्याद्वाद की सिद्धि

सांख्य का कहना है कि अज्ञान से ही बंध होता है और ज्ञान से ही मोक्ष होता है। इस पर जैनाचार्य का कहना है कि यदि आप अज्ञान से बंध अवश्यंभावी मानोगे तो ज्ञेय पदार्थ तो अनंत हैं पुनः उनको जानने वाला कोई नहीं हो सकेगा और यदि अल्पज्ञान से ही मोक्ष मानो तो बचे हुए अवशिष्ट अज्ञान से मोक्ष हो जावेगा अथवा सभी प्राणियों में कुछ न कुछ ज्ञान संभव ही है अतः सभी जीव मुक्त हो जावेंगे।

नैयायिक का कहना है कि दुःख जन्म प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान का उत्तरोत्तर अभाव हो जाने से मोक्ष हो जाता है क्योंकि दुःखादिकों का अभाव तत्त्वज्ञानपूर्वक ही होता है। मिथ्याज्ञान से दोषों की उद्भूति अवश्य होती है। इस पर जैनाचार्यों का कहना है कि मिथ्याज्ञान का संपूर्णतया अभाव कैसे होगा ? पुनः मिथ्याज्ञान से दोष आदि परम्परा चलती ही रहेगी।

स्याद्वाद का आश्रय लेने वाले जैनाचार्यों का कहना है कि जो एकांत से यह कहा जाता है कि अज्ञान से बंध और ज्ञान से मोक्ष होता है सो असंभव है क्योंकि सभी को किसी न किसी विषय में अज्ञान तो है ही है पुनः किसी न किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा इसलिए वास्तविक चीज तो यह है कि मोहसहित अज्ञान से बंध होता है किन्तु मोहरहित रागद्वेषादि कषायों से रहित अज्ञान अर्थात् अल्प ज्ञान से मोक्ष होता है क्योंकि मोह कर्मरहित उपशांतकषाय और क्षीणकषाय वाले ऐसे ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में यद्यपि अज्ञान है फिर भी उनके बंध नहीं होता है इन दोनों गुणस्थानों में केवलज्ञान न होने से अज्ञान है ही है। वस्तुतः केवलज्ञान

की अपेक्षा श्रुतज्ञान आदि क्षायोपशमिक ज्ञान अल्प ही हैं। वह अल्पज्ञान मोहरहित छद्मस्थ वीतरागी के चरम समय में मौजूद है, उसी से ही उत्तर क्षण में तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट हो जाता है जिसे कि आर्हंत्य लक्षण — अपर मोक्ष कहते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि से लेकर दशवें गुणस्थान तक मोहसहित ज्ञान कर्मबंध का ही कारण है अतः स्याद्वाद प्रक्रिया से समझना चाहिए।

(१) कथंचित् अज्ञान से बंध होता है क्योंकि वह मिथ्यात्व कषायादि से सहित है।

(२) कथंचित् अज्ञान से बंध नहीं होता है क्योंकि वह मिथ्यात्व कषायादि से रहित है।

(३) कथंचित् अज्ञान से बंध होता है और नहीं होता है क्योंकि क्रम से मिथ्यात्वादि सहित और रहित दोनों की विवक्षा है।

(४) कथंचित् अवक्तव्य है क्योंकि दोनों अपेक्षाओं को एक साथ कह नहीं सकते हैं।

(५) कथंचित् अज्ञान से बंध और अवक्तव्य है क्योंकि क्रम से मोहसहित की तथा युगपत् दोनों की विवक्षा है।

(६) कथंचित् अज्ञान से अबंध और अवक्तव्य है क्योंकि क्रम से मोहरहित और युगपत् दोनों की अपेक्षा है।

(७) कथंचित् अज्ञान से बंध और अबंध तथा अवक्तव्य है क्योंकि क्रम से मोहसहित और रहित की तथा युगपत् दोनों की अपेक्षा है।

इसी प्रकार से मोहसहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं होता है तथा मोहरहित अल्पज्ञान से भी मोक्ष होता है, इसमें भी सप्तभंगी प्रक्रिया घटित करना चाहिए।

प्रमाण और नय

हे भगवान्! आपके सिद्धान्त में तत्त्वज्ञान ही प्रमाण है। उसमें युगपत् सभी पदार्थों का अवभासन — प्रकाशन करने वाला केवलज्ञान है और स्याद्वाद नय से संस्कृत मति, श्रुत आदि शेष ज्ञान क्रमभावी हैं। यहाँ पर तत्त्वज्ञान को प्रमाण कहने से अज्ञान निराकार दर्शन, संशय आदि ज्ञान इन सबका निराकरण हो जाता है। इस प्रमाण से प्रत्यक्ष-परोक्ष ऐसे दो भेद होने से परोक्ष के अन्तर्गत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये ज्ञान भी प्रमाण रूप हैं।

केवलज्ञान का फल तो उपेक्षा है। शेष ज्ञानों का फल ग्रहण करना, त्याग करना तथा उपेक्षा करना इन तीनों रूप है अथवा अपने-अपने विषय में अज्ञान का अभाव होना ही ज्ञान का फल है।

हे भगवन्! आपके यहाँ 'स्यात्' यह पद निपात से सिद्ध है। वाक्यों में अनेकांत उद्योतित करने वाला है एवं अपने अर्थ से सहित होने से अर्थ के प्रति समर्थ विशेषण है। सत्, असत्, नित्य, अनित्य आदि रूप सर्वथा एकांत का निराकरण करने वाला अनेकांत है। जैसे 'स्याज्जीवः' ऐसा कहने से उसका प्रतिपक्षी अजीव भी जान लिया जाता है। सर्वथा एकांत के त्याग से ही स्याद्वाद होता है। 'कथंचित्' आदि शब्द इसी के पर्यायवाची हैं, यह सप्त भंगों की अपेक्षा करके स्वभाव और परभाव के द्वारा वस्तु के सत्-असत् आदि धर्मों की व्यवस्था करता है।

विरोध रहित स्याद्वादरूप आगम प्रमाण के द्वारा विषय किये गये पदार्थ विशेष का जो व्यंजक है वह नय कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा जानने योग्य अर्थ का ज्ञान होता है वह नय है।

अनेकरूप अर्थ को विषय करने वाला अनेकांतरूप ज्ञान प्रमाण है। अन्य धर्मों की अपेक्षा करते हुए वस्तु के एक अंश का ज्ञान नय है और अन्य धर्मों का निराकरण करके वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला दुर्नय है क्योंकि यह विपक्ष का विरोधी होने से केवल स्वपक्ष मात्र का हठाग्रही है। यदि कोई कहे कि मिथ्या-एकांत का समुदाय मिथ्यारूप ही है तो हमने ऐसा नहीं माना है। हमारे यहाँ निरपेक्ष नय मिथ्या है और उनका समूह भी मिथ्या ही है। यदि वे ही नय सापेक्ष हैं तो सम्यक् हैं, वास्तविक हैं।

नय के मूल में दो भेद हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इन दो के ही सात भेद हो जाते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। जो द्रव्य को ही विषय करे, जिसकी दृष्टि में पर्यायें गौण हों, वह द्रव्यार्थिक नय है तथा जो पर्याय मात्र को विषय करे, वह पर्यायार्थिक नय है। जैसे—द्रव्यार्थिक नय से जीव नित्य है। जन्म-मरण से रहित है तथा पर्यायार्थिक नय से जीव अनित्य है, उसकी पर्यायों का उत्पाद-विनाश होने से वह जीव से भिन्न नहीं है।

स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की अपेक्षा रखने वाला है, देय और उपादेय के भेद को करने वाला है तथा सभी तत्त्वों को केवलज्ञान के समान प्रकाशित करता है।

''स्याद्वाद केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमौ भवेत्''।।१०५।।

अर्थ—स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करने वाले हैं। अंतर केवल इतना ही है कि केवलज्ञान साक्षात् सम्पूर्ण तत्त्वों को प्रकाशित करता है और स्याद्वाद असाक्षात् परोक्षरूप से प्रकाशित करता है। स्याद्वाद आगम परोक्षरूप से सभी पदार्थों का ज्ञान करा देता है। यहाँ पर 'सर्व' इस पद से उनकी सम्पूर्ण गुण पर्यायों को नहीं लेना चाहिए क्योंकि 'मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का विषय सभी द्रव्य और उनकी कुछ-कुछ पर्यायें हैं, ऐसा सूत्रकार का वचन है अतः प्रमाण का विषय धर्मांतरों को ग्रहण करना है, नयों का विषय धर्मांतरों का त्याग करना है क्योंकि प्रमाण से तत्-असत् स्वभाव का ज्ञान होता है, नय से तत् एक अंश का ज्ञान होता है तथा दुर्नय से अन्य का निराकरण करके निरपेक्ष एक अंश का ज्ञान होता है। इसलिए—

हे भगवन्! जिन्हें हमने निर्दोषरूप से निश्चित किया है, वे निर्दोष आप ही हैं क्योंकि आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी हैं। आप ही मोक्षमार्ग के प्रणेता कर्मभूभृत् के भेत्ता एवं विश्व तत्त्वों के ज्ञाता सिद्ध हैं, इस कारण से आप ही भगवान् अर्हंत सर्वज्ञ सिद्ध हैं, स्याद्वाद के नायक हैं यह बात सिद्ध हो गई।

इस प्रकार से हित की इच्छा करने वालों के लिए मैंने यह आप्त की मीमांसा कही है, जो कि सम्यक् और मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष को समझने के लिए है।

विशेष—अष्टसहस्री ग्रंथराज के कुछ सरल और मधुर प्रकरणों को साररूप में समझाने का प्रयास किया गया है, जो विशेष जिज्ञासु हैं उन्हें हिन्दी अनुवाद सहित अष्टसहस्री का स्वाध्याय करना चाहिए। स्याद्वाद के रहस्य को समझने के लिए यह एक अनूठा ग्रंथ है।

अष्टसहस्री ग्रंथराज का महत्व

श्रीमदुमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र की रचना की आदि में "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृतां। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये।।" इत्यादि रूप से मंगलाचरण किया है, उसी मंगलाचरण पर

आचार्यवर्य श्री समंतभद्रस्वामी ने आप्तमीमांसा नाम के स्तोत्र की रचना की है, उसमें श्री समंतभद्राचार्य ने दश अध्यायों में मुख्यरूप से दश प्रकार के एकांत का निरसन करके स्याद्वाद की सप्तभंगी प्रक्रिया को घटित किया है। उन एक-एक परिच्छेद में मुख्य-मुख्य एकांतों के खण्डन में उभयकात्म्य तथा अवाच्य का खण्डन करते हुए 'विरोधान्नोभयैकात्म्यं' इस कारिका को प्रत्येक स्वाध्याय में लिया है अतः यह कारिका दस बार आ गई है।

जैसे प्रथम अध्याय में मुख्यता से भावैकांत-अभावैकांत का खंडन है पुनः उभयैकात्म्य का खंडन एवं अवाच्य का खण्डन करते हुए "विरोधान्नोभयैकात्म्य" इत्यादि कारिका की गई है। पुनः कथंचित् भाव-कथंचित् अभाव को सिद्ध करके सप्तभंगी प्रक्रिया घटित की है तथा इस भाव-अभाव के खण्डन में अनेक अन्य विषय भी स्पष्ट किये हैं। द्वितीय में एकत्व पृथक्त्व को एकांत से न मानकर प्रत्येक वस्तु कथंचित् एकत्व पृथक्त्वरूप ही है यह प्रगट किया है। तृतीय परिच्छेद में नित्यानित्य को दिखाया है, चतुर्थ में भेदाभेदात्मक वस्तु को बताया है, पाँचवें में कथंचित् आपेक्षिक-अनापेक्षिकरूप वस्तु को सिद्ध किया है, पुनः छठे में हेतुवाद आगम को स्याद्वाद से सिद्ध करके सातवें में अंतस्तत्व-बहिस्तत्त्व का अनेकांत बताया है, आठवें में दैव पुरुषार्थ को स्याद्वाद से प्रगट करके नवमें में पुण्य-पाप का अनेकांत उद्योतित किया है, दशवें में ज्ञान-अज्ञान से मोक्षबंध की व्यवस्था को प्रकाशित किया है। स्याद्वाद और नयों का उत्तम रीति से वर्णन किया है। तात्पर्य यही है कि इस अष्टसहस्री ग्रंथ में जिस रीति से स्याद्वाद का वर्णन प्रत्येक स्थान पर किया गया है वैसा वर्णन अन्यत्र न्यायग्रंथों में कहीं पर भी नहीं है, प्रत्येक अध्याय में सप्तभंगी प्रक्रिया बहुत ही अच्छी मालूम पड़ती है। अंत में आचार्य ने यह बताया है कि मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों के लिए यह आप्त मीमांसा — सर्वज्ञ विशेष की परीक्षा की गई है क्योंकि मुख्यरूप से मोक्ष ही हितरूप है और उसकी प्राप्ति के कारणभूत रत्नत्रय को भी हितरूप माना गया है अतः सम्यक्त्व और मिथ्यात्व विशेष का ज्ञान कराने के लिए यह आप्तमीमांसा प्रधान ग्रंथ है क्योंकि सत्य-असत्य तत्त्व का एवं आप्त का पूर्णतया निर्णय हो जाने के बाद ही यह जीव असत्य को छोड़कर सत्य मार्ग का या सत्य आप्त का आश्रय लेता है अतः यह अष्टसहस्री ग्रंथ आर्हंत्य लक्ष्मी की परिसमाप्यि — प्राप्ति पर्यंत स्वार्थसंपत्ति को सिद्ध करने वाला है इसलिए शास्त्र की आदि में स्तुति किये गये मोक्षमार्ग के प्रणेता कर्मभूभृद्भेत्ता और विश्वतत्त्वों के ज्ञाता सिद्ध हुए अर्हंत भगवान् ही निर्दोष आप्त हैं उन्हीं के गुणों को प्राप्त करने के लिए उन्हें ही नमस्कार करना उचित है अन्य को नहीं।

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत् ययैव स्वसमय परसमय सद्भावः।।

स्वयं विद्यानंदि आचार्यवर्य ऐसा कहते हैं कि एक अष्टसहस्री ग्रंथ को ही सुनना चाहिए, अन्य हजारों ग्रंथों के सुनने से क्या प्रयोजन है ? क्योंकि जब तक इस एक ग्रंथ के द्वारा ही स्वसमय अपने स्याद्वाद जैन सिद्धांत और परसमय पर परिकल्पित अनेक एकांत तत्त्वों को समझ नहीं लेंगे तब तक हम अपना सिद्धांत भी अत्यंत सूक्ष्मतया स्याद्वाद की कसौटी पर कस नहीं सकेंगे और जब तक सप्तभंगी स्याद्वाद प्रक्रिया से हम अपने तत्त्वों को नहीं समझ लेंगे तब तक एकांतवाद के किसी प्रवाह में बहने का डर बना ही रहेगा।

आगम और तर्क दोनों की कसौटी पर कसा गया तत्त्व ही शुद्ध सत्य सिद्ध होता है अन्यथा नहीं। केवल सिद्धांत अथवा केवल अध्यात्मरूप आगम से जाना गया तत्त्व कदाचित् बेमालूम ही एकांत के गड्ढे में डाल सकता है किन्तु आगम और तर्क दोनों के द्वारा समझा गया तत्त्व सम्यक् श्रद्धान से कथमपि च्युत् नहीं कर

सकता। श्रीसमंतभद्राचार्यवर्य ने अपनी रचनाओं को भगवान की स्तुति का रूप देते हुए प्रौढ़तया न्याय के ग्रंथरूप बना दिया है। यह विशेषता केवल एक समंतभद्रस्वामी में ही थी कि न्यायपूर्ण शब्दों के द्वारा निर्भीकतया भगवान के साथ भी वार्तालाप करते हुए उन्हीं सर्वज्ञ भगवान की भी परीक्षा करने का साहस कर डाला है। सो ठीक ही है क्योंकि जब उन्होंने स्वयंभूस्तोत्र की रचना के द्वारा शिवपिंडी से भगवान चन्द्रप्रभु को ही प्रगट कर लिया था तब उनका इस पद्धति से भगवान को ही न्याय की कसौटी पर कस देना कोई बड़ी बात नहीं है। सचमुच में यह कोई साधारण व्यक्ति का काम नहीं कि भगवान की परीक्षा शुरु कर देवे, श्रीसमंतभद्र जैसे महान मुनिपुंगवों का ही यह काम है। इस ग्रंथ में भगवान को ही निर्दोष आप्त सिद्ध करके अंत में यह बतलाया है कि—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिताहितमिच्छतां।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ - विशेषप्रतिपत्तये।।११४।।

अर्थात् यह आप्त की मीमांसा—परीक्षा हित—मोक्ष सुख की इच्छा करने वाले भव्य पुरुषों के लिए ही की गई है क्योंकि सम्यक् और मिथ्या उपदेश विशेष की जानकारी होने से मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व का ग्रहण शक्य है अन्यथा नहीं।

अपने जैन सिद्धांत के ही एक-एक कणरूप एक-एक अंश को लेकर मिथ्यावादी जन हठाग्रही बन जाते हैं, वे अपेक्षावाद कथंचित्वादरूप सिद्धांत को नहीं समझ पाते हैं। एक-एक के आग्रह से ही नित्यैकांतवादी, क्षणिकैकांतवादी आदि बन जाते हैं। जैसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय से हमारे यहाँ प्रत्येक वस्तु अर्थपर्यायरूप से प्रतिक्षण होने वाली अर्थ-पर्याय एक समयवर्ती क्षणिक है किन्तु यह नय अन्य नयों से सापेक्ष होने से ही सम्यग्नय है। यदि वह अन्य नयों की अपेक्षा न करे तो मिथ्या नय है इसी एक नय के हठाग्रही बौद्धजन हैं जिन्होंने अपना क्षणिक सिद्धांत ही बना लिया है इत्यादि। इन सब एकांतों का खण्डन करके यह अष्टसहस्री ग्रंथ अपने स्याद्वाद को पद-पद पर पुष्ट करता है अतएव आचार्य विद्यानंदि महोदय ने यह श्लोक सार्थक ही दिया है कि—इसी एक ग्रंथ से ही सभी स्वसमय और परसमय का ज्ञान हो जाता है अतः इसका अष्टसहस्री महान ग्रंथ सार्थक ही नाम है। इसमें १४४ कारिकाओं से श्री समंतभद्राचार्यवर्य ने देवागम स्तोत्र रचना की है उस स्तोत्र के ऊपर श्रीभट्टाकलंकदेव ने अष्टशती नाम से ८०० श्लोक प्रमाण में टीका की है पुनः उस अष्टशती सहित देवागम स्तोत्र की श्री विद्यानंदि स्वामी ने ८००० (आठ हजार) श्लोक प्रमाण से अष्टसहस्री नाम की टीका की है इसका नाम आपने कष्टसहस्री भी दिया है क्योंकि न्याय के प्रत्येक प्रकरण इसमें बहुत ही क्लिष्ट और जटिल हैं, बड़े ही कष्टसाध्य हैं तथा आपने इसे 'अभीष्ट सहस्री पुष्यात्' कहा है कि यह ग्रंथ नित्य ही हजारों मनोरथों को पुष्ट करे अतः इस अष्टसहस्री ग्रंथराज का नित्य ही मनन करना चाहिए तथा देवागम स्तोत्र को भी नित्य ही पढ़ना चाहिए। इस स्तुति के प्रसाद से ही इसका अर्थ समझ सकेंगे।

१०. नन्दीश्वर द्वीप

जम्बूद्वीप से आठवां द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। यह नन्दीश्वर समुद्र से वेष्ठित है। इस द्वीप का मण्डलाकार से विस्तार एक सौ तिरेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है। इस द्वीप में पूर्व दिशा में ठीक बीचोंबीच अंजनगिरि नाम का एक पर्वत है। यह ८४००० योजन विस्तृत और इतना ही ऊंचा समवृत्त-गोल है तथा इन्द्रनील मणि से निर्मित है। इस पर्वत के चारों ओर चार दिशाओं में चार द्रह हैं, इन्हें बावड़ी भी कहते हैं। ये द्रह एक लाख योजन विस्तृत चौकोन हैं। इनकी गहराई एक हजार योजन है। इनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है। ये जलचर जीवों से रहित हैं। इनमें एक हजार उत्सेध योजन प्रमाण विस्तृत कमल खिल रहे हैं। इन वापियों के नाम दिशा क्रम से नन्दा, नन्दावती, नन्दोत्तरा और नन्दिघोषा हैं। इन वापियों के चारों तरफ चार वन उद्यान हैं जो कि एक लाख योजन लम्बे और पचास हजार योजन चौड़े हैं। ये पूर्व आदि दिशाओं में क्रम से अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्रवन हैं। इनमें से प्रत्येक वन में वन के नाम से सहित चैत्यवृक्ष हैं। प्रत्येक वापिका के बहुमध्य भाग में दही के समान वर्ण वाले दधिमुख नाम के उत्तम पर्वत हैं। ये पर्वत दश हजार योजन ऊंचे तथा इतने ही योजन विस्तृत गोल हैं। वापियों के दोनों बाह्य कोनों पर रतिकर नाम के पर्वत हैं जो कि सुवर्णमय हैं, एक हजार योजन विस्तृत एवं इतने ही योजन ऊंचे हैं।

इस प्रकार पूर्व दिशा संबंधी एक अंजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर ऐसे तेरह पर्वत हैं। इन पर्वतों के शिखर पर उत्तम रत्नमय एक-एक जिनेन्द्र मंदिर स्थित हैं।

जैसे यह पूर्व दिशा के तेरह पर्वतों का वर्णन किया है, वैसे ही दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर में भी तेरह-तेरह पर्वत हैं। उन पर भी एक-एक जिनमंदिर हैं। इस तरह कुल मिलाकर १३+१३+१३+१३=५२ जिनमंदिर हैं।

जैसे पूर्व दिशा में चार वापियों के क्रम से नंदा आदि नाम हैं, वैसे ही दक्षिण दिशा में अंजनगिरि के चारों ओर जो चार वापियां हैं उनके पूर्वादि क्रम से अरजा, विरजा, अशोका और वीतशोका ये नाम हैं। पश्चिम दिशा के अंजनगिरि की चारों दिशाओं में क्रम से विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता ये नाम हैं तथा उत्तर दिशा के अंजनगिरि के चारों दिशागत वापियों के रम्या, रमणीया, सुप्रभा और सर्वतोभद्रा नाम हैं।

चौंसठ वन—इन सोलह वापिकाओं के प्रत्येक के चार-चार वन होने से १६×४=६४ वन हैं। प्रत्येक वन में सुवर्ण तथा रत्नमय एक-एक प्रासाद हैं। उन पर ध्वजायें फहरा रही हैं। इन प्रासादों की ऊँचाई बासठ योजन, विस्तार इकतीस योजन है तथा लम्बाई भी इकतीस योजन ही है। इन प्रासादों में उत्तम-उत्तम वेदिकायें और गोपुर द्वार हैं। इन में वनखण्डों के नामों से युक्त व्यंतर देव अपने बहुत से परिवार के साथ रहते हैं।

बावन जिनमंदिर—इस प्रकार नन्दीश्वर द्वीप में ४ अंजनगिरि, १६ दधिमुख और ३२ रतिकर ये ५२ जिनमंदिर हैं। प्रत्येक जिनमंदिर उत्सेध योजन से १०० योजन लम्बे, ५० योजन चौड़े और ७५ योजन ऊंचे हैं। प्रत्येक जिनमंदिर में १०८-१०८ गर्भगृह हैं और प्रत्येक गर्भगृह में ५०० धनुष ऊंची पद्मासन जिनप्रतिमाएं विराजमान हैं। इन मंदिरों में नाना प्रकार के मंगलघट, धूपघट, सुवर्णमालायें, मणिमालायें, अष्टमंगल द्रव्य आदि शोभायमान हैं।

इन मंदिरों में देवगण जल, गंध, पुष्प, तंदुल, उत्तम नैवेद्य, फल, दीप और धूपादि द्रव्यों से जिनेन्द्र प्रतिमाओं की स्तुतिपूर्वक पूजा करते हैं।

ज्योतिषी, वानव्यंतर, भवनवासी और कल्पवासी देवों की देवियाँ इन जिनभवनों में भक्तिपूर्वक नाचती और गाती हैं। बहुत से देवगण भेरी, मर्दल और घन्टा आदि अनेक प्रकार के दिव्य बाजों को बजाते रहते हैं।

आष्टान्हिक पर्व पूजा—इस नंदीश्वर द्वीप में प्रत्येक वर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मास में शुक्ल पक्ष की अष्टमी से लेकर पूर्णिमा तक चारों प्रकार के देवगण आते हैं और भक्ति से अखण्ड पूजा करते हैं।

उस समय दिव्य विभूति से विभूषित सौधर्म इन्द्र हाथ में श्रीफल—नारियल को लेकर भक्ति से ऐरावत हाथी पर चढ़कर आता है। उत्तम रत्नाभरणों से विभूषित ईशान इन्द्र भी उत्तम हाथी पर चढ़कर हाथ में सुपाड़ी फलों के गुच्छे को लिए हुए भक्ति से वहां पहुंचता है।

हंस, क्रौंच, चक्रवाक, तोता, मोर, कोयल आदि अनेक प्रकार के वाहनों पर चढ़कर हाथ में फलों को लेकर सभी इन्द्र स्वर्ग से आते हैं तथा कटक, अंगद, मुकुट एवं हार से संयुक्त और चन्द्रमा के समान धवल चंवर हाथ में लिए हुए अच्युतेन्द्र उत्तम मयूर वाहन पर चढ़कर यहां आता है।[१]

ये जो नाना प्रकार के मयूर, कोयल, तोता आदि वाहन बताये हैं, वे सब आभियोग्य जाति के देव उस-उस प्रकार के वाहन का रूप बना लेते हैं चूंकि वहाँ पशु-पक्षी नहीं हैं।

नाना प्रकार की विभूति से सहित, अनेक फल, पुष्पमालाओं को हाथों में लिए हुए और अनेक प्रकार के वाहनों पर आरूढ़ ज्योतिषी, व्यंतर एवं भवनवासी देव भी भक्ति से संयुक्त होकर यहां आते हैं।

इस प्रकार ये चारों निकाय के देव नंदीश्वर द्वीप के दिव्य जिनमंदिरों में आकर नाना प्रकार की स्तुतियों से दिशाओं को मुखरित करते हुए प्रदक्षिणाएं करते हैं।

चतुर्णिकाय देवों की पूजा का क्रम—पूर्वान्ह में दो प्रहर तक भक्ति से युक्त कल्पवासी देव पूर्वदिशा में, भवनवासी दक्षिण में, व्यंतर देव पश्चिम दिशा में और ज्योतिषी देव उत्तर दिशा में पूजा करते हैं। पुनः अपरान्ह में दो प्रहर तक कल्पवासी देव दक्षिण में, भवनवासी पश्चिम में, व्यंतरवासी उत्तर में और ज्योतिषी पूर्व में पूजा करते हैं। अनन्तर पूर्व रात्रि में दो प्रहर तक कल्पवासी पश्चिम में, भवनवासी उत्तर में, व्यंतर पूर्व में और ज्योतिषी दक्षिण में पूजा करते हैं। तत्पश्चात् पश्चिम रात्रि में दो प्रहर तक कल्पवासी उत्तर में, भवनवासी पूर्व में, व्यंतर दक्षिण में और ज्योतिषी पश्चिम में पूजा करते हैं। इस प्रकार ये चारों निकाय के देव अष्टमी से पूर्णिमा तक पूर्वान्ह, अपरान्ह, पूर्व रात्रि और पश्चिम रात्रि में दो-दो प्रहर तक उत्तम भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा क्रम से अपनी-अपनी विभूति के योग्य जिनेन्द्र प्रतिमाओं की विविध प्रकार से पूजा करते हैं। वहां के सूर्य, चन्द्रमा अपने-अपने स्थान पर स्थिर हैं अतः वहां रात-दिन का विभाग नहीं है।

पूजाविधि—सभी देवेन्द्र आदि मिलकर उन अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं का विधिवत् अभिषेक करते हैं पुनः जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से अष्टविध अर्चा करते हैं।

वे देवगण अनेक प्रकार के चंदोवा आदि को बांधकर भी भक्ति से जिनेश्वर अर्चा करते हैं। इन चंदोवा में हार, चंवर और किंकणियों को लटकाते हैं। इस प्रकार चंदोवा, छत्र, चंवर, घण्टा आदि से मन्दिर को सजाते हैं। ये सभी देवगण पूजा के समय गंदल, भेरी, मृदंग, पटह आदि बहुत प्रकार के बाजे भी बजाते हैं।

वहां दिव्य वस्त्राभरणों से सुसज्जित देवकन्यायें विविध प्रकार के नृत्य करती हैं और अन्त में जिनेन्द्र भगवान के चरित्रों का अभिनय करती हैं। सभी देवगण भी मिलकर बहुत प्रकार के रस और भावों से युक्त जिनेन्द्रदेव के चरित्र सम्बन्धी नाटक को करते हैं।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार ५, पृष्ठ ५४० से ५४२।

इस प्रकार नंदीश्वर द्वीप और नन्दीश्वर पर्व की पूजा का वर्णन हुआ है। यह द्वीप मानुषोत्तर पर्वत से परे हैं अतः यहां मनुष्य नहीं जा सकते हैं केवल देवगण ही वहां जाकर पूजा करते हैं। वहां विद्याधर मनुष्य और चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वरगण भी नहीं जा सकते हैं अतः इन पर्वों में यहां भावों से ही पूजा कर भव्यजन पुण्य संचय किया करते हैं।

कुण्डलवर द्वीप एवं रुचकवर द्वीप—कुण्डलवर नाम से यह ग्यारहवाँ द्वीप है, इसके ठीक बीच में चूड़ी के समान आकार वाला एक कुण्डलवर पर्वत है। इस पर्वत की चारों दिशाओं में एक-एक जिनमन्दिर है अतः वहां चार जिनमन्दिर हैं। ऐसे तेरहवां द्वीप रुचकवर नाम का है। वहां पर भी ठीक बीच में चूड़ी के समान आकार वाला एक रुचकवर पर्वत है। उस पर भी चारों दिशाओं में एक-एक जिनमन्दिर होने से वहां के भी जिनमन्दिर चार हैं। इस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत से बाहर में नन्दीश्वर के ५२+ कुण्डलवर के ४+ रुचकवर के ४=६० जिनमन्दिर हैं तथा मनुष्यलोक के मानुषोत्तर पर्वत तक ३९८ जिनमन्दिर हैं। ये सब ३९८+६०=४५८ अकृत्रिम जिनमन्दिर हैं। इस तेरहवें द्वीप से आगे असंख्यात द्वीप समुद्रों में अन्यत्र कहीं भी स्वतन्त्ररूप से अकृत्रिम जिनमन्दिर नहीं हैं। हां, सर्वत्र व्यंतर देव और ज्योतिषी देवों के घरों में अकृत्रिम जिनमन्दिर अवश्य हैं, वे सब गणनातीत हैं। इन सब जिनमन्दिरों को मेरा नमस्कार होवे।

सिद्धों की वंदना

उड्ढमहतिरियलोए, छव्विहकाले य णिव्वुदे सिद्धे।
उवसग्गणिरुवसग्गे, दीवोदहिणिव्वुदे य वंदामि।।3।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत–सिद्धभक्ति गाथा-3)

अर्थ–जो ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक से सिद्ध हुए हैं, जो सुषमा-सुषमा आदि छह कालों में निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, जो उपसर्ग सहन कर या बिना उपसर्ग से सिद्ध हुए हैं तथा जो द्वीप अथवा समुद्र से निर्वाण को प्राप्त हुये हैं ऐसे समस्त सिद्धों की मैं वंदना करता हूँ।

भावार्थ–इस सिद्धभक्ति में बारह गाथाओं द्वारा श्री कुन्दकुन्ददेव ने भूत नैगमनय से नाना भेद को प्राप्त सिद्धों की वन्दना की है। इसे पढ़कर प्रथमानुयोग का स्वाध्याय करके इन सिद्धों के भेदों को समझना चाहिये। ऊर्ध्वलोक और अधोलोक से या छहों कालों से जो सिद्ध होते हैं, वे संहरण सिद्ध कहलाते हैं। किसी ने उन्हें उठाकर ऐसे स्थलों पर छोड़ा, वहीं से केवली होकर मोक्ष चले गये ऐसे ही समुद्रों से समझना।

११. रत्नत्रय धर्म

सम्यग्दर्शन

अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थों का तीन मूढ़ता रहित, आठ अंग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग आदि गुण वाला होता है।

सर्वप्रथम यहां पर आप्त, आगम और पदार्थों का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

सच्चे आप्त—जो सर्वज्ञ है, समस्त लोकों का स्वामी है, सब दोषों से रहित है और सब जीवों का हितू है उसे आप्त कहते हैं। चूंकि यदि अल्पज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो लोगों को उससे ठगाये जाने की शंका बनी रहती है इसलिए आत्मार्थी पुरुष उपदेश के लिए ज्ञानी मनुष्य की ही खोज करते हैं।

श्रीसमंतभद्र स्वामी ने भी कहा है कि—

'जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं वे ही आप्त कहलाते हैं।'

जो तत्त्वों का उपदेश देकर दु:खरूपी समुद्र से जगत के जीवों का उद्धार करते हैं, कृतज्ञतावश तीनों लोकों के जीव उन्हीं के चरणों में नत हो जाते हैं अत: वे ही सर्वलोक के स्वामी, परमात्मा, सच्चे देव कहलाते हैं। भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और खेद ये अठारह दोष संसार के सभी प्राणियों में पाये जाते हैं। जो इन दोषों से सर्वथा रहित हो चुके हैं वे आप्त हैं। उनके नेत्र केवलज्ञानी हैं उस केवलज्ञानरूपी नेत्र के द्वारा वे सर्व चराचर विश्व को जानते हैं तथा वे ही सदुपदेश के दाता होते हैं। वे जो कुछ कहते हैं, सत्य कहते हैं क्योंकि राग से, द्वेष से या मोह से झूठ बोला जाता है किन्तु जिनमें ये तीनों दोष नहीं हैं उनके झूठ बोलने का कोई कारण भी नहीं है।

जिनकी आत्मा में, श्रुति में, तत्त्व में और मुक्ति के कारणभूत चारित्र में एकवाक्यता पाई जाती है अर्थात् जो जैसा कहते हैं वैसा ही स्वयं आचरण करते हैं और वैसी ही तत्त्व व्यवस्था भी उपलब्ध होती है, उन्हें ही सज्जन पुरुष आप्त मानते हैं।

यद्यपि ऐसे आप्त सच्चे देव आज आँखों से नहीं दिखते हैं फिर भी उन अतीन्द्रिय सर्वज्ञ की विशेषता उनके द्वारा उपदिष्ट आगम से जानी जाती है। जैसे—बगीचे में रहने वाले पक्षियों की आवाज से उनकी विशिष्टता का भान हो जाता है अर्थात् पक्षियों के बिना देखे भी जैसे उनकी आवाज से उनकी पहचान हो जाती है वैसे ही आप्त पुरुषों को बिना देखे भी उनके शास्त्रों से उनकी आप्तता का पता चल जाता है।

ऊपर कहे हुए अठारह दोषों में से एक भी दोष जिनमें विद्यमान है और जो सर्वज्ञ नहीं बन पाये हैं उन्हें सच्चे आप्त नहीं कहना चाहिए।

सच्चा आगम—सबसे प्रथम देव की परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उसके वचनों की परीक्षा करनी चाहिए उसके बाद उसमें मन को लगाना चाहिए। जो लोग देव की परीक्षा किए बिना उसके वचनों का आदर करते हैं वे अंधे के सदृश उस देव के कंधे पर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं। 'जैसे माता-पिता के शुद्ध होने पर सन्तान में शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आप्त के विशुद्ध होने पर ही आगम में शुद्धता हो सकती है।'[१] अर्थात् यदि आप्त निर्दोष होता है तो उसके द्वारा कहे गये आगम में भी कोई दोष नहीं पाया जाता

१. पित्रोः शुद्धौ यथापत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते। तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता।।९६।। (उपासकाध्ययन, पृ.२६।)

किन्तु यदि आप्त राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि दोषों से सहित है तो उसके द्वारा प्ररूपित शास्त्र भी सदोष ही हैं, मुक्ति को प्राप्त कराने में समर्थ नहीं हो सकते अतः पहले देव की परीक्षा करनी चाहिए, उसके बाद उनके वचनों को प्रमाण मानना चाहिए।

जैसे वर्षा का पानी समुद्र में जाकर खारा हो जाता है या सांप के मुंह में जाकर विषरूप बन जाता है वैसे ही पात्र के दोष से विशुद्ध वचन भी दुष्ट हो जाता है तथा जैसे तीर्थ का आश्रय लेने वाला जल पूज्य हो जाता है वैसे ही जो वचन तीर्थंकरों का आश्रय ले लेते हैं अर्थात् उनके द्वारा कहे जाते हैं वही पूज्य होते हैं।

जो वचन ऐसे अर्थ को कहता है जिसे प्रत्यक्ष से देखा जा सकता है, उस वचन की प्रमाणता प्रत्यक्ष से साबित हो जाती है। जो वचन ऐसे अर्थ को कहता है जिसे अनुमान से ही जाना जा सकता है उस वचन की प्रमाणता अनुमान से सिद्ध होती है और जो वचन अत्यंत परोक्ष वस्तु को कहता है, जिसे न प्रत्यक्ष से ही जाना जा सकता है न अनुमान से, पूर्वापर में कोई विरोध न होने से उस वचन की प्रमाणता सिद्ध होती है अतः जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का अवलम्बन लेकर हेय—छोड़ने योग्य और उपादेय—ग्रहण करने योग्यरूप से त्रिकालवर्ती पदार्थों का ज्ञान कराता है उसे आगम या शास्त्र कहते हैं। तत्त्व के ज्ञाताओं का कहना है कि आगम में जीव–अजीव, उनके रहने के स्थान लोक तथा अपने–अपने कारणों के साथ बंध और मोक्ष का कथन होता है। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं वैसे ही सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से स्वभाव से ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होते हैं अर्थात् वस्तु को देखने की दो दृष्टियां हैं—एक द्रव्यार्थिक दूसरी पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से वस्तु ध्रुव है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से उत्पाद, व्यय शील है। यदि वस्तु को केवल प्रतिक्षण विनाशशील या केवल नित्य माना जायेगा तो बंध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकेगी क्योंकि सर्वथा एकरूप मानने पर उसमें स्वभावांतर अर्थात् परिणमन नहीं बन सकेगा अतः प्रत्येक वस्तु कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य। ऐसा वस्तु का सही स्वरूप समझने के लिए दोनों नयों का अवलंबन लेना ही स्याद्वाद है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, प्रभावना और वात्सल्य।

१. निःशंकित अंग—ये सर्वज्ञदेव ही देव हैं, उनके कहे हुए जीवादि तत्त्व ही सही तत्त्व हैं और अहिंसा आदि व्रतों से ही मुक्ति होती है, ऐसा दृढ़ विश्वास करना निःशंकित अंग है क्योंकि तत्त्व के जान लेने पर शत्रु के दृष्टिगोचर होने पर और पात्र (मुनि आदि) के उपस्थित होने पर जिसका चित्त दोलायमान हो जाता है, वह इस लोक में भी खाली हाथ रहता है और परलोक में भी खाली हाथ रहता है।

२. निःकांक्षित अंग—यदि सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है तो 'मैं देव हो जाऊं, यक्ष हो जाऊं अथवा राजा हो जाऊं', इस प्रकार की आकांक्षा को छोड़ देना चाहिए। जो सांसारिक सुखों के बदले में सम्यक्त्व को बेच देता है वह छाछ के बदले में माणिक्य रत्न को बेच देने वाले मनुष्य के समान केवल अपने को ठग लेता है क्योंकि जिस सम्यग्दृष्टि के चित्त में चिंतामणि है, हाथ में कल्पवृक्ष है, धन में कामधेनु है, उसको याचना से क्या मतलब ? जिसकी चित्तवृत्ति उचित स्थान को पाकर निराकुल हो जाती है उसे लक्ष्मी स्वयं वरण कर लेती है जैसे कि समुद्र में नदियां स्वयं प्रवेश कर लेती हैं अतः सम्यग्दर्शन की शुद्धि के लिए मिथ्या मतों के

प्राप्त करने की इच्छा तथा इहलोक और परलोक सम्बन्धी सांसारिक सौख्य की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।

३. निर्विचिकित्सा अंग—जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया यह उग्र तप प्रशंसनीय नहीं है, उसमें अनेकों दोष हैं, इस प्रकार चित्त में सोचना विचिकित्सा कहलाता है क्योंकि शास्त्र में कहे गए शील को पालने में अथवा उसका आशय समझने में जो जीव असमर्थ हैं सो यह उसी का दोष है। स्वतः शुद्ध आकाश भी जो मलिन दिखाई देता है सो यह आकाश का दोष नहीं है किन्तु देखने वालों की आंखों का ही यह दोष है। जो मनुष्य शरीर में दोष देखकर उसके अन्दर बसने वाली आत्मा से ग्लानि करता है वह लोहे की कालिमा को देखकर निश्चय ही सोने को छोड़ देता है अर्थात् जैसे लोहे की कालिमा का सोने के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही शरीर की गन्दगी का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है अतः शरीर के गन्देपन को देखकर मुनियों की आत्मा से घृणा नहीं करना चाहिए। यह शरीर अपना हो चाहे दूसरे का, यद्यपि यह बाहर से मनोहर भी दिखता है तो भी उसके अन्दर की हालत का विचार करने पर तो वह उदुंबर फल के समान ही है अतः इस शरीर के वास्तविक स्वरूप को समझने वालों को अपनी चित्तवृत्ति व्याकुल नहीं करनी चाहिए।

४. अमूढ़दृष्टि अंग—जिनके अन्दर बुराइयां भरी हुई हैं किन्तु जो बाहर से सुन्दर दिखते हैं, किम्पाकफल के समान ऐसे मिथ्या मतों पर श्रद्धा नहीं करनी चाहिए। किसी मत में मधु के प्रयोग का विधान है, किसी सम्प्रदाय में मांस भक्षण का विधान है तो किसी मत में मद्य पीने को भी अच्छा माना है और धर्म संज्ञा दी है तथा किन्हीं ने तो यज्ञ में पशुओं का हवन करना भी धर्म कह दिया है सो ये सब बातें मूढ़दृष्टिरूप हैं, इनसे बचना अमूढ़दृष्टि अंग है क्योंकि यदि देव, शास्त्र और धर्म निर्दोष न हों तो प्राणियों की शुद्ध क्रिया भी श्रेष्ठ फल को नहीं दे सकती जैसे कि विजातियों में कुलीन संतान की प्राप्ति नहीं होती[१]। अतः मिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, न वचन से स्तुति करनी चाहिए और न उसके चमत्कार को देखकर भ्रम में ही पड़ना चाहिए।

उपगूहन अंग—क्षमा, सत्य, संयम आदि धर्म और दान के द्वारा धर्म की वृद्धि करनी चाहिए। जैसे—माता अपने पुत्रों के अपराध को छिपाती है वैसे ही यदि साधर्मियों में से किसी से दैववश या प्रमादवश कोई अपराध बन गया हो तो उसे गुणसंपदा से छिपाना चाहिए क्योंकि असमर्थ मनुष्य के द्वारा की गई गलती से धर्म मलिन नहीं हो सकता है। क्या मेंढक के मर जाने से कभी समुद्र भी दुर्गन्धित हुआ है ? जो न तो पर के दोष को ही ढांकता है और न धर्म की वृद्धि ही करता है वह जिनधर्म का पालक नहीं है और उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होना भी दुष्कर है।

स्थितिकरण अंग—परीषह और व्रत से घबराया हुआ तथा आगमज्ञान से शून्य कोई साधर्मी भाई यदि धर्म से भ्रष्ट होता हो तो सम्यग्दृष्टि को उसका स्थितिकरण करना चाहिए। जो तप से भ्रष्ट होते हुए मुनि की रक्षा नहीं करता है, आगम की मर्यादा का उल्लंघन कर देने से वह मनुष्य नियम से सम्यग्दर्शन से रहित है, जो धर्म के निर्वाह में संदिग्ध हैं ऐसे मनुष्यों को संघ में रखना चाहिए। एक दोष के हो जाने पर उन्हें छोड़ नहीं देना चाहिए, प्रत्युत स्थितिकरण करना चाहिए क्योंकि धर्म का कार्य अनेक मनुष्यों के आश्रय से ही चलता है अतः समझा बुझाकर जो जिसके योग्य हो उसको उसी में लगा देना चाहिए। उपेक्षा करने से मनुष्य धर्म से दूर होता जाता है और पुनः उसका संसार भी दीर्घ हो जाता है, इससे धर्म की हानि ही होती है अतः स्थितिकरण अंग का पालन करना चाहिए।

---

१. उपासकाध्ययन पृ. ६१।

प्रभावना अंग—जिनबिंब और जिनालयों की स्थापना के द्वारा, ज्ञान के द्वारा, तप के द्वारा तथा अनेक प्रकार की महाध्वज आदि पूजाओं के द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करना चाहिए। जो मुनियों के ज्ञान, तप और पूजा की निंदा करता है, उनमें झूठा दोष लगाता है, स्वर्ग और मोक्षलक्ष्मी भी नियम से उस मनुष्य से द्वेष करती है।[१] अर्थात् न उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है और न मोक्ष ही मिल सकता है। इस लोक में बुद्धि और धन के समर्थ होने पर भी जो जिनशासन की प्रभावना नहीं करता है वह बुद्धि और धन से समर्थ होने पर भी परलोक में अपना कल्याण नहीं कर सकता है अतः ऐहिक सुख की इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवों के द्वारा सम्यग्दर्शन का प्रकाश करना चाहिए।

वात्सल्य अंग—धर्मात्मा पुरुषों के प्रति उदार होना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, उनका आदर सत्कार तथा अन्य उचित क्रियायें करना वात्सल्य है। स्वाध्याय, संयम, संघ, गुरु और अपने सह अध्यायी का यथायोग्य आदर-सत्कार करना विनय कहलाता है। जो मानसिक या शारीरिक पीड़ा से पीड़ित हैं, निर्दोष विधि से उनकी सेवा-सुश्रूषा करना वैयावृत्य कहलाता है। यह वैयावृत्य धर्म मुक्ति का कारण है। जिन भगवान में, जिन भगवान के द्वारा कहे हुए शास्त्र में, आचार्य में और तप, स्वाध्याय में लीन मुनि आदि में विशुद्ध भावपूर्वक जो अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं। जो हर्षित होकर चतुर्विध संघ में यथायोग्य वात्सल्य नहीं करता है वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? इसलिए व्रतों के द्वारा शारीरिक, मानसिक और आगंतुक रोगों से पीड़ित संयमीजनों का उपकार करना चाहिए।

जैसे दृष्टि अर्थात् आंखों से हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन से हीन पुरुष मुक्ति लाभ नहीं कर सकता। जैसे राज्य के अंग मन्त्री, सेनापति वगैरह के बिना राज्य समृद्धशाली नहीं हो सकता, वैसे ही निःशंकित आदि अंगों के बिना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आभ्यंतर और बाह्य विभूति को नहीं दे सकता इसलिए प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि सम्यग्दर्शन के अंगों को प्राप्त करके निःसंग—निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि होने की भावना करे।

सम्यक्त्व से रहित प्राणी में सम्यग्ज्ञान आदि भी नहीं रह सकते हैं क्योंकि बीज के अभाव में धान्य की उत्पत्ति असंभव है। जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्ती की विभूति भी उसका आलिंगन करने के लिए उत्कंठित रहती है और देवों की विभूति तो उसके दर्शन के लिए ही उत्सुक रहती है अधिक क्या कहें ? मोक्ष लक्ष्मी भी उससे दूर नहीं है।

सरागी और वीतरागी आत्माओं की अपेक्षा इस सम्यग्दर्शन के दो भेद माने गये हैं—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। सराग सम्यग्दर्शन तो प्रशम आदि गुणरूप होता है और वीतराग सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप होता है।

जैसे पुरुष की शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय है इंद्रियों से उसे नहीं देखा जा सकता फिर भी सन्तान उत्पादन से, विपत्ति में धैर्य धारण करने से और प्रारम्भ किये गये कार्य को समाप्त करना आदि बातों से उसकी शक्ति का निश्चय किया जाता है वैसे ही सम्यक्त्व रूपी रत्न भी आत्मा का स्वभाव होने के कारण यद्यपि बहुत ही सूक्ष्म है फिर भी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि के द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है।

प्रशम—रागादि दोषों से चित्तवृत्ति के हटाने को पंडितजन प्रशम गुण कहते हैं। यह प्रशम गुण समस्त व्रतों का भूषण है।

---

१. ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते। स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीर्नूनं तस्याप्यसूयते।।२०४।। (उपासकाध्ययन, पृ.-८३)

संवेग—यह संसार शारीरिक, मानसिक और आगंतुक कष्टों से भरा है और स्वप्न या इन्द्रजाल की तरह चंचल है, इस संसार से डरना संवेग है।

अनुकंपा—सब प्राणियों के प्रति चित्त का दयालु होना अनुकंपा है। दयालु पुरुष इसे धर्म का परम मूल बतलाते हैं।

आस्तिक्य—मुक्ति के लिए प्रयत्नशील पुरुष का चित्त आप्त के विषय में, शास्त्र के विषय में और तत्त्व के विषय में 'ये हैं' इस प्रकार की भावना से युक्त होता है उसे आस्तिक पुरुष आस्तिक्य गुण कहते हैं। जो मनुष्य रागी और द्वेषी है, कभी व्रतों का आचरण नहीं करता और न कभी उसकी आत्मा में दया का भाव ही होता है उस नास्तिक बुद्धि वाले का संसार भ्रमण बढ़ता ही जाता है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक को माया, मिथ्या और निदान इन तीन शल्यों को दूर करना चाहिए। सरलतारूपी कील के द्वारा मायारूपी कांटे को निकालना चाहिए। इच्छा के अभावरूपी कील के द्वारा निदानरूपी कांटे को निकालना चाहिए और तत्त्वों की भावनारूपी कील के द्वारा मिथ्यात्वरूपी कांटे को निकालना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीव जैसे आठ अंग और प्रशम आदि चार गुणों को धारण करता है, वैसे ही वह सम्यक्त्व को मलिन करने वाले दोषों को भी छोड़ता है। वे दोष २५ माने गये हैं—

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथा नायतनानि षट्।
अष्टौ शंकादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः।।२४१।।

तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका आदि सम्यग्दर्शन के ये २५ दोष माने गये हैं। देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता ये तीन मूढ़ता हैं। अदेव को देव मानना देवमूढ़ता है, कुगुरु को गुरु मानना गुरुमूढ़ता है और अग्नि में जलना, पर्वत से गिरना आदि कार्यों में धर्म मानना लोकमूढ़ता है। कुल, जाति, रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान, तप, पूजा और बल इनका घमंड करना मद है। इन कुल आदि के भेद से मद के भी आठ भेद हो जाते हैं। कुदेव, कुदेव का मंदिर, कुशास्त्र, कुशास्त्र के पाठी और कुतप तथा कुतप के धारक ये छह अनायतन कहलाते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ शंकादि दोष हैं, इस प्रकार से सब मिलकर २५ दोष माने गये हैं।

इस तरह से संक्षेप में सम्यग्दर्शन का कथन किया गया है। अब सम्यग्ज्ञान का लक्षण कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान

जो वस्तुओं को जैसा का तैसा जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान मनुष्यों का तीसरा नेत्र है। जैसे जन्म से अन्धे मनुष्य को लाठी ऊँची-नीची जगह को बतलाकर उसे चलने और रुकने में मदद देती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहित का विवेचन करके धर्मात्मा पुरुष को हितकारक कार्यों में लगाता है और अहित करने वाले कार्यों से रोकता है।

मतिज्ञान तो इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को ही जानता है किन्तु शास्त्रज्ञान इन्द्रियों के विषयभूत और अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान कराता है अतः यदि ज्ञाता का मन ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्भावों से रहित है तो उसे तत्त्व का ज्ञान होना दुर्लभ नहीं है।

यदि तत्त्वों के जान लेने पर भी मनुष्य की बुद्धि अन्धकार में रहती है तो जैसे उल्लू के लिए प्रकाश व्यर्थ होता है वैसे ही उस मनुष्य का ज्ञान भी व्यर्थ है।

सामान्य से ज्ञान एक है, प्रत्यक्ष परोक्ष के भेद से वह दो प्रकार का है तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान के भेद से पांच प्रकार का है। केवलज्ञान के सिवाय अन्य चारों ज्ञानों में से प्रत्येक के अनेक भेद होते हैं।

सम्यक्चारित्र

अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मितिः।
चारित्रं तच्च सागारानगारयतिसंश्रयम्।।

अशुभ कार्यों से बचना और अच्छे कार्यों में लगना चारित्र है। वह चारित्र गृहस्थ और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। गृहस्थों का चारित्र देशचारित्र कहा जाता है और मुनियों का चारित्र सकलचारित्र कहा जाता है। जिनके चित्त सद्विचारों से युक्त हैं वे ही चारित्र का पालन कर सकते हैं। जिस मनुष्य में स्वर्ग और मोक्ष किसी को भी प्राप्त करने की योग्यता नहीं है वह न तो देशचारित्र ही पाल सकता है और न सकलचारित्र ही पाल सकता है।

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित है उसका शास्त्रवाचन मुख की खाज मिटाने का एक साधन मात्र है और जो मनुष्य ज्ञान से रहित है उसका चारित्र धारण करना अभागे मनुष्य के आभूषण धारण करने के समान है।

सम्यग्दर्शन से अच्छी गति मिलती है, सम्यग्ज्ञान से संसार में यश फैलता है और सम्यक्चारित्र से पूजा प्राप्त होती है तथा इन तीनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है[१]।

चारित्र अग्नि है, सम्यग्ज्ञान उपाय है और सम्यग्दर्शन रसौषधि है। इन सबके मिलने पर आत्मारूपी पारद धातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। सम्यग्दर्शन का आश्रय चित्त है, सम्यग्ज्ञान का आश्रय अभ्यास है, सम्यक्चारित्र का आश्रय शरीर है और दान आदि क्रियाओं का आश्रय धन है।

जैसे—चूने की पुताई से मकान, पौरुष करने से दैव, पराक्रम से नीति और विशेषज्ञता से सेव्यपना चमक उठता है वैसे ही व्रत भी सम्यक्त्वरूपी रत्न को चमका देता है।

गृहस्थों के व्रत मूलगुण और उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

आगम में पांच उदुंबर (बड़, पीपर, पाकर, ऊमर और कठूमर) मद्य, मांस और मधु का त्याग ये आठ मूलगुण गृहस्थों के बतलाए हैं।

सम्यग्दृष्टि के आठ मूलगुण— आगम में पांच उदुम्बर और मद्य, मांस तथा मधु का त्याग ये आठ मूलगुण गृहस्थों के बतलाए हैं।

(१) मद्य अर्थात् शराब महामोह को करने वाला है, सभी पापों का मूल है और सभी दोषों को उत्पन्न करने वाला है। इसके पीने से मनुष्य को हित–अहित का ज्ञान नहीं रहता है और हित–अहित का ज्ञान न रहने से प्राणी संसाररूपी वन में भटकाने वाला ऐसा कौन सा पाप नहीं करता है ?

लोक में यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीने से यादव नष्ट हो गये और जुआ खेलने से पांडवों ने अनेकों कष्ट उठाये हैं। बहुत से प्राणी अनेक बार जन्म–मरण करके काल के द्वारा प्राणियों का मन मोहित करने के लिए मद्य का रूप धारण करते हैं। मद्य की एक बूंद में इतने जीव रहते हैं कि यदि वे फैलें तो समस्त जगत

---

१. तुंड कण्डहरं शास्त्रं सम्यक्त्वविधुरे नरे। ज्ञानहीने तु चारित्रं दुर्भगाभरणोपमम्।।२६५।।
सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता। वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम्।।२६६।।
(उपासकाध्ययन, पृ. १२८)

में भर जायें इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। ऐसे जीव के निवासस्थानस्वरूप और दुर्गति में ले जाने वाले इस मद्य के सुख के आकांक्षीजनों को सदैव के लिए इसका त्याग कर देना चाहिए।

(२) मांस स्वभाव से ही अपवित्र है, दुर्गंध से भरा है, दूसरों के प्राणों का घात करने पर ही तैयार होता है तथा कसाई के घर जैसे अपवित्र स्थानों से ही प्राप्त होता है। ऐसे मांस को भले आदमी कैसे खा सकते हैं? यदि जिस पशु को मांस के लिए कोई मारते हैं, दूसरे जन्म में वह उन्हें न मारे या मांस के बिना वे जीवित ही न रह सकें तब तो प्राणी पशु हत्या भले ही करे किन्तु ऐसी बात नहीं है बल्कि मांस के बिना भी मनुष्यों का जीवन चलता ही है।

धर्म के फलस्वरूप प्राप्त हुए अनेक सुखों को भोगने वाले मनुष्य भी न जाने धर्म से द्वेष क्यों करते हैं? भला इच्छित वस्तु को देने वाले कल्पवृक्ष से कौन द्वेष करेगा ?

यदि बुद्धिमान पुरुष थोड़े से कष्ट से अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वयं बुरे लगें उन कार्यों को दूसरों के प्रति भी उसे नहीं करना चाहिए। जो दूसरों का घात न करके सुख का सेवन करता है वह इस जन्म में सुख भोगता है और दूसरे जन्म में भी सुख प्राप्त करता है।

जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों में से एक का भी पालन नहीं करता है वह पृथ्वी का भार है और जीते हुए भी मृत है तथा जो धर्म का फल भोगता हुआ भी धर्माचरण करने में आलस्य करता है वह मूर्ख है, जड़ है, अज्ञानी है और पशु से भी गया बीता है और जो न तो स्वयं अधर्म करता है, न दूसरों से कराता है वह विद्वान है, समझदार है, बुद्धिमान है और पंडित है। जो अपना हित चाहते हैं वे भला दूसरों के मांस से अपने मांस की वृद्धि कैसे कर सकते हैं ?

जैसे दूसरे को दिया हुआ धन कालान्तर में ब्याज के बढ़ जाने से अपने को अधिक होकर मिलता है वैसे ही मनुष्य दूसरे को जो सुख या दुःख देता है वह सुख या दुःख कालान्तर में उसे अधिक होकर मिलता है अर्थात् सुख देने से अधिक सुख मिलता है और दुःख देने से अधिक दुःख मिलता है। यदि मद्य, मांस और मधु का सेवन करना धर्म हो जावे तो फिर अधर्म क्या होगा ? और दुर्गति का कारण क्या होगा ?

अतः धर्म वही है जिसमें अधर्म नहीं है, सुख वही है जिसमें दुःख नहीं है, ज्ञान वही है जिसमें अज्ञान नहीं है और गति वही है जहां से लौटकर आना नहीं है।

जिस प्रकार अपने को अपना जीवन प्रिय है उसी प्रकार से दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है इसलिए मांस और अंडों के भक्षण का सदैव के लिए त्याग कर देना चाहिए।

जो मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती, जो शराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते, जो मधु और उदुम्बर फलों का भक्षण करते हैं उनमें रहम नहीं होता है।

(३) मधु अर्थात् शहद मधुमक्खियों के छत्ते को निचोड़ने से पैदा होता है। वह रज और वीर्य के मिश्रण के समान है। भला सज्जन पुरुष ऐसे शहद का सेवन कैसे कर सकते हैं ? मधु का छत्ता व्याकुल शिशु के गर्भ की तरह है और अंडों से उत्पन्न होने वाले जंतुओं के छोटे-छोटे अंडों के टुकड़ों के सदृश है। करुणा से रहित मनुष्य ही उस मधु का भक्षण करते हैं।

(४) पीपल, उदुम्बर फल, पाकर, बड़फल और ऊमरफल ये पांचों फल त्रस जीवों के रहने के स्थानभूत हैं। इन फलों में बहुत से त्रस जीव प्रत्यक्ष ही दिखाई देते हैं। इनके सिवाय इन फलों में बहुत से सूक्ष्म जन्तु भी पाए जाते हैं जैसा कि शास्त्रों में वर्णन है।

इस प्रकार के मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फल इन आठों का त्याग करना ही मूलगुण है जो कि सम्यग्दृष्टि जीवों के लिए धारण करने योग्य है।

जिस प्रकार से इन वस्तुओं के खाने में महान पाप है वैसे ही इन वस्तुओं के सेवन करने वालों की संगति करना भी सर्वथा हानिप्रद ही है। इसी बात को स्वयं उपासकाध्ययन ग्रन्थ के कर्ता कह रहे हैं।

मद्य, मांस वगैरह सेवन करने वाले लोगों के घरों में भी खानपान नहीं करना चाहिए तथा उनके बर्तनों को भी काम में नहीं लेना चाहिए। जो मनुष्य मद्य, मांस सेवन करने वालों के साथ खानपान करते हैं उनकी यहां तो निन्दा होती ही है किन्तु परलोक में भी उन्हें अच्छी गति प्राप्त नहीं होती है। व्रती पुरुष को चमड़े की मशक का पानी, चमड़े के पात्र में रखा हुआ घी, तेल और मद्य, मांस आदि का सेवन करने वाली ऐसी स्त्रियों को भी सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

इसी संदर्भ में उपासकाध्ययन ग्रन्थ के भावार्थ[१] में कहते हैं कि—

छोटी से छोटी बुराई से बचने के लिए बड़ी सावधानी रखनी होती है फिर आज तो मद्य, मांस का इतना प्रचार बढ़ता जाता है कि उच्च कुलीन पढ़े लिखे लोग भी उनसे परहेज नहीं रखते। अंगेजी सभ्यता के साथ अंग्रेजी खानपान भी भारत में बढ़ता जाता है और अंग्रेजी खानपान की जान मद्य और मांस ही हैं। प्रायः जो लोग शाकाहारी होते हैं उनका भोजन भी रेलवे वगैरह में मांसाहारियों के भोजन के साथ ही पकाया जाता है। उसी में से मांस को बचाकर शाकाहारियों को खिला देते हैं। जो लोग पार्टी वगैरह में शामिल होते हैं उनमें से कोई-कोई सभ्यता के विरुद्ध समझकर जो कुछ मिल जाता है उसे ही खा आते हैं। इस तरह संगति के दोष से बचे-खुचे शाकाहारी भी मांसादिक के स्वाद से नहीं बच पाते और ऐसा करते-करते उनमें से कोई-कोई मांसाहार करने लग जाते हैं। अंग्रेजी दवाइयों का तो कहना ही क्या है, उनमें भी मद्य वगैरह का सम्मिश्रण रहता है। पौष्टिक औषधियों और तथोक्त विटामिनों को न जाने किन-किन पशु-पक्षियों और जलचर जीवों तक के अवयवों और तेलों से बनाया जाता है। फिर भी सब खुशी-खुशी उनका सेवन करते हैं। ओवल्टोन नाम के पौष्टिक खाद्य में अण्डे डाले जाते हैं फिर भी सभ्य घरानों तक में उनका सेवन छोटे और बड़े करते हैं। यह सब संगति दोष का ही कुफल है। उसी के कारण बुरी चीजों से घृणा का भाव घटता जाता है और धीरे-धीरे उनके प्रति लोगों की अरुचि टूटती जाती है। इन्हीं बुराइयों से बचने के लिए आचार्यों ने ऐसे स्त्री-पुरुषों के साथ रोटी-बेटी व्यवहार का निषेध किया है जो मद्यादिक का सेवन करते हैं। जैनाचार को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि जैनधर्म का पालन करने वाले कम से कम अपने खानपान में दृढ़ बने रहें। यदि उन्होंने भी देखादेखी शुरु की और वे भी भोगविलास के गुलाम बन गये तो दुनिया को फिर अहिंसाधर्म का संदेश कौन देगा ? कौन दुनिया को बताएगा कि शराब का पीना और मांस का खाना मनुष्य को बर्बर बनाता है और बर्बरता के रहते हुए दुनिया में शान्ति नहीं हो सकती। आप दृढ़ रहेंगे तो दुनिया आपकी बात की कदर करने लगेगी किन्तु यदि आप ही अपना विश्वास खो बैठेंगे और क्षण भर की वाहवाही में बह जाएंगे तो न अपना हित कर सकेंगे और न दूसरों का हित कर सकेंगे। मधु भी मद्य और मांस का ही भाई है। कुछ लोग आधुनिक ढंग से निकाले जाने वाले मधु को खाद्य बतलाते हैं किन्तु ढंग के बदलने मात्र से मधु खाद्य नहीं हो सकता। आखिर को तो वह मधुमक्खियों का ही उगाल है। इस प्रकार से अष्टमूल को धारण करने वाला व्यक्ति अपनी आत्मा की दया करता है।

---

१. उपासकाध्ययन पृ.-१३७।

सम्यग्दर्शन और मुनिभक्ति

श्री कुंदकुंददेव ने 'रयणसार' के मंगलाचरण में ऐसा कहा है कि—

मैं मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक परमात्मा श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार करके सागार और अनगार अर्थात् गृहस्थ और मुनि के धर्म को कहने वाले ऐसे 'रयणसार' नामक ग्रन्थ को कहूँगा।

पूर्वकाल में जिनेन्द्रदेव ने जैसा कहा है, गणधर देव ने जैसे का तैसा उसी को विस्तार किया है। आज भी पूर्वाचार्यों की परम्परा से वह प्राप्त है ऐसे ग्रन्थ को जो कहते हैं वे ही निश्चय से सम्यग्दृष्टि हैं। किन्तु जो व्यक्ति अपने में विद्यमान ऐसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बल से स्वच्छंद (मनःकल्पित) प्रतिपादन करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि वे जिनेन्द्रदेव के शासन के अनुकूल नहीं बोलते हैं।

सम्यग्दर्शन एक सर्वोत्कृष्ट रत्न है वही सारभूत है। वह मोक्षरूपी महान वृक्ष का मूल है, ऐसा आचार्यों का कथन है। वह सम्यग्दर्शन निश्चय और व्यवहार के भेद से दो रूप माना गया है।

जो महापुरुष निर्दोष सम्यग्दर्शन के धारक हैं वे निश्चय से सात भय, सात व्यसन और पच्चीस मल दोषों से रहित होते हैं। संसार, शरीर और भोगों से भी विरक्त होते हैं तथा निःशंकित आदि आठ अंगों से युक्त एवं पंच परमेष्ठी के परम भक्त होते हैं, वे सम्यग्दृष्टि पुरुष निज शुद्ध आत्मा के अनुरागी रहते हैं, बहिरात्म अवस्था से रहित होते हैं, आत्मा के ज्ञानी होते हैं और जिनेन्द्रदेव, दिगम्बर मुनि तथा जिनधर्म को ही मानने वाले होते हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव दुःखों से रहित होते हैं।

जिस जीव के आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष, सात व्यसन, सात भय और पाँच अतिचार ये चवालीस दोष नहीं होते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं।

आठ मूलगुण, बारह उत्तर गुण (५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत), सात व्यसन त्याग, सम्यक्त्व के २५ दोषों का त्याग, १२ वैराग्य भावना का चिंतवन, सम्यग्दर्शन के ५ अतिचारों का त्याग और भक्ति भावना, सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले श्रावक के ये ७० गुण होते हैं।

जो भव्य जीव देव, गुरु और शास्त्र के भक्त होते हैं, संसार, शरीर और भोगों के त्यागी होते हैं और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय से संयुक्त होते हैं वे ही मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दर्शन से युक्त दान, पूजा, शील और अनेक प्रकार के उपवास मोक्षसुख के लिए कारण हैं और यदि ये सम्यक्त्व से रहित हैं तो दीर्घ संसार के कारण हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के ये दान, पूजा आदि क्रियायें मोक्ष को प्राप्त कराने में समर्थ हैं और जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है तब तक ये दान, पूजन आदि संसार के ही सुखों को देने वाले हैं। हां, कदाचित् ये ही क्रियायें सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिए भी कारण बन जाती हैं अतः ये दान, पूजा आदि क्रियायें कथमपि हेय नहीं हैं।

आगे स्वयं श्रीकुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झययं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि।।११।।

श्रावकधर्म में दान और पूजा मुख्य कर्त्तव्य हैं क्योंकि दान और पूजन के बिना कोई भी व्यक्ति श्रावक नहीं हो सकता है। वैसे ही मुनिधर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य कर्त्तव्य हैं उनके बिना वे मुनि नहीं कहला सकते हैं।

अब श्री कुन्दकुन्द देव बहिरात्मा का लक्षण करते हुए कहते हैं—

जो श्रावक दान नहीं देता है, धर्म का पालन नहीं करता है, त्याग नहीं करता है और न्यायपूर्वक भोग नहीं करता है वह बहिरात्मा है। वह ऐसा पतंगा है कि जो लोभरूपी अग्नि के मुख में पड़कर मर जाता है, इसमें संदेह नहीं है।

पुनः आचार्य सम्यग्दृष्टि की पहचान बताते हुए कहते हैं—

जो श्रावक जिनदेव की पूजा करता है और शक्ति के अनुसार मुनियों को दान देता है वह सम्यग्दृष्टि श्रावक धर्म का पालन करने वाला है, वह मोक्षमार्ग में संलग्न है ऐसा समझना चाहिए।

अब आचार्य दान और पूजन के फल को बताते हैं—

शुद्ध मन वाला श्रावक पूजा के फल से तीनों लोकों में देवों से पूज्य हो जाता है और दान के फल से तीनों लोकों में निश्चय से सारभूत ऐसे सुख को भोगता है।

आगे श्री कुन्दकुन्ददेव रयणसार ग्रंथ में कहते हैं कि–

दाणं भोयणमेत्तं, दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो।
पत्तापत्तविसेसं संदंसणे किं वियारेण।।१४।।

यदि श्रावक मुनि को आहार मात्र दान देता है तो वह धन्य हो जाता है अतः एक जिनलिंग को देखकर पात्रविशेष या अपात्र विशेष का विकल्प करने से क्या लाभ है ?

तात्पर्य यह है कि परिग्रह और आरंभ से रहित नग्न दिगम्बर मुनि को देखकर ये मुनीश्वर द्रव्यलिंगी हैं या भावलिंगी ? इन्हें आहार देना या नहीं ? इत्यादि विचार करने का श्रावक को कोई अधिकार नहीं। वह श्रावक तो नग्नवेषधारी निर्ग्रन्थ मुनि को आहारदान देकर अपने जीवन को धन्य बना लेता है।

इस कथन से यह निर्णय हो जाता है कि आहारमात्र देने के लिए श्रावक को मुनि की परीक्षा नहीं करनी चाहिए प्रत्युत जिनलिंग मात्र देखकर उत्कृष्ट भक्ति से आहारदान देकर अपने गृहस्थ जीवन को सफल कर लेना चाहिए।

सुपात्र को दान देने से नियम से भोगभूमि की तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुखों की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से मोक्षसुख की भी प्राप्ति होती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने परमागम में कहा है।

जिस प्रकार उत्तम क्षेत्र में उपयुक्त काल में बोये हुए उत्तम बीज का विपुल फल मिलता है उसी प्रकार से उत्तम पात्रों को दिये हुए उस दान से सर्वोत्कृष्ट फल मिलता है, ऐसा तुम जानो।

इस लोक में जो पुरुष जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित सप्त क्षेत्रों में अपने श्रेष्ठ धनरूपी बीज को बोता है वह त्रिभुवन के राज्यरूपी फल को और पंचकल्याणकरूप उत्तम फल को प्राप्त करता है।

माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र, धन, धान्य, मकान और वाहन, वैभव तथा संसार के उत्तम–उत्तम सुखों का मिलना ये सब सुपात्रदान के ही फल हैं, ऐसा समझो।

सप्तांग राज्य, नवनिधि, चौदह रत्न, कोष, छह प्रकार की सेना और छियानवे हजार रानियां यह चक्रवर्ती का विपुल वैभव भी सुपात्रदान का ही फल है ऐसा समझना चाहिए।

उत्तम कुल, सुन्दर रूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोष शिक्षा, उत्तम शील, उत्कृष्ट गुण, उत्तम चारित्र, शुभलेश्या, सकल सुखों का अनुभव और भी अनेक वैभव का मिलना यह सब सुपात्र दान का ही फल है ऐसा तुम जानो।

आगे श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि—

जो भव्य जीव मुनि के आहार के पश्चात् अवशिष्ट अन्न को प्रसाद मानकर खाता है, वह संसार के सारभूत सुखों को और क्रमशः मोक्ष के उत्तम सुखों को भोगता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। मुनियों को आहारदान देते समय श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह शीत या उष्ण काल का ध्यान रखे। मुनि की प्रकृति वात प्रधान है, पित्त प्रधान है या कफ प्रधान है, गमनागमन से परिश्रम हुआ है, रोग है या ये मुनि कायक्लेश, उपवास आदि तप करके आये हुए हैं, इत्यादि रूप से सारी बातों को जानकर ही उनके अनुकूल उचित आहार देना चाहिए। मोक्षमार्ग में अनुरागी श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह मुनि को हितकारी और परिमित आहार, निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण (पाटा, चटाई, तृण आदि) और आसनोपकरण आदि आवश्यकतानुसार प्रदान करे।

आगे श्री कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि—

श्रावक मुनि की वैय्यावृत्ति किस तरह करें ?

जैसे इस लोक में माता और पिता अपने गर्भ से होने वाले बालक का सावधानी से पालन-पोषण करते हैं उसी प्रकार से श्रावक को भी मुनियों की प्रकृति आदि को जानकर सदा आलस्य रहित होकर उनकी वैयावृत्य करनी चाहिए।

सम्यग्दृष्टि का दान कल्पवृक्ष के फलों की शोभा के समान है और लोभी पुरुषों का जो दान है वह अर्थी के शव की शोभा के समान है, ऐसा जानो क्योंकि लोभी पुरुष यश, कीर्ति और पुण्य लाभ के लिए यत्र-तत्र (कुपात्र आदि को) बहुत दान देता है। वह सम्यक्त्व आदि उत्तम गुणों के आधारभूत ऐसे सुपात्र को नहीं पहचानता है। इस पंचमकाल में भरतक्षेत्र में लोग प्रायः यंत्र-मंत्र-तंत्र की सिद्धि, प्रिय वचन तथा प्रतीति (मान, प्रतिष्ठा) आदि के लिए दान देते हैं। सो वह दान वास्तव में मोक्ष का कारण नहीं है।

यदि कोई प्रश्न करे कि दानी पुरुषों के दरिद्रता और लोभी पुरुषों के महान ऐश्वर्य क्यों देखा जाता है ? तो उसका उत्तर यही है कि जब तक दोनों का पूर्वोपार्जित कर्म फल उदय में रहता है तभी तक ऐसा होता है अर्थात् यह विषमता पूर्व संचित कर्म के उदय के निमित्त से है न कि वर्तमान के कर्म संचय से।

जैसे धन-धान्यादि की समृद्धि से समस्त जीवों को सुख होता है, उसी प्रकार मुनि के दान आदि की समृद्धि से सुख होता है और उसके बिना दुःख होता है। अतः आचार्यदेव कहते हैं कि—सुपात्र के बिना दान निष्फल है, सुशील पुत्र के बिना बहुत सा धन और महाक्षेत्र (जमीन, जायदाद) आदि निष्फल हैं एवं भावों के बिना व्रत, गुण तथा चारित्र भी निष्फल हैं ऐसा समझो।

श्रावक का कर्त्तव्य—जो व्यक्ति जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थयात्रा के अवशिष्ट धन को भोगता है वह नरकगति के दुःख को भोगता है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। तात्पर्य यह है कि पूजन में चढ़े हुए अष्टद्रव्य आदि को निर्माल्य कहते हैं उसके भक्षण से तो अंतराय कर्म का बंध होता है किन्तु जो मनुष्य किसी के द्वारा जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, पूजा आदि के लिए निकाले गए धन को यदि हड़प लेता है तो वह नरकगति को प्राप्त करने जैसे महापाप का भागी हो जाता है।

पूजा, दान, प्रतिष्ठा, जीर्णोद्धार आदि के द्रव्य को अपहरण करने वाले मनुष्य पुत्र, स्त्री से रहित दरिद्री लंगड़े, गूंगे, बहरे तथा अन्धे हो जाते हैं तथा जन्मांतर में चांडाल आदि की कुजाति में उत्पन्न होते हैं। पूजा, दानादि के द्रव्य को अपहरण करने वाले मनुष्य इच्छित फल को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यदि प्राप्त कर भी

लेवें तो उसे भोग नहीं पाते हैं यह निश्चित है, और तो क्या! वे अनेक व्याधियों के घर बन जाते हैं। जो पूजा, दानादि द्रव्य का अपहरण करते हैं, वे हाथ, पैर, नाक, कान, हृदय और अंगुली से हीन (विकलांग) दृष्टिहीन और तीव्र दुःख के भागी होते हैं। जो मनुष्य पूजा, दान आदि कार्यों में अन्तराय डालते हैं वे उसके फलस्वरूप क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल, भगंदर, जलोदर, नेत्र रोग, शिर के रोग और शीत-उष्ण आदि के प्रकोप से होने वाली सन्निपात आदि अनेक व्याधियों को प्राप्त करते हैं। नरकगति, तिर्यंचगति, दुर्गति, दरिद्रता, विकलांग, हानि और दुःख ये सब देववंदना, शास्त्र वंदना, श्रुतभेद और स्वाध्याय में विघ्न डालने के फल हैं।

इस भरतक्षेत्र में दुःषम—पंचमकाल में मनुष्यों के निश्चय से सम्यग्दर्शन की विशुद्धि, तप, मूलगुण, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और दान की प्रधानता होती है। जो मनुष्य न तो दान देते हैं, न ही पूजा करते हैं, न ही शील पालते हैं, न ही गुण धारण करते हैं और न चारित्र पालते हैं वे मरकर नारकी, कुमानुष और तिर्यंच होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो मनुष्य कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हित-अहित, पुण्य-पाप, तत्त्व-अतत्त्व और धर्म-अधर्म को निश्चय से नहीं जानता है वह सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टी है। उसी प्रकार से जो योग्य-अयोग्य, नित्य-अनित्य, हेय-उपादेय, सत्य-असत्य और भव्य-अभव्य को नहीं जानता है, वह सम्यक्त्व से रहित है।

जो मनुष्य लौकिक जनों (सामान्य जनों) की संगति से अत्यन्त वाचाल, कुटिल और दुर्भावनायुक्त हो जाता है इसलिए देखभाल कर (विचारपूर्वक) लौकिकजनों की संगति को मन, वचन, काय से छोड़ देना चाहिए। जो उग्र प्रकृति वाला है, तीव्र स्वभाव वाला है, दुष्ट प्रकृति का है, दुर्भावशील है, मिथ्याशास्त्रों का श्रवण करने वाला है, दुष्टभावी है, मिथ्यामद में अनुरक्त है और विरुद्ध (धर्म से विरुद्ध) आचरण करने वाला है वह जीव सम्यक्त्व रहित है। जो क्षुद्र—रौद्र स्वभाव वाले, रुष्ट, दूसरों का अनिष्ट चाहने या करने वाले, चुगलखोर, अभिमानी, असहिष्णु, गायक, याचक, कलह करने वाले और दूसरों को दोष लगाने वाले हैं वे सब सम्यक्त्व से रहित होते हैं। जो मनुष्य बंदर, गधा, कुत्ता, हाथी, व्याघ्र, सूकर, कछुआ, मक्खी और जोंक के स्वभाव वाले होते हैं वे जिनेन्द्रदेव के धर्म का विनाश करने वाले होते हैं।

वास्तव में सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम से नहीं होते हैं इसलिए रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है, यह जिनेन्द्रदेव ने कहा है। मिथ्यातप, कुलिंगी, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याव्रत, मिथ्याशील, मिथ्यादर्शन, मिथ्याशास्त्र और झूठे निमित्त इनकी संस्तुति, स्तुति और प्रशंसा करने से नियम से सम्यक्त्व की हानि होती है। जैसे शरीर का कोढ़ी अपने रक्त सम्बन्ध से अपने कुल का विनाश कर देता है उसी प्रकार मिथ्यात्व भी अपनी आत्मा के दान आदि सद्गुणों का और सद्गति का विनाश करता है। अहो! संसार में मिथ्यात्व ही कष्टप्रद है। देव, गुरु, धर्म, गुण, चारित्र, तपाचार, मोक्षगति का रहस्य और जिनदेव के वचन सम्यग्दृष्टि के बिना क्या देखे या जाने जा सकते हैं ? सम्यग्दर्शन ही इन सबको देखता है। मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षप्राप्ति के निमित्तभूत अपने आत्मस्वभाव का चिन्तन एक क्षण भी नहीं करता है। दिन-रात पाप का चिंतन करता है और मन में दूसरों के बारे में अनेक बातें सोचता रहता है। मिथ्यादृष्टि जीव मद और मोह की मदिरा से मतवाला होकर भुलक्कड़ के समान प्रलाप करता है इसलिए वह आत्मा को और आत्मा के समता भावों को नहीं जानता है।

जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को तत्काल नष्ट कर देता है, वायु मेघ का नाश कर देती है, दावानल वन को जला देता है, वज्र पर्वतों का भेदन कर देता है वैसे ही एक सम्यक्त्व ही समस्त कर्मों का नाश कर देता

है। जो धर्मात्मा अपने हृदय मन्दिर में सम्यक्त्वरत्न रूपी दीपक को प्रज्ज्वलित करता है उसको तीन लोक के समस्त पदार्थ स्वयमेव प्रतिभासित होने लगते हैं। जिस प्रकार भाग्यशाली मनुष्य कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और रसायन को प्राप्त कर मनवाञ्छित उत्तम सुख प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के निमित्त से भव्य जीवों को सर्व प्रकार के सर्वोत्कृष्ट सुख और समस्त प्रकार के भोगोपभोग स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं। जैसे—कतकफल (निर्मली) के संयोग से जल निर्मल हो जाता है, अग्नि के संयोग से सुवर्ण किट्ट कालिमा रहित शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से यह भव्य जीव समस्त प्रकार के कर्ममल से रहित शुद्ध स्वभाव को प्राप्त हो जाता है और उसे सहज ही लीलामात्र में मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।

भव्य जीवों का उपशम भाव पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है, नये कर्मों का प्रवेश नहीं होने देता है तथा इस लोक और परलोक में माहात्म्य प्रगट करता है। सम्यग्दृष्टि जीव वैराग्य और ज्ञान भाव से समय व्यतीत करता है किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव आकांक्षा, दुर्भाव, आलस्य और कलहपूर्वक अपना समय व्यतीत करता है।

इस अवसर्पिणी काल में आजकल भरतक्षेत्र में आर्त और रौद्र परिणाम वाले, नष्ट बुद्धि, दुष्ट, दुःखी, पापी, कृष्ण, नील और कापोतरूप अशुभ लेश्या वाले मनुष्य अधिकतर देखे जाते हैं। इस दुःषमकाल में मिथ्यादृष्टि जीव सुलभ हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ और मुनि दुर्लभ हैं। आज इस भरतक्षेत्र की अवसर्पिणी में प्रमादरहित (मुनि) को धर्मध्यान होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है किन्तु ऐसा जो नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं अर्थात् आजकल के सभी मुनि को जो द्रव्यलिंगी कहते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, ऐसा श्री कुन्दकुन्द देव का कथन है।

शुभ-अशुभ भाव एवं चारित्र का माहात्म्य—अशुभ भावों से नरक आयु और शुभ भावों से स्वर्गसुख और स्वर्गायु मिलती है अतः दुःख-सुख के भावों को जानो और इनमें से जो तुम्हें रुचे उसे करो। हिंसादि पाप, क्रोधादि कषाय, मिथ्याज्ञान, पक्षपात, मात्सर्य, मद, दुरभिनिवेश, अशुभ लेश्या, विकथा, आर्त-रौद्रध्यान, ईर्ष्या, असंयम, शल्य और मान-बड़ाई, इनमें जो वर्तन होता है वह अशुभभाव है। छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ, बंध और मोक्ष एवं मोक्ष के लिए कारण ऐसी बारह अनुप्रेक्षा, रत्नत्रय स्वरूप धर्म, आर्य कर्म, षट् क्रियायें और दया इत्यादि जो सद्धर्म हैं इनमें जो वर्तन होता है वह शुभ भाव है। सम्यक्त्व गुण से नियम से सुगति होती है और मिथ्यात्व से दुर्गति होती है यह समझो। यहां अधिक कहने से क्या ? जो तुम्हें अच्छा लगे सो ग्रहण करो।

यह आत्मा मोह को नष्ट नहीं करता है और कठोर कर्म (व्रत, उपवासादि) अनेक बार करता है फिर भी यह संसार का किनारा नहीं पाता है। अतः आचार्य कहते हैं कि मोह को नष्ट किए बिना यह मूर्ख प्राणी अनेक दुःख क्यों उठाता है ? बहिरात्मा जीव बाह्य वेश को धारण कर बाह्य इन्द्रियों के सुख को ही छोड़कर क्रियाकांड मात्र को ही धारण करता हुआ जन्म मरण के दुःख उठाता रहता है। तात्पर्य यही है कि एक सम्यग्दर्शन के बिना संसार के परिभ्रमण से छुटकारा नहीं मिल सकता है। परलोक में सुखों की अभिलाषा करने वाला, अनेक कायक्लेश सहन करने वाला मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा मोक्ष पाने के लिए अनेक कष्ट सहन करता है किन्तु वह मिथ्यात्व को नष्ट नहीं करता। तब वह क्या मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता।

यदि बहिरात्मा क्रोधादि को दण्ड नहीं देता है अर्थात् कषायों का निग्रह नहीं करता है और देह को दण्ड

देता है अर्थात् तप आदि के द्वारा कष्ट देता है तो क्या वह कर्मों को नष्ट कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है। जैसे लोक में सांप की बामी को मारने पर क्या सांप मर सकता है ? अर्थात् नहीं मर सकता है। ज्ञानी जीव जब उपशम भाव और तप भाव से युक्त रहता है तभी वह संयमी है, किन्तु जब वह कषाय के वशीभूत रहता है तब वह असंयमी रहता है।

'ज्ञानी ज्ञान की शक्ति से कर्मों का क्षय करता है इस प्रकार अज्ञानी कहता है, जैसे मैं औषधि जानता हूँ इतना कहने मात्र से क्या कोई वैद्य व्याधि को नष्ट कर सकता है[१]?' तात्पर्य यह है कि जैसे औषधि के जानने मात्र से बिना सेवन किये कोई रोग को नष्ट नहीं कर सकता है वैसे ही कोई भी ज्ञानी अपने ज्ञान मात्र से कर्मों का नाश नहीं कर सकता है उसे चारित्र का आश्रय लेना ही पड़ेगा।

अतः आचार्य कहते हैं कि—

पहले मिथ्यात्वरूपी मल के शोधन के लिए सम्यक्त्वरूपी औषधि का सेवन किया जाता है पश्चात् कर्मरूपी व्याधि को नष्ट करने के लिए चारित्ररूपी औषधि का सेवन किया जाता है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव पंचेन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर भी जो फल प्राप्त करता है, सम्यग्दृष्टि जीव यदि कषायों से विरक्त है अर्थात् उपशमभाव को प्राप्त है तो वह विषयों का सेवन करते हुए भी उस मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा लाख गुणाफल प्राप्त कर लेता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है अर्थात् सम्यग्दर्शन और कषाय की मंदता अधिक फल देने वाले हैं।

भक्ति से रहित विनय, स्नेह के बिना महिलाओं का रुदन और वैराग्य के बिना त्याग ये प्रतिषिद्ध कहे गये हैं अर्थात् ये विडंबनारूप हैं। शूरवीरता के बिना सुभट, सौभाग्य रहित स्त्रियों की शोभा तथा वैराग्य, ज्ञान और संयम के बिना मुनि कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। जैसे समस्त पदार्थों के रहने पर भी मूर्ख लोभी मनुष्य बाद में फल पाता जाता है अर्थात् अपने इस जीवन में सुख नहीं भोग पाता, वैसे ही जो विषयासक्त अज्ञानी है वह पीछे फल पाता है अर्थात् जीवन में सुख नहीं भोग पाता।

पुनः आचार्य कहते हैं कि—

जैसा फल विषयों का त्यागी ज्ञानी प्राप्त करता है वैसा ही फल समस्त पदार्थों से युक्त किन्तु सुपात्रों को दान देने वाला ज्ञानी प्राप्त कर लेता है। भूमि, स्त्री, स्वर्ण आदि के लाभरूपी विषधर सर्प को यह कितना ही विषधर क्यों न हो, इसे सम्यक्त्व, ज्ञान और वैराग्यरूपी औषधि और मंत्र से वश में किया जा सकता है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इसीलिए—

जो मनुष्य पहले पांचों इंद्रिय, शरीर, मन, वचन, हाथ और पैर इनको मूंडता है अर्थात् वश में करता है और पश्चात् शिर मुंडाता है-केशलोंच करता है वही मोक्षमार्ग का नेता होता है।

अब आगे आचार्य कहते हैं कि—

पति की भक्ति से रहित सती, स्वामी भक्ति से रहित भृत्य, जिनशासन की भक्ति से रहित यति[२] और गुरु भक्ति से रहित शिष्य नियम से दुर्गति के मार्ग में संलग्न हैं। संपूर्ण परिग्रह से रहित शिष्य (मुनि) यदि गुरु की भक्ति से रहित है तो उनके सभी अनुष्ठान—व्रत, जप, तप आदि ऊसर खेत में बोए गए उत्तम बीज के समान व्यर्थ हैं, ऐसा समझो। जैसे राजा से रहित राज्य, स्वामी से रहित देश, ग्राम, राष्ट्र और सेना सभी नष्ट हो जाते

१. णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि बोल्लए अण्णाणी। वेज्जो भेसज्जमहं, जाणे इदि णस्सदे वाही।।६१।। (रयणसार)

२. पं. बलभद्र ने अपनी संशोधित प्रति रयणसार में यहां 'जण्णो' पाठ देकर उसका जैन अर्थ किया है।

हैं वैसे ही गुरुभक्ति से रहित शिष्यों के सभी अनुष्ठान नष्ट हो जाते हैं अर्थात् जैसे राजा के बगैर राज्य व्यर्थ है वैसे ही गुरुभक्ति के बिना शिष्यों के अनुष्ठान सभी उत्तम सुख के लिए कार्यकारी नहीं हैं। जैसे आदर भाव के बिना रुचि या प्रेम, भक्ति के बिना दान और दया के बिना धर्म निष्फल है वैसे ही गुरुभक्ति के बिना तप, गुण और चारित्र सभी निष्फल हैं ऐसा समझो।

पुनः आचार्य कहते हैं कि—

जिनको निंद्य और ग्राह्य का विचार नहीं है उन्हें बाह्य इन्द्रियों के विषय ही सुखकर लगते हैं। उन्हें क्या छोड़ने योग्य है ? क्या ग्रहण करने योग्य है और क्या मोक्ष है ? यह नहीं समझता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव का कथन है। कायक्लेश और उपवास दुर्धर तपश्चरण के कारण हैं और यदि ये निज शुद्ध आत्मा की रुचि से परिपूर्ण हैं तो समस्त कर्मों के नाश के लिए कारण हो जाते हैं ऐसा तुम समझो।

जो परब्रह्म स्वरूप परमात्मा को नहीं जानता है और सम्यक्त्व से रहित है वह कर्मों का नाश नहीं कर सकता है। ऐसा जीव न यहां का है, न वहां का है, वह मात्र लिंग (बाह्य वेश) को धारण करके क्या कर सकता है ? जो साधु अपनी आत्मा को नहीं देखता है, न उसको जानता है, न श्रद्धान करता है और न उसकी भावना ही करता है वह बहुत दुःखभार के कारणभूत ऐसे वेष को धारण करके भी क्या कर सकता है, जब तक यह जीव अपनी आत्मा को नहीं जानता है तभी तक उसके दुःख होता है इसीलिए साधु को अनंत सुखस्वरूप आत्मा की भावना करनी चाहिए। निज आत्मतत्त्व की उपलब्धि के बिना नियम से सम्यक्त्व उपलब्धि नहीं होती है और सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना नियम से निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव का कथन है।

जिनेन्द्रदेव के प्रवचन के सार—अंश का जो अभ्यास है वह परमात्मा के ध्यान में कारण है और वह ध्यान ही कर्मों के क्षय में निमित्त है एवं कर्म के क्षय से मोक्ष सौख्य प्राप्त होता है ऐसा तुम जानो।

जैसे परकोटे के बिना राज्य की और दान, दया, धर्म के बिना गृहस्थ की शोभा नहीं होती है, वैसे ही ज्ञान से रहित तपश्चरण की और जीव के बिना देह की शोभा नहीं होती है। जैसे श्लेष्मा में पड़ी हुई मक्खी उसी में फंसकर मर जाती है वैसे ही परिग्रह में आसक्त हुआ साधु लोभी है, मूढ़ है, वह अज्ञानी कायक्लेश में ही पड़ा रहता है अर्थात् ऐसे परिग्रही साधु का कायक्लेश मुक्ति का कारण नहीं है।

जो ज्ञान के अभ्यास से हीन है वह स्व-पर तत्त्व को कुछ भी नहीं जानता है। उसके ध्यान भी नहीं होता है और जब तक ध्यान नहीं होता है तब तक वह कर्मों का क्षय नहीं कर सकता है पुनः तब तक उसको मोक्ष भी नहीं है।

अब श्रीकुन्दकुन्द देव कहते हैं कि—

जिनागम अध्ययन ही ध्यान है। उसी से पांचों इन्द्रियों और कषायों का निग्रह होता है इसलिए इस पंचमकाल में प्रवचनसार—जैनशास्त्रों का ही अभ्यास करना चाहिए। यह जीव मन, वचन, काय से धर्मध्यान का अभ्यास करता है पुनः परमात्मा के ध्यान से सहित चित्त हुआ वही जीव उसी ध्यान से कर्मों का क्षय कर देता है।

पुनः आचार्य कहते हैं कि ज्ञान ही धर्मध्यान है—

पापारंभ—हिंसादि कार्यों से निवृत्ति और पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति कराने वाला ज्ञान ही है इसलिए सभी जीवों के लिए ज्ञान ही धर्मध्यान है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो जिनागम का अभ्यास नहीं करता है

उसके सम्यक् तपश्चरण नहीं होता है पुनः अज्ञान तप करता हुआ वह मूढ़मती सांसारिक सुखों में ही अनुरक्त रहता है इसलिए जिनागम का अभ्यास अवश्य करना चाहिए।

जो मुनिराज तत्त्व का चिंतन करते रहते हैं, मोक्षमार्ग की आराधना का स्वभाव बना लेते हैं और निरंतर ही धर्मकथा में तत्पर रहते हैं, वे ही महामुनि हैं। इसी तरह वे योगी विकथा आदि से सर्वथा मुक्त रहते हैं, अधःकर्म आदि से रहित होते हैं, सम्यग्ज्ञान से युक्त ज्ञानी कहलाते हैं, धर्मोपदेश के देने में कुशल होते हैं और बारह भावनाओं को भाते रहते हैं। ऐसे मुनि निंदा और वंचना से दूर रहते हैं, परिषह, उपसर्ग और दुःखों को सहन करते हैं, शुभध्यान और अध्ययन में निरत रहते हैं और अन्तः बाह्य परिग्रह से रहित होते हैं। जो योगी विकल्प रहित, निर्द्वन्द, मोहरहित, निष्कलंक, नियत, निर्मल स्वभाव वाले हैं वे ही मुनियों के प्रधान मुनिराज कहलाते हैं।

इसके बजाय जो व्यक्ति तीव्र कायक्लेश करते हुए मिथ्या भाव से संयुक्त है, सर्वज्ञदेव के उपदेश में वह निर्वाण सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है। जैसे मलिन दर्पण में रूप नहीं दिखाई देता है उसी प्रकार रागादि मल से युक्त जीवों को अपना आत्मस्वरूप कुछ भी दिखाई नहीं देता है। जो साधु तीन दण्ड (मन, वचन, काय को वश में न करना), तीन शल्य (माया, मिथ्या, निदान) से युक्त है, अभिमानी, ईर्ष्यालु, कलह करने वाला और याचना करने वाला है, वह दीर्घ संसार में भ्रमण करता है। देह आदि में अनुरक्त, विषयों में आसक्त, कषाय से युक्त और आत्मस्वभाव से प्रमादी ऐसे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं। जो साधु आरम्भ धन-धान्य उपकरणों में आकांक्षा रखते हैं, असूया, अन्य जनों के गुणों में भी दोषों का आरोप करते हैं, व्रत गुण और शील से रहित हैं, कषायप्रिय और कलहप्रिय हैं, वाचाल हैं, संघ का विरोध करते हैं, कुशील हैं, स्वच्छन्द हैं, गुरु के समीप नहीं रहते हैं, अज्ञानी हैं और राजा आदि की सेवा करते हैं वे साधु जैनधर्म की विराधना करने वाले हैं। ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र विद्या द्वारा उपजीविका चलाना, वातविकार या भूत, प्रेत की बाधा में झाड़-फूंक का व्यापार करना, धन-धान्य आदि परिग्रह को ग्रहण करना ये सब क्रियायें श्रमणों के लिए दूषणरूप हैं। जो साधु पाप और आरंभ में रत हैं, कषाय से युक्त हैं, परिग्रह में आसक्त हैं और लोक व्यवहार में सदा लगे रहते हैं वे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं, जैसे चर्म, हड्डी और मांस के टुकड़ों में लोभ करने वाला कुत्ता मुनि को देखकर भौंकता है उसी प्रकार जो पापी हैं वे धर्मात्मा को देखकर भौंकते रहते हैं। जो साधु दूसरों के बड़प्पन को सहन नहीं कर सकते हैं, जो अपनी और अपने माहात्म्य की प्रशंसा करते हैं और वह भी केवल जिह्वा के स्वाद के लिए, वे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं।

जो मुनि केवल संयम और ज्ञान की वृद्धि के लिए तथा ध्यान और अध्ययन के लिए आगम के अनुकूल जो आहार मिल गया उसे ग्रहण कर लेते हैं, वे साधु मोक्षमार्ग में लीन हैं। मुनियों की आहारचर्या विधि पांच प्रकार की है—उदराग्नि प्रशमन, अक्षम्रक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी। वे साधु इन भेदों के अनुसार ही आहार ग्रहण करते हैं। इन पांचों का लक्षण—

उदराग्नि प्रशमन—जठराग्नि को शांत करने के लिए ही आगम विहित शुद्ध आहार लेना, चाहे वो ठंडा हो या गरम इत्यादि, उसमें रागद्वेष नहीं करना।

अक्षम्रक्षण—जिस प्रकार गाड़ी को चलाने के लिए उसकी धुरी पर तेल डाला जाता है वैसे ही मात्र शरीर को मोक्षमार्ग में चलाने के लिए आहार लेना।

गोचरी—जैसे गाय की दृष्टि चारे पर रहती है उसके डालने के रूप, रंग या आभूषण पर नहीं, वैसे ही

आहार लेते समय दाता के रूप, रंग या धन वैभव, गरीबी आदि पर लक्ष्य नहीं देना।

श्वभ्रपूरण–जैसे गड्ढे को चाहे जैसी वस्तुओं से भर दिया जाता है वैसे ही सरस या नीरस कैसे भी आहार से उदररूपी गड्ढे को भरना।

भ्रामरी–जैसे भ्रमर फूलों को कष्ट न देकर मात्र रस ग्रहण कर लेता है वैसे गृहस्थ को कष्ट न देते हुए आहार ग्रहण करना।

इन पांच प्रकार की चर्या विधि से महामुनि आहार ग्रहण करते हैं। यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र, मल, मूत्र, पीव और कीड़ों से भरा हुआ, दुर्गन्धियुक्त, अपवित्र, चर्ममय, अनित्य, अचेतन, नाशवान, अनेक प्रकार के दुःखों का पात्र एवं कर्मों के आने रूप आस्रव का कारण है और आत्मा से भिन्न है। ऐसा होकर भी यह शरीर धर्मानुष्ठान का कारण है, ऐसा मानकर ही साधु इस शरीर का पालन पोषण करते हैं।

जो साधु क्रोध दिखलाकर, कलह करके, याचना करके, संक्लिष्ट परिणाम करके, रौद्र परिणाम करके या रुष्ट होकर आहार ग्रहण करता है वह क्या साधु है ? वह तो व्यंतर है।

आचार्य पुनः साधुओं से कहते हैं कि—

हे साधो ! यदि तेरे हाथ पर रखा हुआ आहार तपे हुए लोहे के गोले के समान शुद्ध है तो तू उसे दिव्य नौका के समान संसार समुद्र से पार करने वाला समझकर ग्रहण कर। वास्तव में साधु संयम, तप, ध्यान, अध्ययन और विज्ञान की सिद्धि के लिए ही आहार ग्रहण करता है किन्तु जो इन कारणों को छोड़कर मात्र शरीर पुष्टि के लिए आहार लेता है वह संसार के दुःखों से छूट नहीं सकता है।

आहार के लिए पात्र कौन है ?

अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती श्रावक और महाव्रती के भेद से, आगम में रुचि रखने वाले और तत्त्वों का विचार करने वाले इनके भेद से जिनेन्द्रदेव ने पात्रों के हजारों भेद बतलाए हैं। जिन मुनियों में उपशम भाव, निरीहता, ध्यान, अध्ययन आदि महान गुण पाये जाते हैं वे मुनिराज उत्तम पात्र होते हैं। इनमें मुनिराजों के जैसे-जैसे गुण अधिक होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनमें पात्रता विशेष होती जाती है। इसी प्रकार से देशव्रती मध्यम पात्र हैं एवं अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। जो मुनि दर्शन से शुद्ध हैं, धर्मध्यान में रत हैं, परिग्रह से रहित हैं और शल्य से रहित हैं, वे ही पात्र विशेष—उत्तम पात्र माने जाते हैं किन्तु जो इन गुणों से हीन हैं वे पात्र नहीं हैं—अपात्र हैं। जिसमें सम्यग्दर्शन आदि गुणों की विशेषता है उसी में पात्रता की विशेषता है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव का कथन है अतः जो व्यक्ति इन पात्र विशेषों को जानकर आहार देता है वह निश्चय ही मोक्षमार्ग में रत है।

जो अरहंत और सिद्ध के स्वरूप को नहीं जानता है, बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा इन तीन भेद रूप से अपनी आत्मा के स्वरूप को भी नहीं जानता है वह दीर्घ संसार में भ्रमण करता है। जो निश्चय और व्यवहार स्वरूप रत्नत्रय को नहीं जानता है वह जो भी करता है वह सब मिथ्यारूप है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। सम्यक्त्व से रहित ज्ञान और तप संसार के ही कारण हैं अतः सकल तत्त्व को जानकर भी अर्थात् सम्यक्त्व रहित बहुत ज्ञान प्राप्त करके भी क्या लाभ है ? तथा सम्यक्त्व शून्य बहुत से तपश्चरण से भी क्या लाभ है ? सम्यक्त्व से शून्य व्रत, गुण, शील, परीषहजय, चारित्र, तप, छह आवश्यक क्रियायें, ध्यान और अध्ययन ये सब संसार के ही कारण हैं अर्थात् सम्यक्त्व के बिना ये सब संसार के ही सुख दे सकते हैं मोक्ष सुख नहीं दे सकते।

पुनः आचार्य साधु को संबोधन करते हैं कि—

हे मुने! यदि तुम परलोक चाहते हो तो ख्याति, पूजा, लाभ, सत्कार आदि की इच्छा क्यों करते हो? क्या तुम्हें इनसे परलोक (पर–अच्छा लोक) मिलेगा? अर्थात् इन ख्याति आदि की इच्छा से परलोक में उत्तम गति नहीं मिलती है। जो मुनि कर्मजनित विभाव भावों (रागादि भावों) का तथा आत्मा के स्वभावरूप क्षमादि भावों का भावपूर्वक मनन करता है उसे ही अपनी शुद्धात्मा की रुचि होती है और वह नियम से निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। जो महापुरुष मूल प्रकृति—ज्ञानावरणादि, उत्तर प्रकृति—मतिज्ञानावरणादि, उत्तर उत्तर प्रकृति—अवग्रहावरण, ईहावरण आदि रूप द्रव्य कर्मों से तथा राग द्वेषादि भाव कर्मों से मुक्त है वह आस्रव, बंध, संवर और निर्जरा इन तत्त्वों को जानता है। बहुत कहने से क्या लाभ है?

कौन जीव मुक्त हो सकता है?

विषयों से विरक्त हुआ योगी कर्मों से छूट जाता है और विषयों में आसक्त हुआ जीव नहीं छूट सकता है। अतः हे मुने! तुम बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप को समझो। अधिक कहने से क्या लाभ है?

बहिरात्मा—जो मनुष्य आत्मा के ज्ञान, ध्यान, अध्ययन और सुखरूपी रसायन का पान छोड़कर इन्द्रियों के सुख में रमता है वह निश्चय से बहिरात्मा है। जिस प्रकार पका हुआ किंपाक फल विषमिश्रित लड्डू और इन्द्रायण फल ये देखने में सुन्दर होते हैं, जिह्वा को भी सुख देते हैं अर्थात् मधुर लगते हैं और नेत्रों को भी प्रिय लगते हैं किन्तु परिणाम में दुःखदायी होते हैं उसी प्रकार इन्द्रिय सुखों को भी जानो। जो मनुष्य शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि को और विभाव परिणामों को आत्मस्वरूप मानता है वही बहिरात्मा है। जो अज्ञानी जीव इन्द्रिय विषयों के सुख में रमता रहता है, ये इन्द्रिय विषय बहुत ही दुखदायी हैं ऐसा नहीं सोचता है, वह आत्मतत्त्व को नहीं पा सकता है। वही जीव बहिरात्मा है। इन्द्रियों के जो–जो सुख हैं, सब आत्मा को अनेक प्रकार के तीव्र दुःखों को देने वाले हैं इस बात को जो विचार नहीं करता है वही बहिरात्मा होता है। जिस प्रकार विष्ठा में उत्पन्न हुए कीड़े की रुचि विष्ठा में ही होती है उसी प्रकार बहिरात्मा की बुद्धि बाह्य इन्द्रिय विषयों में होती है। जैसे मनुष्य (हीन मनुष्य) अपवित्र खाद्य रसों में, क्षार और अमृत में, भक्ष्य और अभक्ष्य में विवेक नहीं करता है, उसी प्रकार से बहिरात्मा को जानना चाहिए अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव भी आत्मा और अनात्मा के मध्य में कोई विवेक नहीं रखता है।

अंतरात्मा—जो आत्मा को देहादि से भिन्न मानता है, जो स्वप्न में भी विषय सुखों को नहीं भोगता है, जो आत्मा के निजस्वरूप का अनुभव करता है और शिवसुख में लीन रहता है वह मध्यम आत्मा—अन्तर–आत्मा होता है। जैसे बहुत सा दुर्गन्धित मल–मूत्र जिसमें भरा हुआ है ऐसे घड़े की दुर्गन्धि जल्दी दूर नहीं होती है उसी प्रकार से सम्यक्त्वरूपी जल से धोने पर और ज्ञानामृत से पूर्ण होने पर भी इस जीव की अनादिकालीन दुर्वासना नहीं छूटती है अर्थात् कोई मल–मूत्र के घड़े को जल से धो डाले तो भी उसमें कुछ दुर्गन्धि अवश्य रहती है वैसे ही अनादिकाल से विषयों का अनुभव करने वाले इस जीव को यद्यपि काललब्धि से केवल सम्यक्त्व प्रगट हो जाता है और ज्ञान का अभ्यास भी करता है तो भी उसे विषयों की दुर्वासना लगी रहती है अतः विषयों की वासना से बचने के लिए गुरु का आश्रय लेकर चारित्र ग्रहण करना चाहिए। जैसे किसी रोगी को रोग दूर करने के लिए बिना इच्छा के भी औषधि का सेवन करना पड़ता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी बिना इच्छा के इन्द्रियों के सुखों का अनुभव करता है। अधिक कहने से क्या लाभ है? संक्षेप में हे भव्य! बहिरात्मस्वरूप समस्त भावों को छोड़ और अंतरात्मा तथा परमात्मा के वस्तुस्वरूप

सम्बन्धी भावों को भज क्योंकि बहिरात्मा के वस्तुस्वरूप संबंधी जो भाव हैं वे सब चर्तुगतिरूप संसार परिभ्रमण और दुःख के कारण हैं। इससे विपरीत अंतरात्मा और परमात्मा के वस्तुस्वरूप संबंधी जो भाव होते हैं वे सब मोक्षगति में ले जाने वाले हैं और प्रशस्त पुण्य के भी कारण हैं।

आगे आचार्य कहते हैं कि—

जो भव्य द्रव्यगुण पर्यायों से स्वसमय और परसमय आदि को जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है, वही मोक्ष का नेता होता है। जिनेन्द्र भगवान ने बहिरात्मा और अंतरात्मा को परसमय कहा है और परमात्मा को स्वसमय कहा है। इनके भेदों को गुणस्थानों की अपेक्षा समझो।[१]

पुनः श्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं गुणस्थानों में स्वसमय-परसमय को बताते हैं—

प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थानों वाले जीव तरतमता से बहिरात्मा हैं। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अंतरात्मा हैं। पांचवें गुणस्थान से लेकर उपशांतमोह तक तरतमता से मध्यम अंतरात्मा हैं। क्षीणमोह बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्तर अन्तरात्मा हैं। जिन अर्थात् तेरहवें, चौदहवें गुणस्थानवर्ती और सिद्धपरमेष्ठी परमात्मा हैं[२]।

जो योग तीन मूढ़ताओं—देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता और लोक मूढ़ता, तीन शल्य—माया, मिथ्या, निदान, तीन दोष—मोह, राग, द्वेष, तीन दण्ड—मन, वचन, काय की निरंकुश प्रवृत्ति और तीन गारव—रस गारव, ऋद्धि गारव और सात गारव इन सभी से रहित होता है, वह मोक्षमार्ग का नेता होता है।

जो योगी रत्नत्रय, तीन कारण, तीन योग और तीन गुप्तियों की विशुद्धि से युक्त है वही मोक्षमार्ग का नेता है। जो जिनमुद्रा का धारक है, वैराग्य और सम्यक्त्व से संयुक्त है, ज्ञानी है और परमोपेक्षा—वीतराग चारित्र का पालने वाला है ऐसा योगी ही मोक्षमार्ग का नेता होता है। जो योगी बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित है, शुद्धोपयोग से संयुक्त है, मूलगुण एवं उत्तरगुणों से युक्त है वही मोक्षमार्ग का नेता है।

मोक्ष की सिद्धि करने वाले हे साधो! सुनो और इसकी ही भावना करो। यह सम्यग्दर्शन जन्म, जरा, मरण के दुःखरूप दुष्ट विषधर सर्प के विष का नाश करने वाला है और मोक्ष सुख का लाभ कराने वाला है। अहो भव्य! बहुत कहने से क्या लाभ है ? जो परमात्मा देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरेन्द्रों से पूजित हैं वे सब सम्यक्त्व गुण की प्रधानता से ही हुए हैं।

इस समय अवसर्पिणी काल के दोष से और मिथ्यात्व के प्रबल उदय से जीवों का उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है और फिर कषायों की उत्पत्ति हो जाती है।

श्रावकों की ५३ क्रियायें—८ मूलगुण, १२ व्रत, १२ तप, १ समता, ११ प्रतिमा, ४ दान, १ जलगालन, १ रात्रि भोजन त्याग और ३ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये ८+१२+१२+१+११+४+१+१+३=५३ क्रियायें श्रावकों के लिए कही गई हैं।[३]

जिस प्रकार जलती हुई अग्नि में जो डालो सो भस्म हो जाता है, उसी प्रकार जो भक्ष्य-अभक्ष्य सभी का भक्षण कर जाते हैं तथा जो शील रहित हैं, रात्रि में भी भोजन करते हैं उन्हें असंयमी समझना चाहिए।

ज्ञानाभ्यास की प्रेरणा—ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है, निर्जरा का फल मोक्ष है अतः सभी कर्मों का नित्य ही ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

---

१. बहिरंतरप्पभेयं परसमयं भण्णए जिणिंदेहिं। परमप्पा सगसमयं तब्भेयं जाण गुणट्ठाणे।।१२८।। (रयणसार)

२. मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्पजहण्णा। सत्तोत्तिमज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा।।१२९।।

३. गुणवयतवसमपडिमा-दाणं जलगालणं अणत्थमियं। दंसणणाणचरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिया।।१३७।। रयणसार।

कुशल व्यक्ति के तप होता है, निपुण व्यक्ति के संयम होता है, समताभावी के वैराग्य होता है किन्तु श्रुत की भावना से अर्थात् श्रुताभ्यास से ये तीनों ही हो जाते हैं। हे भव्य जीवों! इसलिए श्रुत का अभ्यास करो। यह जीव अनादिकाल से लेकर अनंतकाल तक मिथ्यात्व के निमित्त से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव से पंचपरिवर्तनरूप संसार में भ्रमण कर रहा है किन्तु उसे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है अतएव संसार परिभ्रमण बना हुआ है।

जब यह जीव शुद्ध—निर्दोष सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है तभी सुखी होता है किन्तु जब तक शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर पाता है तब तक दुःखी रहता है। बहुत कहने से क्या लाभ है ? सम्यक्त्व के बिना सब कुछ दुःखरूप ही है और सम्यक्त्व से सहित सब कुछ सुखरूप ही है। यह निश्चय से जानो।

निक्षेप, नय, प्रमाण, व्याकरण, अलंकार, छंद शास्त्र, नाट्य शास्त्र और पुराण शास्त्र इन सबका ज्ञान प्राप्त किया, बाह्य क्रियाएं भी कीं किन्तु सम्यक्त्व के बिना दीर्घ संसार ही है अर्थात् सम्यक्त्व के बिना संसार का अंत नहीं हो सकता है।

जो साधु वसतिका, प्रतिमा—प्रतिमायोग, उपकरण, गुण, गच्छ, शास्त्र, संघ, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, पुत्र, पौत्र, वस्त्र (श्रुत के वेष्टन), पुस्तक, पिच्छी, संस्तर और इच्छाओं में लोभ से ममकार करता है और जब तक उसके आर्त-रौद्रध्यान रहता है तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता है और न उसे पूर्ण सुख ही मिल सकता है। वास्तव में मोक्षमार्ग में गमन करने वाले साधु का रत्नत्रय ही गण है, रत्नत्रय ही गच्छ है, गुणों का समूह ही संघ है और निर्मल आत्मा ही समय है।

जैसे सूर्य गहन अन्धकार को, वायु मेघ को, अग्नि विशाल वन को और वज्र पर्वत को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व कर्मों को नष्ट कर देता है। जो अपने हृदय में मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से रहित सम्यक्त्वरूपी रत्नदीप के समूह को प्रज्ज्वलित करता है वह तीनों लोकों को सम्यक् प्रकार से देखता है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अभ्यास परमात्मा के ध्यान का कारण है, परमात्मा का ध्यान कर्मक्षय का कारण है और कर्मक्षय होने पर निश्चय से मोक्ष सुख मिलता है ऐसा तुम समझो। जो मन, वचन, काय से भाव विशुद्धिपूर्वक धर्मध्यान का अभ्यास करता है, वह परमात्मा के ध्यान में स्थित हो जाता है और उसी ध्यान से वह कर्मों को नष्ट कर देता है। जिस प्रकार अतिशोधन क्रिया से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार से काललब्धि आदि के द्वारा आत्मा परमात्मा हो जाता है। जैसे कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि-रत्न, रसायन और पारसमणि सभी को इच्छित वस्तु देते हैं या इनमें से किसी को भी प्राप्त करने वाला मनुष्य यथेच्छ सुख भोगता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व से यथेच्छ सुख मिलता है ऐसा तुम समझो।

यह रयणसार (रत्नसार) नाम का ग्रन्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, तपोभाव, निरीहवृत्ति, चारित्र, गुण, शील और आत्मस्वभाव को उत्पन्न करता है। जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित इस ग्रन्थ को जो न तो मानता है, न सुनता है, न पढ़ता है, न चिन्तन करता है और न भावना करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो व्यक्ति सज्जनों के द्वारा पूज्य इस रयणसार ग्रन्थ को आलस्य से रहित होकर सदा ही पढ़ता है, सुनता है, भावना करता है अर्थात् इसके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति करता है, वह शाश्वत स्थान—मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य का कथन है।

वस्तुतः यह 'रयणसार' ग्रंथ श्री कुन्दकुन्द देव द्वारा रचित है। इसमें मुख्यरूप से श्रावकों की क्रियाओं का बहुत ही सुन्दर विवेचन है। प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है कि वे भगवान कुन्दकुन्ददेव के कहे अनुसार अपने सम्यक्त्व को निर्मल करके ५३ क्रियाओं का पालन करते हुए अपने गृहस्थाश्रम के जीवन को सफल कर लेवें।

१२. एकत्वसप्तति अधिकार

(श्री पद्मनंदिपंचविंशतिका ग्रंथ के आधार से)

मंगलाचरण

चिदानन्दैकसद्भावं परमात्मानमव्ययम्।
प्रणमामि सदा शान्तं शान्तये सर्वकर्मणाम्।।१।।
खादिपञ्चकनिर्मुक्तं कर्माष्टकविवर्जितम्।
चिदात्मकं परंज्योतिर्वन्दे देवेन्द्रपूजितम्।।२।।

अर्थ — चैतन्यस्वरूप अनुपम आनंद के सद्भाव वाले, अविनश्वर और सदा शांत ऐसे परमात्मा को मैं अपने समस्त कर्मों को शांत करने के लिए नमस्कार करता हूँ। जो परम ज्योति चिदानंद स्वरूप है, देवेन्द्रों से पूजित है, पांचों इन्द्रियों से रहित है अथवा आकाश आदि पांचो तत्त्वों से रहित है और आठों कर्मों से रहित है ऐसी परम ज्योति की मैं वंदना करता हूँ।।१-२।।

भावार्थ — 'ख' का अर्थ इंद्रिय है अतः चैतन्य आत्मा इंद्रियों से रहित है पुनः 'ख' का अर्थ आकाश भी है अतः वैदिक संप्रदाय के अनुसार यह आत्मा आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पांच भूतों से भी रहित है। यह कथन यहाँ शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ही है क्योंकि 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' सभी जीव शुद्धनय की अपेक्षा से शुद्ध ही हैं, ऐसा आगम वाक्य है।

श्लोकार्थ — ऐसा यह चैतन्य आत्मा अज्ञानीजनों के लिए अस्पष्ट है फिर भी सम्यग्ज्ञानरूपी चक्षुधारियों के लिए व्यक्त — स्पष्ट है, सर्व वस्तुओं में सारभूत है ऐसे इस चिच्चैतन्य आत्मा के लिए मेरा नमस्कार होवे। यह चैतन्य तत्त्व प्रत्येक प्राणियों के शरीर में ही स्थित है किन्तु अज्ञानरूपी अंधकार से आच्छादित हुए जीव उस तत्त्व को नहीं जानते हैं इसीलिए वे बाहर-बाहर ही भ्रमण करते रहते हैं।।३-४।।

भावार्थ — अज्ञानीजन आत्मा के स्वरूप को न समझकर पौद्गलिक शरीर आदि को ही जानते हैं अतः वे आत्मतत्त्व को स्पष्ट — प्रगटरूप या अनुभवरूप नहीं कर पाते हैं किन्तु सम्यग्ज्ञानी असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत मुनि ऐसे आत्मतत्त्व को निश्चयनय से ज्ञानदर्शनस्वरूप मानते हैं, श्रद्धान करते हैं पुनः अप्रमत्तसंयत मुनि निर्विकल्पध्यान में लीन होकर शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं उसे व्यक्त-स्पष्ट-अनुभवगम्य कर लेते हैं। यह शुद्ध, सिद्ध आत्मा सभी संसारी प्राणियों के शरीर में स्थित है फिर भी सम्यग्दृष्टि आत्मा ही इस आत्मा का अनुभव करने में प्रयत्नशील होते हैं किन्तु जो मिथ्यात्वरूपी अंधकार से व्याप्त हो रहे हैं वे बाह्य शरीर आदि पदार्थों में और पंचेन्द्रियों के विषयों में ही रमते रहते हैं।

श्लोकार्थ — कोई-कोई जीव हमेशा शास्त्रों के समूह में भ्रमण करते हुए भी परम तत्त्व को नहीं जानते हैं जैसे कि काष्ठ में शक्तिरूप से विद्यमान अग्नि को नहीं जाना जाता है।। ५।।

भावार्थ — जैसे काष्ठ में अग्नि शक्तिरूप से विद्यमान है अथवा दूध में घी शक्तिरूप से मौजूद है वैसे ही शरीर में विद्यमान आत्मा शक्तिरूप से परमतत्त्व स्वरूप परमात्मा है ऐसा ज्ञान निश्चयनय से होता है। जो भी चारों अनुयोगों के जैनग्रंथ हैं वे द्वादशांग के सारभूत ही हैं उन अनेक ग्रंथों को पढ़कर भी सभी जीव शुद्धात्मा को नहीं जानते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव ही शास्त्रों को पढ़कर अपने शुद्धतत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

श्लोकार्थ—यदि किसी गुरु ने करुणाबुद्धि से उस आत्मतत्त्व का स्पष्टरूप से कथन भी किया है तो भी कोई-कोई जीव महामोह से मलिन हुए उस तत्त्व को न मानते हैं और न सुनते ही हैं जिस प्रकार जन्म से अन्धे मनुष्य हाथी के स्वरूप को नहीं जानते हैं वैसे ही कोई-कोई मंदबुद्धि प्राणी खोटे शास्त्रों के निमित्त से अनंत धर्मात्मक तत्त्व को एकांतरूप से ही जानकर नष्ट हो जाते हैं। कितने ही मनुष्य किसी से किंचित् मात्र कुछ भी जानकर महाअभिमानी हो जाते हैं तब वे सारे जगत को मूर्ख समझते हुए बुद्धिमानजनों का आश्रय ही नहीं लेते हैं।। ६-९।।

विशेषार्थ—प्रत्येक वस्तु में अनंत धर्म रहते हैं जैसे एक मनुष्य में अनेक संबंध-रिश्ते विद्यमान हैं वह किसी का पुत्र है तो किसी का पिता भी है, किसी का भाई है तो दूसरे का भतीजा भी है, एक का पोता है तो किसी का बाबा भी है, किसी का पति है तो किसी का ससुर भी हो सकता है, इत्यादि नाना संबंध एक समय में ही देखे जाते हैं। उसी प्रकार से एक जीव द्रव्य पर्याय दृष्टि से अनित्य है, जन्म-मरण को प्राप्त हो रहा है तो भी द्रव्यदृष्टि से नित्य है, कहीं न कहीं किसी न किसी पर्याय में वही तो है। निश्चयनय से शुद्ध है तो व्यवहारनय से अशुद्ध है इत्यादि। फिर भी एकांतवादी लोग एकरूप से ही स्वीकार करते हैं, बौद्ध आत्मा को क्षणिक ही मानता है तो सांख्य सर्वथा नित्य ही मानता है। ये एकांतवादी कथंचित् विवक्षा—नयविवक्षा को नहीं समझते हैं यह सब स्याद्वाद मत से बाह्य कुशास्त्रों का ही प्रभाव है। जात्यंधहस्ती का उदाहरण ऐसा है—एक बार कई एक जन्म से अंधे मनुष्य हाथी को जानने के लिए हाथी के पास लाए गये, एक ने हाथी का पैर पकड़ा, दूसरे ने पेट, तीसरे ने पूंछ और चौथे ने सूंड़ पकड़ ली, तभी पहले ने कहा-हाथी खंभे के समान है, दूसरे ने कहा—नहीं-नहीं हाथी तो दीवाल के समान है, तीसरे ने कहा-चुप रहो, हाथी तो झाड़ू के समान है तभी चौथे ने कहा-नहीं, हाथी तो बड़े भारी हाथों के समान है और ये चारों आपस में अपना-अपना निर्णय देते हुए लड़ने लगे। इसी बीच एक बुद्धिमान सज्जन आये और इन जन्मांध लोगों के झगड़े को निपटाने के लिए खड़े हो गये। सभी ने अपने-अपने निर्णीत हाथी के स्वरूप को बताया, तब वे सज्जन हंसकर बोले—

भाइयों, तुम चारों की बात सही है, सुनो, हम तुम्हें हाथी का सही स्वरूप बताते हैं। तुम चारों ने हाथी के एक-एक अवयवों को ही हाथी मान लिया है। देखो, तुम्हारे भी तो हाथ हैं, पैर हैं, पेट है और सिर है वैसे ही खंभे के समान तो हाथी के पैर हैं, दीवाल के समान हाथी का पेट है, झाड़ू के समान हाथी की पूंछ है और बड़े हाथ के समान हाथी की लंबी सूंड़ है। इन सब अवयवों को मिलाकर ही हाथी बना है।

इतना सुनकर चारों अंधे खुश हो गये। इसी प्रकार से कोई बौद्ध आत्मा को क्षणिक कहते हैं और सांख्य आत्मा को नित्य किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि आत्मा पर्यायों की अपेक्षा से क्षणिक है और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है इत्यादि। श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी कहा है—

परमागमस्य बीजं, निषिद्धजात्यन्धसिंधुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्[१]।।

जो परमागम का बीज है, जिसमें जन्म से अंधे हुये लोगों द्वारा हाथी के एक-एक अवयव के ज्ञान का निषेध है और जो संपूर्ण नयों के परस्पर के विरोध का परिहार है ऐसे 'अनेकांत' को मैं नमस्कार करता हूँ। इसलिए जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित और जैनाचार्यों द्वारा रचित ऐसे तीन ग्रंथों का ही स्वाध्याय, पठन-पाठन करना चाहिए।

धर्म का लक्षण—जो दुःखरूपी गड्ढे में गिरते हुए प्राणी का उद्धार करता है वह धर्म है किन्तु लोगों

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

ने भ्रांति से इसका स्वरूप विपरीत कर दिया है अतः उस धर्म को परीक्षा करके ही ग्रहण करना चाहिए।।९।। सर्वज्ञ और वीतराग भगवान के द्वारा कहा गया धर्म ही सत्यता-यथार्थता को प्राप्त होता है क्योंकि पुरुष की प्रमाणता से ही वचनों की प्रमाणता मानी जाती है।।१०।।

विशेषार्थ — जो अल्पज्ञ हैं उनके वचन असत्य हो सकते हैं अथवा जो राग द्वेष-पक्षपात से सहित हैं उनके वचन भी असत्य होते हैं। इसीलिए जो सर्वज्ञ हैं-केवलज्ञानी हैं और अठारह दोषों से रहित पूर्ण वीतरागी हैं उनके वचन पूर्णतया सत्य ही होते हैं। आज यद्यपि सर्वज्ञ देव नहीं हैं फिर भी परंपरा से अवधिज्ञानी-मनःपर्यय ज्ञानी आचार्यों से प्राप्त ज्ञान से ही पूर्वाचार्यों ने ग्रंथ रचना की है अतः पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रंथ भी प्रमाण ही हैं। उन ग्रंथों में कहे गये विषय-अहिंसामयी धर्म आदि प्रमाणभूत हैं।

श्लोकार्थ — सर्व बाह्य विषयों का संबंध सभी जीवों के सदाकाल बना ही रहता है किन्तु इन बाह्य विषयों से भिन्न चैतन्य आत्मा और सम्यग्ज्ञान का संबंध ही दुर्लभ है।।११।। जो भव्य जीव पांच लब्धिरूप सामग्री विशेष से सम्यग्दर्शन आदि-रत्नत्रय की पात्रता को प्राप्त हैं वह मोक्षमार्ग में स्थित हैं, ऐसा समझना।।१२।।

विशेषार्थ — सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए पांच लब्धियां मानी हैं — क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण।

क्षयोपशम लब्धि — कर्मों के मलरूप जो अशुभ ज्ञानावरणादि समूह उनका अनुभाग जिस काल में समय-समय अनंतगुणा क्रम से घटता हुआ उदय को प्राप्त होता है उस काल में क्षयोपशम लब्धि होती है।

विशुद्धि लब्धि — पहली क्षयोपशम लब्धि से उत्पन्न हुआ जो जीव के साता आदि शुभ प्रकृतियों के बंधने का कारणरूप शुभ परिणाम उसकी जो प्राप्ति वह विशुद्ध लब्धि है क्योंकि अशुभ कर्म का अनुभाग घटने से संक्लेश की हानि और उसके विपक्षी विशुद्धि की वृद्धि होना स्वाभाविक ही है।

देशना लब्धि — लब्धिसार में कहते हैं कि — छह द्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश देने वाले आचार्य का लाभ मिलना देशना लब्धि है अथवा उनके द्वारा उपदेशित पदार्थों के धारण करने का लाभ होना यह तृतीय लब्धि है। आचार्य, उपाध्याय आदि छह द्रव्यादि का उपदेश करने वाले हैं उनका जो मिलना है वही देशना की प्राप्ति है अथवा चिर अतीत काल में उपदेशित पदार्थ के धारण करने का लाभ होना वह देशना लब्धि है। गाथा में 'तु' शब्द है उससे यह अर्थ समझना कि उपदेश करने वालों से रहित नरक आदि पर्यायों में पूर्वभव में सुनकर धारण किया हुआ जो तत्त्वों का अर्थ है उसके संस्कार के बल से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। ऐसा यहाँ सूचित किया गया है।

प्रायोग्य लब्धि — सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अंतः कोड़ाकोड़ी स्थिति में और द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को प्रायोग्य लब्धि कहते हैं क्योंकि इन अवस्थाओं के होने पर करण अर्थात् पाँचवीं करणलब्धि के योग्य भाव पाये जाते हैं। यह लब्धि भव्य और अभव्य दोनों के समान है अर्थात् अभव्य भी यहाँ तक स्थिति को पा सकते हैं किन्तु करण लब्धि उनके नहीं हो सकती है।

करण लब्धि — इस प्रकार स्थिति और अनुभागों के कांडक घात को बहुत बार करके गुरु के उपदेश के बल से अथवा उसके बिना भी अभव्य जीवों के योग्य विशुद्धियों को व्यतीत करके अभव्य जीवों के योग्य अधःप्रवृत्तकरण संज्ञा वाली विशुद्धि में भव्य जीव परिणत होता है अर्थात् करण नाम परिणामों का है। इस करण लब्धि के तीन भेद हैं-अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।

अधःकरण—जिस भाव में वर्तमान जीवों के उपरितन समयवर्ती परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवों के साथ संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा सदृश होते हैं, उन भावों के समुदाय को अधःकरण कहते हैं। इस अधःकरण का काल अंतर्मुहूर्त है और परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं।

अपूर्वकरण—जिस काल में प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को लिए हुए अपूर्व—अपूर्व परिणाम होते हैं, उन परिणामों को अपूर्वकरण कहते हैं। अपूर्वकरण के विभिन्न समयों में वर्तमान जीवों के परिणाम सदृश नहीं होते किन्तु विसदृश या असमान और अनन्तगुणी विशुद्धता से युक्त पाए जाते हैं। अधःप्रवृत्तकरण की अपेक्षा इसका काल अल्प है किन्तु परिणाम उससे असंख्यातलोक गुणित हैं।

अनिवृत्तिकरण—इसमें एक समयवर्ती जीव के एक ही परिणाम पाया जाता है और एक समयवर्ती अनेक जीवों के भी एक सदृश ही परिणाम पाये जाते हैं। एक कालवर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति, भेद या विसदृशता नहीं पायी जाती है इसीलिए उन्हें अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इसके परिणामों की संख्या उसके काल के समयों के समान ही है क्योंकि इस अनिवृत्तिकरण काल के समय-समय में एक-एक ही परिणाम होते हैं।

मोक्ष के कारण—

श्लोकार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्ष का कारण है। मोक्ष में ही सुख है अतः मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए।।१३।।

आत्मतत्त्व में जो निश्चय है वही सम्यग्दर्शन है, उसका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और इस आत्मा में स्थिर होना ही चारित्र है, इन तीनों का संयोग ही मोक्ष का आश्रय-कारण है।।१४।। अथवा शुद्ध निश्चयनय से ये तीनों एक चैतन्यस्वरूप ही हैं क्योंकि उस चैतन्यस्वरूप एक अखंडवस्तु में विकल्पों-भेदों का क्या स्थान है ? ।।१५।।

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों पृथक् -पृथक् स्वरूप से व्यवहार रत्नत्रय हैं किन्तु शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ये तीनों आत्मस्वरूप एक ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं है इसलिए निश्चयनय की अपेक्षा से रत्नत्रय में भेदकल्पना संभव नहीं है। श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है-

ववहारेणु वदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो।।

ज्ञानी आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन हैं यह व्यवहारनय का उपदेश है किन्तु निश्चयनय की अपेक्ष से ज्ञानी के न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र ही है, मात्र यह आत्मा ज्ञायकभाव वाला-ज्ञातास्वरूप शुद्ध ही है।

यहाँ यह समझना है कि व्यवहाररत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग है और निश्चयरत्नत्रय निश्चय मोक्षमार्ग है, व्यवहार रत्नत्रय साधन है और निश्चयरत्नत्रय साध्य है।

श्लोकार्थ—प्रमाण, नय और निक्षेप ये अर्वाचीन पद में स्थित हैं किन्तु केवल एक शुद्धनय आत्मा ही प्रतिभासित होता है।।१६।।

विशेषार्थ—जहाँ तक व्यवहारनय और भेद अवस्था प्रधान है वहां तक ही प्रमाण, नय और निक्षेप प्रतिभासित होते हैं आगे निश्चयनय में-अभेदरूप निर्विकल्प ध्यान में ये प्रतिभासित ही नहीं होते हैं। समयसार में कहा भी है—

उदयति न नयश्रीरस्तमेतिप्रमाणं क्वचिदपि।
न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्।
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।

नयों की लक्ष्मी-भेद, प्रभेद उदय में नहीं आते हैं, प्रमाण भी अस्त हो जाता है, कुछ समझ में नहीं आता है कि निक्षेप के समूह कहां चले जाते हैं और अधिक तो क्या कहें, सभी विकल्पों को समाप्त करने वाले ऐसे आत्मतेज का अनुभव आने पर विकल्प-भेद-प्रमाण आदि रूप भेद प्रतिभासित ही नहीं होते हैं। वास्तव में यह अवस्था निर्विकल्प ध्यान में महामुनियों की ही होती है, उसके पूर्व छठे-सातवें गुणस्थान तक ये प्रमाण, नय, निक्षेप और भेद रत्नत्रय सभी प्रयोजनीभूत ही हैं।

श्लोकार्थ — मैं निश्चयनयरूप एक अद्वितीय नेत्र से सदा भ्रांतिरहित होकर उसी एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को देखता हूँ और व्यवहारनयरूपी नेत्र से ऊपर कथित सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र को पृथक्-पृथक् रूप से देखता हूँ।।१७।। जो महापुरुष जन्म रहित, एक-अद्वितीय, उत्कृष्ट, शांत और संपूर्ण उपाधि से रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा जानकर आत्मा में स्थिर होकर ठहरता है वही अमृत-मोक्षमार्ग में स्थित होता है, वही अमृत-मोक्ष को प्राप्त करता है, वही अर्हन्तस्वरूप तीनों लोकों का स्वामी है और वही प्रभु एवं ईश्वर कहा जाता है।।१८-१९।।

श्लोकार्थ — केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनंतसौख्य स्वभाव वाला जो वह परम तेज है उसको जान लेने पर अन्य क्या नहीं देख लिया गया, उसके देख लेने पर अन्य क्या नहीं देख लिया गया और उसके सुन लेने पर भला क्या नहीं सुन लिया गया है ? अर्थात् इस केवलज्ञान आदि उत्कृष्ट आत्मा के स्वभाव को जान लेने, देख लेने और सुन लेने पर सभी कुछ जान, देख और सुन लिया है ऐसा समझना।।२०।।

श्लोकार्थ — अतः विद्वान् पुरुषों को निश्चय से वही एक परम आत्मा का तेज जानने योग्य है, वही एक सुनने योग्य है और वही एक आत्मतत्त्व ज्योति देखने योग्य है, उससे भिन्न-अन्य परद्रव्य न जानने योग्य हैं, न सुनने योग्य हैं और न देखने योग्य ही हैं।।२१।। योगी-महाव्रती मुनिगण उसी एक आत्मतेज को गुरु के उपदेश से, अभ्यास से और वैराग्य भाव से प्राप्त करके कृतकृत्य-पूर्णतृप्त-मुक्त हो जाते हैं, न कि उससे भिन्न अन्य किसी वस्तु को प्राप्त करके, अतः उस आत्मतेज-ज्योति के प्रति मन में प्रीति को धारण करके जिन योगी ने उसकी बात भी सुनी है वे निश्चित ही भव्य हैं क्योंकि वे ही आगे निर्वाण प्राप्त करने वाले हैं।।२२-२३।।

जो ज्ञानी जीव कर्मों से पृथक्, अभेद अवस्था को प्राप्त हुए ऐसे एक परब्रह्म आत्मा को जानते हैं और उसी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होते हैं वे ही उस परब्रह्मस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं।।२४।। किसी भी परपदार्थ के साथ जो संबंध होता है वह बंध का कारण है किन्तु इससे विपरीत शांत और उत्कृष्ट एकत्वपद में जो आत्मा की स्थिति है वही मुक्ति के लिए कारण है।।२५।। नाना विकल्परूपी लहरों के भार से रहित, शांतस्वरूप आत्मा कर्मों के अभाव में कैवल्यरूप परमधाम को प्राप्त हो जाता है जैसे कि वायु के अभाव में समुद्र लहरों की चंचलता से रहित हो जाता है।।२६।। संयोग से जो कुछ भी प्राप्त हुआ है वह सभी मुझसे भिन्न है उसके परित्याग के निमित्त से मैं मुक्त हो चुका हूँ ऐसा मेरा निश्चय है।।२७।।

विशेषार्थ — यह संसारी स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, मकान आदि पर वस्तुओं के साथ एकत्व स्थापित कर

इनके संयोग से ही दुःखी हो रहा है, इस संयोग संबंध के त्याग करने से ही मुक्ति की प्राप्ति होगी ऐसा निश्चय है। कहा भी है–

संयोगतो दुःखमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम्[९]।।

यह शरीरधारी प्राणी इस जन्मरूपी गहन वन में संयोग से ही अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है अतः अपनी मोक्ष अवस्था को प्राप्त करने के इच्छुक जनों को मन–वचन–काय से इस संयोग संबंध का त्याग कर देना चाहिए।

ये पुण्य–पापरूप क्रूर राक्षस मेरा क्या कर सकेंगे ? क्योंकि अब मैंने राग–द्वेष के त्यागरूप महामंत्र से इन्हें कीलित कर दिया है।।२८।।

भावार्थ—जो पुण्य और पापरूप शुभ–अशुभ कर्म हैं ये क्रूर राक्षस के सदृश दुःखदायी हैं इनका उदय आने पर राग और द्वेष होता है। इन राग द्वेष के निमित्त से पुनरपि पुण्य–पाप कर्मों का बंध होता है। जब महामुनि राग–द्वेष का त्याग कर वीतरागी निर्विकल्प ध्यानी बन जाते हैं तब ये कर्मबंध रुक जाते हैं। इसी का नाम संवर है, इस संवर से आत्मा कर्मों से छूट कर मुक्त हो जाता है। जब तक पुण्य का संवर हम नहीं करते तब तक पांचों पापों का त्याग कर पाप का संवर करते हुए पुण्य के संवर की भावना भाते रहना चाहिए।

महात्मा–महामुनियों को संबंध–निमित्त के मिलने पर भी इन राग–द्वेष का त्याग कर देना चाहिए। जो जीव उस–निमित्त के बिना भी राग–द्वेष करते हैं वे वात रोग से ग्रसित रोगी के समान अपना कौन सा अहित नहीं कर लेते हैं ? अर्थात् वे रागी द्वेषी मनुष्य सभी प्रकार से अपना अहित ही कर लेते हैं।।२९।। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से उन पुण्य–पापरूप कर्मों की वृद्धि होती है। अतः मुमुक्षु–मुनिगण उस मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से भिन्न ऐसे एक शुद्ध आत्मतत्त्व की ही उपासना किया करते हैं।।३०।। द्वैतभाव से द्वैत और अद्वैत भाव से अद्वैत उत्पन्न होता है जैसे लोहे से लोहे का पात्र और सोने से सोने का पात्र बनता है।।३१।।

विशेषार्थ—बंध, मोक्ष या संसार–मोक्ष, पुण्य–पाप, आत्मा और कर्म ये सब व्यवस्था द्वैत कहलाती है तथा एक निर्विकल्प आत्मतत्त्व का अनुभव अद्वैत है। सम्यग्दृष्टि श्रावक और छठे गुणस्थानवर्ती मुनि ये द्वैतभाव में–सविकल्प अवस्था में ही रहते हैं, इससे भिन्न निर्विकल्प ध्यान में स्थित हुए मुनियों को ही अद्वैत भाव का अनुभव आता है। समयसार कलश काव्य में कहा भी है—एक आत्मतत्त्व का अनुभव आ जाने पर नय, प्रमाण, निक्षेप आदि प्रतिभासित नहीं होते हैं। इस अद्वैत में स्थित हुये मुनि शुक्लध्यान से कर्मों का नाश करके सर्वकर्म से रहित होकर एक अद्वैत स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं और जो अद्वैत में स्थित हैं ऐसे अव्रती, श्रावक या मुनि सम्यक्त्व के प्रभाव से अद्वैत की भावना भाते हुए परंपरा से मोक्ष के भागी बनते हैं।

किन्तु जो मिथ्यादृष्टी हैं ऐसे जो बंध, संसार आदि द्वैतभाव में ही रमे रहने के कारण चतुर्गति संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं अतः सम्यक्त्व सहित द्वैतभाव से अद्वैतभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

श्लोकार्थ—निश्चय से जो एकत्व है—पर द्रव्यों से आत्मा को पृथक् समझकर एक आत्मतत्त्व मात्र का जो श्रद्धान है, वही अद्वैत है और वही उत्कृष्ट अमृत–मोक्षस्वरूप है किन्तु दूसरे–कर्म आदि के निमित्त से किया गया जो द्वैत भाव प्रकट होता है वह व्यवहार की अपेक्षा रखने से संसार का कारण है।।३२।। बंध और मोक्ष, राग और द्वेष, कर्म और आत्मा तथा शुभ और अशुभ इस प्रकार की बुद्धि द्वैत के निमित्त से होती है यह संसार के लिए कारण है।।३३।।

भावार्थ—यह द्वैतबुद्धि सम्यग्दृष्टि के भी छठे गुणस्थान तक संभव है और निर्विकल्प ध्यान में ही अद्वैत अवस्था होती है फिर भी सम्यक्त्व के निमित्त से अद्वैत की भावना करने से ही परंपरा से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

उदय, उदीरणा और सत्त्व ये सब कर्मों का ही विस्तार है किन्तु ज्ञानस्वरूप जो आत्मा की ज्योति है वह उन सभी कर्मों से भिन्न एक है और उत्कृष्ट है।।३४।। क्रोधादि कर्मों का संयाग होने पर भी वह उत्कृष्ट आत्मज्योति विकार से रहित है, क्या विकार को करने वाले मेघों से आकाश विकारी हो सकता है ? अर्थात् नहीं।।३५।।

भावार्थ—निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मतत्त्व कर्मों से रहित निर्विकार चिच्चैतन्यस्वरूप ही है और व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मों से सहित संसारी है विकारी ही है ऐसा समझना। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा से ही आत्मतत्त्व का वर्णन किया जा रहा है।

श्लोकार्थ—'आत्मा' यह नाम-आत्मा का वाचक शब्द भी निश्चय से उस आत्मा से भिन्न है क्योंकि निश्चय से यह आत्मा संज्ञा से रहित अनिर्वचनीय है। वास्तव में विद्वानों ने जन्म-मरण आदि को शरीर का कर्म ही कहा है।।३६।। उस चैतन्य का ज्ञान के साथ भी जो संयोग है वह केवल कल्पना मात्र है क्योंकि वह आत्मा और ज्ञान इन दोनों में निश्चय से एकत्व-अभेद ही है अर्थात् आत्मा और ज्ञान एक ही हैं, दो नही हैं क्योंकि आत्मा को छोड़कर ज्ञान अन्यत्र नहीं पाया जाता है।।३७।।

यह आत्मज्योति गमन आदि क्रिया और कर्ता, कर्म आदि कारक के संबंध से रहित है, ऐसी यह एक परंज्योति ही मोक्ष के इच्छुक जनों के लिए शरणभूत है।।३८।। वही एक आत्मज्योति उत्कृष्ट ज्ञान है, वही एक आत्मज्योति निर्मल सम्यग्दर्शन है, वही एक आत्मज्योति चारित्र है और वही एक आत्मज्योति निर्मल तप है अर्थात् यह आत्मज्योति ही निश्चय संपूर्ण गुणमयी है।।३९।। वही एक आत्मज्योति नमस्कार करने योग्य है, वही एक आत्मज्योति मंगलस्वरूप है, वही एक उत्तम है और सज्जन पुरुषों के लिए वही एक शरणभूत है।।४०।। वही एक आत्मज्योति अप्रमत्त योगियों का आचार है, वही उन योगियों की आवश्यक क्रिया है और वही उनका स्वाध्याय है।।४१।।

विशेषार्थ-यहाँ 'अप्रमत्तस्य योगिनः' पद आया है, इससे स्पष्ट है कि जो छठे गुणस्थान से आगे के निर्विकल्प ध्यान में स्थित महामुनि हैं उनके उस निश्चय चारित्र में वह परमज्योति स्वरूप आत्मा ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप है। वही नमस्कार के योग्य है, वही मंगल लोकोत्तम और शरण है। वही पंचाचार, षडावश्यक क्रिया और स्वाध्याय स्वरूप है। वास्तव में व्यवहारनय के आश्रित ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदि पृथक्-पृथक् हैं, मूलाचार ग्रंथ के अनुसार इनका विस्तार से छठे गुणस्थानवर्ती मुनि पालन करते हैं। चार ही मंगल हैं—अरहंत, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म, ये चार उत्तम हैं और ये ही चार शरण हैं। 'चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं' इत्यादि। ऐसे ही ज्ञानाचार आदि पांच आचार, सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाएं और पांच प्रकार के स्वाध्याय ये सभी व्यवहार चारित्र हैं।

सरागमुनि छठे-सातवें गुणस्थान में रहते हुए इनको धारण करते हैं ये सभी निश्चय चारित्र के लिए साधन हैं। इनके होने पर ही आत्मा का ध्यान होता है। उस ध्यान में स्थित महामुनि ही इनको अभेद—एकरूप से प्राप्त कर लेते हैं। इसे ही निश्चय रत्नत्रय-अभेद रत्नत्रय, वीतराग चारित्र, निर्विकल्प ध्यान और शुक्लध्यान के नामों से जाना जाता है।

श्लोकार्थ—इस एक परमज्योति-आत्मज्योति का अनुष्ठान करने वाले महासाधु के गुणों की, संपूर्ण

शीलों की और अत्यंत निर्मल धर्म की संभावना होती है अर्थात् महामुनि ही आत्मज्योति का ध्यान–अनुभव करते हुए समस्त गुण, शील और धर्म को पूर्ण कर लेते हैं किन्तु बिना स्वात्मानुभव के ये सभी असंभव ही हैं ऐसा समझना।।४२।। वही एक आत्मज्योति संपूर्ण शास्त्ररूपी महासागर का एक उत्कृष्ट रत्न है और वही संपूर्ण रमणीय पदार्थों में आगे स्थित है–प्रधान है।।४३।। वही एक आत्मज्योति परम तत्त्व है, वही एक परम पद है, वही एक भव्यों के द्वारा आराध्य है और वही एक परम तेज है।।४४।। वही एक आत्मज्योति साधुजनों के लिए जन्मरूपी वृक्ष को छेदन करने वाला शस्त्र है और वही एक ज्योति ध्यान में लीन हुए महायोगियों के लिए प्रयोजनीभूत है–इष्ट है।।४५।। मुमुक्षु–मोक्ष के इच्छुकजनों के लिए वही एक आत्मज्योति मोक्ष का उपाय है, अन्य कोई नहीं है और उस आत्मज्योति को छोड़कर अन्य किसी स्थान में आनंद की भी संभावना नहीं है।।४६।।

विशेषार्थ—यह पूरा प्रकरण आत्मध्यानी–शुक्लध्यानी महामुनियों का ही है क्योंकि योगनिष्ठ–योगी और मुमुक्षु शब्दों का प्रयोग सर्वत्र दिगबर जैन महामुनि के लिए ही है। यथा– ''मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्, प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।''[१] इक्ष्वाकुवंश के आदि में जन्म लेने वाले, जितेन्द्रिय, भगवान आदिनाथ, प्रभु, मुमुक्षु ने प्रवज्या–दीक्षा ली, ये प्रभु सहिष्णु और अच्युत हैं, ऐसा श्रीसमंतभद्र स्वामी ने कहा है।

श्लोकार्थ—संसाररूपी घोर—भयंकर घाम—सूर्य के संताप से सदा संतप्त हुए प्राणी के लिए वह आत्मज्योति यंत्रधारागृह–जल फव्वारों से सहित शांत और बर्फ के समान शीतल है।।४७।। वही एक आत्मज्योति कर्मरूपी शत्रुओं के लिए दुर्गम किला है और वही एक इन कर्मशत्रुओं को तिरस्कृत करने वाली अपनी श्रेष्ठ सेना है।।४८।। वही एक आत्मज्योति महती विद्या है, वही स्फुरायमान मंत्र है और वही जन्मरूपी रोग को नष्ट करने वाली परम—श्रेष्ठ औषधि है।।४९।। वही एक आत्मज्योति अक्षय—अविनाशी आनंदरूपी महाफलों के भार की शोभा से सहित अक्षय ऐसे मोक्षरूपी सुंदर महावृक्ष का एक उत्कृष्ट बीज है।।५०।। वही एक आत्मज्योति तीनों लोकों के गृह का स्वामी है ऐसा तुम समझो, कि जिस एक के बिना यह तीन लोक–रूपी गृहनिवास से सहित होकर भी उससे रहित निर्जन वन के समान ही प्रतीत होता है।

तात्पर्य यह है कि तीनों लोकों में संपूर्ण द्रव्यों के रहने पर भी उस एक आत्मज्योति के बिना इस जीव के लिए कुछ भी नहीं है।।५१।। 'जो शुद्ध चैतन्य है, वही मैं हूँ इसमें संदेह नहीं है', इस कल्पना से भी रहित वह आत्मज्योति आनंद का स्थान है।।५२।।

भावार्थ—'जो शुद्ध चैतन्य है वही मैं हूँ' यह शब्दों से भायी गई भावना है किन्तु 'आत्मज्योति' इस शब्द कल्पना से परे निर्विकल्प ध्यानरूप है और उसमें आनन्द का ही अनुभव आता है।

श्लोकार्थ—मोक्ष के लिए की गई इच्छा भी मोह के उदय से उत्पन्न हुई है अर्थात् इच्छा मोह की ही पर्याय है इसीलिए वह मोक्ष में रुकावट डालने वाली ही है फिर भला शांतचित्त हुए मुमुक्षु—महामुनि अन्य किसी वस्तु की इच्छा कैसे करेंगे ? ।।५३।।

विशेषार्थ—श्री अकलंकदेव ने भी कहा है—'मोक्षेऽपि यस्य नाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति' जिसकी मोक्ष के लिए भी आकांक्षा नहीं है वही मोक्ष को प्राप्त करता है। बात यह है कि इच्छा होना भी एक विकल्प है चाहे वह मोक्ष के लिए ही क्यों न हो और विकल्पों को छोड़कर निर्विकल्प ध्यान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। दूसरी बात यह भी है कि—''छाया तरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्, कश्छायया याचित आत्मलाभः[२]।।''

अर्थात् जैसे—वृक्ष के नीचे पहुँचने पर छाया स्वयं मिल जाती है उसकी याचना—इच्छा—आकांक्षा करने की आवश्यकता नहीं रहती है। वैसे ही मोक्ष प्राप्ति के उपायस्वरूप व्यवहार रत्नत्रय के बल

१. स्वरूपसंबोधन। २. विषापहारस्तोत्र।

से निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त करके ध्यान में स्थित हुए महामुनि को मोक्ष की इच्छा की आवश्यकता ही भला क्या है ? वह तो अपने आप मिलेगा ही मिलेगा।

श्लोकार्थ — मैं एक चैतन्यस्वरूप ही हूँ, उससे भिन्न अन्य कुछ भी मेरा कभी भी नहीं हो सकता है। किसी के साथ मेरा संबंध भी नहीं है, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है।।५४।। साधुजन शरीर आदि बाह्य पदार्थों की चिंताओं के संपर्क से रहित अपने चित्त को निरंतर अपने शुद्ध आत्मा में स्थित करके ही रहते हैं।।५५।। हे आत्मन्! ऐसी आत्मा में स्थिर होने रूप अवस्था के होने पर जो कुछ भी है वही रहे यहाँ अन्य पदार्थों से भला क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इस चैतन्यस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर तुम शांत होवो और सुखी होवो।।५६।। विद्वानजन इस तत्त्वरूपी अमृत को पीकर अपार जन्म की परंपरा के मार्ग में परिभ्रमण करने से उत्पन्न हुई थकावट को दूर करें।।५७।। यह आत्मज्योति अतिशय सूक्ष्म है और अतिस्थूल भी है, एक है और अनेक भी हैं स्वसंवेद्य है और अवेद्य भी है तथा अक्षर-क्षयरहित है और अनक्षर भी है। वह ज्योति उपमारहित है, निर्देश रहित होने से अनिर्देश्य है, मेय-ज्ञेय रहित होने से अप्रमेय है और अनाकुल है। शून्य भी है-पर वस्तुओं से रहित होने से शून्य है और ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है। वह नित्य है और अनित्य भी है ऐसा महासाधुओं ने कहा है।। ५८-५९।। वह ज्योति शरीर रहित है, आलंबन रहित है, शब्दरहित है और उपाधि रहित है। ऐसी यह चैतन्यस्वरूप परमज्योति वचन और मन के अगोचर ही है।।६०।।

विशेषार्थ — यह आत्मज्योति निश्चयनय की अपेक्षा से रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित है अतएव सूक्ष्म है तथा अनंत गुणों का आश्रय होने से स्थूल भी है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से एक है और अनंत गुणों की अपेक्षा से अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणरूप रत्नत्रय की अपेक्षा से अनेक भी है। सहज ज्ञान या केवलज्ञान से जानने योग्य होने से अथवा शुद्धोपयोग में स्थित मुनियों के अनुभवगम्य होने से स्वसंवेद्य है फिर भी क्षायोपशमिक ज्ञान के द्वारा जानने योग्य न होने से अवेद्य है। कभी इस ज्योति का क्षरण — विनाश नहीं होता है — शुद्धनय से यह सदैव अविनश्वर है अतः 'अक्षर' है पुनः पर्यायार्थिक नय से उत्पाद, व्यय की अपेक्षा अनक्षर भी है — विनाशशील भी है अथवा अक्षर — भाषा आदि से रहित होने से अनक्षर है। असाधारण गुणों से सहित होने से उपमा रहित है। इइस ज्योति को शब्दों से कह नहीं सकते अतः अनिर्देश्य — अवाच्य है। सांव्यवहारिक आदि प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों का विषय न होने से अप्रमेय है एवं आकुलता रहित होने से अनाकुल है। मूर्तिक बाह्य पदार्थों के संयोग से रहित होने से शून्य है अथवा पुद्गलादि पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से रहित होने से शून्य है अथवा स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से पूर्ण है। यह ज्योति द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। यह आत्मज्योति औदारिक शरीर से रहित, परवस्तु के अवलंबन से रहित, शब्द वर्गणाओं से रहित और कर्मों की उपाधि से रहित ही है, अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय होने से मन, वचन के अगोचर है।

श्लोकार्थ — इस प्रकार उस परमात्मा के दुरधिगम्य और अत्यन्त दुर्लक्ष्य होने पर उसके विषय में जो कुछ भी कहा जाता है वह आकाश में चित्रलेखन के समान ही है।।६१।।

भावार्थ — जैसे अमूर्तिक आकाश में चित्र बनाना असंभव है ऐसे ही अतीन्द्रिय-अमूर्तिक आत्मा के विषय में कुछ भी कहना असंभव ही है यह आत्मा तो केवल स्वानुभवगम्य ही है।

जो उस आत्मा में लीन हैं उनकी बात तो दूर ही रहे किन्तु उस आत्मा का जो चिंतन मात्र भी करते हैं उनका जीवन प्रशंसनीय है और वे देवों द्वारा भी पूजित होते हैं।।६२।।

साम्यभाव ही शांति का उपाय है।

श्लोकार्थ—जो सर्वज्ञदेव असंसारी हैं—ईषत्संसारी होने से जीवन्मुक्त भी कहलाते हैं, समीचीन ज्ञान—केवलज्ञानरूपी नेत्र से सहित हैं उन्होंने इस आत्मा की आराधना का उपाय एकमात्र समताभाव ही बतलाया है।।६३। साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त का निरोध और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाचक ही हैं।।६४।। जहाँ पर न आकार है, न अक्षर है, न वर्ण है और न कोई विकल्प ही है किन्तु जहाँ केवल एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही प्रतिभाषित होता है वही साम्य शब्द से कहा जाता है।।६५।।

विशेषार्थ—जिस निर्विकल्प ध्यान में समचतुरस्र आदि संस्थान, अकार आदि अक्षर, कृष्ण, नील, शुक्ल आदि वर्ण और कोई भी विकल्प प्रतिभासित नहीं होते हैं केवल शुद्ध आत्मा ही अनुभव में आता है ऐसे शुद्धोपयोगी महामुनि के ही यह 'साम्यभाव' घटित होता है। यहाँ आचार्य ने स्वयं शुद्धोपयोग को भी साम्य का पर्यायवाची कहा है।

श्लोकार्थ—यह साम्यभाव ही एक उत्कृष्ट कार्य है—कर्त्तव्य है, यह समताभाव ही परम तत्त्व है और यह समताभाव ही मोक्ष के लिए संपूर्ण उपदेशों का उपदेश है अर्थात् सर्व शास्त्रों का सार है।।६६।। यह साम्यभाव समीचीन ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है, यह शाश्वत आनंद का घर है, यही साम्यभाव शुद्धात्मा का स्वरूप है और वही साम्यभाव मोक्षरूपी एक अद्वितीय महल का द्वार है।।६७।। विद्वान महापुरुषों ने इस साम्यभाव को संपूर्ण शास्त्रों का 'सार' कहा है। यह साम्यभाव ही कर्मरूपी महावन को जलाने के लिए दावानल अग्नि के समान है।।६८।। इस साम्यभाव को शरणागत जनों के लिए शरण देने वाला है, योगियों के ध्यान का विषय है और बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह के निमित्त से उत्पन्न हुए समस्त दोषों को नष्ट करने वाला है।।६९।।

शुद्ध हंस आत्मा को नमस्कार

श्लोकार्थ—जो शुद्ध हंस आत्मा अणिमा, महिमा आदि कमलवन अर्थात् स्वर्ग की अभिलाषा से रहित है, साम्यभावरूपी सरोवर में स्नेह करने वाला—रहने वाला है, पवित्र है और मुक्तिरूपी हंसी की ओर दृष्टि रखने वाला—मुक्ति में आसक्त है ऐसे आत्मारूपी हंस को मेरा नमस्कार हो।। ७०।।

भावार्थ—हंस सरोवर में रहता है उसे उसमें इतना आनंद आता है कि वह स्वर्ग की भी इच्छा नहीं करता है, शुचि—श्वेतवर्ण का होता है और हंसी की ओर अपनी दृष्टि रखता है। ऐसे ही यहाँ पर शुद्ध आत्मा को हंस बनाया है। यह शुद्धात्मा अणिमा आदि ऋद्धियों से सहित स्वर्ग की भी इच्छा नहीं रखता है क्योंकि इसकी मुक्तिरूपी हंसी में आसक्ति है, यह समताभाव में निवास करता है वही इसके लिए सरोवर है और यह शुचि—श्वेत अर्थात् कर्मरज से रहित होने से पवित्र है।

श्लोकार्थ—मृत्यु तापकारी होते हुये भी ज्ञानी मुनियों के लिए अमृत—मोक्ष का कारण है। जैसे कि इस संसार में कच्चे घड़े का परिपाक अमृत—पानी के संयोग का कारण है।।७१।।

भावार्थ—जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े को अवे की अग्नि में पकाया जाता है तभी उसमें पानी भरने पर ठंडा-ठंडा मिलता है। वैसे ही मृत्यु यद्यपि संसारी जीवों को दुखदायी है फिर भी ज्ञानी जनों को वह मोक्षसुख का कारण हो जाती है। यहां अमृत के दो अर्थ किए गये हैं अमृत—जहां मरण नहीं है ऐसा मोक्ष और अमृत—मरण से बचाने वाला जल।

श्लोकार्थ—मनुष्य पर्याय, उत्तम कुल में जन्म, संपत्ति, बुद्धि और कृतज्ञता—किये हुए उपकार को मानना, ये सब सामग्री होकर भी विवेक के बिना कुछ भी कार्यकारी नहीं है।।७२।। चेतन और अचेतन ये दो भिन्न तत्त्व हैं। उन दोनों के भिन्न-भिन्न स्वरूप का विचार करना ही विवेक कहलाता है। इसीलिए हे आत्मन्! तुम ग्रहण करने योग्य चैतन्य आत्मा को ग्रहण करो और छोड़ने योग्य अचेतन पुद्गल द्रव्य को छोड़ो।।७३।। इस संसार में कुछ दुःख है और कुछ सुख है ऐसा मूढ़ात्मा को मन में प्रतिभासित होता है किन्तु विवेकी-सम्यग्ज्ञानी जनों को तो इस संसार में सदा सर्व दुःख ही दुःख प्रतिभासित होता है।।७४।।

विशेषार्थ—दुःख के शारीरिक, मानसिक और आगंतुक ऐसे तीन भेद हैं फिर तत्त्वज्ञानी को तो संसार में तो सदा दुःख ही दुःख प्रतिभासित होता है। वह एक तो जन्म-मरण की अपेक्षा है दूसरा मुख्यरूप से आकुलता लक्षण वाला है। कहा भी है-'आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।' वास्तव में अविवेकी प्राणी कभी इष्ट सामग्री के प्राप्त होने पर सुख का अनुभव करता है किन्तु विवेकी आत्मा चिंतन करता है—'कल्पनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्'।

संसारी प्राणियों के लिए ये सुख और दुःख कल्पना मात्र ही हैं ऐसा समझना।

श्लोकार्थ—विवेकी मनुष्य को कर्म तथा उसके कार्य रागादि भाव ये सब छोड़ने योग्य हैं और उपयोगरूप-ज्ञान-दर्शन लक्षण वाली ऐसी उत्कृष्ट आत्मज्योति ही ग्रहण करने योग्य है।।७५।। "जो चैतन्य है वही मैं हूँ" वही चैतन्य आत्मा जानता है और वही देखता है। वही एक चैतन्य उत्कृष्ट है। मैं स्वभाव से उसी चैतन्य के साथ एकता को प्राप्त हूँ।।७६।।

जो यह 'एकत्वसप्तति' रूपी आकाशगंगा ऊँचे श्री पद्मनन्दि आचार्यरूपी हिमालय पर्वत से उत्पन्न हुई है और यह मोक्षपदरूपी समुद्र में प्रविष्ट हुई है। इस गंगा में जो मनुष्य अवगाहन—स्नान कर सकता है वह मनुष्य परम विशुद्धि को प्राप्त होता है।।७७।।

इस एकत्व भावना को श्री पद्मनंदि आचार्य ने अस्सी श्लोकों में कहा है। आचार्यश्री ने इस भावना को गंगानदी की उपमा दी है और स्वयं को ऊँचा हिमवान पर्वत बताया है। इस भावना से मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है अतः इस नदी को मोक्षसमुद्र में प्रवेश कराया है। जो मनुष्य इस एकत्व भावना को भाएंगे वे अतिशय परिणाम विशुद्धि को प्राप्त करेंगे।

यह एकत्व भावना का उपदेश संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए पुल के समान है। जिन साधुओं ने इस उपदेश का आश्रय लिया है। उनके उत्तम समाधि की विधि की समीपता से निश्चलता को प्राप्त हुए अंतरंग में क्या मल का लवमात्र भी स्थान प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।।७८।।

भावार्थ—यह एकत्व भावना संसार समुद्र से पार करने वाली है और सम्यक्त्व सहित समाधि—धर्मध्यान और शुक्लध्यान की सिद्धि कराने वाली है। इस भावना से निश्चल मन होता है और पापरूपी मल दूर हो जाता है, ऐसा यह इस एकत्वभावना का महत्त्व है।

श्लोकार्थ—आत्मा भिन्न है, उसका अनुसरण करने वाला कर्म मुझसे भिन्न है, आत्मा और कर्म के संबंध से जो विकार भाव उत्पन्न होता है वह भी उसी प्रकार भिन्न है तथा अन्य भी जो काल, क्षेत्र आदि हैं वे भी भिन्न ही हैं। अपने-अपने गुणों और कलाओं से अलंकृत ये सब भिन्न-भिन्न ही हैं।।७९।।

भावार्थ—निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा से कर्म भिन्न हैं अतः कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए रागादि भाव भी भिन्न ही हैं। इसी प्रकार अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि भी भिन्न ही हैं क्योंकि ये सभी अपने-

अपने गुण पर्यायों से पृथक्-पृथक् ही हैं। वास्तव में निश्चयनय से न संसार है और न मोक्ष ही अतः निश्चयनय से आत्मा को शुद्ध समझकर पुनः व्यवहारनय से रत्नत्रय को ग्रहण कर आत्मा की शुद्ध शक्ति को व्यक्त करना चाहिए।

श्लोकार्थ—जो भव्य जीव इस आत्मतत्त्व का बार-बार अभ्यास करते हैं, उसका कथन करते हैं, पुनः-पुनः उसी आत्मतत्त्व का चिंतन करते हैं और उस आत्म तत्त्व की बार-बार भावना भाते हैं, वे शीघ्र ही अक्षय, परिपूर्ण, अनंत सुख से सहित और नवकेवललब्धिरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।।८०।।

भावार्थ—केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग, अनंतवीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिक-यथाख्यात चारित्र को नव केवललब्धि कहते हैं। जो महामुनि इस आत्मतत्त्व की भावना का पुनः-पुनः अभ्यास, कथन, चिंतन एवं भावना करते हैं वे परंपरा से सर्वगुण और सर्वसौख्य से परिपूर्ण मोक्षसुख को प्राप्त कर लेते हैं ऐसा नियम है।

एकत्वसप्तति अधिकार का सारांश

इस एकत्वसप्तति अधिकार में श्री पद्मनन्दि आचार्य ने आत्मा के चिच्चैतन्यस्वरूप एकत्व भाव का सुंदर विवेचन किया है। यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय से परद्रव्यों से भिन्न है, एक है। इसमें सम्यक्त्व के लिए पांच लब्धियों का भी संक्षिप्त वर्णन है। इसमें श्लोक २२ में कहा है कि- योगी—महामुनि गुरु के उपदेश से, अभ्यास से और वैराग्य से उसी एक आत्मज्योति को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाते हैं। इस 'योगी' शब्द से यह स्पष्ट है कि इस एकत्व को प्राप्त करने वाले महामुनि ही हो सकते हैं न कि पंचसूना व गृहस्थाश्रम में फंसे हुए गृहस्थ लोग। श्लोक ३० में मुमुक्षुभिः पद है, टीकाकार ने यहां मुमुक्षिभिः-मुनीश्वरैः लिखा है। इससे स्पष्ट है कि मुमुक्षु शब्द मुनीश्वरों के लिए ही आता है।

श्लोक ४१ में कहा है—'अप्रमत्तस्य योगिनः' प्रमाद से रहित हुए मुनि का वही एक आत्मज्योति आचार है, वही आवश्यक क्रिया एवं स्वाध्याय है। यहां पर भी 'अप्रमत्तस्य योगिनः' पद से सप्तम गुणस्थानवर्ती ध्यानस्थ मुनि विवक्षित हैं। यहां 'परं ज्योति' स्वरूप आत्मज्योति को परमज्ञान आदि कहते हुए अनेक श्लोकों में उस आत्मज्योति को सभी गुणों में सिद्ध किया है। इसे 'यन्त्रधारागृह' रूप बर्फ जैसा शीतल कहा है।

टीकाकार ने ५३ वें श्लोक के 'मुमुक्षवः' का अर्थ "मुक्तिवाञ्छकाः मुनयः" लिखा है एवं ५७ वें श्लोक में मनीषिणः शब्द का अर्थ भी 'मुनयः' कहा है। आगे 'साम्य' शब्द का विस्तार करते हुए कहा है—

'साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चेतोनिरोधन और शुद्धोपयोग' ये पर्यायवाची शब्द हैं। यह शुद्धोपयोग निर्विकल्प ध्यान में ही घटित होता है। यह निर्विकल्प ध्यान सप्तम गुणस्थान के सातिशय अप्रमत्त से शुरु होकर शुक्लध्यान में-आठवें, नवमें, दशवें, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानों में होता है और यहाँ तक ही शुद्धोपयोग माना गया है। आगे ६९ वें श्लोक में स्वयं आचार्यश्री ने कहा है—'साम्यं शरण्यमित्याहुर्योगिनां योगगोचरम्' यह साम्य ही शरणभूत है और योगियों के योग—ध्यानगम्य है।

आगे एक श्लोक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है—

'दुःखं किंचित्सुखं किंचित्, चित्ते भाति जडात्मनः।
संसारेऽत्र पुनर्नित्यं, सर्वं दुःखं विवेकिनः।।७४।।'

यहां संसार में कुछ दुःख है और कुछ सुख है ऐसा मूढ़ात्मा के हृदय में प्रतिभासित होता है किन्तु संसार में हमेशा दुःख ही दुःख है ऐसा विवेकी — ज्ञानीजनों के हृदय में प्रतिभासित होता है।

बचपन में इस श्लोक से मेरे हृदय में विवेक — सम्यग्ज्ञान का और वैराग्य का अंकुर उदित हुआ था। हमेशा इस श्लोक का चिंतन करती रहती थी। जब घर छोड़ा था तब भी यह श्लोक मस्तिष्क में घूमा करता था और आज भी यह श्लोक मुझे याद है मेरे स्मृतिपटल पर अंकित सा हो गया है।

अधिक कहने से क्या ? इस एकत्वसप्तति अधिकार के एक-एक श्लोक भी अमूल्य हैं, ऐसा समझकर मुमुक्षुजनों को और संसार से भयभीत हुए सम्यग्दृष्टि श्रावकों को सदा इसका चिंतन, मनन, अभ्यास और पठन-पाठन करते रहना चाहिए। इसी एकत्वभावना से ही आत्मा को पर संबंध से छुटाकर शुद्ध बनाया जा सकता है।

निर्वाण प्राप्त सिद्धों की वंदना

अट्ठावयम्मि उसहो, चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो।
उज्जंते णेमिजिणो, पावाए णिव्वुदो महावीरो।।5।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत – निर्वाणभक्ति गाथा-1)

अर्थ–भगवान ऋषभदेव कैलाश पर्वत से, भगवान वासुपूज्य चंपापुरी से, भगवान नेमिनाथ गिरनार पर्वत से और भगवान महावीरस्वामी पावापुरी से निर्वाण को प्राप्त हुये हैं।

सम्मेदशिखर की वंदना

वीसं तु जिणवरिंदा, अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा।
सम्मेदे गिरिसिहरे, णिव्वाणगया णमो तेसिं।।6।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत – निर्वाणभक्ति गाथा-2)

अर्थ–श्री अजितनाथ से लेकर शेष बीस तीर्थंकर सुर-असुर, इन्द्रों से वंदित होते हुए कर्मों से छूटकर सम्मेदशिखर पर्वत से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। इन सभी चौबीस तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार होवे।

१३. आगम दर्पण

मंगलाचरण

अर्हन्तो मंगलं कुर्युः, सिद्धाः कुर्युश्च मंगलम्।
आचार्याः पाठकाश्चापि, साधवो मम मंगलम्।।१।।

मंगलं जिनधर्मः स्यात् जिनागमाश्च मंगलम्।
मंगलं जिनचैत्यानि, चैत्यालयाश्च मंगलम्।।२।।

नवधा भक्तितो वंद्या, इमे श्रीनवदेवताः।
नवकेवललब्ध्यै स्युः कुर्वन्तु भुवि मंगलम्।।३।।

श्रीतीर्थकृन्मुखोद्भूतां, वाणीमाश्रित्य भाति यः।
पूर्वाचार्यैर्लिखितोऽसा - वागमो दर्पणायते।।४।।

आगमश्चक्षुरस्यासा - वागमचक्षुरुच्यते।
तान्नत्वा सर्वसाधूंश्च-याचेऽहं तद्गुणान् मुदा।।५।।

अर्थ—अर्हंत परमेष्ठी मंगल करें, सिद्ध परमेष्ठी मंगल करें, आचार्य परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी और साधु परमेष्ठी भी हमारे लिए मंगलकारी होवें।।१।।

जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित धर्म मंगलकारी होवे, जैन आगम मंगलकारी होवें, जिनप्रतिमाएं मंगल करें एवं जिनचैत्यालय मंगलकारी होवें।।२।।

ये श्रीनवदेवता नवधा भक्तिपूर्वक—मन, वचन, काय को कृत, कारित, अनुमोदना से गुणित करने पर नव प्रकार से वंदनीय हैं। ये नवदेवता हमें नव केवललब्धि प्रदान करें और सारे जगत् के लिए मंगलकारी होवें।।३।।

श्री तीर्थंकर भगवान के मुख से उत्पन्न वाणी का आश्रय लेकर जो शोभित हो रहा है और जो पूर्वाचार्यों द्वारा लिखित है वह आगम दर्पण के समान आचरण करता है—दिख रहा है।।४।।

आगम ही है चक्षु जिनके वे आगमचक्षु कहलाते हैं। ऐसे उन सभी आगम- चक्षु साधुओं को नमस्कार करके हम हर्षपूर्वक उनके गुणों की याचना करते हैं।।५।।

पंचामृत अभिषेक

श्री पूज्यपाद स्वामी जो कि सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ के कर्ता महान् आचार्य हैं उनका बनाया हुआ "महाभिषेक" प्रसिद्ध है। यह "इन्द्रध्वज विधान" में छपाया जा चुका है। सन् १९८७ में मैंने इस "महाभिषेक' का हिन्दी पद्यानुवाद भी कर दिया है जो कि सभी के लिए सरल बन गया है।

श्री पूज्यपाद स्वामी ने अभिषेकपाठ में प्रारंभ में दो श्लोक दिये हैं जिनमें नित्यपूजा के प्रारंभ में करने योग्य विधि का संकेत दिया है पुनः अंत में पैंतीस से चालीस श्लोकों में से अंत के चार श्लोकों में अभिषेक के बाद में करने योग्य पूजा, मंत्रजाप, यक्ष, यक्षी आदि के अर्घ्य का संकेत दिया है। इसे ही देखिए—

आनम्यार्हन्तमादा-वहमपि विहितस्नानशुद्धिः पवित्रैः।
तोयैः सन्मंत्रयंत्रै-र्जिनपतिसवनाम्भोभिरप्यात्तशुद्धिः।।
आचम्यार्घ्यं च कृत्वा, शुचिधवलदुकूलान्तरीयोत्तरीयः।
श्रीचैत्यावासमानौम्यवनतिविधिना त्रिःपरीत्य क्रमेण।।१।।

द्वारं चोद्घाट्य वक्त्राम्बरमपि विधिनेर्यापथाख्यां च शुद्धिं।
कृत्वाहं सिद्धभक्तिं, बुधनुतसकली-सत्क्रियां चादरेण।।
श्री जैनेन्द्रार्चनार्थं, क्षितिमपि यजन-द्रव्यपात्रात्मशुद्धिं।
कृत्वा भक्त्या त्रिशुद्ध्या, महमहमधुना प्रारभेयं जिनस्य।।२।।[1]

पूजा अभिषेक के प्रारम्भ में स्नान करके शुद्ध हुआ मैं अर्हन्त देव को नमस्कार करके पवित्र जलस्नान से, मंत्र स्नान से और व्रत स्नान से शुद्ध होकर आचमन कर, अर्घ्य देकर, धुले हुए सफेद धोती और दुपट्टा को धारण कर, वंदना विधि के अनुसार तीन प्रदक्षिणा देकर जिनालय को नमस्कार करता हूँ तथा द्वारोद्घाटनकर और मुख वस्त्र हटाकर विधिपूर्वक ईर्यापथशुद्धि करके, सिद्धभक्ति करके, सकलीकरण करके, जिनेन्द्रदेव की पूजा के लिए भूमिशुद्धि, पूजा-द्रव्य की शुद्धि, पूजा-पात्रों की शुद्धि और आत्मशुद्धि करके भक्तिपूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धि से अब जिनेन्द्रदेव का महामह अर्थात् अभिषेक-पूजा प्रारम्भ करता हूँ।

पुनः विधिवत् अभिषेक करने का विधान है। पुनः अंत के श्लोक ये हैं —

निष्ठाप्यैवं जिनानां, सवनविधिरपि प्रार्च्यभूभागमन्यं।
पूर्वोक्तैर्मंत्रयंत्रै-रिव भुवि विधिनाराधनापीठयंत्रम्।।
कृत्वा सच्चंदनाद्यैर्वसुदलकमलं कर्णिकायां जिनेंद्रान्।
प्राच्यां संस्थाप्य सिद्धा-नितरदिशि गुरून् मंत्ररूपान् निधाय।।३७।।

जैनं धर्मागमार्चा-निलयमपि विदिक्-पत्रमध्ये लिखित्वा।
बाह्ये कृत्वाथ चूर्णैः, प्रविशदसदकैः, पंचकं मंडलानाम्।।
तत्र स्थाप्यास्तिथीशा, ग्रहसुरपतयो, यक्षयक्ष्यः क्रमेण।
द्वारेशा लोकपाला, विधिवदिह मया, मंत्रतो व्याह्वियन्ते।।३८।।

एवं पंचोपचारै-रिह जिनयजनं, पूर्ववन्मूलमंत्रे-
णापाद्यानेकपुष्पै-रमलमणिगणै-रङ्गुलीभिः समंत्रैः।।
आराध्यार्हंतमष्टोत्तरशतममलं, चैत्यभक्त्यादिभिश्च।
स्तुत्वा श्रीशांतिमंत्रं, गणधरवलयं, पंचकृत्वः पठित्वा।।३९।।

पुण्याहं घोषयित्वा, तदनु जिनपतेः पादपद्मार्चितां श्री-
शेषां संधार्य मूर्ध्ना, जिनपतिनिलयं, त्रिःपरीत्य त्रिशुद्ध्या।।
आनम्येशं विसृज्या-मरगणमपि यः, पूजयेत् पूज्यपादं।
प्राप्नोत्येवाशु सौख्यं, भुवि दिवि विबुधो, देवनंदीडितश्रीः।।४०।।[2]

---

१. अभिषेक पाठ संग्रह-पूज्य पाद स्वामी विरचित पृ. १। २. अभिषेक पाठ संग्रह-श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित पृ. १२-१३

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्रदेव की पूजाविधि को पूर्ण करके पूर्वोक्त मंत्र-यंत्रों से विधिपूर्वक आराधनापीठ यंत्र की पूजा करें पुनः चंदन आदि के द्वारा आठ दल का कमल बनाकर कर्णिका में श्री जिनेन्द्रदेव को स्थापित कर पूर्व दिशा में सिद्धों को, शेष तीन दिशा में आचार्य, उपाध्याय और साधु को विराजमान करके पुनः विदिशा के दलों में क्रम से जिनधर्म, जिनागम, जिनप्रतिमा और जिनमंदिर को लिखकर बाहर में चूर्ण से और धुले हुये उज्ज्वल चावल आदि से पंचवर्णी मण्डल बना लेवें। इस कमल के बाहर पंचदश तिथिदेवता को, नवग्रहों को, बत्तीस इन्द्रों को, चौबीस यक्षों को, चौबीस यक्षिणी को तथा द्वारपालों को और लोकपालों को विधिवत् मंत्रपूर्वक मैं आह्वानन विधि से बुलाता हूँ।

इस तरह पंचोपचारों से मंत्रपूर्वक जिन भगवान की पूजन कर पूर्ववत् मूल मंत्रों द्वारा अनेक प्रकार के पुष्पों से, निर्मल मणियों की माला से या अंगुली से एक सौ आठ जाप्य करके अरहंत देव की आराधना करें। पुनः चैत्यभक्ति आदि शब्द से पंचगुरूभक्ति और शांतिभक्ति के द्वारा स्तवन करके शांतिमंत्र और गणधरवलय मंत्रों को पाँच बार पढ़कर पुण्याहवाचन करना, इसके बाद जिनेन्द्रदेव के चरणकमलों से पूजित श्रीशेषा—आसिका को मस्तक पर चढ़ाकर जिनमंदिर की तीन प्रदक्षिणा देकर, मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके और अमरगण अर्थात पूजा के लिए बुलाये गये देवों का विसर्जन करके जो व्यक्ति "पूज्यपाद"—जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है वह "देवनन्दी" से पूजित श्री विद्वान् मर्त्यलोक और देवलोक में शीघ्र ही सुख को प्राप्त करता है।। ३६ से ४०।।

यह अभिषेकपाठ सर्वार्थसिद्धि के कर्ता श्री पूज्यपाद स्वामीकृत ही है। यह अभिषेक पाठ संग्रह की प्रस्तावना में स्पष्ट किया गया है। यथा—"शिलालेख"[1] नं. ४० (६४) में निम्नलिखित दो पद्य दिये गये हैं—

यो देवनंदिप्रथमाभिधानो, बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभि-र्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्।।१०।।

जैनेन्द्रं निजशब्दभोगमतुलं, सर्वार्थसिद्धिः परा।
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां, जैनाभिषेकः स्वकः।।
छन्दस्सूक्ष्मधियं समाधिशतक-स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः, पूज्यो मुनीनां गणैः[2]।।११।।

पहले पद्य में पूज्यपाद स्वामी के तीन नाम प्रख्यात होने का हेतु बताया है अर्थात् जिनका "देवनंदि" यह प्रथम नाम था, बुद्धि और महानता से जो जिनेन्द्रबुद्धि कहलाए, पुनः देवताओं के द्वारा उनके पाद युगल की पूजा की गयी थी इसलिए वे "श्री पूज्यपाद" नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

पुनः दूसरे पद्य में उनके बनाये गये ग्रंथों के नाम हैं। अर्थात् जिनका "जैनेन्द्र व्याकरण" अतुल शब्दों का कथन करता है, जिनकी "सर्वार्थसिद्धि" सिद्धांत में निपुणता को सूचित करती है एवं जिनका बनाया हुआ "जैनाभिषेक" छंद ग्रन्थ और 'समाधिशतक' उनके श्रेष्ठ कवित्व को कहते हैं ऐसे वे श्री पूज्यपाद मुनिनाथ, मुनियों के समूह से पूज्य हैं।

यह शिलालेख शक संवत् १०८५, विक्रम संवत् १२२० में उत्कीर्ण किया गया है।

इस अभिषेकपाठ में "ॐ ह्रीं अत्रस्थ क्षेत्रपालाय स्वाहा। क्षेत्रपालबलिदानम्।"

---

1. शिलालेख संग्रह पु. । 2. "अभिषेक पाठ संग्रह" प्रस्तावना से, पृ. 8।

इस मंत्र से क्षेत्रपाल को अर्घ्य दिलाया है। आगे दश दिक्पालों का अर्घ्य है। यथा —

पूर्वाशा-देश-हव्या-सन-महिषगते नैऋते पाशपाणे।
वायो यक्षेंद्र-चन्द्राभरण-फणिपते रोहिणी-जीवितेश।।
सर्वेऽप्यायात यानायुधयुवतिजनैः सार्धमों भूर्भुवः स्वः।
स्वाहा गृण्हीत चार्घ्यं, चरूममृतमिदं स्वस्तिकं यज्ञभागं ।।११।।[1]

ॐ ह्रीं क्रों प्रशस्तवर्णसर्वलक्षणसंपूर्णस्वायुधवाहनवधू-चिन्हसपरिवारा इंद्राग्नियमनैर्ऋतवरुणवायु-कुबेरेशानधरणेंद्रसोमनाम-दशलोकपाला! आगच्छत आगच्छत संवौषट्, स्वस्थाने तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः अत्र मम सन्निहिता भवत भवत वषट् इदमर्घ्यं पाद्यं गृण्हीध्वं गृण्हीध्वं ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा स्वधा।

इसी "महाभिषेक" में पंचामृत अभिषेक है उसमें एक मंत्र देखिये, दूध के अभिषेक का —

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं वं मं हं सं तं पं वं वं मं मं हं हं सं सं तं तं पं पं झं झं ध्वीं क्ष्वीं हं सस्त्रैलोक्यस्वामिनः क्षीराभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा।

यह अभिषेकपाठ श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित ही है और ये पूज्यपाद स्वामी मूलसंघ के महान आचार्य हैं। यह बात सर्वजनविदित है और जब इन आचार्यदेव को महान माना जाएगा तब पुनः इनके द्वारा रचित पंचामृत अभिषेक भी किसे प्रमाणिक नहीं होगा ?

सन् १९३६, वीर निर्वाण संवत् २४६२ में पं. पन्नालाल जी सोनी (ब्यावर वाले), राज. ने एक "अभिषेकपाठ संग्रह" प्रकाशित किया था। उसमें सर्वप्रथम श्री पूज्यपाद स्वामी का ही अभिषेकपाठ संगृहीत है। इसके बाद १५ अभिषेक पाठ और दिये गये हैं। ये सभी पंचामृत अभिषेकपाठ हैं। इन सबमें क्षेत्रपाल, दिक्पाल और शासनदेव-देवियों के आह्वानन व अर्घ्य दिये गये हैं। ये सभी अभिषेक पाठ मूलसंघाम्नाय के आचार्यों एवं विद्वानों के द्वारा ही रचे गये हैं। इनकी तालिका निम्न प्रकार है —

अभिषेक पाठ	**कर्ता के नाम**
१. महाभिषेक —	श्री पूज्यपाद स्वामी
२. बृहत्स्नपन —	श्री गुणभद्र भदन्त
३. जिनाभिषेक —	श्री सोमदेवसूरि
४. लघुस्नपन संस्कृत टीका सहित —	अभयनंदिसूरि
५. जैनाभिषेक संस्कृत टीका सहित —	गजांकुश कवि
६. नित्यमहोद्योत —	पंडित आशाधर सूरि
७. अभिषेकक्रम —	(अज्ञात)
८. जन्माभिषेक विधि —	पंडित अप्पपार्य
९. नित्यमह —	पं. नेमिचंद्र
१०. जिनस्नपन —	इन्द्रनंदी योगीन्द्र
११. रत्नत्रयादि अभिषेक —	आचार्य सकलकीर्ति
१२. सिद्धचक्राभिषेक —	भट्टारक शुभचंद्र
१३. कलिकुंडयंत्राभिषेक —	(अज्ञात)

1. अभिषेक पाठ संग्रह-श्री पूज्यपाद स्वामी विरचित पृ. 5

१४. जिनश्रुतगुरू सिद्धरत्नत्रयस्नपन विधि — पंडित आशाधरसूरि

१५. भाषापंचामृताभिषेक — (अज्ञात)

१६. महाभिषेक या बृहत्स्नपन पंजिका — इन्द्रवामदेव

इन अभिषेक पाठों में श्री गुणभद्र भदंत, श्री अभयनंदिसूरि, श्री इंद्रनंदि आचार्य आदि महान आचार्य मूल संघ के महान आचार्य माने गये हैं। इन्हें कोई भी पाप-भीरू विद्वान दुराग्रही नहीं कह सकता है। तब भला इनके द्वारा बनाए हुए ये पंचामृत अभिषेकपाठ अप्रमाणीक कैसे कहे जा सकते हैं?

इन अभिषेक पाठों में पुष्पवृष्टि करने के, चंदन विलेपन आदि के प्रमाण विद्यमान हैं। सबसे बड़ा प्रमाण "कसायपाहुड़" की टीका जयधवला में आता है। देखिए—

चउवीस वि तित्थयरा सावज्जा; छज्जीवविराहणहेउसावयधम्मोवएस-कारित्तादो। तं जहा, दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो। एसो चउव्विहो वि छज्जीवविराहओ; पयण-पायणग्गिसंधुक्कण-जालण-सूदि-सूदाणादिवावारेहि जीवविराहणाए विणा दाणाणुववत्तीदो। तरुवरछिंदण-छिंदावणिट्टपादण-पादावण-तद्दहण-दहावणादिवावारेण छज्जीवविराहणहेउणा विणा जिणभवणकरणकरावणण्णहाणुववत्तीदो। ण्हवणोवलेवण-संमज्जण-छुहावण-पु (फु) ल्लारोवण-धूवदहणादिवावारेहि जीववहाविणाभावीहि विणा पूजकरणाणुववत्तीदो च। कथं सीलरक्खणं सावज्जं ? ण; सदारपीडाए विणा सीलपरिवालणाणुववत्तीदो।कधमुववासो सावज्जो ? ण; सपोट्टत्थपाणिपीडाए विणा उववासाणुववत्तीदो। थावरजीवे मोत्तूण तसजीवे चेव मा मारेहु त्ति साविया‌णमुवदेसदाणदो वा ण जिणा णिरवज्जा। अणसणोमोदरियउत्तिपरिसंखाण-रसपरिच्चाय-विवित्तसयणासण-रुक्खमूलादावणब्भावासुक्कुदासण-पलियंकद्धू-पलियंक-ठाण-गोण-वीरासण-विणय-वेज्जावच्च-सज्झायझाणादिकिलेसेसु जीवे पयिसारिय खलियारणादो वा ण जिणा णिरवज्जा तम्हा ते ण वंदणिज्जा त्ति ?

एत्थ परिहारो उच्चदे। तं जहा, जयवि एवमुवदिसंति तित्थयरा तो वि ण तेसिं कम्मबंधो अत्थि, तत्थ मिच्छत्तासंजमकसायपच्चयाभावेण वेयणीयवज्जा-सेसकम्माणं बंधाभावादो। वेयणीयस्स वि ण ट्ठिदिअणुभागबंधा अत्थि, तत्थ कसायपच्चयाभावादो। जोगो अत्थि त्ति ण तत्थ पयडिपदेसबंधाणमत्थित्तं वोत्तुं सक्किजदे ? ट्ठिदिबंधेण विणा उदयसरूवेण आगच्छमाणाणं पदेसाणमुवयारेण बंधववएसुवदेसादो। ण च जिणेसु देस-सयलधम्मोवदेसेण अज्जियकम्मसंचओ वि अत्थि, उदयसरूवकम्मागमादो असंखेज्जगुणाए सेढीए पुव्वसंचियकम्मणिज्जरं पडिसमयं करेंतेसु कम्मसंचयाणुववत्तीदो। ण च तित्थयरमण-वयण-कायवुत्तीओ इच्छापुव्वियायो जेण तेसिं बंधो होज्ज, किन्तु दिणयर-कप्परुक्खाणं पउत्तिओ व्व वयिससियाओ।[1]

आगे शंका — समाधान द्वारा चतुर्विंशतिस्तव का स्वरूप बतलाते हैं —

शंका — छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत श्रावकधर्म का उपदेश करने वाले होने से चौबीसों ही तीर्थंकर सावद्य अर्थात् सदोष हैं। आगे इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हैं — दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं। यह चारों ही प्रकार का श्रावकधर्म छह काय के जीवों की विराधना का कारण है, क्योंकि भोजन का पकाना, दूसरे से पकवाना, अग्नि का सुलगाना, अग्नि का जलाना, अग्नि का

1. कसायपाहुड़ (जयधवला) पृ. 100 से 102 तक।

खूतना और खुतवाना आदि व्यापारों से होने वाली जीवविराधना के बिना दान नहीं बन सकता है। उसी प्रकार वृक्ष का काटना और कटवाना, ईंट का गिराना और गिरवाना तथा उनको पकाना और पकवाना आदि छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार के बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना नहीं बन सकता है तथा अभिषेक करना, अवलेप करना, संमार्जन करना, चन्दन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप का जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता है।

प्रतिशंका—शील का रक्षण करना सावद्य कैसे है ?

शंकाकार—नहीं, क्योंकि अपनी स्त्री को पीड़ा दिये बिना शील का परिपालन नहीं हो सकता है, इसलिए शील की रक्षा भी सावद्य है।

प्रतिशंका—उपवास सावद्य कैसे है ?

शंकाकार—नहीं, क्योंकि अपने पेट में स्थित प्राणियों को पीड़ा दिये बिना उपवास बन नहीं सकता है, इसलिए उपवास भी सावद्य है।

अथवा, 'स्थावर जीवों को छोड़कर केवल त्रसजीवों को ही मत मारो' श्रावकों को इस प्रकार का उपदेश देने से जिनदेव निरवद्य नहीं हो सकते हैं।

अथवा अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, वृक्ष के मूल में, सूर्य के आताप में और खुले हुए स्थान में निवास करना, उत्कुटासन, पल्यंकासन, अर्धपल्यंकासन, खड्गासन, गवासन, वीरासन, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय और ध्यानादि क्लेशों में जीवों को डालकर उन्हें ठगने के कारण भी जिन निरवद्य नहीं है और इसलिए वे वन्दनीय नहीं है।

समाधान—यहाँ पर उपर्युक्त शंका का परिहार करते हैं। वह इस प्रकार है—यद्यपि तीर्थंकर पूर्वोक्त प्रकार का उपदेश देते हैं, तो भी उनके कर्मबंध नहीं होता हे, क्योंकि जिनदेव के तेरहवें गुणस्थान में कर्मबंध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम और कषाय का अभाव हो जाने से वेदनीय कर्म को छोड़कर शेष समस्त कर्मों का बंध नहीं होता है। वेदनीय कर्म का बंध होता हुआ भी उसमें स्थितिबंध और अनुभागबंध नहीं होता है, क्योंकि वहाँ पर स्थितिबंध और अनुभागबंध के कारणभूत कषाय का अभाव है। तेरहवें गुणस्थान में योग है, इसलिए वहाँ पर प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध के अस्तित्व का भी कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि स्थितिबंध के बिना उदयरूप से आने वाले निषेकों में उपचार से बंध के व्यवहार का कथन किया गया है। जिनदेव देशव्रती श्रावकों के और सकलव्रती मुनियों के धर्म का उपदेश करते हैं, इसलिए उनके अर्जित कर्मों का संचय बना रहता है, सो भी बात नहीं है, क्योंकि उनके जिन नवीन कर्मों का बंध होता है, जो कि उदयरूप ही हैं, उनसे भी असंख्यातगुणी श्रेणीरूप से वे प्रतिसमय पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा करते हैं, इसलिए उनके कर्मों का संचय नहीं बन सकता है और तीर्थंकर के मन, वचन तथा काय की प्रवृत्तियाँ इच्छापूर्वक नहीं होती है, जिससे उनके नवीन कर्मों का बंध होवे। जिस प्रकार सूर्य और कल्पवृक्षों की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक होती हैं, उसी प्रकार उनके भी मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक अर्थात् बिना इच्छा के समझना चाहिए।

तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्णफलो।
वयणं च दाणपूजारंभयरं तं ण लेवेइ।।५४।।

"तीर्थंकर का विहार संसार के लिए सुखकर है परन्तु उससे तीर्थंकरों को पुण्यरूप फल प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है तथा दान और पूजा आदि आरंभ के करने वाले वचन, उन्हें कर्मबंध से लिप्त नहीं करते हैं।

अर्थात् वे दान पूजा आदि आरंभों का जो उपदेश देते हैं, उससे भी उन्हें कर्मबंध नहीं होता है।

पावागमदाराइं अणाइरूवट्ठियार जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदारं उग्घादेंते कउ सदोसो।।५७।।

जीव में पापास्रव के द्वार अनादिकाल से स्थित हैं। उनके रहते हुए जो जीव शुभास्रव के द्वार का उद्घाटन करता है, अर्थात् शुभास्रव के कारणभूत कामों को करता है, वह सदोष कैसे हो सकता है ?

घडियाजलं व कम्मे अणुसमयसंखगुणियसेढीए।
णिज्जरमाणे संते वि महव्वईणं कुदो पावं।।६०।।
परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिदयझरिदसाराणं।
परिणामियं पमाणं णिच्छयमवलंबमाणाणं।।६१।।
वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते,
शिवं च न परोपघातपरुषस्मृतेविद्यते।
वधोपनयमभ्युपैति च परानिघ्नन्नपि,
त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्योतितः।।६२।।

तम्हा चउवीसं पि तित्थयरा णिरवज्जा तेण ते वंदणिज्जा विबुहजणेण।

सुरदुंदुहि-धय-चामर-सीहासण-धवलामलछत्त-भेरि-संख-काहलादिगंथ-कंथंतो वट्टमाणत्तादो तिहुवणस्सोलंगदाणदो वा ण णिरवज्जा तित्थयरा त्ति णासंकणिज्जं, घाइचउक्काभावेण पत्तणवकेवललद्धिविरायियाणं सावज्जेण संबंधाणुववत्तीदो। एवमायिए चउवीसतित्थयरविसयदुण्णये णिराकरिय चउवीसं पि तित्थयराणं थवणविहाणं णाम-ट्ठवणा-दव्व-भावभेएण भिण्णं तत्फलं च चउवीसत्थओ परूवेदि।[१]

जब महाव्रतियों के प्रतिसमय घटिकायंत्र के जल के समान असंख्यातगुणित श्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है, तब उनके पाप कैसे संभव है ?।।६०।।

समग्र द्वादशाङ्गका प्रधानरूप से अवलम्बन न करने वाले निश्चयनयावलम्बी ऋषियों के संबंध में यह एक मूल तत्त्व है कि वे अपनी शुद्धाशुद्ध चित्तवृत्ति को ही प्रमाण मानते हैं।।६१।।

कोई प्राणी दूसरे को प्राणों से वियुक्त करता है फिर भी वह वध से संयुक्त नहीं होता है तथा परोपघात से जिसकी स्मृति कठोर हो गई है, अर्थात् जो परोपघात का विचार करता है, उसका कल्याण नहीं होता है तथा कोई दूसरे जीवों को नहीं मारता हुआ भी हिंसकपने को प्राप्त होता है। इस प्रकार हे जिन! तुमने यह अति गहन प्रशम का हेतु प्रकाशित किया है अर्थात् शांति का मार्ग बतलाया है।।६२।।

इसलिए चौबीसों तीर्थंकर निरवद्य हैं और इसीलिए वे विबुधजनों से वन्दनीय हैं।

यदि कोई ऐसी आशंका करे कि तीर्थंकर सुरदुंदभि, ध्वजा, चमर, सिंहासन, धवल और निर्मल छत्र, भेरी, शंख तथा काहल (नगारा) आदि परिग्रहरूपी गूदड़ी के मध्य विद्यमान रहते हैं और वे त्रिभुवन के व्यवस्थापक हैं अर्थात् त्रिभुवन को सहारा देते हैं, इसलिए वे निरवद्य नहीं है, सो उसका ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि चार घातिकर्मों के अभाव से प्राप्त हुई नौ केवललब्धियों से वे सुशोभित हैं इसलिए उनका पाप के साथ संबंध नहीं बन सकता है। इत्यादिक रूप से चौबीसों तीर्थंकर विषयक दुर्नयों का

१. कसायपाहुड़ (जयधवला)।

निराकरण करके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से भिन्न चौबीस तीर्थंकरों के स्तवन के विधान का और उसके फल का कथन चतुर्विंशतिस्तव करता है।

पंचामृत अभिषेक के अनेक प्रमाण

प्राकृत भावसंग्रह में श्री देवसेन सूरि ने कहा है—

अंगे णासं किच्चा, इंदो हं कप्पिऊण णियकाए।
कंकण-सेहर-मुद्दी, कुणओ जण्णोपवीयं च।।४३६।।

पीढं मेरुं कप्पिय, तस्सोवरि ठाविऊण जिणपडिमा।
पच्चक्खं अरहंतं, चित्ते भावेउ भावेण।।४३७।।

कलसचउक्कं ठाविय, चउसु वि कोणेसु णीरपरिपुण्णं।
घयदुद्धदहियभरियं, णवसयदलछण्णमुहकमलं।।४३८।।

आवाहिऊण देवे, सुरवइ-सिहि-काल-णेरिए-वरुणे।
पवणे जखे ससूली, सपियसवाहणे ससत्थे य।।४३९।।

दाऊण पुज्जदव्वं, बलिचरुयं तह य जण्णभायं च।
सव्वेसिं भंत्तेहि य, बीयक्खरणामजुत्तेहिं।।४४०।।

उच्चारिऊण मंते, अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स।
णीर-घय-खीर-दहियं, खिवउ अणुक्कमेण जिणसीसे।।४४१।।

णहवणं काऊण पुणो, अमलं गंधोवयं च वंदित्ता।
सवलहणं च जिणिंदे, कुणऊ कस्सीरमलएहिं[1]।।४४२।।

ये देवसेन सूरि दर्शनसार के कर्ता देवसेन सूरि से जुदे हैं। दर्शनसार के कर्ता देवसेन सूरि ने दर्शनसार वि.सं. ९९० में बनाया है। उसमें श्वेताम्बर संघ द्राविड़संघ, यापनीयसंघ, काष्ठासंघ आदि का उल्लेख है परन्तु प्राकृतभावसंग्रह में श्वेताम्बर संघ को छोड़कर औरों का उल्लेख नहीं है। यदि प्राकृत भावसंग्रह और दर्शनसार के कर्ता एक ही होते तो श्वेताम्बर संघ की तरह इन संघों का भी वे उल्लेख करते। इससे मालूम पड़ता है कि प्राकृतभाव संग्रह के कर्ता देवसेन सूरि और हैं तथा दर्शनसार के कर्ता देवसेन सूरि और। संभवतः प्राकृतभावसंग्रह और नयचक्र के कर्ता देवसेन सूरि एक हैं। नयचक्र का उल्लेख स्वामी विद्यानंदि श्लोकवार्तिक में करते हैं। विद्यानंदि स्वामी का समय करीब विक्रम की आठवीं शताब्दी का प्रारंभ सुनिश्चित होता है। इससे मालूम पड़ता है कि भावसंग्रह के कर्ता सातवीं शताब्दी से भी पहले हो गये हैं और उस समय हुए हैं जिस समय कि श्वेताम्बर संघ को छोड़कर काष्ठासंघ आदि की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी।

पद्मपरुाण में श्री रविषेणाचार्य ने कहा है—

अभिषेकं जिनेन्द्राणां, कृत्वा सुरभिवारिणा।
अभिषेकमवाप्नोति, यत्र यत्रोपजायते।।१६५।।

---

1. प्राकृत भाव संग्रह पृ. 96-97

अभिषेकं जिनेन्द्राणां, विधाय क्षीरधारया।
विमाने क्षीरधवले, जायते परमद्युतिः।।१६६।।

दधिकुम्भैर्जिनेन्द्राणां, यः करोत्यभिषेचनम्।
दध्याभकुट्टमे स्वर्गे, जायते स सुरोत्तमः।।१६७।।

सर्पिषा जिननाथानां, कुरुते योऽभिषेचनम्।
कान्तिद्युतिप्रभावाढ्यो, विमानेशः स जायते।।१६८।।

अभिषेकप्रभावेण, श्रूयन्ते बहवो बुधाः।
पुराणेऽन्तवीर्याद्या, द्युभूलब्धाभिषेचनाः[1]।।१६९।।

१ — इनने वीर नि. संवत् १२०३ (वि.सं. ७३३, शक सं. ५९८) में इस पुराण को बनाया था। आचार्य रविषेण काष्ठासंघ के अनुयायी थे, ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि काष्ठासंघ की वि.सं. ७५३ में कुमारसेन द्वारा उत्पत्ति हुई है ऐसा दर्शनसार में स्पष्ट उल्लेख है। अतः यह कैसे संभव माना जाए कि रविषेणाचार्य काष्ठासंघी थे। मूलसंघ और श्वेताम्बर संघ के आचार्यों ने इन की खूब ही प्रशंसा की है। इतना ही नहीं, इनके पद्मपुराण का आधार लेकर बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना की है।

हरिवंश पुराण में जिनसेनाचार्य कहते हैं —

क्षीरेक्षुरस-धारौघै-र्घृतदध्यु-दकादिभिः ।
अभिषिच्य जिनेन्द्रार्चा-मर्चितां नृसुरासुरैः।।२१।।

हरिचन्दन-गन्धाढ्यै - र्गन्धशाल्यक्षताक्षतैः।
पुष्पैर्नानाविधैरुद्धै-र्धूपैः कालागुरूद्भवैः।।२२।।

दीपैर्दीप्रशिखा-जालै-र्नैवेद्यै-र्निरवद्यकैः ।
तावानर्चतु-रर्चां ता-मर्चनाविधिकोविदौ[2]।।२३।।

१ — आचार्य जिनसेन ने इस पुराण की रचना शक संवत् ७०५ (वि.सं. ८४०) में की है। ये जिनसेन आदिपुराण के कर्ता भगवज्जिनसेन से जुदे हैं।

वसुनंदि-श्रावकाचार में —

गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमण-णाण-णिव्वाणं।
जम्हि दिणे संजादं, जिणणहवणं तद्दिणे कुज्जा।।४५३।।

इक्खुरस-सप्पि-दहि-खीर-गंधजलपुण्णविविहकलसेहिं।
णिसिजागरणं च संगीय-णाडयाईहिं कायव्वं।।४५४।।

णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु।
जं कीरइ जिणमहिमं, विण्णेया कालपूजा सा[3]।।४५५।।

१ — आचार्य वसुनन्दी का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। इनने मूलाचार की आचारवृत्ति में आचार्य अमितगति-कृत श्रावकाचार के कुछ पद्य उद्धरण में दिये हैं। आचार्य अमितगति १०७० के बाद तक

---

1. पद्मपुराण भाग-2, पर्व 32, पृ. 97-98। 2. हरिवंशपुराण सर्ग-22, पृ. 320। 3. वसुनंदिश्रावकाचार पृ. 130।

जीवित थे। इनने एक मूलाराधना या भगवती-आराधना नाम का ग्रन्थ भी संस्कृत में लिखा है। उसमें उनने इस आराधना की पुष्टि में "वसुनन्दियोगिमहिता" ऐसा एक पद दिया है, इससे मालूम पड़ता है कि वसुनन्दी और अमितगति दोनों समसामयिक हैं और वह समय विक्रम की ग्यारहवीं सदी है।

नागकुमार चरित्र पंचमी कथा में मल्लिषेण आचार्य ने कहा—

कारयित्वा जिनेन्द्राणां, सद्विम्बं स्नापयन्ति ये।
चोचेक्ष्वाम्ररसैर्नित्य - माज्यदुग्धादिभिस्तथा ।।११२।।
पूजयन्ति च ये देवं, नित्यमष्टाविधार्चनैः।
पूजां देवनिकायस्य लभन्ते तेऽन्यजन्मनि।।११३।।[1]

१—आचार्य मल्लिषेण उभयभाषा के चक्रवर्ती थे, पद्मावती और सरस्वती इन पर प्रसन्न थीं। त्रिषष्टिलक्षण-महापुराण, स्वोपज्ञ टीका युक्त पद्मावतीकल्प, सरस्वतीकल्प आदि अनेक ग्रंथ इनके बनाए हुये हैं। इनमें त्रिषष्टिलक्षण महापुराण को शक संवत ९६९ वि.सं. ११०४ में इनने बनाया था और शक संवत् १०५० वि.स. ११८५ में इनका स्वर्गवास हुआ था। इससे मालूम पड़ता है कि ये कम से कम शतायु थे।

जिनसंहिता में भगवद् एकसंधि ने कहा—

ततस्तुर्यरवैर्व्योम-सरत्युद्दामगीतिभिः।
अप्युद्धरेन्मुदा पूर्ण-कुम्भं स्नपयितुं प्रभुम्।।१।।
तोयैश्चोचजलैरिक्षु-रसैश्चूतरसैर्घृतैः।
क्षीरैर्दधिभिरप्यर्घ्यैः ,स्नापयेदनघं क्रमात्।।२।।
तत उन्मार्जयेत्कल्क-चूर्णैश्चोद्वर्तनैरलम्।
जिनेन्द्र श्रीतनुस्नेहं, चन्दनक्षोदशालिभिः।।३।।
वर्णोदनादिभिःपश्चा-द्वीतदोषं निवर्तयेत्।
निवर्तनविधिद्रव्यै-र्जगतामभिवृद्धये ।।४।।
ततः क्षीरतरुत्वग्भिः, कषायैः स्नापयेज्जलैः।
ततः संस्नापयेत्कुम्भैश-चतुर्भिः कोणसंश्रितैः।।५।।
जलादिस्नपने निष्ठां, गते गन्धाम्बुधारया।
अभिषिच्येशमर्हन्त-ममलं त्रिजगद्गुरुम्।।६।।[2]

१—इनका आसन जैन समाज में बहुत ऊँचा रहा है। यह पीछे के ग्रंथकर्ताओं के स्मरण से प्रतीत होता है। जिनसंहिता की कई प्रतियाँ हमने देखी हैं वे सब अपूर्ण हैं। सबमें अन्तिम पाठ भी समान है। अतः नहीं कहा जा सकता कि प्रति का अंतिम पाठ नष्ट हो गया या काल के वैचित्र्य से यहीं तक बन पाई थी। अस्तु, भगवदेकसंधि का समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के लगभग है। इतना निश्चित है कि वि.स. १३७६ के पहले यह संहिता बन चुकी थी।

संस्कृत भावसंग्रह में श्री वामदेव पंडित ने कहा—

---

1. नागकुमार चरित्र पंचमी कथा (मल्लिसेण सूरिकृत)। 2. जिनसंहिता परिच्छेद-10।

पश्चात्स्नानविधिं कृत्वा, धौतवस्त्रपरिग्रहः।
मंत्रस्नानं व्रतस्नानं, कर्तव्यं मंत्रवत्ततः[1]।।४७०।।
एवं स्नानत्रयं कृत्वा, शुद्धित्रयसमन्वितः।
जिनावासं विशेन्मंत्री, समुच्चार्य निषेधिकाम्।।४७१।।
कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं, जिनं स्तुत्वातिभक्तितः।
उपविश्य जिनस्याग्रे, कुर्याद्विधिमिमां पुरा।।४७२।।
तत्रादौ शोषणं स्वांगे, दहनं प्लावनं ततः।
इत्येवं मंत्रविन्मंत्री, स्वकीयांङ्ग पवित्रयेत्।।४७३।।
हस्तशुद्धिं विधायाथ, प्रकुर्यात्सकली-क्रियाम्।
कूटबीजाक्षरै - र्मंत्रै - र्दश - दिग्बंधनं ततः।।४७४।।
पूजापात्राणि सर्वाणि, समीपीकृत्य सादरम्।
भूमिशुद्धिं विधायोच्चै, र्दर्भाग्निज्वलनादिभिः।।४७५।।
भूमिपूजां च निर्वृत्य, ततस्तु नागतर्पणम्।
आग्नेयदिशि संस्थाप्य, क्षेत्रपालं प्रतर्प्य[2] च ।।४७६।।
स्नानपीठं दृढं स्थाप्य, प्रक्षाल्य शुद्धवारिणा।
श्रीबीजं च विलिख्यात्र, गन्धाद्यैस्तत्प्रपूजयेत्।।४७७।।
परितः स्नानपीठस्य, मुखार्पितसपल्लवान्।
पूरितांस्तीर्थसत्तोयैः, कलशांश्चतुरो न्यसेत्।।४७८।।
जिनेश्वरं समभ्यर्च्य, मूलपीठोपरिस्थितम्।
कृत्वाह्वानविधिं सम्यक्, प्रापयेत् स्नानपीठिकाम्।।४७९।।
कुर्यात्संस्थापनं तत्र, सन्निधानविधानकम्।
नीराजनैश्च निर्वृत्य, जलगंधादिभिर्यजेत्।।४८०।।
इन्द्राद्यष्टदिशापालान्, दिशाष्टसु निशापतिम्।
रक्षोवरुणयो-र्मध्ये, शेष-मीशानशक्रयोः ।।४८१।।
न्यस्याह्वानादिकं कृत्वा, क्रमेणैतान् मुदं नयेत्।
बलिप्रदानतः सर्वान्, स्वस्वमंत्रैर्यथादिशम् ।।४८२।।
ततः कुंभं समुद्धार्य, तोयचोचेक्षुसद्रसैः।
सद्घृतैश्च ततो दुग्धै-र्दधिभिः स्नापयेज्जिनम्।।४८३।।
तोयैः प्रक्षाल्य सच्चूर्णैः, कुर्यादुद्वर्त्तनक्रियाम्।
पुनर्नीराजनं कृत्वा, स्नानं कषायवारिभिः।।४८४।।

1. संस्कृत भावसंग्रह, पृ. 196 से 198 तक। 2. प्रतृप्य इति पाठान्तरं।

चतुष्कोणस्थितैः कुम्भै-स्ततो गन्धाम्बुपूरितैः।
अभिषेकं, प्रकुर्वीरन्, जिनेशस्य सुखार्थिनः।।४८५।।

स्वोत्तमांगं प्रसिंच्याथ, जिनाभिषेकवारिणा।
जलगन्धादिभिः पश्चा-दर्चयेद्विम्बमर्हतः ।।४८६।।

स्तुत्वा जिनं विसर्ज्यापि, दिगीशादिमरुद्गणान्।
अर्चिते मूलपीठेऽथ, स्थापयेज्जिननायकम्।।४८७।।

१ — पण्डित वामदेव का समय लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। १५३९ की लिखी हुई पंजिका की एक प्रति है और १४८८ की लिखी हुयी प्रा. भावसंग्रह की प्रति में इनके बनाए हुए भावसंग्रह के श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इससे मालूम पड़ता है कि वि.सं. १५३९ और १४८८ के पूर्ववर्ती लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के ये विद्वान हैं। मूलसंघ में एक विनयचन्द्र नाम के आचार्य हो गये हैं, उनके शिष्य त्रिलोककीर्ति और त्रिलोककीर्ति के शिष्य लक्ष्मीचन्द्र हुए हैं। इन्हीं त्रिलोककीर्ति और लक्ष्मीचन्द्र के पंडित वामदेव शिष्य थे। इनका कुल नैगम कुल था। इनके बनाए हुए त्रिलोकदीपक, संस्कृत भावसंग्रह, महाभिषेक पंजिका आदि ग्रन्थ हैं।

वरांगचरित में वर्धमान भट्टारक आचार्य ने कहा —

यः संस्थाप्य जिनेशं, विधिवत्पंचामृतैर्जिनं यजते।
जलगन्धाक्षतपुष्पै-र्नैवेद्यैर्दीपधूपफलनिवहैः ।।१६।।

यो नित्यं जिनमर्चति, स एव धन्यो निजेन हस्तेन।
ध्यायति मनसा शुचिना, स्तौति च जिह्वागतैः स्तोत्रैः।।१७।।[1]

श्रीपालचरित्र में सकलकीर्ति आचार्य ने कहा —

कृत्वा पंचामृतैर्नित्य-मभिषेकं जिनेशिनाम्।
ये भव्याः पूजयन्त्युच्चै-स्ते पूज्यन्ते सुरादिभिः।।[2]

१ — आचार्य सकलकीर्ति आचार्य पद्मनंदी के पट्ट पर हुए हैं। इन्होंने अनेक ग्रन्थ बनाए हैं जो जैन समाज में बड़ी ही भक्ति के साथ पढ़े जाते हैं। इतना ही नहीं, ये बहुत ही प्रामाणिक भी माने जाते हैं। वि.सं. १४९० और १४९२ की इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं। सुनते हैं, इनका स्वर्गवास १४९९ में गुजरात के महसाना नगर में हुआ था। कहते हैं, वहाँ इनकी समाधि भी बनी हुई है।

मूर्ध्ना गत्वानु संस्नाप्या-मृतैः पंचविधैर्वरैः।
जिनेन्द्रप्रतिमां भक्त्या, पूजयेत्स्वशुभाप्तये।।

उपदेशरत्नमाला में पंडिताचार्य सकलभूषण[3] ने कहा —

पंचामृतैः सुमंत्रेण, मंत्रितैर्भक्तिनिर्भरः।
अभिषिच्य जिनेन्द्राणां, प्रतिबिम्बानि पुण्यवान्।।

---

1. वरांगचरित सर्ग-12। 2. श्रीपाल चरित।3. इनने वि.सं. 1627 में इस ग्रंथ की रचनाकी थी। ये आचार्य सकलकीर्ति की परम्परा में हुए हैं। भट्टारक शुभचन्द्र के ये शिष्य थे। ग्रंथरचना के समय शुभचन्द्र के पट्ट पर सुमतिकीर्ति थे। वि. 1626 में सुमतिकीर्ति विरक्त हो गये थे और गुणकीर्ति को अपने पट्ट पर अभिषिक्तकर दिया था, ऐसा भिलोड़ा (गुजरात) के बावन जिनालय आदि के वर्णन में स्वयं सकलभूषण ने लिखा है।

णमोकारकल्प में श्री सिंहनंदि[१] ने कहा है—

पूजाद्रव्यं कुंकुमं च, सदकं चस्संचयं।
रत्नदीपकं वामे च, धूपकुंडं च दक्षिणे।।
फलं देयं जिनेशस्य, पुरतो बीजपूरकं।
चूतं चोचाम्रकदली-मुखं षट्कर्तुषु क्रमात्।।
कंकोलैलालवंगादि-सर्वौषध्या-भिषेचनं ।
दधिदुग्धेक्षुसर्पिर्भि-रभिषेको जिनस्य च।।

पद्मपुराणभाषा में पं. दौलतराम जी ने लिखा है—

जो नीर कर जिनेन्द्र का अभिषेक करै सो देवों कर मनुष्यों कर सेवनीक चक्रवर्ती होय, जिसका राज्याभिषेक देव विद्याधर करैं और जो दुग्धकर अरहंत का अभिषेक करै सो क्षीरसागर के जल समान उज्वल विमान के विषैं परम कांति धारक देव होय फिर मनुष्य होय मोक्ष पावै और जो दधिकर सर्वज्ञ वीतराग का अभिषेक करै सो दधिसमान उज्ज्वल यश को पाय कर भवोदधि को तरै और जो घृत कर जिननाथ का अभिषेक करै सो स्वर्ग विमानविषैं महाबलवान् देव होय परंपराय अनन्तवीर्य को धरै और जो ईष रस कर जिननाथ का अभिषेक करै सो अमृत का आहारी सुरेश्वर होय। नरेश्वर पद पाय मुनीश्वर होय अविनश्वर पद पावै। अभिषेक के प्रभाव कर अनेक भव्यजीव देवों कर इंद्रों कर अभिषेक पावते भये तिनकी कथा पुराणों में प्रसिद्ध है।[२]

१—पद्मपुराण की भाषा पं. दौलतराम जी ने वि.सं. १८२३ में बनाई है। पद्मपुराण के मूलश्लोकों का यह अनुवाद है। यह भाषा जैन समाज में अत्यधिक आदरणीय मानी जाती है। पं. दौलतराम जी जयपुर की तेरहपंथ शैली में एक समादृत विद्वान थे।

वसुनंदि-श्रावकाचार भाषा में बाबा दुलीचन्द जी[३] ने कहा है—

भगवान का गर्भावतार अर जन्माभिषेक, तपकल्याण, ज्ञानकल्याण, निर्वाणकल्याण जिस दिन विषैं हुवा तिह दिन विषै कलशाभिषेक अर प्रभावना करणी। इक्षुरस, घृत, दही, दूध, सुगंध जल का पवित्र नाना प्रकार का कलशां करि अभिषेक करणा। बहुरि रात्रि विषैं जागरण संगीत नाटकादिक जो संगीत नृत्य तथा गानादिक करणा। अर नंदीश्वर के आठ दिन विषैं तथा और भी उचित परव्या विषैं जो करै भगवान की महिमा सो काल पूजा जाणनी, या कालपूजा कही।[४]

कलस चउक्कं ठाविय चउसु वि कोणेसु णीरपरिपुण्णं।
घयदुद्धदहियभरियं णवसयदलछण्णमुहकमलं।।
कलश चतुष्कं स्थापयित्वा चतुर्ष्वपि कोणेषु नीरपरिपूर्णं।
घृतदुग्धदधिभृतं नवशत-दलच्छन्न-मुखकमलं।।४३८।।[५]

संक्षिप्त अर्थ—तदनंतर चारों कोनों में जल से भरे हुए चार कलश स्थापन करने चाहिए तथा मध्य

---

1. इनने वि. सं. 1667 में यह कल्प बनाया है। अतः इनका समय विक्रम की सतरहवींशताब्दी है। ये सेनसंघ के थे। इनकी परम्परा वगैरह पुस्तक इस समय पास न होने से नहीं दे सके हैं। 2. पद्मपुराण भाषा, पर्व 32, श्लोक 165-169 3. बाबा जी ने यह भाषा कौन से सम्वत् में बनाई थी। यह हमारे पास की प्रति का अंतिम पत्र गायब हो जाने से नहीं लिख सके हैं। बाबाजी इसी बीसवीं शताब्दी में करीब 20-25 वर्ष कम तक जीवित थे संभवतः वे यह भाषा 1955 के पहले किसी समय में बना चुके थे। 4. वसुनंदि श्रावकाचार, पत्र 81, गाथा नं. 53-54-55। 5. प्राकृत भावसंग्रह पृ. 96-97

में पूर्ण कलश स्थापन करना चाहिए। इनके अतिरिक्त घी, दूध, दही इनसे भरे हुए कलश भी स्थापन करने चाहिए। इन सब कलशों के मुख पर नवीन सौ दल वाले कमल रखने चाहिए।

उच्चरिऊण मंते अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स।
णीरघयखीरदहियं खिवउ अणुक्कमेण जिणसीसे।।
उच्चार्य मंत्रान् अभिषेकं कुर्यात् देवदेवस्य।
नीरघृतक्षीरदधिकं क्षिपेत् अनुक्रमेण जिनशीर्षे।।४४१।।[१]

तदनंतर देवाधिदेव भगवान अरहंत देव का अभिषेक करना चाहिए। वह अभिषेक अनुक्रम से जल, घी, दूध, दही आदि पदार्थों से मंत्रों का उच्चारण करते हुये भगवान के मस्तक पर से करना चाहिए।

ण्हवणं काऊण पुणो अमलं गंधोवयं च वंदित्ता।
सवलहणं च जिणिंदे कुणऊ कस्सीरमलएहिं।।
स्नपनं कारयित्वा पुनः अमलं गन्धोदकं च वन्दित्वा।
उद्वर्तनं च जिनेन्द्रे कुर्यात् काश्मीरमलयैः।।४४२।।

अर्थ—इस प्रकार अभिषेक कर निर्मल गंधोदक की वंदना करनी चाहिए फिर काश्मीरी केसर तथा चंदन आदि से भगवान का उद्वर्तन करना चाहिए। अभिषेक के अनंतर चन्दन, केसर आदि द्रव्यों की सर्वौषधि बनाकर उससे प्रतिमा का उबटन करना चाहिए। फिर कोण कलशों से तथा पूर्ण कलश से अभिषेक करना चाहिए। यह विधि अत्यंत संक्षेप से कही है। इसकी पूर्ण विधि अभिषेक पाठ से जान लेनी चाहिए।

इय संखेवं कहियं जो पूयइ गंधदीवधूवेहिं।
कुसुमेहि जवइ णिच्चं सो हणइ पुराणयं पावं।।
इति संक्षेपेण कथितं यः पूजयति गन्धदीपधूपैः।
कुसुमैः जपति नित्यं स हन्ति पुराणकं पापं।।४४७।।[२]

अर्थ—इस प्रकार संक्षेप से सिद्धचक्र का विधान कहा। जो पुरुष गंध, दीप, धूप और फूलों से इस यंत्र की पूजा करता है तथा नित्य इसका जप करता है वह पुरुष अपने संचित किये हुये समस्त पापों का नाश कर देता है।

घृतक्षीरादिभिः पूर्णाः कलशाः कमलाननाः।
मुक्तादामादिसत्कंठा रत्नरश्मिविराजिताः।।१४।।
जिनबिम्बाभिषेकार्थ-माहूता भक्तिभासुराः।
दृश्यंते भोगिगेहेषु शतशोऽथ सहस्त्रशः।।१५।।[३]

अर्थ—जो घी, दूध आदि से भरे हुए थे, जिनके मुख पर कमल ढके हुए थे, जिनके कण्ठ में मोतियों की मालाएँ लटक रही थी, जो रत्नों की किरणों से सुशोभित थे, जो नाना प्रकार के बेलबूटों से देदीप्यमान थे तथा जो जिन-प्रतिमाओं के अभिषेक के लिए इकट्ठे किये गये थे, ऐसे सैकड़ों हजारों कलश गृहस्थों के घरों में दिखाई देते थे।

भावार्थ—लंका में स्थित शांतिनाथ चैत्यालय में भक्तिमान लंका के लोग घृत, दुग्ध, दधि आदि से भरे हुए कलश जिनके कि कंठ भाग मोतियों की माला से सुशोभित हो रहे हैं, जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के लिए लाये।

पयोदधिक्षीरघृतादिपूर्णा फलाग्रपुष्पस्तवकापिधानाः।
घटावलीदामनिबद्धकंठा सुवर्णकारैर्लिखिता रराज।।२५।।[४]

1-2. प्राकृत भावसंग्रह पृ. 96 से 98। 3. पद्मपुराण, सर्ग 68। 4. वरांगचरित्र, सर्ग 23।

अष्टोत्तराशीतजलैर्प्रपूर्णाः सहस्त्रमात्राः कलशाः विशालाः।
पद्मोत्पलोत्फुल्लविधानवक्त्रा जिनेन्द्रबिम्बस्नपनैक कार्या।।२६।।[1]

भावार्थ— उस मंदिर में जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के लिए लाये गये जल, दही, दूध, घृत से पूर्ण कलश महान शोभा को प्राप्त हुए, जिनके मुखाग्र भाग कमल पुष्पों से आच्छादित थे।

तथा चकारात् पाषाणघटितस्याऽपि जिनबिम्बस्य पंचामृतैः स्नपनं अष्टविधैः पूजाद्रव्यैश्च पूजनं कुरुत यूयम् वन्दनाभक्तिश्च कुरुत।[2]

भावार्थ— पाषाण घटित भी जिनबिम्ब का पंचामृत से अभिषेक तथा आठ प्रकार के पूजन द्रव्यों से पूजन करना चाहिए।

द्राक्षाखर्जूरचोचेक्षु प्राचीनामलकोद्भवैः।
राजादनाम्रपूगोत्थै स्नापयामि जिनं रसैः।।[3]

भावार्थ— मैं इक्षु आदि रसों से भगवान का अभिषेक करता हूँ।

तद्विलेपनगंधांबुपुष्पाणि सा ददौ मुदा।
श्रीपालायांगरक्षेभ्यः पाणिभ्यां रुग्विहानये।।[4]

अर्थात् उस मैना सुंदरी से कुष्ट रोग से पीड़ित अपने पति श्रीपाल राजा तथा उनके सात सौ वीरों को उनके रोग के निवारणार्थ चंदन, अभिषेक का जल तथा पुष्प दिये।

प्राकृत निर्वाणभक्ति में श्री कुंदकुंददेव ने लिखा है—

गोम्मटदेवं वंदमि, पंचसयं धणुहदेहउच्चं तं,
देवा कुणंति वुट्ठी, केसरकुसुमाण तस्स उवरिम्मि।।२७।।[5]

अर्थात् जिस गोम्मटेश की प्रतिमा के ऊपर देव लोग केशर और पुष्प की वर्षा किया करते हैं, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। इस तरह बड़े-बड़े विद्वान आचार्यों के बनाये हुए ग्रंथों में केशर और पुष्प का वर्णन मिलता है। जो यथार्थ एवं आर्षमार्गानुसार है।

चंदन पूजा का महत्त्व

श्री चन्दनं विनानैव, पूजां कुर्यात्कदाचन।
प्रभाते घनसारस्य, पूजा कार्या विचक्षणैः।।१२५।।[6]

अर्थ— श्री जिनेन्द्र देव की पूजा बिना चन्दन के कभी नहीं करनी चाहिए। चतुर पुरुषों को प्रातः काल के समय चन्दन से पूजा अवश्य करनी चाहिए।

भावार्थ— प्रातः काल में भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा उनके चरणारविंद के अंगुष्ट पर चन्दन लगाकर करनी चाहिए। यद्यपि भगवान की पूजा अष्टद्रव्य से की जाती है और वह अभिषेक पूर्वक ही होती है तथापि अभिषेक के बाद चरणों पर चंदन लगाना आवश्यक माना जाता है। यदि अष्टद्रव्य का समागम न मिले तो केवल भगवान के चरण के अंगूठे पर चंदन लगाने से ही भगवान की पूजा समझी जाती है। यदि भगवान के चरणों पर चंदन न लगाया जाये और बिना चंदन लगाये ही पूजा की जाती है तो वह पूर्ण पूजा नहीं समझी

1. वरांगचरित्र, सर्ग 23। 2. भगवत्कुंदकुंदाचार्य कृत षट्पाहुड़, संस्कृत टीका, पेज 85। 3. सोमदेव सूरि कृत यशस्तिलक महाकाव्य अष्टमोच्छास। 4. श्रीपाल चरित्र। 5.प्राकृत निर्वाणभक्ति। 6. उमास्वामी श्रावकाचार, पृ. 47।

जाती, प्रातःकाल के समय चंदन पूजा ही मुख्य मानी गई है।

चरणों में चंदन लेपन के प्रमाण—

कंकोलकैलागुरुसप्रयंगूलवंगकर्पूरकरंजितेन।
श्रीखण्डपंकेन निरस्तशंकं, जिनक्रमाब्जं, परिलेपयामि।।

शीतल चीनी, इलाचयी, अगर, प्रियंगू, लौंग, कपूर, केसर आदि सुगंधित पदार्थों से मिले हुये चन्दन से श्री जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों की पूजा करनी चाहिए। उन चरणों के अंगूठे पर चन्दन लगाना चाहिए।

सुचन्दनेन कर्पूर - व्यामिश्रेण सुगंधिना।
व्यालिंपामो जिनस्यांघ्रीन्, निलिंपाधीश्वरार्चितान्।।

चंदन केसर और कपूर से मिले हुये सुगंधित द्रव्य से भगवान के चरण कमलों का लेप करना चाहिए।

काश्मीरकर्पूर - सुगन्धितेन, सुगंधघनसार - विलेपनेन।
पादाब्जयुग्मं हि विलेपयामि, भक्त्या जिनस्य करुणायुतस्य।।[1]

अर्थ—केसर, कपूर, सुगंधित चन्दन आदि द्रव्यों से मैं करुणासागर भगवान जिनेन्द्रदेव के दोनों चरण कमलों का लेप करता हूँ।

कप्पूर कुंकुमायरु तलक्कमिस्सेण चंदण रसेण।
परवहल परिमलम लिंपामो जिणस्स चरणं।।

अर्थ—कपूर, केसर, चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों के रस से भगवान जिनेन्द्र के चरण कमलों पर लेप कर उनको सुगंधित करता हूँ।

पद्मचंपकजात्यादि-स्त्रग्भिः संपूजयेज्जिनान्।
पुष्पाभावे प्रकुर्वीत, पीताक्षतभवैः समैः।।१२९।।[2]

अर्थ—कमल, चम्पा, चमेली आदि पुष्पों की माला बनाकर उनसे भगवान की पूजा करनी चाहिए तथा पुष्पों के अभाव में अक्षतों को केसर से पीले कर और उन्हें पुष्प मानकर उनसे पूजा करनी चाहिए।

दूध से अभिषेक के लिए गाय देना, मंदिर में कुंआ बनवाना और फूल से पूजा के लिए वाटिका बनवाना गुण है।

पयोर्थं गां जलार्थं च, कूपं पुष्पसुहेतवे।
वाटिकां संप्रकुर्वन्ना, नाति दोषधरो भवेत्।।१३३।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्र देव का अभिषेक करने के लिए सुगमता से दूध की प्राप्ति हो जाये इसके लिए गाय का रखना या जिनालय में गाय को दान देना दोषाधायक अर्थात् दोष करने वाला नहीं है। इसी प्रकार पूजा में सुगमता से पुष्पों की प्राप्ति के लिए बाग-बगीचा बनवाने में भी दोष नहीं है। पूजा के लिए सुगमता से जल मिलता रहे इसके लिए कुँआ बनवाने में भी अत्यन्त दोष नहीं होता है।

भावार्थ—यद्यपि जैन शास्त्रों में कुँआ खुदवाने का तथा बगीचा लगवाने का निषेध है इसी प्रकार गाय को दान देने का भी निषेध है, क्योंकि इन सब कामों में हिंसा अवश्य और अधिकता के साथ होती है। परन्तु यहां पर जो इसका विधान लिखा है वह केवल सुगमता के साथ भगवान की पूजा सदा होती रहने के लिए

---

1. जिनसंहिता-3 श्लोक (उमास्वामी श्रावकाचार में पृ. 48 पर)। 2. उमास्वामी श्रावकाचार

लिखा है। उद्देश्य भिन्न-भिन्न होने से एक ही क्रिया से पुण्य-पाप दोनों हो सकते हैं। केवल खा-पीकर मस्त होने के लिए भोजन बनाना पाप है। परंतु मुनियों को दान देने के लिए भोजन बनाना पुण्य का कारण है। इसी प्रकार मृतक को वैतरणी नदी से पार कर देने के लिए गाय का दान मिथ्यात्व व पाप है, परन्तु भगवान का अभिषेक सुगमता के साथ सदा होते रहने के लिए गाय का दान देना पुण्य का कारण है। इसी प्रकार कुँआ खुदवाने और बगीचा लगाने में अधिक हिंसा होती है, परन्तु भगवान की पूजा करने के लिए कुँआ, बगीची बनवाना पुण्य का ही कारण माना जाता है जिस प्रकार पूजा करने में भी हिंसा होती है, परन्तु इन कामों के करने में अनेक जीवों को महापुण्य का बंध होता है और इसीलिए भव्य जीव बड़ी भक्ति से इन कामों को करते हैं इसी प्रकार जिनालय में गाय का दान देना तथा जिनालय के लिए कुँआ, बगीची बनवाना पुण्य का ही कारण है। पुण्य-पाप भावों से होता है तथा मिथ्यात्व और सम्यक्त्व भी भावों से ही होता है। इन सब बातों को समझकर मोक्ष के कारणभूत पुण्यकार्य सदा करते रहना चाहिए।

शुद्धतोयेक्षुसर्पिभि-र्दुग्धदध्याम्रजैः रसैः।
सर्वोषधिभिरुच्चूर्णैर्भावात्संस्नपायेज्जिनम्।।१३४।।

अर्थ— शुद्ध जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, आम्ररस, सर्वोषधि और कल्क- चूर्ण आदि से भगवान जिनेन्द्र देव का अभिषेक करना चाहिए और वह भी बड़ी भक्ति तथा भावपूर्वक करना चाहिए।

पूज्यपूजावशेषेण, गोशीर्षेण हृतालिना।
देवाधिदेवसेवायै, स्ववपुश्चर्चयेत्सदा।।१३५।।

अर्थ— जो भगवान की पूजा करने के बाद बच रहा है और जिस पर भ्रमर आ रहे हैं ऐसे चन्दन से पूजा करने वाले को भगवान की पूजा करने के लिए अपने शरीर को चर्चित करना चाहिए।

भावार्थ— अभिषेक के बाद भगवान के चरणों पर चन्दन लगाना चाहिए और आगे अष्टद्रव्य से पूजा करने के लिए उस बचे हुये चन्दन से फिर दुबारा तिलक लगाना चाहिए।

स्नानैर्विलेपनविभूषणपुष्पवास - धूपप्रदीपफलतंदुलपत्रपूगैः।
नैवेद्यवारिवसतैश्चमरातपत्र - वादित्रगीतनटस्वास्तिककोशवृध्या।।१३६।।
इत्येकविंशतिविधा-जिनराजपूजा-यद्यत्प्रियं तदिह भाववशेन योज्यम्।
द्रव्याणि वर्षाणि तथा हि कालाः, भावा सदा नैव समा भवन्ति।।१३७।।

अर्थ— भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा इक्कीस प्रकार से की जाती है। आगे उन्हीं को बतलाते हैं। १. पंचामृताभिषेक करना, २. चरणों पर चंदन लगाना, ३. जिनालय को सुशोभित करना, ४. भगवान के चरणों पर पुष्प चढ़ाना, ५. वास पूजा करना, ६. धूप से पूजा करना, ७. दीपक से पूजा करना, ८. अक्षतों से पूजा करना, ९. तांबूल पत्र से पूजा करना, १०. सुपारियों से पूजा करना, ११. नैवेद्य से पूजा करना, १२. जल से पूजा करना, १३. फलों से पूजा करना, १४. शास्त्र पूजा में वस्त्र से पूजा करना, १५. चमर ढुलाना, १६. छत्र फिराना, १७. बाजे बजाना, १८. भगवान की स्तुति को गाकर कहना, १९. भगवान के सामने नृत्य करना, २०. सांथिया करना, २१. और भण्डार में द्रव्य देना। इस प्रकार इक्कीस प्रकार की विधि से भगवान की पूजा की जाती है। अथवा जिसको जो पसंद हो उसी से भावपूर्वक भगवान की पूजा करनी चाहिए। जैसे किसी को सितार बजाना पसंद है तो उसको भगवान के सामने ही सितार बजाना चाहिए। इसका भी कारण यह है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ये सबके सदा समान नहीं रहते इसलिए अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार भगवान की पूजा सदा

करते रहना चाहिए। बिना पूजा के अपना कोई समय व्यतीत नहीं करना चाहिए।

शान्तौ श्वेतं जये श्यामं, भद्रे रक्तं भये हरित्।
पीतं धनादि-संलाभे, पंचवर्णं तु सिद्धये।।१३८।।

अर्थ— नवग्रह आदि की शांति के लिए अथवा पाप कर्मों की शांति के लिए सफेद वस्त्रों को धारण कर सफेद माला से जप करना चाहिए। विजय चाहने के लिए श्याम रंग की माला से जप करना चाहिए। कल्याण के लिए लाल रंग की माला से जप करना चाहिए। भय दूर करने के लिए हरे रंग की माला से जप करना चाहिए। धनादिक की प्राप्ति के लिए पीले रंग की माला से जप करना चाहिए। तथा अपने अभीष्ट सिद्धि के लिए पंचवर्ण की माला से जप करना चाहिए। यदि माला के बदले उसी रंग के पुष्पों से जप किया जाये तो उस कार्य की सिद्धि बहुत शीघ्र हो जाती है। वस्त्र, आसन आदि भी उस रंग के होने चाहिए।

खण्डिते गलिते छिन्ने, मलिने चैव वाससि।
दानं पूजा जपो होमः, स्वाध्यायो विफलं भवेत्।।१३९।।

अर्थ— खण्डित वस्त्र (वस्त्र का टुकड़ा), गला हुआ वस्त्र, फटा हुआ वस्त्र और मैला वस्त्र पहन कर दान, पूजा, जप, होम और स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। फटे-पुराने, गले-सड़े वस्त्र पहनकर दान-पूजा आदिक करने से वह दान-पूजा आदि सब निष्फल हो जाता है।

जैनक्रमाब्जयुगयोगविशुद्धगंध, संबंधबंधुरविलेपपवित्रगात्रः।
तेनैव मुक्तिवशकृत्तिलकं विधाय, श्रीपादपुष्पधरणं शिरसा वहामि।।[1]

अर्थात् जिन भगवान के चरणों पर चढ़ने से पवित्र गंध के संबंध से मनोहर विलेपन करके पवित्र शरीर वाला मैं उसी चन्दन से मुक्ति के कारणभूत तिलक को करके चरणों पर चढ़े हुए पुष्पों को मस्तक पर धारण करता हूँ।

इमैः संतापार्चिः सपदिजयदृप्तैः परिमल-
प्रथामूर्च्छद्घ्राणैरनिमिषदृगं शुव्यतिकरात्।।
स्फुरत्पीतच्छायैरिव शमनिधे चन्दनरसैः,
विलिंपेयं पेयं शतमखदृषां त्वत्पदयुगम्।।२।।[2]

भावार्थ— हे अनन्त सुख के धारक तीर्थंकर भगवान इन्द्रों से पूजित आपके चरण कमलों पर चन्दन से लेप करता हूँ।

अष्टद्रव्य से पूजा

भगवान की अष्टद्रव्य से पूजा करते समय चरणों में चंदन लगाना। फूल,फल, दीप, धूप वास्तविक लेना ऐसा विधान है प्रमाण देखिये—

पसमइ रयं असेसं, जिणपयकमलेसु, दिण्णजलधारा।
भिंगारणालणिग्गय, भवंतभिंगेहि कव्वुरिया।।
प्रशमति रजः अशेषं, जिनपदकमलेषु दत्तजलधारा।
भृंगारनालनिर्गता, भ्रमद्भृंगैः कर्बुरिता।।४७०।।[3]

---

1. भगवत् इन्द्रनन्दि कृत पूजासार। 2. अभिषेक पाठ संग्रह, पृ. 249, पण्डित आशाधर कृत नित्यमहोद्योत। 3. भावसंग्रह पृ. 102-103, श्लोक 471 से 477 तक।

अर्थ—सबसे पहले जल की धारा देकर भगवान की पूजा करनी चाहिए। वह जल की धारा भृंगार (झारी) की नाल से निकलनी चाहिए तथा वह जल इतना सुगंधित होना चाहिए कि उस पर भ्रमर आ जाएँ और जलधारा के चारों ओर घूमते हुये उन भ्रमरों से वह जल की धारा अनेक रंग की दिखाई देने लगे ऐसी जल की धारा भगवान के चरण कमलों पर पड़नी चाहिए। इस प्रकार जल की धारा से भगवान की पूजा करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं अथवा ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म शांत हो जाते हैं।

चंदणसुअन्धलेओ, जिणवर-चरणेसु जो कुणई भविओ।
लहइ तणू विक्किरियं, सहावसुयंधयं अमलं।।
चन्दनसुगंधलेपं, जिनवरचरणेषु यः करोति भव्यः।
लभते तनुं वैक्रियिकं, स्वभावसुगन्धकं अमलं।।४७१।।

अर्थ—जो भव्य पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों पर (जिन प्रतिमा के चरण कमलों पर) सुगंधित चन्दन का लेप करता है उसको स्वर्ग में जाकर अत्यन्त निर्मल और स्वभाव से ही सुगंधित वैक्रियक शरीर प्राप्त होता है।

भावार्थ—चन्दन से पूजा करने वाला भव्य जीव स्वर्ग में जाकर उत्तम देव होता है।

पुण्णाण पुज्जेहि य, अक्खय-पुंजेहि देवपयपुरओ।
लब्भंति णवणिहाणे सुअक्खए चक्कवट्टित्तं।।
पुर्णैः पूजयेच्च अक्षत-पुंजैः देवपद - पुरतः।
लभ्यन्ते नवनिधानानि, सु अक्षयानि चक्रवर्तित्वं।।४७२।।

अर्थ—जो भव्य जीव भगवान जिनेन्द्र देव के सामने पूर्ण अक्षतों के पुंज चढ़ाता है अक्षतों से भगवान की पूजा करता है वह पुरुष चक्रवर्ती का पद पाकर अक्षयरूप नवनिधियों को प्राप्त करता है। चक्रवर्ती को जो निधियां प्राप्त होती हैं उनमें से चाहे जितना सामान निकाला जाये, निकलता ही जाता है, कम नहीं होता।

अलि-चुंबिएहिं पुज्जइ, जिणपयकमलं च जाइमल्लीहिं।
सो हवइ सुरवरिंदो, रमेई सुरतरुवरवणेहिं।।
अलि-चुम्बितैः पूजयति, जिनपद-कमलं च जातिमल्लिकैः।
स भवति सुरवरेन्द्रः, रमते सुरतरुवरवनेषु।।४७३।।

अर्थ—जो भव्य पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की जिन पर भ्रमर घूम रहे हैं ऐसे चमेली, मोगरा आदि उत्तम पुष्पों से पूजा करता है वह स्वर्ग में जाकर अनेक देवों का इन्द्र होता है और वह वहाँ पर चिरकाल तक स्वर्ग में होने वाले कल्पवृक्षों के वनों में (बगीचों में) क्रीड़ा किया करता है।

दहिखीर-सप्पि-संभव-उत्तम-चरुएहिं पुज्जए जो हु।
जिणवरपाय - पओरुह, सो पावइ उत्तमे भोए।।
दधि-क्षीर-सर्पिः-सम्भवोत्तम-चरुकैः पूजयेत् यो हि।
जिनवर-पादपयोरुहं, स प्राप्नोति उत्तमान् भोगान्।।४७४।।

अर्थ—जो भव्य पुरुष दही, दूध, घी, आदि से बने हुये उत्तम नैवेद्य से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करता है उसे उत्तमोत्तम भोगों की प्राप्ति होती है।

कप्पूर-तेल्ल-पयलिय-मंद-मरुपहयणडियदीवेहिं।
पुज्जइ जिण-पय-पोमं, ससि-सूरविसमतणुं लहई।।
कर्पूर-तेल-प्रज्वलित-मन्द-मरुत्प्रहतनटितदीपैः ।
पूजयति जिन-पद्मं, शशिसूर्यसमतनुं लभते।।४७५।।

अर्थ— जो दीपक, कपूर, घी, तेल आदि से प्रज्वलित हो रहा है और मन्द-मन्द वायु से नाच सा रहा है ऐसे दीपक से जो भव्य पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करता है वह पुरुष सूर्य-चन्द्रमा के समान तेजस्वी शरीर को धारण करता है।

सिल्लारस-अयरु-मीसिय-णिग्गय धूवेहिं वहल-धूमेहिं।
धूवइ जो जिणचरणेसु लहइ सुहवत्तणं तिज ए।।
सिलारसागुरुमिश्रितनिर्गतधूपैः बहलधूम्रैः।
धूपयेद्यः जिनचरणेसु लभते शुभवर्तनं त्रिजगति।।४७६।।

अर्थ— जिससे बहुत भारी धुंआं निकल रहा है और जो शिलारस (शिलाजीत) अगुरु, चंदन आदि सुगंधित द्रव्यों से बनी हुयी है ऐसी धूप अग्नि में खेकर भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों को धूपित करता है वह तीनों लोकों में उत्तम पद को प्राप्त होता है। धूप को अग्नि में खेना चाहिए और उससे निकला हुआ धूंआं दाएं हाथ से भगवान की ओर करना चाहिए।

पक्केहिं रसड्ढ-सुमुज्जलेहिं जिणचरणपुरओप्पविएहिं।
णाणाफलेहिं पावइ, पुरिसो हियइच्छयं सुफलं।।
पक्कैः रसाढ्यैः समुज्वलैः जिनवरचरणपुरतउपयुक्तैः।
नानाफलैः प्राप्नोति, पुरुषः हृदयेप्सितं सुफलं।।४७७।।

अर्थ— जो भव्य पुरुष अत्यन्त उज्ज्वल रस से भरपूर ऐसे अनेक प्रकार के पके फलों से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों के सामने समर्पण कर पूजा करता है वह अपने हृदय अनुकूल उत्तम फलों को प्राप्त होता है।

उमास्वामी श्रावकाचार में श्री उमास्वामी आचार्य कहते हैं—

जिनेन्द्रप्रतिमां भव्यः, स्नापयेत्पंचकामृतैः।
तस्य नश्यति संतापः, शरीरादिसमुद्भवः।।१६१।।[1]

अर्थ— जो भव्य जीव जल, इक्षुरस, दूध, दही, घी, सर्वोषधि आदि से भगवान जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का पंचामृताभिषेक करता हैं उसके शरीर से, मन से और अकस्मात् होने वाले सब तरह के संताप अवश्य नष्ट हो जाते हैं।

श्रीमतां श्रीजिनेन्द्राणां, प्रतिमाग्रे च पुण्यदाः।
ददाति जलधारा यः, तिस्त्रो भृंगारनालतः।।१६२।।
जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखं, क्रमात्तस्य क्षयं व्रजेत्।
स्वल्पैरेव भवैः पापरजः शाम्यति निश्चितम्।।१६३।।

अर्थ— जो भव्यजीव प्रातिहार्य आदि अनेक शोभाओं से सुशोभित भगवान जिनेन्द्र देव की प्रतिमा के

1. उमास्वामी श्रावकाचार, पृ .64-65, श्लोक 161 से 170 तक।

सामने भृंगार नाल से (झारी से) तीन बार जल की धारा देता है व पुरुष महापुण्यवान समझा जाता है। और उसके जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि के समस्त दुःख अनुक्रम से नष्ट हो जाते हैं तथा थोड़े ही भवों में उसकी पापरूपी धूलि अवश्य ही शांत हो जाती है।

भावार्थ — भगवान जिनेन्द्र देव की प्रतिमा के सामने झारी की टोंटी से तीन बार जल की धारा देनी चाहिए। यही जल पूजा कहलाती है। जलधारा झारी से ही देनी चाहिए कटोरी आदि से नहीं।

चन्दनाद्यर्चनापुण्यात्, सुगंधि-तनुभाग् भवेत्।
सुगंधीकृतदिग्भागो, जायते च भवे भवे।।१६४।।

अर्थ — चन्दन से भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करने से जो पुण्य होता है उससे यह जीव जन्म-जन्म में अत्यन्त सुगंधित शरीर प्राप्त करता है उस शरीर की सुगंधि से दशों दिशाएँ सुगंधित हो जाती हैं।

भावार्थ — भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों के अंगूठे पर अनामिका उंगली से चन्दन लगाना पूजा कहलाती है। सबसे छोटी उंगली के पास की उंगली को अनामिका कहते हैं।

अखण्डतन्दुलैः शुभ्रैः, सुगंधैः शुभशालिजैः।
पूजयन् जिनपादाब्जा-नक्षयां लभते रमाम्।।१६५।।

अर्थ — सफेद सुगंधित और शुभशालि धान्यों से उत्पन्न हुये अखंड तन्दुलों से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करने वाला मोक्षरूपी अक्षय लक्ष्मी को प्राप्त होता है।

भावार्थ — भगवान की प्रतिमा के सामने चावलों के पुञ्ज चढ़ाने से अक्षत पूजा कही जाती है। वे चावलों के पुञ्ज अंगूठे को ऊपर कर बंधी हुई मुट्ठी से रखने चाहिए, साथ में मंत्र भी पढ़ना चाहिए। रकेबी से अक्षत नहीं चढ़ाना चाहिए।

पुष्पैः संपूजयन् भव्योऽमरस्त्रीलोचनैः सदा।
पूज्यतेऽमरलोकेशदेवीनिकरमध्यगः ।।१६६।।

अर्थ — जो भव्य जीव पुष्पों से भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करता है। वह स्वर्गलोक के इन्द्र की देवियों के मध्य में बैठा हुआ अनेक देवियों के सुंदर नेत्रों के द्वारा सदा पूजा जाता है।

भावार्थ — वह इन्द्र होता है और अनेक देवांगनाएं उसकी सेवा करती हैं। पुष्प भगवान की प्रतिमा के चरणों पर चढ़ाए जाते हैं। पुष्प दोनों हाथों की अंजलि से चढ़ाना चाहिए। इसी को पुष्प पूजा कहते हैं।

पक्वान्नादिकनैवेद्यैः प्रार्चयत्यनिशं जिनान्।
स भुनक्ति महासौख्यं पचेन्द्रियसमुद्भवम्।।१६७।।

अर्थ — जो भव्य जीव पकाये हुये अनेक प्रकार के नैवेद्य से भगवान जिनेन्द्र देव की प्रतिदिन पूजा करता है वह पांचो इन्द्रियों से उत्पन्न हुये महासुखों का अनुभव करता है।

भावार्थ — चावलों के भात को अन्न कहते हैं। किसी अच्छे थाल में नैवेद्य को रखकर तथा दोनों हाथों से उस थाल को पकड़कर भगवान के सामने आरती उतारने के समान उस थाल को फिराकर सामने रख देना चाहिए। हाथ या कटोरी से नैवेद्य नहीं चढ़ाना चाहिए।

सुरत्नसर्पिः-कर्पूरभवै - र्दीपैर्जिनेशिनाम्।
द्योतयेद्यः पुमानंघ्रीन् सः स्यात्कांतिकलानिधिः।।१६८।।

अर्थ — जो भव्य जीव रत्न, घी व कपूर के दीपकों से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की आरती

उतारता है उस पुरुष की कांति चन्द्रमा के समान निर्मल हो जाती है।

भावार्थ—दीप पूजा दीपक से ही होती है। रंगे हुए चटक से नहीं। रंगे हुए चटक से भगवान का शरीर दैदीप्यमान नहीं होता। दीपक से आरती उतारी जाती है। इसीलिए परिणामों की विशुद्धि जो आरती से होती है वह रंगे चटक से नहीं हो सकती। दोनों हाथों से दीपक का थाल लेकर दाईं ओर से बाईं ओर घुमाकर भगवान के सामने बार-बार दैदीप्यमान करने को आरती कहते हैं। इसी को दीप पूजा कहते हैं।

कृष्णागर्वादिजै-र्धूपै-र्धूपयेज्जिनपदयुगम्।
सः सर्वजनतानेत्रवल्लभः संप्रजायते।।१६९।।

अर्थ—जो भव्य जीव कृष्णगुरु, चन्दन आदि सुगंधित द्रव्यों से बनी हुई धूप से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करता है अग्नि में खेकर धूप चढ़ाता है। वह पुरुष समस्त लोगों के नेत्रों का प्यारा हो जाता है।

भावार्थ—धूप को अग्नि में खेकर उसका धूंआ अपने दांये हाथ से भगवान की ओर करना चाहिए इसी को धूप पूजा कहते हैं। धूप थाल में नहीं चढ़ाई जाती है किन्तु अग्नि में ही खेई जाती है।

आम्रनारिंगजंबीरकदल्यादि-तरुद्भवैः ।
फलैर्यजति सर्वज्ञं, लभतेऽपीहितं फलम्।।१७०।।

अर्थ—जो भव्य जीव आम, नारंगी, नींबू, केला, आदि वृक्षों से उत्पन्न होने वाले फलों से भगवान सर्वज्ञदेव की पूजा करता है वह पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार फलों को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिन फलों से इन्द्रिय और मन को संतोष हो ऐसे हरे व सूखे फल चढ़ाना चाहिए। फल देखने में सुन्दर और मनोहर होने चाहिए। गोला या बादाम की मिंगी फल नहीं कहलाते किन्तु नैवेद्य कहलाते हैं। इसीलिए गोला के बदले नारियल चढ़ाना चाहिए, बादाम भी फोड़कर नहीं चढ़ाना चाहिए। रकेबी में फल रखकर बड़ी विनय और भक्ति से भगवान के सामने रखने चाहिए। आठों द्रव्यों में फल सर्वोत्कृष्ट द्रव्य है।

श्री रविषेणाचार्य कहते हैं[1]—

अथानन्तर भरत, पिता के समान, प्रजा पर राज्य करने लगा। उसका राज्य समस्त शत्रुओं से रहित तथा समस्त प्रजा को सुख देने वाला था।।१३६।। तेजस्वी भरत अपने मन में असहनीय शोकरूपी शल्य को धारण कर रहा था इसलिए ऐसे व्यवस्थित राज्य में भी उसे क्षणभर के लिए संतोष नही होता था।।१३७।। वह तीनों काल अरनाथ भगवान की वन्दना करता था भोगों से सदा उदास रहता था और समीचीन धर्म का श्रवण करने के लिए मंदिर जाता था। यही इसका नियम था।।१३८।। वहां स्व और पर शास्त्रों के पारगामी तथा अनेक मुनियों का संघ जिनकी निरन्तर सेवा करता था ऐसे द्युति नाम के आचार्य रहते थे।।१३९।। उनके आगे बुद्धिमान भरत ने प्रतिज्ञा की कि मैं राम के दर्शन मात्र से मुनिव्रत धारण करूँगा।। १४०।। तदनन्तर अपनी गंभीर वाणी से मयूर समूह को नृत्य कराते हुये भगवान द्युति भट्टारक इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने वाले भरत से बोले।।१४१।। कि हे भव्य! कमल के समान नेत्रों के धारक राम जब तक आते तबतक तू गृहस्थ धर्म के द्वारा अभ्यास कर ले।।१४२।। महात्मा निर्ग्रन्थ मुनियों की चेष्टा अत्यन्त कठिन है पर जो अभ्यास के द्वारा परिपक्व होते हैं उन्हें उसका साधन करना सरल हो जाता है।।१४३।। "मैं आगे तप करूंगा" ऐसा कहने वाले अनेक जड़बुद्धि मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं पर तप नहीं कर पाते हैं।।१४४।। "निर्ग्रन्थ मुनियों का तप

1. पद्मपुराण, पर्व 32, पृ. 95 से 99 तक।

अमूल्य रत्न के समान है''। ऐसा कहना भी अशक्य है फिर उसकी अन्य उपमा तो हो ही क्या सकती है?।।१४५।। गृहस्थों के धर्म को जिनेन्द्र भगवान ने मुनिधर्म का छोटा भाई कहा है सो बोधि को प्रदान करने वाले इस धर्म में भी प्रमादरहित होकर लीन रहना चाहिए।।१४६।। जैसे कोई मनुष्य रत्नद्वीप में गया वहां वह जिस किसी भी रत्न को उठाता है वही उसके लिए अमूल्यता को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार धर्मचक्र की प्रवृत्ति करने वाले जिनेन्द्र भगवान के शासन में जो कोई इस नियमरूपी द्वीप में आकर जिस किसी नियम को ग्रहण करता है वही उसके लिए अमूल्य हो जाता है।।१४७-१४८।। जो अत्यन्त श्रेष्ठ अहिंसारूपी रत्न को लेकर भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है वह स्वर्ग में परम वृद्धि को प्राप्त होता है।।१४९।। जो सत्यव्रत का धारी होकर मालाओं से भगवान की अर्चा करता है उसके वचनों को सब ग्रहण करते हैं तथा उज्ज्वल कीर्ति से वह समस्त संसार को व्याप्त करता है।।१५०।। जो अदत्तादान अर्थात् चोरी से दूर रहकर जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है वह रत्नों से परिपूर्ण निधियों का स्वामी होता है।।१५१।। जो जिनेन्द्र भगवान की सेवा करता हुआ परस्त्रियों में प्रेम नहीं करता है वह सबके नेत्रों को हरण करने वाला परम सौभाग्य को प्राप्त होता है।।१५२।। जो परिग्रह की सीमा नियत कर भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान की अर्चा करता है वह अतिशय विस्तृत लाभों को प्राप्त होता है तथा लोग उसकी पूजा करते हैं।।१५३।। आहार-दान के पुण्य से यह जीव भोग से सहित होता है। अर्थात सब प्रकार के भोग इसे प्राप्त होते हैं यदि यह परदेश भी जाता है तो वहां भी उसे सदा सुख ही प्राप्त होता है।।१५४।। अभयदान के पुण्य से यह जीव निर्भय होता है और बहुत भारी संकट में पड़कर भी उसका शरीर उपद्रव से शून्य रहता है।।१५५।। ज्ञानदान से यह जीव विशाल सुखों का पात्र होता है और कलारूपी सागर से निकले हुये अमृत के कुल्ले करता है।।१५६।। जो मनुष्य रात्रि में आहार का त्याग करता है वह सब प्रकार के आरंभ में प्रवृत्त रहने पर भी सुखदायी गति को प्राप्त होता है।।१५७।। जो मनुष्य तीनों काल में जिनेन्द्रभगवान की वन्दना करता है उसके भाव सदा शुद्ध रहते हैं तथा उसका सब पाप नष्ट हो जाता है।।१५८।। जो पृथिवी तथा जल में उत्पन होने वाले सुगंधित फूलों से जिनेन्द्र भगवान की अर्चा करता है वह पुष्पक विमान को पाकर इच्छानुसार क्रीड़ा करता है।।१५९।। जो अतिशय निर्मल भावरूपी फूलों से जिनेन्द्र देव की पूजा करता है वह लोगों के द्वारा पूजनीय तथा अत्यन्त सुन्दर होता है।।(१६०)।। जो बुद्धिमान चन्दन तथा कालागुरु आदि से उत्पन्न धूप जिनेन्द्र भगवान के लिए चढ़ाता है वह मनोज्ञ देव होता है।।(१६१)।। जो जिनमंदिर में शुभ भाव से दीपदान करता है वह स्वर्ग में देदीप्यमान शरीर का धारक होता है।।(१६२)।। जो मनुष्य छत्र, चमर, फन्नूस, पताका तथा दर्पण आदि के द्वारा जिनमंदिर को विभूषित करता है वह आश्चर्यकारक लक्ष्मी को प्राप्त होता है।।(१६३)।। जो मनुष्य सुगंधि से दिशाओं को व्याप्त करने वाली गंध से जिनेन्द्र भगवान का लेपन करता है वह सुगंधि से युक्त, स्त्रियों को आनन्द देने वाला प्रिय पुरुष होता है।।(१६४)।। जो मनुष्य सुगंधित जल से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करता है वह जहाँ-जहाँ उत्पन्न होता है वहां अभिषेक को प्राप्त होता है।।१६५।। जो दूध की धारा से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करता है वह दूध के समान धवल विमान में उत्तम कान्ति का धारक होता है।।१६६।। जो दही के कलशों से जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करता है वह दही के समान फर्श वाले स्वर्ग में उत्तम देव होता है।।१६७।। जो घी से जिनदेव का अभिषेक करता है वह कांति, द्युति और प्रभाव से युक्त विमान का स्वामी देव होता है।।१६८।। पुराण में सुना जाता है कि अभिषेक के प्रभाव से अनन्तवीर्य आदि अनेक विद्वज्जन, स्वर्ग की भूमि में अभिषेक को प्राप्त हुये हैं।।१६९।। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक जिनमंदिर में

रंगावलि आदि का उपहार चढ़ाता है वह उत्तम हृदय का धारक होकर परमविभूति और आरोग्य को प्राप्त होता है।।१७०।। जो जिनमंदिर में गीत, नृत्य तथा वादित्रों से महोत्सव करता है वह स्वर्ग में परम उत्सव को प्राप्त होता है।।१७१।। जो मनुष्य जिनमंदिर बनवाता है उस सुचेता के भोगोत्सव का वर्णन कौन कर सकता है?।।१७२।। जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा बनवाता है वह शीघ्र ही सुर तथा असुरों के उत्तम सुख प्राप्त कर परमपद को प्राप्त होता है।।१७३।। तीनों कालों और तीनों लोकों में व्रत, ज्ञान, तप और दान के द्वारा मनुष्य के जो पुण्यकर्म संचित होते हैं वे भावपूर्वक एक प्रतिमा के बनवाने से उत्पन्न हुये पुण्य की बराबरी नहीं कर सकते।।१७४-१७५।।

इस कहे हुये फल को जीव स्वर्ग में प्राप्त कर जब मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होते हैं तब चक्रवर्ती आदि का पद पाकर वहां भी उसका उपभोग करते हैं।।१७६।। जो कोई मनुष्य इस विधि से धर्म का सेवन करता है वह संसार-सागर से पार होकर तीन लोक के शिखर पर विराजमान होता है।।१७७।। जो मनुष्य जिनप्रतिमा के दर्शन का चितंवन करता है वह बेला का, जो उद्यम का अभिलाषी होता है वह तेला का, जो जाने का आरंभ करता है वह चौला का, जो जाने लगता है वह पांच उपवास का, जो कुछ दूर पहुंच जाता है बारह उपवास का, जो बीच में पहुंच जाता है वह पन्द्रह उपवास का, जो मंदिर के दर्शन करता है वह मासोपवास का, जो मंदिर के आंगन में प्रवेश करता है वह छहमास के उपवास का, जो द्वार में प्रवेश करता है वह वर्षोपवास का, जो प्रदक्षिणा देता है वह सौ वर्ष के उपवास का, जो जिनेन्द्र देव के मुख का दर्शन करता है वह हजार वर्ष के उपवास का और जो स्वभाव से स्तुति करता है वह अनन्त उपवास के फल को प्राप्त करता है। यथार्थ में जिनभक्ति से बढ़कर उत्तम पुण्य नहीं है ।।१७८-१८२।। आचार्य द्युति कहते हैं कि हे भरत! जिनेन्द्र देव की भक्ति से कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और जिसके कर्म क्षीण हो जाते हैं वह अनुमप सुख से सम्पन्न परमपद को प्राप्त होता है।।१८३।। ऐसा कहने पर अत्यन्त समीचीन भक्ति से युक्त भरत ने गुरु के चरणों को नमस्कार कर विधिपूर्वक गृहस्थ धर्म ग्रहण किया।।१८४।।

श्रीरामचन्द्र और सती सीता ने मुनिराज के चरणों में चंदन लेपन किया एवं पुष्पों से पूजा की—

अथोद्वर्त्य चिरं पादौ, तयोर्निर्झरवारिणा।
गन्धेन सीतया लिप्तो, चारुणां पुरुभावया।।४४।।
आसन्नानां च वल्लीनां, कुसुमैर्वनसौरभैः।
लक्ष्मीधरार्पितैः शुक्लैः, पूरितान्तरमर्चितौ।।४५।।
ततस्ते करयुग्माब्ज-मुकुलभ्राजितालिकाः।
चक्रुर्योगीश्वरीं भक्त्या, वन्दनां विधिकोविदाः।।४६।।

अथानन्तर भक्ति से भरी सीता ने निर्झर के जल से देर तक उन मुनियों के पैर धोकर मनोहर गन्ध से लिप्त किये।।४४।। तथा जो वन को सुगंधित कर रहे थे एवं लक्ष्मण ने जो तोड़ कर दिये थे, ऐसे निकटवर्ती लताओं के फूलों से उनकी खूब पूजा की।।४५।। तदनन्तर अंजलिरूपी कमल की बोड़ियों से जिनके ललाट शोभायमान थे तथा जो विधि-विधान के जानने में निपुण थे ऐसे उन सबने भक्तिपूर्वक मुनिराज की वन्दना की।।४६।।

स्थापयित्वा घनामोद-समाकृष्टमधुव्रतैः।
धूपैरालेपनैः पुष्पै-र्मनोज्ञैर्बहुभक्तिभिः।।८९।।

1. पद्मपुराण, भाग-2, पर्व 39, पृ. 181।

विधाय महतीं पूजां, सन्निविष्टः पुरोऽवनौ।
सगर्भं वदनं चक्रे पूतैः स्तुत्यक्षरैश्चिरम्।।९०।।[1]

प्रतिमा स्थापित कर उसने भारी सुगंधि से भ्रमरों को आकर्षित करने वाले धूप, चन्दन, पुष्प तथा मनोहर नैवेद्य के द्वारा बड़ी पूजा की और सामने बैठकर चिरकाल तक स्तुति कर पवित्र अक्षरों से अपने मुख को सहित किया।।८९-९०।।

सचित्त पूजा निर्दोष है—

यथा विषकणः प्राप्तः सरसीं नैव दुष्यति।
जिनधर्मोद्यतस्यैवं, हिंसालेशो वृथोद्भवः।।९२।।
प्रासादादि ततः कार्यं, जिनानां भक्तितत्परैः।
माल्याधूपप्रदीपादि, सर्वं च कुशलैर्जनैः।।९३।।[2]

जिस प्रकार विष का एक कण तालाब में पहुंचकर पूरे तालाब को दूषित नहीं कर सकता उसी प्रकार जिनधर्मानुकुल आचरण करने वाले पुरुष से जो थोड़ी हिंसा होती है वह उसे दूषित नहीं कर सकती। उसकी वह अल्प हिंसा व्यर्थ रहती है।।९२।। इसलिए भक्ति में तत्पर रहने वाले कुशल मनुष्यों को जिनमंदिर आदि बनवाना चाहिए और माला, धूप, दीप आदि सबकी व्यवस्था करनी चाहिए।।९३।।

सफेद ध्वजा जिनमंदिर पर—

सितकेतुकृतच्छायाः, सहस्राकारतोरणाः।
शृंङ्गेषु पर्वतस्यामी, विराजन्ते जिनालयाः।।२७६।।
कारिता हरिषेणेन, सज्जनेन महात्मना।
एतान् वत्स नमस्य, त्वं भव पूतमनाः क्षणात्।।२७७।।[3]

किन्तु सफेद पताकाएं जिन पर छाया कर रही हैं तथा जिनमें हजारों प्रकार के तोरण बने हुये हैं ऐसे ये जिनमंदिर पर्वत के शिखरों पर सुशोभित हो रहे हैं।।२७६।। ये सब मंदिर महापुरुष हरिषेण चक्रवर्ती के द्वारा बनवाये हुये हैं। हे वत्स! तू इन्हें नमस्कार कर और क्षणभर में अपने हृदय को पवित्र कर।।२७७।।

अंजना ने भगवान की पूजा की—

तस्मात्साधुमिमं देवं समाश्रित्य कृतोचितम्।
मुनिपर्यङ्कपूतायां गुहायामत्र संक्षयात्।।२८९।।
मुनिसुव्रतनाथस्य विन्यस्य प्रतियातनाम्।
अर्चयन्त्यौ सुखप्राप्त्यै स्वामोदैः कुसुमैरलम्।।२९०।।
सुखप्रसूतिमेतस्य, गर्भस्याध्यायचेतसि।
विस्मृत्य वैरहं दुःखं, समयं किंचिदास्वहे।।२९१।।[4]

इसलिए इस उत्तम देव का यथोचित आश्रय लेकर मुनिराज की पद्मासन से पवित्र इस गुफा में श्री मुनिसुव्रत भगवान की प्रतिमा विराजमान कर सुख-प्राप्ति के लिए अत्यंत सुगंधित फूलों से उसकी पूजा करती हुई हम दोनों कुछ समय तक यहीं रहें। इस गर्भ की सुख से प्रसूति हो जाये चित्त में इसी बात का ध्यान रखें

1. पद्मपुराण पर्व-10, पृष्ठ 230, रावण ने पूजा की। 2. पद्मपुराण, पर्व -14, पृ. 312-313। 3. पद्मपुराण, भाग-1, पर्व-8, पृ. 188। 4. पद्मपुराण, भाग-1, पर्व-17, पृष्ठ 391।

और विरह-संबंधी सब दुख भूल जावें।।२८९-२९१।।

सचित्त पूजा—

माल्यगंधप्रधूपाद्यैः, सचित्तैः कोऽर्चयेज्जिनम्।
सावद्यसंभवं वक्ति यः, स एवं प्रबोध्यते।।१४०।।
जिनार्चानेकजन्मोत्थं, किल्विषं हंति यत्कृतम्।
सा किंचिद् यजनाचारभवं सावद्यमंगिनाम्।।१४१।।[1]

अर्थ—कोई कोई लोग यह कहते हैं कि पुष्पमाला, धूप, दीप, जल, फल आदि सचित्त पदार्थों से भगवान की पूजा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सचित्त पदार्थों से पूजा करने में सावद्य जन्य पाप (सचित्त के आरंभ से उत्पन्न हुआ पाप) उत्पन्न होता है। उनके लिए आचार्य समझाते हैं कि भगवान की पूजा करने से अनेक जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं फिर क्या उसी पूजा से उसी पूजा में होने वाला आंरभ जनित वा सचित्त जन्य थोड़ा सा पाप नष्ट नहीं होगा ? अवश्य होगा। इसका भी कारण यह है कि—

प्रेर्यन्ते यत्र वातेन, दन्तिनः पर्वतोपमाः।
तत्राल्पशक्तितेजस्सु, का कथा मशकादिषु।।१४२।।
भक्तं स्यात्प्राणनाशाय, विषं केवलमंगिनाम्।
जीवनाय मरीचादि-सदौषधिविमिश्रतम्।।१४३।।

अर्थ—जिस वायु से पर्वत के समान बड़े-बड़े हाथी उड़ जाते हैं उस वायु के सामने अत्यन्त अल्प शक्ति को धारण करने वाले डांस मच्छर क्या टिक सकते हैं ? कभी नहीं। उसी प्रकार जिस पूजा से जन्म-जन्मान्तर के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं उसी पूजा से क्या उसी पूजा के विधि-विधान में होने वाली बहुत ही थोड़ी हिंसा नष्ट नहीं हो सकती ? अवश्य होती है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। विष भक्षण करने से प्राणियों के प्राण नष्ट हो जाते हैं परन्तु वही विष यदि सोंठ, मिरच, पीपल आदि औषधियों के साथ मिलाकर दिया जाये तो उसी से अनेक रोग नष्ट होकर जीवन अवस्था प्राप्त होती है। इसी प्रकार सावद्य कर्म यदि विषय सेवन के लिए किये जांये तो वे पाप के कारण हैं ही परन्तु भगवान की पूजा के लिए बहुत ही थोड़े सावद्य कर्म पाप के कारण नहीं होते, पुण्य के ही कारण होते हैं। मंदिर बनवाना, पूजा करना, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करना, रथोत्सव करना आदि जितने पुण्य के कारण हैं उन सबमें थोड़ा बहुत सावद्य अवश्य होता है। परन्तु वह सावद्य दोष पुण्य का ही कारण होता है। इसी प्रकार सचित्त द्रव्य से होने वाली पूजा में होने वाला सावद्य दोष पुण्य का ही कारण होता है। भगवान की पूजा केवल पुण्य उपार्जन करने के लिए, आत्मा का कल्याण करने के लिए और परम्परा से मोक्ष प्राप्त करने के लिए की जाती है, विषयों के सेवन करने के लिए नहीं की जाती, इसीलिए उससे होने वाला सावद्य कर्म पाप का कारण कभी नहीं हो सकता पुण्य का ही कारण होता है।

तथा कुटुंबभोगार्थ-मारम्भः पापकृद्भवेत्।
धर्मकृद्दानपूजादौ हिंसालेशो मतः सदा।।१४४।।

अर्थ—कुटुंब पोषण और भोगोपभोग के लिए किया गया आरंभ पाप उत्पन्न करने वाला होता है।

---

1. उमास्वामी श्रावकाचार, श्लोक 140 से 143 तक, पृ. 55 से 57 तक।

परन्तु दान, पूजा आदि धर्मकार्यों में किया गया आरम्भ या की गयी लेशमात्र हिंसा सदा पुण्य को बढ़ाने वाली ही मानी गई है।

गंधोदकं च शुद्ध्यर्थं, शेषां संततिवृद्धये।
तिलकार्थं च सौगंध्यं, गृह्णन् स्यान्नहि दोषभाक्।।१४५।।

अर्थ — अपने शरीर को शुद्ध करने के लिए भगवान का गंधोदक ले लेना चाहिए। संतति की वृद्धि के लिए शेषाक्षत ले लेना चाहिए और तिलक लगाने के लिए चन्दन ले लेना चाहिए। इन द्रव्यों के ले लेने में कोई किसी प्रकार का दोष नहीं लगता।

भावार्थ — अभिषेक का गंधोदक यद्यपि मंत्र पूर्वक चढ़ाया जाता है तथापि उसके लेने में कोई दोष नही हैं। पूजा करने के बाद बचे हुये अक्षतों को शेषाक्षत कहते हैं। पूजा करने के बाद शेषाक्षतों को मस्तक पर धारण करना चाहिए। इसी प्रकार चंदन से पूजा करने के बाद बचे हुये चंदन से तिलक लगाने में कोई दोष नहीं है प्रत्युत गुण ही है।

''पुष्पस्त्रग्मंजरी वः फलमलघुजिनेन्द्रांघ्रिदिव्याङ्घ्रिपस्था।।२६।।[1]

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों पर स्थित चढ़ाए गये पुष्प तुम्हें महान फलदायक होवे।

स्त्रियों के द्वारा जिनाभिषेक के प्रमाण

(१)

अत्यंतसुकुमारस्य, जिनस्य सुरयोषितः।
शच्याद्याः पल्लवस्पर्श-सुकुमारकरास्ततः।।१७२।।
दिव्यामोदसमाकृष्टषट्पदौघानुलेपनैः ।
उद्वर्तयन्त्यस्ताः प्रापुः, शिशुस्पर्शसुखं नवम्।।१७३।।
ततो गंधोदकैः कुंभैरभिषिंचन् जगत्प्रभुं।
पयोधरभरानम्रास्ता वर्षा इव भूभृतं[2]**।।१७४।।**

शचि आदि देवियों ने अत्यंत सुकुमार जिनबालक के शरीर पर दिव्य सुगंधित चंदन विलेपन करके शिशु के स्पर्श के नूतन सुख का अनुभव किया। पुनः सुगंधित जल से भरे हुये कलशों से जगत के प्रभु का अभिषेक किया।

(२)

ततः सुरपति स्त्रियो जिनमुपेत्य शच्यादयः।
सुगंधितनुपूर्वकैर्मृदुकराः समुद्वर्तनम्।।
प्रचक्रुरभिषेचनं शुभपयोभिरुच्चैर्घटैः।
पयोधरभरैर्निजैरिव समं समावर्जितैः[3]**।।५४।।**

शची आदि इन्द्राणियों ने जिनेन्द्र देव के कोमल शरीर का उद्वर्तन करके शुभ जल से परिपूर्ण कलशों से उनका अभिषेक किया।

---

1. अभिषेक पाठ संग्रह, पृ. 10, आचार्य पूज्यपाद कृत जैनाभिषेक। 2. हरिवंशपुराण सर्ग 8, पृ. 159। 3. हरिवंशपुराण सर्ग 38, पृ. 485।

(३)

गृहीतगंध-पुष्पादि-प्रार्चनाः सपरिच्छदा।
अथैकदा जगामैषा, प्रातरेव जिनालयम्।।५५।।
त्रिःपरीत्य ततः स्तुत्वा, जिनांश्च चतुराशया।
संस्नाप्य पूजयित्वा च, प्रयाता यति संसदि[1]।।५६।।

वह कन्या सपरिवार गंध, पुष्प आदि पूजन सामग्री लेकर प्रातः ही जिनमंदिर में पहुंची। वहां पर तीन प्रदक्षिणा देकर जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करके और उनकी पूजा करके यतियों की सभा में पहुंचती है।

(४)

अथैकदा सुता सा च सुधीः मदनसुंदरी।
कृत्वा पंचामृतैः स्नानं, जिनानां सुखकोटिदम[2]।।

एक समय विदुषीमदन सुंदरी ने करोड़ों सुखों को देने वाला ऐसा जिनेन्द्रदेव का पंचामृतों से अभिषेक किया।

(५)

तदा वृषभसेना च प्राप्य राज्ञीपदं महत्।
दिव्यान् भोगान् प्रभुंजाना, पूर्वपुण्यप्रसादतः।।३८।।
पूजयंती जगत्पूज्यान्, जिनान् स्वर्गापवर्गदान्।
दिव्यैरष्टमहाद्रव्यैः, स्नपनादिभिरुज्ज्वलैः[3]।।३९।।

तब वृषभसेना सम्राज्ञीपद को प्राप्त कर पूर्व पुण्य से दिव्य भोगों को भोगती हुयी जगत्पूज्य जिनप्रतिमाओं की अभिषेकपूर्वक पूजा करती थी।

(६)

इत्युक्तो नोदयद्वेगात्, सारथी रथमाप सः।
जिनवेश्म तमास्थाप्य, तौ प्रविष्टौ प्रदक्षिणम्।।२०।।
क्षीरेक्षुरसधारौघै-र्घृतदध्युकदकादिभिः ।
अभिषिच्य जिनेंद्रार्चा-मर्चितां नृसुरासुरैः[4]।।२१।।

गंधर्वसेना के ऐसा कहने पर सारथी ने रथ को वेग से बढ़ाया और सब जिनमंदिर जा पहुंचे। वहां रथ को खड़ा कर वसुदेव और गंधर्वसेना ने मंदिर में प्रवेश किया, तीन प्रदक्षिणाएं दीं और पुनः दूध, इक्षुरस की धारा, घी, दही तथा जल आदि से मनुष्यों और सुर-असुरों से पूज्य ऐसे जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का अभिषेक किया।

(७)

अभिषेकैर्जिनेंद्राणा-मत्युदारैश्च पूजनैः
दानैरिच्छाभिपूरैश्च, क्रियतामशुभेरणम्।।१६।।
एवमुक्ता जगौ सीता-देव्यः साधु समीरितम्
दानं पूजाभिषेकश्च, तपश्चाशुभसूदनम्[5]।।१७।।

---

1. जिनदत्तचरित्र-गुणभद्राचार्य कृत। 2. श्रीपालचरित् बृहन्नेमिचन्द्रकृत पृ. 6। 3. अराधना कथा कोष, भाग-3, पृ. 421। 4. हरिवंशपुराण सर्ग 22, पृ. 320। 5. पद्मपुराण, भाग-3, पर्व 96, पृ. 197।

जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक, अत्युदार पूजन और किमिच्छक दान के द्वारा अशुभ कर्म को दूर हटाना चाहिए।

इस प्रकार कहने पर सीता ने कहा कि हे देवियों! आप लोगों ने ठीक कहा है क्योंकि दान, पूजा, अभिषेक और तप अशुभ कर्मों को नष्ट करने वाला है।

(८)

तस्मिन् विधाय महतीमुपवासपूर्वां,
पूजां जगद्विजयिनो जिनपुंगवस्य।।
स्नानं समीहितनिमित्तमथस्तदीय-
बिम्बस्य स प्रविदधे सहितोऽग्रदेव्या[1]।।६१।।

जगत विजयी जिनेन्द्र देव की पूजा करके राजा ने अपनी पट्टरानी के साथ जिनेन्द्र देव की प्रतिमा का अभिषेक किया।

(९)

श्री वीरनाथ-बिंबस्य, स्नपनं क्रियते मुदा
इक्षुसुघृतसद्दुग्ध-दधिवारिभृतैर्घटैः ।।१६।।
ततः पूजा प्रकर्तव्या, वीरस्य सलिलादिभिः
हृद्वाक्कायं स्थिरीकृत्य, दुष्कृतनाशनहेतवे।।१७।।[2]

किसी महिला को उपदेश देते हैं कि तुम्हें वीरप्रभु की प्रतिमा का अभिषेक दूध, दही, घी, इक्षुरस, पूर्ण कलश आदि के करने चाहिए तत्पश्चात् मन-वचन-काय को स्थिर करके पाप को नष्ट करने हेतु महावीर प्रभु की जलादि से पूजा करनी चाहिए।

(१०)

इतीयं निश्चयं कृत्वा, दिनानां सप्तकं सती
श्री जिनप्रतिबिंबानां, स्नपनं सा तदाऽकरोत्।
चन्दनागुरुकर्पूर-सुगंधैश्च विलेपनैः
सा राज्ञी विदधे प्रीत्या, जिनेन्द्राणां त्रिसंध्यकम्।।[3]

इस प्रकार से निश्चय करके उस रानी ने सात दिन तक तीनों कालों में चंदन आदि सुगंधित विलेपन पूर्वक श्री जिनदेव की प्रतिमाओं का अभिषेक किया।

(११)

ततस्तयोर्जिनेन्द्राणां, महास्नपनपूर्वकम्,
कल्याणदायिनीं पूजां, पात्रदानं सुखप्रदम्।।
कुर्वतोः सुखतः कैश्चिद् मासैर्जनिः सुतोत्तमः।[4]
तदानन्दः स्ववन्धूना-मभूत्प्राप्ते निधौ यथा।।१९।।

जिनेन्द्र भगवान की महाअभिषेक पूर्वक कल्याणदायिनी पूजा को और सुखप्रद दान को करते हुये उन दोनों के कुछ महीने बाद पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई।

---

1. चंद्रप्रभचरित सर्ग 3। 2. गौतमचरित्र सर्ग 3 श्रीधर्मचंद्र मंडलाचार्यकृत। 3. षट्कर्मोपदेशरत्नमाला, आचार्य सकलभूषण कृत। 4. आ.क.कोश, पृ 402, (कथा रात्रिभोजन त्याग की)।

(१२)

शुक्लश्रावणमासस्य सप्तमीदिवसेऽर्हताम्।
स्नपनं पूजनं कृत्वा, भक्त्याष्टविधमूर्जितम्।।[१]

श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन अर्हंत भगवान का अभिषेक और अष्टविध पूजन करके—

(१३)

मुनिसुव्रतनाथस्य, विन्यस्य प्रतियातनां।
अर्चयन्त्यौ सुखप्राप्त्यै, स्वामोदैः कुसुमैरलं[२]**।।२९०।।**

अंजना और बसंतमाला वन की उस गुफा में मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा विराजमान करके सुख की प्राप्ति के लिए उसकी पूजा-अर्चना करती थीं।

(१४)

कन्या वोली किहविध करें, किस दिन से यह व्रत हम करें।
तब गुरु बोले वचन रसाल, भादव मास कह्यो सुखमाल।।
शुक्ल पंचमी दिन सों लेय, पंचामृत अभिषेक करेय।
पूजार्चन कीजे शुभ सही, जिन चौबीस तनी सुखमही।।[३]

(१५)

ऐसे वचन सुने मुनि जबे, तब बोले पुत्री सुन अबे।
भादों शुक्ल पक्ष जब होय, दशमी दिन आराधो सोय।।
पंचामृत की धारा देव, मन में राखो श्री जिनदेव।
शीतलजिन की पूजा करो, मिथ्या मोह दूर परिहरो।।[४]

(१६)

इन्द्राणीप्रमुखादेव्यः, सद्गंधैरनुलेपनैः।
चक्रुरुद्वर्तनं भक्त्या, करैः पल्लवकोमलैः।।१८६।।
महीध्रमिव तं नाथं, कुम्भैर्जलधरैरिव।
अभिषिच्य समारब्धाः कर्तुमस्य विभूषणम्।।१८७।।[५]

इंद्राणी आदि देवियों ने सुगंधित गंध का अवलेपन करके पर्वत के सदृश महान ऐसे वृषभदेव का कलशों से अभिषेक किया।

(१७)

''यावज्ज्येष्ठा जिनप्रतिमां गृहीत्वा गच्छति तावत्तत्र न कोऽपि दृष्टः। ज्येष्ठा तु लज्जिता।[६]**''**

जब तक ज्येष्ठा जिनप्रतिमा को लेकर वहां पहुंची, वहां पर उसे कोई नहीं दिखा अतः वह लज्जित हो गयी।

(१८)

गंधैः सुगंधिभिः सांद्रै-रिन्द्राणी गात्रमीशितुः[७]

इंद्राणी ने सुगंधित गंध से भगवान के शरीर पर लेप लगाया।

---

1. बृहत्कथाकोश। 2. पद्मपुराण, पर्व-16, पृ. 391। 3. जिनवाणी, दशलक्षण व्रतकथा। 4. सुगंधदशमी व्रतकथा। 5. पद्मपुराण पर्व-3, पृ. 44। 6. षट्पाहुड़ संस्कृत टीका, पृ. 334। 7. आदिपुराण जिनजन्मोत्सव, पर्व 14, पृ. 304।

(१९)

कंकण बंधन के बाद विघ्न शांति के लिए दूसरी बार फिर वर या कन्या को गाजे बाजे सहित श्रीजिनमंदिर में जाकर भगवान की अभिषेक तथा पूजन करनी चाहिए।[१]

(२०)

कन्या का पिता विवाह दिन से एक माह पहले किसी शुभ समय प्रातः काल श्री भगवान का कन्या सहित अभिषेक पुरस्सर नित्यनियम पूजन करके निम्नलिखित श्री सिद्धयंत्र की पूजा करे।[२]

(२१)

तत्प्रतीष्ठाभिषेकांते, महापूजाः प्रकुर्वती।
महुःस्तुतिभिरर्थ्याभिः, स्तुवती भक्तितोऽर्हतः।।१७४।।[३]

सुलोचना ने प्रतिष्ठा तथा अभिषेक के बाद महापूजा को करके महान स्तुतियों के द्वारा भक्ति से अर्हंत का स्तवन किया।

प्रतिमां च प्रविश्येनां पूर्व देशे व्यतिष्ठपत्।
आनर्च च विचित्राभिः सुमनोभि; सुगंधिभिः।।१९३।।[४]

भावार्थ— (अंजना के पूर्व भव में) उस लक्ष्मीमती नाम की रानी ने संयम- श्री नामा आर्यिका के उपदेशानुसार जलाशय में से उस जिनेन्द्र की प्रतिमा को निकालकर विराजमान किया और सुगंधित पुष्पों से पूजा की।

यज्ञोपवीत आवश्यक है

भगवान के अभिषेक, पूजा व साधु के आहार दान में यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक है

खान में से निकला हुआ सोना तब तक रूप रंग में सुन्दर नहीं बन पाता, जब तक कि उसका विधिपूर्वक अग्नि से तपाकर संस्कार नहीं हो जाता। अग्नि के अनेक तापों से तपकर ही सुवर्ण मूल्यवान बना करता है। धूल पत्थर में मिले हुए हीरे का कुछ विशेष मूल्य नहीं होता, जब उसे शिल्पी अच्छी तरह काटकर, शाण पर चढ़ाकर उसको ठीक तरह घिसकर उसकी चमक प्रगट करता है, तब वह खान का तुच्छ पाषाण बहुमूल्य हीरा बन जाता है।

पत्थर की खान से निकले हुए पत्थर का मूल्य कोई विशेष नहीं होता। जब उस पाषाण को मूर्तिकार शिल्पी अपने सधे हुए हाथों से गढ़कर सुन्दर मूर्ति बना देता है, तब वह पाषाण बहुमूल्य बन जाता है। यदि उस पाषाण से अर्हन्त भगवान की मूर्ति बनाई गई हो, तब तो उस पाषाण का मूल्य तथा सम्मान और अधिक हो जाता है।

परन्तु वह अर्हन्त भगवान की प्रतिमा तब तक अपूज्य साधारण मूर्ति ही बनी रहती है, जब तक कि उसका मंत्र, पूजा प्रतिष्ठा आदि विधान द्वारा संस्कार नहीं किया जाता। संस्कार हो जाने पर वह प्रतिमा अर्हन्त भगवान के समान पूज्य बन जाती है।

इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी तब तक मूल्यवान नहीं बन पाता, जब तक कि उसे विविध संस्कारों

---

1. जैनविवाहविधि, पृ. 6 पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ जयपुरकृत। 2. वृहत् जैन विवाह विधि पृ. 7, पं. कुंज बिहारीलाल जी शास्त्री द्वारा लिखित। 3. आदिपुराण पर्व 43, पृ. 368। 4. रविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण, पर्व 17।

द्वारा संस्कृत न किया जावे। मानवीय जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए १६ संस्कार आचार्यों ने बतलाये हैं। उनमें से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों के लिए यज्ञोपवीत संस्कार बहुत महत्वपूर्ण है।

माता के गर्भ से प्रगट होना मनुष्य का पहला जन्म है और सद्गुणों में प्रविष्ट होने के लिए यज्ञोपवीत (जनेऊ) संस्कार होना मनुष्य का दूसरा गुणमय जन्म माना गया है। इन दो जन्मों के कारण ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों को 'द्विज' (दो जन्म वाले) कहा जाता है।

द्विजातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः।
क्रिया-मंत्र-विहीनस्तु केवलं नाम-धारकः।।

संस्कार के बिना मनुष्य पूज्य नहीं हो सकता। इसलिए तीन वर्ण वालों को जनेऊ संस्कार अवश्य कराना चाहिए।

मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य भव प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि देव, पशु, नारकी जीव संयम धारण नहीं कर सकते। परन्तु मनुष्यों में जो मनुष्य अपनी कुल परम्परा से हीन-आचरणी हैं, जिनके नीच गोत्र का उदय होता है, वे मुनि-दीक्षा लेकर संयम धारण नहीं कर सकते। अतः मनुष्य भव की तरह मुक्ति प्राप्त करने के लिए वज्रऋषभनाराच संहनन तथा उच्च गोत्र कर्म का उदय भी होना एवं हीनांग न होना भी आवश्यक होता है।

उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार उच्च कुलीन पुरुषों के ही होता है, ऐसा ही आर्ष वाक्य है—

जातिगोत्रादि कर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः।
येषां स्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः।।

अर्थ—उच्च गोत्र, सज्जाति आदि कर्म शुक्ल ध्यान के कारण हैं। ये उच्च गोत्र, सज्जाति आदि कर्म जिनके होते हैं, वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्ण हैं, इनके सिवाय सब शूद्र कहे गये हैं।

यज्ञोपवीत संस्कार के समय बालक को ब्रह्मचर्य व्रत दिया जाता है, जिससे उसका आत्मतेज प्रदीप्त होता है। विद्या अध्ययन के लिए, शारीरिक बल बढ़ाने के लिए तथा मंत्र-साधन आदि ऋद्धि-सिद्धि के लिए भी ब्रह्मचर्य परम आवश्यक है। इसके सिवाय जीवन को सच्चरित्र बनाने के लिए अन्य व्रत भी यज्ञोपवीत संस्कार के समय दिये जाते हैं।

यज्ञोपवीत संस्कार विधि 'षोडशसंस्कार' या 'श्रावक संस्कार निर्देशिका' पुस्तक से कराना चाहिए।

बालकों को यथा-नियत काल तक ब्रह्मचर्य धारण करने वालों को एक तथा गृहस्थों को दो यज्ञोपवीत धारण करना योग्य है।

यदि यज्ञोपवीत गिर जाये अथवा टूट जाये, तो अन्य एक दूसरा नवीन यज्ञोपवीत पहनना चाहिए। जनेऊ पहनते समय "ॐ नमः परमशान्ताय शान्तिकराय पवित्रीकृताई रत्नत्रयस्वरूपयज्ञोपवीतं दधामि मम गात्रं पवित्रं भवतु अर्हं नमः स्वाहा" यह मंत्र पढ़ना है।

यज्ञोपवीत धारण करके ही भगवान के अभिषेक व पूजा का विधान है। यथा—

श्री पूज्यपादस्वामीकृत अभिषेक पाठ से—

ब्रह्मस्थानमिदं दिशावलयमप्येतन्पवित्रांकुशै-
रर्हद्ब्रह्ममहामहाध्वरविधिप्रत्यूहविध्वंसिभिः।
जैनब्रह्मजनैकभूषणमिदं यज्ञोपवीतं मया
विभ्राणेन महेन्द्रविभ्रमकरं संघार्यते मण्डनम्।।५।।

श्री गुणभद्राचार्य कृत अभिषेक पाठ से—

ॐ मतिनिर्मलमुक्ताफललललितं यज्ञोपवीतमतिपूतम्।
रत्नत्रयमिति मत्वा करोमि कलुषापहरणमाभरणम्।।१५।।

श्री अभयनंदि आचार्यकृत अभिषेक पाठ से—

पूर्वं पवित्रतरसूत्रविनिर्मितं यत्
प्रीतः प्रजापतिरकल्पयदङ्गसङ्गि।
सद्भूषणं जिनमहे निजकन्धरायां
यज्ञोपवीतमहमेष तदातनोमि।।४।।

श्री गजांकुशकविकृत अभिषेक पाठ से—

श्रीमन्मंदरसुन्दरे शुचिजलैर्धौते सदर्भाक्षते,
पीठे मुक्तिवरं निधाय रचितं तत्पादपुष्पस्त्रजा।
इंद्रोऽहं निजभूषणार्थममलं यज्ञोपवीतं दधे,
मुद्राकंकणशेखरानपि तथा जैनाभिषेकोत्सवे।।१।।

अन्य अभिषेक पाठ—

अतिनिर्मलमुक्ताफललललितं यज्ञोपवीतमतिपूतम्।
रत्नत्रयमिति मत्वा करोमि कलुषापहरणमाभरणम्।।

ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राय नमः स्वाहा।

यज्ञोपवीत धारण करने वालों का आचार

(१) जिनेन्द्र देव के दर्शन प्रतिदिन करना।
(२) देव, शास्त्र और गुरु की भक्ति करना।
(३) छना हुआ जल पीना।
(४) रात्रि में अन्न का भोजन न करना।
(५) उदंबर फल (बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, अंजीर) नहीं खाना।
(६) मांस, मदिरा (शराब), मधु (शहद) नहीं खाना।
(७) सप्त दुर्व्यसनों का त्याग करना।

शिक्षा

(१) पेशाब-टट्टी आदि अशौच कर्म के समय जनेऊ को उच्च स्थान (कर्ण) में लगाना। भूल जाने पर नौ बार णमोकार मंत्र जपने से शुद्धि होती है।

(२) जनेऊ टूट जाने पर, सूतक और पातक आदि होने पर अशुद्ध हो जाता है। इसलिए नवीन जनेऊ पहनना और पुरानी जनेऊ को नदी आदि में डाल देना चाहिए।

(३) बिना जनेऊ के मनुष्य को श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा और पात्र दान करने का अधिकार नहीं है।

(४) जनेऊ पहनकर, महाव्रत धारण करने से पहले जनेऊ उतार देने से प्रतिज्ञा भंग का दोष लगता है।

शासन देव देवी आदि के प्रमाण

विश्वेश्वरादयो ज्ञेया, देवता शांतिहेतवे।
क्रूरास्तु देवताः हेया, येषां स्याद्वृत्तिरामिषैः।।[१]

अर्थ—जिनागम में विश्वेश्वर, चक्रेश्वरी, पद्मावती आदि देवता शांति के लिए बतलाये हैं। परन्तु जिन पर बलि चढ़ाई जाती है, जीव मारकर चढ़ाये जाते हैं ऐसे चंडी, मुंडी आदि देवता त्याग करने योग्य हैं। इसका भी खुलासा इस प्रकार है।

मिथ्यात्वपूरिताः क्रूराः, सशस्त्राः सपरिग्रहाः।
निंद्या आमिषवृत्तित्वान्मद्यपानाच्च हीनकाः।।१।।

कुदेवाश्च ता ज्ञेया ब्रह्मोमाविष्णुकादयः।
प्रतिपत्तिश्च तासां हि, मिथ्यात्वस्य च कारणम्।।२।।

तस्माद्धेयाः कुदेवास्ते, मिथ्याभेषधरावहाः।
ग्राह्याः सम्यक्त्वसम्पन्ना, जिनधर्मप्रभावकाः।।३।।

चक्रेश्वर्यादिदिक्पाला, यक्षाश्च शांतिहेतवे।
सम्यग्दर्शनयुक्तत्वात्ते पूज्या जिनशासने।।४।।[२]

जो देव मिथ्यात्वी क्रूर-हिंसक हैं, शस्त्र, परिग्रह सहित हैं, माँस की, मद्य की वृत्ति होने से निंद्य हैं ऐसे देवता हीन हैं अतः ये हेय हैं इनसे अतिरिक्त सम्यक्त्व से संपन्न जिनशासन की प्रभावना करने वाले देवता ग्राह्य हैं—मान्य है। ऐसे चक्रेश्वरी आदि शासनदेवी-देवता, दिक्पाल, क्षेत्रपाल आदि तथा यक्ष आदि देवता शांति के लिए हैं। ये सम्यक्त्वी होने से जिनशासन में पूज्य माने गये हैं।

जक्खणाम—

गोवदणमहाजक्खा, तिमुहो जक्खेसरो य तुंबुरओ।
मादंगविजयअजिओ, बह्मो बह्मेसरो य कोमारो।।९३४।।[३]

छम्मुहओ पादालो, किण्णरकिंपुरुसगरुडगंधव्वा।
तह य कुबेरो वरुणो, भिउडी-गोमेधपास-मातंगा।।९३५।।

गुज्झकओ इदि एदे, जक्खा चउवीस उसहपहुदीणं।
तित्थयराणं पासे, चेट्ठंते भत्ति-संजुत्ता।।९३६।।

जक्खीओ चक्केसरि-रोहिणिपण्णत्तिवज्जसिंखलया।
वज्जंकुसा य अप्पदिचक्केसरि-पुरिसदत्ता य ।।९३७।।
मणवेगाकालीओ, तह जालामालिणी महाकाली।
गउरी-गंधारीओ, वेरोही सोलसा अणंतमदी।।९३८।।

माणसिमहमाणसिया, जया य विजयापराजिदाओ य।
बहुरूपिणिकुंभंडी, पउमासिद्धायिणीओ त्ति।।९३९।।

1-2. श्री उमास्वामी श्रावकाचार, पृ. 29 पर मंत्र प्रदीप के श्लोक। 3. तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ, प्रथम भाग, अधिकार-4, पृ. 266-267।

१. गोवदन, २. महायक्ष, ३. त्रिमुख, ४. यक्षेश्वर, ५. तुम्बुरव, ६. मातंग ७. विजय, ८. अजित, ९. ब्रह्म, १०. ब्रह्मेश्वर, ११. कुमार, १२. षण्मुख, १३. पाताल, १४. किन्नर, १५. किंपुरुष, १६. गरुड़, १७. गंधर्व, १८. कुबेर, १९. वरुण, २०. भृकुटि, २१. गोमेध, २२. पार्श्व, २३. मातंग (धरणेंद्र), २४. गुह्यक, इस प्रकार भक्ति से संयुक्त ये चौबीस यक्ष ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकरों के समवसरण में उनके पास में स्थित रहते हैं।

इसी प्रकार १. चक्रेश्वरी, २. रोहिणी, ३. प्रज्ञप्ति, ४. वज्रश्रृंखला, ५. व्रजांकुशा, ६. अप्रतिचक्रेश्वरी, ७. पुरुषदत्ता, ८. मनोवेगा, ९. काली, १०, ज्वालामालिनी, ११. महाकाली, १२, गौरी, १३, गांधारी, १४. वैरोटी, १५. सोलसा—अनंतमती, १६. मानसी, १७ महामानसी, १८ जया, १९ विजया, २० अपराजिता, २१. बहुरूपिणी, २२. कूष्मांडी, २३. पद्मावती, २४. सिद्धायिनी ये चौबीस यक्षिणियां भी वहां समवसरण में चौबीस तीर्थंकरों के समीप में रहा करती हैं।

इसी प्रकार अकृत्रिम जिनमंदिरों का वर्णन करते हुये इसी तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में कहा है—

सिरिसुददेवीण तहा, सव्वाण्हसणक्कुमारजक्खाणं।
रूवाणिं पत्तेक्कं पडि, वररयणाइरइदाणिं[1]।।१८८१।।

प्रत्येक प्रतिमा के पास उत्तम रत्नादि से निर्मित श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वाण्ह व सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ रहती हैं।

यही बात त्रिलोकसार ग्रंथ में भी है—

सिरिदेवी सुददेवी, सव्वाण्ह-सणक्कुमार-जक्खाणं।
रूवाणि य जिणपासे, मंगलमट्ठविहमवि होदि[2]।।९८८।।

वहां अकृत्रिम जिनमंदिरों में जिनप्रतिमा के पास में श्रीदेवी (लक्ष्मी), श्रुतदेवी (सरस्वती) की मूर्तियां एवं सर्वाण्ह यक्ष और सनत्कुमार यक्ष की मूर्तियां बनी हुई हैं। उसी प्रकार प्रत्येक जिनप्रतिमा के पास में अष्ट मंगलद्रव्य भी स्थित हैं।

गोम्मटसार की प्रशस्ति देखने से समझ में आता है कि चामुंडराय ने गोम्मटगिरि पर भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा बनवाई। दक्षिणकुक्कुट जिन (भगवान बाहुबली स्वामी) की प्रतिमा बनवाई। एक स्तंभ बनवाकर उस पर यक्ष की प्रतिमा स्थापित की, इन यक्ष के मुकुट में प्रकाशमान रत्न लगे हुये थे। यथा—

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटरायविणिम्मिय-दक्खिणकुक्कड जिणो जयउ।।९६८।।

गोम्मटसंग्रहसूत्रं गोम्मटशिखरोपरि गोम्मटजिनश्च।
गोम्मटरायविनिर्मितदक्षिणकुक्कटजिनो जयतु[3]।।९६८।।

अर्थ- गोम्मटसारसंग्रहरूपसूत्र, गोम्मटशिखर के ऊपर चामुंडराय राजाकर बनवाये जिनमंदिर में विराजमान एक हाथप्रमाण इन्द्रनीलमणिमय नेमिनाथनामा तीर्थंकरदेव का प्रतिबिंब तथा उसी चामुंडरायकर निर्मापित लोक में रूढ़िकर प्रसिद्ध दक्षिणकुक्कटनामा जिनका प्रतिबिम्ब जयवंत प्रवर्तो।।९६८।।

जेण विणिम्मियपडिमा-वयणं सव्वट्ठसिद्धिदेवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं, दिट्ठं सो गोम्मटो जयउ।।९६९।।

---

1. तिलोयपण्णत्ति अधिकार-4, पृ. 387। 2. त्रिलोकसार, पृ. 753। 3. गोम्मटसार कर्मकांड।

येन विनिर्मितप्रतिमा-वदनं सर्वार्थसिद्धिदेवैः।
सर्वपरमावधियोगिभिः, दृष्टं स गोम्मटो जयतु।।९६९।।[1]

अर्थ—जिस रायकर बनवाया गया जो जिनप्रतिमा का मुख वह सर्वार्थसिद्धि के देवों ने तथा सर्वावधि-परमावधिज्ञान के धारक योगीश्वरों ने देखा है वह (चामुंडराय) सर्वोत्कृष्टपने से वर्तो ।।९६९।।)

वज्जयणं जिणभवणं, ईसिपब्भारं, सुवण्णकलसं तु।
तिहुवणपडिमाणिक्कं, जेण कयं जयउ सो राओ।।९७०।।

वज्रतलं जिनभवनमीषत्प्राग्भारं सुवर्णकलशं तु।
त्रिभुवनप्रतिमानमेकं येन कृतं जयतु स रायः।।९७०।।

अर्थ—जिसका, अवनितल (पीठबंध) वज्रसरीखा है, जिसका ईषत्प्राग्भार नाम है, जिसके ऊपर स्वर्णमयी कलश है तथा तीन लोक में उपमा देने योग्य ऐसा अद्वितीय जिनमंदिर जिसने बनवाया ऐसा चामुंडराय जयवंत वर्तो।।९७०।।

जेणुब्भियथंभुवरिम-जक्खतिरीटग्गकिरणजलधोया।
सिद्धाणं सुद्धपाया, सो राओ गोम्मटो जयउ।।१७१।।

येनोभिदतस्तम्भो-परिमयक्षतिरीटाग्रकिरणजलधौतौ।
सिद्धानां शुद्धपादौ, स रायो गोम्मटो जयतु।।९७१।।

अर्थ—जिसने चैत्यालय में खड़े किये हुये खंभों के ऊपर स्थित जो यक्ष के आकार हैं उनके मुकुट के आगे के भाग की किरणोंरूप जल से सिद्धपरमेष्ठियों के आत्मप्रदेशों के आकार रूप शुद्ध चरण धोये हैं ऐसा चामुंडराय जय को पाओ।

भावार्थ—चैत्यालय में स्तंभ बहुत ऊंचा बना हुआ है उसके ऊपर यक्ष की मूर्ति है उसके मुकुट में प्रकाशवन्त रत्न लगे हुये हैं।।९७१।।

इसी प्रकार से बड़वानी—बावनगजा में भगवान ऋषभदेव की चौरासी फुट ऊँची प्रतिमा उसी पाषाण को काट कर बनाई गई है। इस प्रतिमा के आजू-बाजू में उसी पाषाण में गोमुख यक्ष एवं चक्रेश्वरी यक्षी की मूर्ति बनी हुई है। ये प्रतिमाएँ भी अतीव प्राचीन हैं।

खंडगिरी-उदयगिरी की गुफाओं में जिनप्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। उनके आजू-बाजू में यक्ष—यक्षियों की मूर्तियां बनी हुई हैं। वहां की एक रानी गुफा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि ये मूर्तियां चौबीस सौ वर्ष पुरानी उत्कीर्ण हैं।

आप शांतचित्त होकर विचार कीजिये, न तब काष्ठासंघ ही पैदा हुआ था और न तब तक वस्त्रधारी भट्टारक ही हुये थे।

इसी प्रकार से दक्षिण में, बुंदेलखंड में, उत्तर में, राजस्थान में अनेक जिन प्रतिमाओं के आजू-बाजू में यक्ष-यक्षियों की मूर्तियां बनी हुई हैं।

प्रतिष्ठा शास्त्रों में भी यक्ष-यक्षी की मूर्ति बनाने के प्रमाण मौजूद हैं—

जिनप्रतिमा का लक्षण (यक्ष-यक्षी समेत)

---

1. गोम्मटसार कर्मकांड।

शान्तप्रसन्नमध्यस्थ-नासाग्रस्थाविकारदृक्।
सम्पूर्णभावरूपानु-विद्धांगं लक्षणान्वितम्।।
रौद्रादिदोषनिर्मुक्तं प्रातिहार्यांकयक्षयुक्।
निर्माप्य विधिना पीठे, जिनबिम्बं निवेशयेत्।।[१]

अर्थ — जिसके मुख की आकृति शांत हो, प्रसन्न हो, मध्यस्थ हो, नेत्र विकार रहित हों, दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर हो, जो केवलज्ञान के सम्पूर्ण भागों से सुशोभित हों, जिसके अंग-उपांग सब सुन्दर हों, रौद्र आदि भावों से रहित हों, आठों प्रातिहार्यों से विभूषित हों,। चिन्ह से सुशोभित हों यक्ष-यक्षी सहित हों और ध्यानस्थ हों इस प्रकार के शुभ लक्षणों से सुशोभित जिनप्रतिमा बनवाना चाहिए और प्रतिष्ठा करा कर पूजा करनी चाहिए। जिस प्रतिमा में ये लक्षण न हों वह अरहन्त की प्रतिमा नहीं कही जा सकती।

प्रातिहार्याष्टकोपेतां, यक्ष-यक्षी समन्विताम्।
स्वस्वलांच्छनसंयुक्तां, जिनार्चां कारयेत्सुधीः।।[२]

अर्थ — जो आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित है, यक्ष-यक्षी सहित है और अपने-अपने चिन्हों से सुशोभित है ऐसी प्रतिमा बुद्धिमानों को बनवानी चाहिए।

यक्षं च दक्षिणे पार्श्वे, वामे शासनदेवताम्।
लाञ्छनं पादपीठाधः, स्थापयेद् यस्य यद्भवेत।।[३]

अर्थ — जिनप्रतिमा के दांई ओर यक्ष की मूर्ति होनी चाहिए बांई ओर शासनदेवता अर्थात् यक्षी की मूर्ति होनी चाहिए। और सिंहासन के नीचे जिनकी प्रतिमा हो उनका चिन्ह होना चाहिए ।

स्थापयेदर्हतां छत्र-त्रयाशोकप्रकीर्णकम्।
पीठं भामण्डलं भाषां, पुष्पवृष्टिं च दुन्दुभिम्।।७६।।
स्थिरेतरार्चयोः पाद पीठस्याधो यथायथम्।
लांछनं दक्षिणे पार्श्वे, यक्षं यक्षीं च वामके।।७७।।[४]

अर्थ — अरहन्त प्रतिमा के निर्माण के साथ-साथ तीन छत्र, अशोकवृक्ष, सिंहासन, भामण्डल, चमर, दिव्यध्वनि, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि ये आठ प्रातिहार्य अंकित होने चाहिए। प्रतिमाएं चाहे चल हो चाहे अचल हों, परन्तु उनका चिन्ह सिंहासन के नीचे होना चाहिए। दाहिनी ओर यक्ष और बांई ओर यक्षी होनी चाहिए।

अथ बिम्बं जिनेन्द्रस्य, कर्तव्यं लक्षणान्वितम्।
कृत्वायतनसंस्थानं, तरुणांगं दिगम्बरम्।।
मूलप्रमाणपर्वाणां, कुर्यादष्टोत्तरं शतम्।
अंगोपांगविभागश्च, जिनबिम्बानुसारतः।।
प्रातिहार्याष्टकोपेतं, सम्पूर्णावयवं शुभम्।
भावरूपानुविद्धांगं, कारयेद्बिम्बमर्हतः।।
प्रातिहार्यं विना शुद्धं, सिद्धं विम्बमपीदृशम्।
सूरीणां पाठकानां च, साधूनां च यथागमम्।।

---

1. प्रतिष्ठा सारोद्धार, अध्याय-1, पृ. 7। 2. जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय। 3. वसुनन्दी प्रतिष्ठापाठ। 4. प्रतिष्ठासारोद्धार, अध्याय-1, पृ. 9।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्र देव की प्रतिमा लक्षण सहित बनवानी चाहिए। जो समचतुरस्र संस्थान हो, तरुणावस्था की हो, दिगम्बर हो, उसका आकार वास्तुशास्त्र के अनुसार दशताल प्रमाण हो, उसके आकार के एक सौ आठ भाग हों, अंग- उपांगों का विभाग प्रतिमा के अनुसार ही होना चाहिए। जो आठ प्रातिहार्यों से सुशोभित हो, जिसके सम्पूर्ण अवयव हों। जो शुभ हो उसका शरीर केवलज्ञान को प्रकाशित करने वाले भावों से परिपूर्ण हो, इस प्रकार अरहन्त की प्रतिमा बनवानी चाहिए। यदि उस प्रतिमा के साथ आठ प्रातिहार्य न हों तो वह सिद्धों की प्रतिमा हो जाती है। आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की प्रतिमा भी आगम के अनुसार बनानी चाहिए।

कारयेदर्हतो बिम्बं, प्रातिहार्यसमन्वितम्।
यक्षाणां देवतानां च, सर्वालंकारभूषितम्।।
स्ववाहनायुधोपेतं, कुर्यात्सर्वांगसुन्दरम्।

अर्थ—जिनप्रतिमा आठ प्रातिहार्य सहित होनी चाहिए। तथा यक्ष—यक्षी सहित होनी चाहिए। वे यक्ष और यक्षी समस्त अलंकारों से सुशोभित होने चाहिए, अपने-अपने आयुध और वाहन सहित हों तथा सर्वांग सुन्दर हों।

सैद्धं नु प्रातिहार्यांकयक्षयुग्मोज्झितं शुभम्।

अर्थ—जिस प्रतिमा में आठ प्रातिहार्य न हों और यक्ष यक्षी न हों उनको सिद्ध प्रतिमा कहते हैं।

वर्तमान में महान बीसपंथी आचार्य

बीसवीं शताब्दी में चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज दक्षिण में हुये। इन्होंने पंचामृत अभिषेक को प्रमाणिक सिद्ध किया और अपने शिष्यों को करने का उपदेश ही नहीं, आदेश भी दिया। वे आचार्य देव स्वयं चर्या से पूर्व भगवान का पंचामृत अभिषेक देखकर गंधोदक लेकर ही आहार को उठते थे।

मैं स्वयं सन् १९५५ में कुंथलगिरी में उन आचार्यदेव की यम सल्लेखना देखने के लिए गयी थी। वहां स्वयं देखा कि आचार्य श्री भगवान की प्रतिमा का पंचामृत अभिषेक अंत तक देखते रहे हैं। जब भगवान की प्रतिमा को चंदन का विलेपन किया जाता, कटोरा भर चंदन लगाया जाता तो वे भावविभोर हो उठते और गद्गद्वाणी से स्तुति पढ़ते हुये पुलकित हो जाते थे। वहां प्रतिदिन अभिषेक की बोली होती थी और श्रावक बोली लेकर सपत्नीक अभिषेक करते थे।

उनके प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के श्री चरणों में मुझे लगभग दो वर्ष रहने का सौभाग्य मिला। उन्हीं के करकमलों से मैंने सन् १९५६ में वैशाख कृष्णा द्वितीया के दिन आर्यिका दीक्षा ग्रहण की थी। आचार्य- श्री प्रतिदिन प्रातः श्रीजी का पंचामृत अभिषेक देखते थे उस समय संघ के ब्रह्मचारी सूरजमल जी प्रमुख रहते थे। संघ के अन्य ब्रह्मचारीगण एवं ब्रह्मचारिणी बाईयाँ भी अभिषेक करती थीं।

उन्हीं के पट्टाचार्य श्री शिवसागर जी महाराज भी प्रतिदिन भगवान का पंचामृत अभिषेक देखते थे। उसी परंपरा में तृतीय पट्टाधीश आचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज भी प्रतिदिन पंचामृत अभिषेक देखते थे। दिल्ली में लाल- मंदिर, दरियागंज स्थानों में भी सन् १९७४ में आचार्य श्री अपने विशाल संघ सहित ठहरे थे। वहां भी प्रतिदिन संघ के ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी वर्ग अभिषेक करके आचार्य श्री को दिखाते थे।

इन्हीं आचार्य धर्मसागर जी के पट्ट पर आसीन हुये चतुर्थ पट्टाचार्य श्री अजितसागर जी महाराज भी अपने संघ सहित प्रतिदिन प्रातः भगवान का पंचामृत अभिषेक देखते थे। पंचम पट्टाचार्य श्री श्रेयांससागर जी

महाराज प्रतिदिन पंचामृत अभिषेक देखते थे।

इन्हीं आचार्य शांतिसागर जी के शिष्यों में आचार्य श्री पायसागर जी, आचार्य श्री सुधर्मसागर जी, आचार्य श्री कुंथुसागर जी आदि आचार्य हुये हैं। ये सभी पंचामृत अभिषेक देखते थे। आ.कल्प चंद्रसागर जी महाराज तो इसके विशेष ही समर्थक प्रसिद्ध हुये हैं।

इसी प्रकार आचार्य श्री महावीरकीर्ति जी महाराज भी प्रतिदिन पंचामृत अभिषेक देखते थे। इनके शिष्य सन्मार्ग दिवाकर पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज ने अपने विशाल संघ सहित सारे भारत में भ्रमण किया था। दक्षिण से उत्तर तक शायद ही उन्होंने कोई ग्राम या तीर्थ छोड़ा हो। इनके संघ में ब्र. चित्राबाई जी प्रतिदिन आहार से पूर्व आचार्यश्री को अभिषेक दिखाती थी पुनः गंधोदक लेकर आचार्यश्री आहार के लिए निकलते थे।

ऐसे आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज भी प्रतिदिन अभिषेक देखते थे। आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी महाराज जाति से ओसवाल थे। ये दिगंबर बन गये, कट्टर तेरापंथी थे। पुनः आचार्य श्री वीरसागर जी द्वारा जयधवला पृष्ठ १०० का प्रमाण दिखाने पर प्रभावित होकर बीसपंथी श्रावक बनकर सन् १९५७ में इन्हीं आचार्यश्री से मुनि दीक्षा लेकर दिगंबर मुनि बन गये। आप भी बराबर पंचामृत अभिषेक देखते थे।

वर्तमान में आचार्य श्री वर्धमानसागर जी महाराज, आचार्य श्री अभिनंदनसागर जी महाराज, आचार्य श्री रयणसागर जी महाराज आदि भी बराबर पंचामृत अभिषेक देखते हैं। इनके संघों में जिनप्रतिमाएँ हैं।

आर्यिकाओं में आचार्य श्री शांतिसागर जी की शिष्या आ. चन्द्रमतीजी के संघ में भी जिनप्रतिमा थी वे भी अभिषेक देखती थीं। आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की शिष्या आर्यिका वीरमती जी भी प्रतिदिन पंचामृत अभिषेक देखती थीं। आचार्य श्री वीरसागर जी की शिष्या इंदुमती जी भी प्रतिदिन अभिषेक देखती थीं। ये स्त्रियों द्वारा अभिषेक करने के पक्ष में बहुत ही कट्टर थीं। इन्हीं के संघ में आ.सुपार्श्वमती जी भी पंचामृत अभिषेक के विषय में और स्त्रियों द्वारा अभिषेक करने के पक्ष में दृढ़ रही हैं।

मैंने स्वयं सन् १९५६ से ही आचार्य श्री वीरसागर जी की आज्ञा से संघ में जिनप्रतिमा रखी थी। प्रतिदिन संघस्थ ब्रह्मचारिणियाँ पंचामृत अभिषेक करती थीं। सन् ६३ में कलकत्ते के चातुर्मास में ब्र. प्यारेलाल जी भगतजी ने भी मेरी विचारधाराओं को बहुमान दिया था।

ब्र. प्यारेलाल भगत (कलकत्ता निवासी) जैसे प्रबुद्ध लोगों ने जब जय- धवला ग्रंथ की पंक्तियां देखीं तब यही कहा कि, "वास्तव में जो आगम में है वही सही है। मध्य के युग में शिथिलाचार के हो जाने से श्रावकों में विवेक कम हो जाने से यह तेरापंथ चलाया गया है किंतु यह मनगढ़ंत ही है। फिर भी हम लोग केवल मंदिरों में और जनता में आपस में विसंवाद न हो, फूट न पड़े इसीलिए तेरापंथी बने हुये हैं।"

आज तक भी मैंने गुरूपरंपरा को नहीं छोड़ा है। वास्तव में मैंने आचार्य श्री पूज्यपादस्वामी का पंचामृत अभिषेक पाठ देखकर अपनी श्रद्धा को मजबूत किया है।

आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की शिष्या गणिनी आर्यिका विजयमती जी भी पंचामृत अभिषेक प्रतिदिन कराती थीं।

मेरी शिष्या आर्यिका जिनमती जी प्रतिदिन पंचामृत अभिषेक देखती थीं। आर्यिका आदिमती जी भी पंचामृत अभिषेक देखती हैं। ये आदिमती जी अंगूरीबाई थीं संघ में मेरे पास आयी स्वयं ही आगमप्रमाण देखकर अभिषेक करने लगी थीं।

आर्यिका विशुद्धमती जी आचार्य श्री शिवसागर जी की शिष्या थीं। ये सागर महिलाश्रम की संचालिका सुमित्राबाई तेरापंथी थीं। आचार्य श्री के करकमलों से दीक्षा लेते समय आचार्य श्री की आज्ञा से इन्होंने स्वयं संघस्थ जिनप्रतिमा का पंचामृत अभिषेक किया था।

आगमपंथ — यहां तक मैंने अनेक प्रमाण पंचामृत अभिषेक के, शासन देव-देवी के दिये हैं। इस दृष्टि से ये सब प्रमाण आगम सम्मत हैं। अतः पंचामृत अभिषेक करने-कराने वाले अथवा उसका उपदेश, आदेश देने वाले हम लोग साधु-साध्वी वर्ग आगमपंथी हैं। यह स्पष्ट दिख रहा है।

बीसपंथ-तेरापंथ — आजकल इन उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार पंचामृत अभिषेक आदि करने वालों को बीसपंथी कहा जाता है और इनसे अतिरिक्त मात्र जल से अभिषेक करने वाले तथा फल, फूल नहीं चढ़ाने वालों को तेरापंथ कहा जाता है। यद्यपि यह पंथ-भेद किसी भी आगम ग्रंथ में — प्राचीन शास्त्र या पुराणों में देखने को नहीं मिलता है फिर भी आज वर्तमान में प्रचलित है।

पंडित सदासुख जी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार की वचनिका हिन्दी टीका में दोनों पंथों को आगम सम्मत माना है और अपनी-अपनी रुचि अनुसार दोनों को पूजा करने के लिए कहा है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार-चतुर्थ अधिकार

इहां ऐसा विशेष और जानना जो जिनेन्द्र के पूजन समस्त च्यार प्रकार के देव तो कल्पवृक्षनितैं उपजे गन्ध, पुष्प, फलादि सामग्री करि पूजन करै हैं अर सौधर्म इन्द्रादिक सम्यग्दृष्टि देव हैं ते तो जिनेन्द्र की भक्ति पूजन स्तवन करके ही अपनी देवपर्यायकूं सफल मानैं। अर मनुष्यनिमें चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्रादिक राजेन्द्र हैं ते मोतीनिके अक्षत रत्ननिके पुष्प, फल, दीपकादिक तथा अमृतपिंडादिकरि जिनेन्द्र का पूजन स्तवन नृत्य गानादिककरि महापुण्य उपार्जन करै हैं। अर अन्य मनुष्यिनमें हूँ जिनके पुण्य के उदयतैं सम्यक् उपदेश के ग्रहणतैं जिनेन्द्र के आराधना में भक्ति उत्पन्न होय ते समस्त जाति, कुल के धारक यथायोग्य पूजन करैं हैं। समस्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपना-अपना सामर्थ्य अपना-अपना ज्ञान, कुल, बुद्धि, सम्पदा, संगति देश-काल के योग्य अनेक स्त्री-पुरुष नपुंसक धनाढ्य निर्धन सरोग नीरोग जिनेन्द्र का आराधना करें हैं। केई ग्राम निवासी हैं, केई नगरनिवासी हैं, केई वननिवासी हैं, केई अति छोटे ग्राम में बसने वाले हैं तिन में केई तो अतिउज्ज्वल अष्टप्रकार सामग्री बनाय पूजन के पाठ पढ़िकरि पूजन करैं हैं केई कोरा सूका जव, गेहूं, चना, मक्का, बाजरा, उड़द, मूंग, मोठ इत्यादिक धान्य की मूठी ल्याय जिनेन्द्र को चढ़ावै हैं केई रोटी चढ़ावै हैं, केई राबड़ी चढ़ावें हैं, केई अपनी बाड़ीतैं पुष्प ल्याय चढ़ावें है केई नाना प्रकार के हरित फल चढ़ावें हैं केई जल चढ़ावें हैं। केई दाल, भात अनेक व्यंजन चढ़ावै हैं, केई नाना मेवा चढ़ावै हैं, केई मोतीनिके अक्षत माणिकनिके दीपक सुवर्ण रूपानिके तथा पंचप्रकार रत्नानि करि जड़े पुष्प फलादि चढ़ावैं हैं केई दुग्ध केई दही केई घृत चढ़ावें हैं, केई नाना प्रकार के घेवर, लाडू, बरफी, पूड़ी, पूवा इत्यादिक चढावैं हैं, केई वंदना मात्र ही करै हैं, केई स्तवन केई गीत नृत्य वादित्र ही करैं, केई अस्पर्श्य शूद्रादिक मंदिर के बाह्य ही रहि मंदिर के शिखर की तथा शिखरनि में जिनेन्द्र के प्रतिबिंब का ही दर्शन वन्दना करें हैं। ऐसे जैसा ज्ञान जैसी संगति जैसी सामर्थ्य जैसी धन सम्पदा जैसी शक्ति तिस प्रमाण देशकाल के योग्य जिनेन्द्र का आराधक मनुष्य हैं ते वीतराग का दर्शन स्तवन पूजन वन्दनाकरि भावनिके अनुकूल उत्तम, मध्यम, जघन्य

पुण्य का उपार्जन करे हैं। यो जिनेन्द्र का धर्म, जाति, कुल के अधीन नाहीं, धनसम्पदा के अधीन नाहीं वाह्यक्रिया के अधीन नाहीं है। अपने परिणामनिकी विशुद्धता के अनुकूल फलै है। कोऊ धनाढ्य-पुरुष अभिमानी होय यश का इच्छुक होय मोतीनिके अक्षत माणिकानिके दीपक रत्नसुवर्ण के पुष्पनिकरि पूजन करै है अनेक वादित्र नृत्यगान करि बड़ी प्रभावना करें हैं तो हू अल्प उपार्जन करैं, वा अल्प हू नाहीं करै, केवल कर्म का बंध हो करै हैं कषायनिके अनुकूल बंध होय है। केई अपने भावनिकी विशुद्धतातैं अति भक्तिरूप हुआ कोऊ एक जल फलादि करि वा अन्नमात्र करि वा स्तवनमात्रकरि महापुण्य उपार्जन करै हैं तथा अनेक भवनिके संचय किये पाप कर्म की निर्जरा करै हैं, धनकरि पुण्य मोल नाहीं आवै है। जे निर्वांछक हैं मन्दकषायी, ख्याति लाभ पूजादिकूं नाहीं बांछा करता केवल परमेष्ठी का गुणां में अनुरागी हैं तिनके जिनपूजन अतिशयरूप फलकूं फलै है।

अब यहां जिन पूजन सचित्त द्रव्यनितैं हु अर अचित्तद्रव्यनितैं हू आगम में कहया है जे सचित्त के दोषतैं भयभीत हैं। यत्नाचारी हैं ते तो प्रासुक जल गन्ध अक्षतकूं चन्दन कुंकुमादिकतैं लिप्त करि सुगंध रंगीन में पुष्पनिका संकल्पकरि पुष्पनितैं पूजैं है तथा आगम में कहे सुवर्ण के पुष्प वा रूपा के पुष्प तथा रत्नजटित सुवर्ण के पुष्प तथा लवंगादिक अनेक मनोहर पुष्पनिकरि पूजन करै हैं अरु प्रासुक ही बहु आरम्भादिक रहित प्रमाणीक नैवेद्य करि पूजन करै है। बहुरि रत्ननि के दीपक वा सुवर्ण रूपामय दीपकनि करि पूजन करै हैं तथा सचिक्कणद्रव्यनिके केसर के रंगादितैं दीप का संकल्पकरि पूजन करैं हैं तथा चन्दन अगरादिकूं चढ़ावै हैं तथा बादाम, जायफल, पूंगीफलादिक अवधि शुद्ध प्रासुक फलनितैं पूजन करै हैं ऐसैं तो अचित्त द्रव्यनिकरि पूजन करै हैं। बहुरि जे सचित्त द्रव्यनितैं पूजन करै हैं ते जल, गन्ध, अक्षतादि उज्ज्वल द्रव्यनिकरि पूजन करै हैं अर चमेली, चंपक, कमल, सोनजाई इत्यादिक सचित्त पुष्पनितैं पूजन करै है घृतका दीपक तथा कपूरादिक दीपकनिकरि आरती उतारै हैं अर सचित्त आम, केला, दाडिमादिक फलकरि पूजन करै हैं धूपायनि में धूपदहन करै हैं ऐसे सचित्त द्रव्यनिकरि हू पूजन करिये हैं दोऊ प्रकार आगम की आज्ञा-प्रमाण सनातन मार्ग है अपने भावनि के अधीन पुण्य बंध के कारण है।

तेरापंथ—तेरापंथी की उत्पत्ति कब और कैसे हुयी? इसके लिए आप पढ़ें पं. बनारसीदास द्वारा लिखित स्वकथा जो कि 'अर्धकथानक' नाम से छपी है। इसमें विक्रम संवत् १६७५ में तेरहपंथ की स्थापना मानी है।

यद्यपि आगम में बीसपंथ से प्रचलित मान्यता के प्रमाण मौजूद हैं तेरापंथ के नहीं हैं फिर भी आज के युग में ईर्ष्या, द्वेष, भाव छोड़कर धर्मसहिष्णुता को धारण करते हुये बीसपंथियों को मिथ्यादृष्टि नहीं कहना चाहिए।

१४. सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है

(दर्शनपाहुड़ के आधार से)

जिस प्रकार से मकान का मूल आधार नींव है और वृक्ष का मूल आधार पाताल तक गई हुई उसकी जड़ें हैं उसी प्रकार से धर्म का मूल आधार सम्यग्दर्शन है क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना धर्मरूपी मकान अथवा धर्मरूपी वृक्ष ठहर नहीं सकता है। जीवरक्षारूप आत्मा का परिणाम दया है, वह दया ही धर्म का लक्षण है। तीर्थंकर देव ने तथा अन्य केवलज्ञानियों ने अपने गणधर, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि शिष्यों को यही उपदेशा है। इसे अपने कानों से सुनकर सम्यग्दर्शन जिसके पास नहीं है वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है और जो धर्मात्मा नहीं है वह वंदना या नमस्कार का पात्र कैसे हो सकता है। सम्यग्दर्शन शून्य मनुष्य को तो आहारदान आदि भी नहीं देना चाहिए। क्योंकि कहा भी है— "मिथ्यादृग्भ्योददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्धकः।" मिथ्यादृष्टियों को दान देने वाला दाता मिथ्यात्व को बढ़ाने वाला है।

अब प्रश्न यह होता है कि सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य कौन है ? उसका उत्तर यह है कि जो तीर्थंकर परमदेव की प्रतिमा नहीं मानते हैं, पुष्पादि सामग्री से उनकी पूजा नहीं करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। जो कहते हैं कि पंचमकाल में मुनि नहीं होते हैं, व्रतों से क्या प्रयोजन है ? आत्मा का ही पोषण करना चाहिए उसे दुःख नहीं देना चाहिए। मयूर पंख की बनी पिच्छी सुन्दर नहीं होती है सूत की पिच्छिका ही ग्राह्य है मयूरपंख की पिच्छिका से तो हिंसा होती है। शासन देवता पूजनीय नहीं हैं। आत्मा ही देव है अन्यत्र कोई देव नहीं है। भगवान महावीर के बाद आठ केवली हुए हैं न कि तीन। महापुराण आदि विकथायें हैं, इत्यादि प्रकार से जो उत्सूत्र कथन करने वाले हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि जिनागम में जिनप्रतिमाओं के दर्शन, वंदन, नमस्कार आदि की बहुत ही महिमा बताई है। आचार्यों ने कहा है कि जिस प्रकार चिंतामणि आदि रत्न अचेतन होकर भी फलदायी हैं वैसे ही जिनेन्द्रदेव की कृत्रिम व अकृत्रिम प्रतिमाओं के दर्शन से निकाचित मिथ्यात्व आदि कर्मों के सौ-सौ टुकड़े हो जाते हैं तथा उनकी पूजा में अष्टद्रव्य सामग्री में पुष्प, चंदन, नैवेद्य, दीप, धूप, फल आदि का स्पष्ट कथन है। रामचंद्र आदि महापुरुषों ने पुष्पादि से जिनप्रतिमाओं की पूजा की है, जिनपूजा का फल अचिन्त्य है। इसके लिए मेंढक का उदाहरण सर्वजन सुप्रसिद्ध ही है।

उसी प्रकार से इस पंचमकाल में मुनि हैं, होते हैं और होंगे ही। श्रीगुणभद्र सूरि ने भी कहा है—जो स्वयं मोह को छोड़कर कुलपर्वतों के समान पृथ्वी का उद्धार करने वाले हैं, समुद्र के समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों के स्वामी हैं, आकाश के समान व्यापक होने से किन्हीं के द्वारा स्पष्ट न होकर विश्व की विश्रांति के कारण हैं, ऐसे अपूर्व गुणों के धारक प्राचीन मुनियों के निकट में रहने वाले कितने ही साधु आज भी विद्यमान हैं। श्री सोमदेव सूरि ने भी कहा है कि—

'कलौ काले चले चित्ते देहे चान्नादि कीटके।'
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः।।

यह कलिकाल है, मनुष्यों का चित्त अत्यंत चंचल है और शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है। बड़े आश्चर्य की बात है कि आज भी जिनमुद्रा के धारक दिगम्बर साधु दिख रहे हैं। श्री कुन्दकुन्द देव ने भी मोक्षपाहुड़ में कहा है कि—

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।'
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी।।

भरतक्षेत्र में इस दुःषम काल में साधुओं को धर्मध्यान होता है, वे आत्मा के स्वभाव में स्थित होते हैं किन्तु ऐसा जो नहीं मानते हैं वे अज्ञानी हैं।

उसी प्रकार से व्रतों के माहात्म्य का वर्णन श्री कुंदकुंद के शब्दों में ही देखिए—'व्रतों से स्वर्ग को प्राप्त करना अच्छा है किन्तु अव्रती रहकर नरक जाना अच्छा नहीं है[१]।' दूसरी बात यह है कि व्रती नियम से स्वर्ग ही जाता है अन्य तीन गतियों में नहीं जाता। कहा भी है—

अणुव्रत और महाव्रत को प्राप्त करने वाला जीव देवायु का ही बंध करता है अन्य तीन आयु का नहीं। हां, महाव्रती तो कदाचित् द्रव्यादि सामग्री के अनुकूल होने से मोक्ष प्राप्त कर लेता है लेकिन आज इस काल में मोक्ष संभव नहीं है। उसी प्रकार से कायक्लेश आदि तप के द्वारा आत्मा को क्लेश पहुंचाने का भी जैनशासन में कथन है। प्रकारांतर से देखा जाए तो सम्यग्दृष्टि शरीर से भिन्न आत्मा की श्रद्धा करने वाले हैं अतः शरीर आदि के क्लेश में आत्मा को दुःखी नहीं मानते हैं तभी तो वे केशलोंच, उपवास आदि से शरीर के शोषण में लगे रहते हैं। इसी प्रकार से श्री कुंदकुंददेव ने मूलाचार में मयूरपिच्छी के पांच गुण बतलाए हैं और मुनियों को उसी के लेने का विधान किया है, सूतादि की पिच्छी नहीं मानी है। यथा—धूलि और पसीना को ग्रहण नहीं करना, मृदु होना, सुकुमार होना, लघु—वजन में हल्की होना जिसमें ये पांच गुण होते हैं ऐसी मयूर पंखों की पिच्छी जीवदया का साधन होने से संयम का उपकरण है।

जैनाचार्यों ने शासन देवता को भी उनके योग्य अर्घ्य आदि देकर पूजने का विधान किया है, हां! जिनेन्द्रदेव सदृश वे उपासनीय नहीं हैं। उसी प्रकार से जब तक आत्मा शुद्धोपयोग में स्थिर होने में असमर्थ है तब तक के लिए पंचपरमेष्ठी परमदेव माने गये हैं उनकी वंदना, ध्यान करना आदि का महामुनियों के लिए भी विधान है। श्री गौतमस्वामी ने स्वयं ही चैत्यभक्ति में पंचपरमेष्ठी, कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाओं की विशेष भक्ति-वंदना की है। भगवान महावीर के बाद गौतमस्वामी, सुधर्माचार्य और जम्बूस्वामी ये तीन ही अनुबद्ध केवली हुए हैं। महापुराण आदि कथायें प्रथमानुयोग के अन्तर्गत होने से विकथायें नहीं हैं, ऐसा समझना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यही हुआ कि जो ज्ञान के मद में मदांध होकर उत्सूत्र प्ररूपणा करने लगते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, मान्य नहीं हैं, उनके वचन सुनना भी नहीं चाहिए। पुनः नमस्कार की बात तो बहुत ही दूर है। जैनशासन के ज्ञाता को यथाशक्य उनका प्रतिकार करते हुए जिनागम के अनुसार निर्दोष कथन करना चाहिए।

'जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट कहे जाते हैं क्योंकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीवों को निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता है। चारित्र से भ्रष्ट तो सिद्ध हो सकते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट सिद्ध नहीं हो सकते हैं।[२]'

दर्शनप्राभृत की इस तृतीय गाथा में श्री कुंदकुंददेव सम्यग्दर्शन की महत्ता को बतलाते हुए ही ऐसा कह रहे हैं। उसके सही अभिप्राय को समझना आवश्यक है।

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से च्युत हो जाते हैं वे कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन काल तक संसार में परिभ्रमण कर सकते हैं, जो अनन्तकाल के सदृश बहुत ही बड़ा माना गया है। जैसे कि मरीचिकुमार सम्यक्त्व से च्युत होकर असंख्यातों भवों तक एकेन्द्रियादि दुर्गतियों में भटकता रहा है। यही कारण है कि आचार्यदेव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को दीर्घसंसारी मान रहे हैं किन्तु जो सम्यग्दृष्टि तो हैं कारणवश चारित्र से भ्रष्ट

१. मोक्षपाहुड़ गाथा २५। २. दर्शनप्राभृत गाथा ३।

हैं अर्थात् या तो उन्होंने अणुव्रत-महाव्रत लिया ही नहीं है इसलिए चारित्र से शून्य हैं तो भी वे सम्यग्दृष्टि होने के नाते संसार, शरीर और भोगों से उदासीन रहते हैं इसलिए किसी न किसी दिन वे चारित्र ग्रहण कर मोक्ष को प्राप्त कर ही लेंगे क्योंकि सम्यग्दृष्टि यदि चारित्रमोह के तीव्रोदय से चारित्र ग्रहण नहीं कर पाते हैं तो भी वे चारित्रधारी साधुओं की, व्रतिकों की निंदा कथमपि नहीं करते हैं और जो चारित्रधारियों की निन्दा या उपेक्षा करते हैं वे सम्यग्दृष्टि ही नहीं हैं ऐसा समझना।

अथवा यदि कदाचित् कोई सम्यग्दृष्टि अणुव्रती-महाव्रती बनकर उन व्रतों में दोष लगा देता है या कदाचित् उन व्रतों को भंग कर देता है तो भी वह कालांतर में गुरु से प्रायश्चित लेकर या पुनर्व्रत ग्रहण कर पुनर्दीक्षा आदि लेकर शुद्ध हो जाता है तो उसे मोक्ष का अधिकारी माना जा सकता है न कि चारित्रभ्रष्ट में ही क्योंकि रत्नत्रय की पूर्णता ही मोक्ष का कारण है मात्र सम्यग्दर्शन अकेला नहीं है यह बात अन्यत्र ग्रन्थों में वर्णित है। यहां समझने की बात यही है कि चारित्र से भ्रष्ट या शून्य मनुष्य सम्यक्त्व के प्रभाव से बहुत जल्दी ही अपने चारित्र को सुधार सकता है किन्तु सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाने के बाद तो यदि वह निगोद आदि पर्याय में, एकेन्द्रिय आदि स्थावर योनियों में चला गया तो उसे वहां समझाने वाला कौन मिलेगा ? टीकाकार श्री श्रुतसागर आचार्य ने भी चारित्रभ्रष्ट में महाराज श्रेणिक आदि का उदाहरण रखा है। राजा श्रेणिक चारित्र से भ्रष्ट होकर चारित्र से हीन थे और सम्यक्त्व से सहित थे अतः केवली के पादमूल में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके आगे तीर्थंकर होने वाले हैं। ऐसे ही पुष्पडाल मुनि का उदाहरण लिया जा सकता है कि जो द्रव्य से चारित्रवान होते हुए भाव से पत्नी के साथ भोगों की आकांक्षा लिए हुए थे। उनको भी वारिषेण मुनि ने स्थितिकरण करके सच्चे भावलिंगी चारित्रवान बना दिया था, अथवा श्री समन्तभद्र स्वामी जैसे महामुनि का ही उदाहरण लीजिए। गुरु की आज्ञा से भस्मक जैसी महाव्याधि को दूर करने के लिए ही उन्होंने अन्य वेष धारण किया था। सम्यक्त्व के प्रभाव से ही चन्द्रप्रभु भगवान की मूर्ति प्रगट कर देने की योग्यता रखने वाले श्री समन्तभद्र स्वामी सम्यग्दर्शन से सहित थे इसीलिए उन्होंने पुनः चारित्र ग्रहण कर लिया था और वे मोक्ष के अधिकारी माने गये हैं। इसलिए 'चारित्र भ्रष्ट सिद्ध हो जाते हैं इस कथन से यहां पर ब्रह्मचर्य आदि से भ्रष्ट व्रती या मुनि को नहीं लेना चाहिए क्योंकि महाव्रत में भ्रष्ट हुए मुनि तो सम्यग्दृष्टि न रहकर मिथ्यादृष्टि ही हो जायेंगे। उत्कृष्ट मुनिपद में या व्रती पद में अनर्गल चेष्टा करने वाले तो महापापी ही माने जायेंगे।

भगवान आदिनाथ के समय दीक्षा लेकर नग्न वेष में फल खाकर नदी का पानी पीकर अनर्गल चर्या करते हुए साधुओं को देखकर वनदेवता ने स्पष्ट निषेध किया था कि तुम इस निर्ग्रंथ दिगम्बर वेष में रहकर यह अनर्गल चेष्टा मत करो यह तीन लोक पूज्य अर्हन्त मुद्रा है। तब उन साधुओं ने तापसियों के नाना वेष बनाकर ही पाखण्ड मत चलाया था। इससे स्पष्ट है कि दिगम्बर वेश में अनर्गल चर्या कथमपि ग्राह्य नहीं है।

वास्तव में छियानवे हजार रानियों का भोग करने वाला चक्रवर्ती, पंचमगुणस्थानवर्ती निर्दोष श्रावक कहा जाता है और वह दान, पूजादि सत्कर्म करने से पुण्यवान है किन्तु ब्रह्मचारी के वेष में रहकर यदि कोई परस्त्री का सेवन कर लेता है तो वह पापी, व्यभिचारी नीच कहलाता है। वह व्रती श्रावक या अव्रती सम्यग्दृष्टि की कोटि में नहीं आ सकता है क्योंकि अनर्गल चेष्टा होने से वह मिथ्यादृष्टि है, धर्म से शून्य है। पद विरुद्ध क्रिया करने से सम्यग्दृष्टि संज्ञा उसे कैसे आ सकती है ? इसलिए यहां पर चारित्रभ्रष्ट से चारित्रहीन अर्थ लेना ही उपयोगी है और जब वह चारित्र ग्रहण कर लेता है तभी मोक्ष प्राप्त कर लेता है चारित्र बिना नहीं।

टीकाकार का कहना है कि इसलिए श्रावकों के लिए दान, पूजा आदि सत्क्रियाओं का निषेध कभी नहीं करना चाहिए। सदैव आस्तिक्य भाव से सहित रहना चाहिए।

आगे कहते हैं—

'जो सम्यक्त्वरूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे बहुत प्रकार के शास्त्रों को जानते हुए भी आराधना से रहित हैं अतः वे वहीं के वहीं भ्रमण करते रहते हैं।'[१]

टीकाकार कहते हैं कि जो मनुष्य सम्यक्त्व रूपी रत्न से शून्य होकर दान, पूजा आदि प्रशस्त कार्यों का निषेध करते हैं वे तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, साहित्य और सिद्धान्त आदि ग्रन्थों को जानते हुए भी जिनेन्द्र भगवान के वचनों की श्रद्धारूप आराधना से शून्य होने के कारण नरक, निगोद आदि दुर्गतियों में ही घूमते रहते हैं।

आराधना के चार भेद हैं—दर्शन आराधना, ज्ञान आराधना, चारित्र आराधना और तप आराधना। इनमें से जब तक सम्यग्दर्शन नहीं है तब तक पहली आराधना ही नहीं है तो पुनः आगे की आराधनाओं के न मिलने से वह मनुष्य अनंत संसार में ही भ्रमण करता रहता है। टीकाकार का कहना है कि जो मनुष्य दान, पूजा आदि प्रशस्त क्रियाओं का निषेध करके अनर्गल उपदेश देते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं अतः उनके कोई भी आराधना नहीं है। वास्तव में श्रावक को निश्चयरूप आत्मधर्म की प्राप्ति हो नहीं सकती है, वह शुद्ध आत्मतत्त्व की श्रद्धा करते हुए भी शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव और ध्यान कर नहीं सकता है अतएव उसके लिए ग्यारह प्रतिमाओं की चर्यारूप व्यवहार धर्म ही उपादेय है। वह एकदेश चारित्र के बल से ही अपनी आत्मशक्ति को बढ़ाता है अतः वह जब तक गृहस्थ है तब तक उसे दान, पूजा आदि क्रियाओं को करना ही है। आचार्यों ने श्रावक के पूजा, दान, शील और उपवास ये चार धर्म माने हैं। यदि कोई इन क्रियाओं का निषेध करते हैं तो वे उत्सूत्र प्ररूपणा करने से मिथ्यादृष्टि ही हैं ऐसा अर्थ फलित होता है। अतः आगम के अनुकूल चर्या करते हुए उसी के अनुरूप उपदेश देकर अपने सम्यक्त्वरूपी रत्न को सुरक्षित रखना चाहिए।

सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य अच्छी तरह उग्र-उग्र तपश्चरण करते हुए भी हजार करोड़ वर्षों में भी बोधि को नहीं प्राप्त कर पाते हैं।[२]

जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से पतित हैं वे भले ही कठिन से कठिन मासोपवास आदि विशिष्ट तपों का आचरण करते हैं तो भी हजार करोड़ वर्षों में भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय से युक्त बोधि को नहीं प्राप्त कर पाते हैं अर्थात् सम्यक्त्व के बिना अनंतकाल पुरुषार्थ करके भी मुक्ति को नहीं प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा समझ करके निश्चय धर्म में प्रधानभूत दान, पूजा आदि व्यवहार धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। तात्पर्य यही है कि निश्चय धर्म को प्राप्त कराने के लिए कारणभूत ऐसा व्यवहार धर्म सर्वथा उपादेय है क्योंकि मुनियों के लिए तो निश्चय धर्म की प्राप्ति तक ही वह साधन माना गया है लेकिन श्रावकों के लिए तो पंचसूना के पाप को हल्का करने के लिए दान, पूजादि क्रियायें अवश्य करने योग्य ही हैं। यदि कोई श्रावक पद में रहकर भी दान, पूजा को छोड़कर अपने आपको गुरु कहलाकर पूजा कराने लगता है या दान, पूजादि को हेय कहकर छोड़ने का उपदेश देने लगता है तो वह आचार्यों के कथनानुसार सम्यग्दृष्टि नहीं है।

'जो भव्य जीव सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य को वृद्धिंगत करते हुए कलिकाल के कलुषित पाप से रहित होते हैं वे सभी महापुरुष शीघ्र ही उत्कृष्ट ज्ञानी हो जाते हैं।'[३]

---

१. दर्शनप्राभृत गाथा ४। २. दर्शनप्राभृत गाथा ५। ३. दर्शनप्राभृत गाथा ६।

जिन वचन में श्रद्धा रखना सम्यक्त्व है, जिनागम का पठन-पाठन आदि करना ज्ञान है, पदार्थ की सामान्य सत्ता का अवलोकन होना दर्शन है, अपनी शारीरिक शक्ति को नहीं छिपाना बल है और आत्मा की शक्ति का नाम वीर्य है। जिन के ये गुण वृद्धिंगत हो रहे हैं वे भव्य जीव हैं, वे ही कलिकाल में प्रगट हुए नाना प्रकार से मिथ्यात्वरूप पाप से बच सकते हैं।

टीकाकार का कहना है कि इस पंचमकाल में जो शौच धर्म से रहित हैं — मलिन हैं, वर्णव्यवस्था का लोप करके चाहे जहां भिक्षा से भोजन ग्रहण कर लेते हैं, मांसाहारी लोगों के यहां भी प्रासुक अन्न ले लेते हैं, म्लेच्छ और श्मशानवासी लोगों के यहां भी भोजन कर लेते हैं वे धर्म से शून्य हैं, पापी हैं और जो देव, शास्त्र, गुरु की पूजा का निषेध करने वाले हैं वे सम्यग्दर्शन से रहित होने से मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं। इससे विपरीत शौचधर्म को धारण करने वाले, वर्णसंकर, जातिसंकर, सूतक-पातक आदि दोषों से रहित श्रावक के यहां निर्दोष प्रासुक आहार लेने वाले मुनि ही मोक्षमार्गी हैं।

'जिसके हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह निरंतर प्रवाहित रहता है उसका कर्मरूपी बालू का बांध बद्ध होने पर भी नष्ट हो जाता है।[१]'

संसाररूपी संताप का निवारण करने वाला होने से तथा पापरूपी कलंक का प्रक्षालन करने वाला होने से सम्यग्दर्शन निर्मल, शीतल और स्वादिष्ट पानी के समान है। जिस मनुष्य के हृदय में जलपूर के समान सम्यग्दर्शन सदा प्रवाहित रहता है उसके चिरकाल से संचित भी पापकर्मरूपी बालू का बांध नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कोरे घड़े पर स्थित धूली चिपकती नहीं है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि से लगा हुआ पापकर्म बंध को प्राप्त नहीं होता है, यह सब सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है। अतः परदेव को नमस्कार करना भी पाप है क्योंकि हिंसादि पांचों पापों की अपेक्षा मिथ्यात्वी देव को नमस्कार करना महापाप है। तात्पर्य यही है कि जो समीचीन मार्ग पर चलकर सच्चे सुख को प्राप्त कर चुके हैं वे ही सच्चे देव हैं किन्तु स्त्री, भोजन और युद्ध आदि में आसक्त हुए प्राणी 'देव' भगवान संज्ञा को नहीं प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि असमीचीन प्राणी को देव मानकर नमस्कार करना मिथ्यात्व है, महापाप है।

'जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, सम्यग्ज्ञान से भ्रष्ट हैं और सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट हैं अर्थात् इन तीनों से शून्य हैं वे भ्रष्टों में भी विशिष्ट भ्रष्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भी भ्रष्ट कर देते हैं।[२]'

सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा अथवा निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा दो भेद हैं। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा तीन भेद हैं। आज्ञा सम्यक्त्व, मार्ग सम्यक्त्व आदि की अपेक्षा दश भेद हैं। ज्ञान के शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभय शुद्धि, काल शुद्धि, उपधान शुद्धि, विनय शुद्धि, अनिन्हव शुद्धि और बहुमान शुद्धि की अपेक्षा से आठ भेद हैं। चारित्र के पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति रूप से तेरह भेद होते हैं। जो इन रत्नत्रय से भ्रष्ट हैं वे अन्य लोगों को भी भ्रष्ट कर देते हैं अथवा यदि श्रावकों के लिए कहा जाए तो श्रावक सम्यग्दर्शन, ज्ञान तथा पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत से बारह व्रतरूप एकदेश चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे अन्य अपने आश्रित को भी उन्मार्गगामी ही बनायेंगे।

जो मनुष्य धर्म के अभ्यासी, संयम, तप, नियम, योग और उत्तरगुणों के धारी महामुनियों के दोष कहते हैं — उनमें मिथ्या दोषों का आरोप करते हैं वे स्वयं तो चारित्र से पतित हैं ही, दूसरों को भी चारित्र से पतित कर देते हैं।

---

१. दर्शनप्राभृत गाथा ७। २. दर्शनप्राभृत गाथा ८।

धर्म का लक्षण कहते हुए यह गाथा स्मरणीय है—

वत्थु सहावो धम्मो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

वस्तु का स्वभाव धर्म है इस लक्षण के अनुसार आत्मा की वीतराग परिणति ही धर्म है, जो शुद्धोपयोगी महामुनि के अनुभव में ही आती है अथवा उत्तम क्षमा आदि दशलक्षणरूप धर्म है अथवा चारित्र ही धर्म है इस लक्षण के अनुसार भी सामायिक आदि पांच प्रकार का चारित्र धर्म है या पांच महाव्रत आदि रूप तेरह प्रकार का चारित्र धर्म है गृहस्थ का विकलचारित्र तो एकदेश धर्म है जो कि व्यवहार चारित्र ही है। यहां प्रवचनसार के अनुसार तो मोह, क्षोभ से रहित आत्मा की शुद्ध परिणति ही धर्म है जो कि शुक्लध्यान में ही संभव है अथवा जीवों की रक्षा करना धर्म है। यह जीव दया लक्षण धर्म ही आजकल श्रावक और मुनियों में पाया जाता है। बाकी के धर्म तो कुछ-कुछ रूप में ही पाये जाते हैं।

पांच स्थावर और एक त्रस ऐसे षट्काय के जीवों की रक्षा करना और पांच इन्द्रिय तथा मन को वश में रखना ये संयम कहलाता है।

अनशन, अवमौदर्य, वृत्तपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप हैं।

किसी वस्तु का किसी निश्चित समय तक के लिए त्याग करना नियम कहलाता है अथवा षट् आवश्यक क्रियाओं को नियमित समय पर करना नियम है।

वर्षाकाल में एक जगह रहना योग है अथवा अध्यात्मध्यान को योग कहते हैं।

पद्मनंदि आचार्य ने कहा भी है—

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः।।

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त का निरोध और शुद्धोपयोग ये सब एक अर्थ को कहने वाले शब्द हैं अर्थात् इन सबका एक ही अर्थ होता है जो कि निर्विकल्पध्यान में महामुनियों के शुक्लध्यानरूप से विवक्षित है।

'गुण' शब्द से टीकाकार ने चौरासी लाख उत्तर गुणों को लिया है।

जो मुनि उपर्युक्त प्रकार से धर्म, संयम आदि से सहित हैं अथवा आज के युग में जो मुनि अपने अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं, नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारी हैं, ऐसे मुनियों की जो निन्दा करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंगी, मिथ्यात्वी कहते हैं। उनकी पूजा करने का, उन्हें आहार देने का विरोध करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, रत्नत्रय से वंचित करने वाले हैं। जो स्वयं अव्रती होकर भी अपने को सद्गुरु कहलाते हैं, अपने पैर पुजवाते हैं और दिगम्बर मुनियों की आलोचना करते हैं वे रत्नत्रय से रहित हैं और उनके अनुयायी भी रत्नत्रय तो क्या सम्यग्दर्शन से भी शून्य ही हैं ऐसा समझना।

जिस प्रकार मूल—जड़ के नष्ट हो जाने से वृक्ष की शाखा आदि परिवार की वृद्धि नहीं होती है उसी प्रकार जो जिनदर्शन अर्थात् जिनेन्द्रदेव के मत से अथवा सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं—रहित हैं, वे मूल से ही रहित हैं वे सिद्ध नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार मूल अर्थात् जड़ के होने से वृक्ष के स्कंध, शाखा आदि परिवार का बहुतरूप से विस्तार फैलता चला जाता है उसी प्रकार से अर्हन्त भगवान का मत अथवा

सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग का मूल कहा गया है।[१]

जिस प्रकार मूल से ही वृक्ष का तना वृद्धि को प्राप्त होता है और मूल से ही वृक्ष की शाखाओं और उपशाखाओं का समूह पत्ते, पुष्प आदि से युक्त होता है उसी प्रकार जिनदर्शन ही रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग को फलित करने वाला है।

जो स्वयं तो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट—रहित है और सम्यग्दृष्टियों को सम्यक्त्व सहित मुनियों को नमस्कार नहीं करते हैं वे अव्यक्तभाषी अथवा गूँगे होते हैं तथा उनके लिए रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लभ है।[२]

सम्यग्दर्शन के निसर्गज, अधिगमज की अपेक्षा दो भेद हैं। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक की अपेक्षा तीन भेद हैं। आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ़ और परमावगाढ़ इनकी अपेक्षा दश भेद हैं।

इन सम्यक्त्वों से जो भ्रष्ट हैं—रहित हैं, मयूरपिच्छिका, कमण्डलु और जिनशास्त्र इन संयम, शौच और ज्ञान के उपकरणों से रहित हैं, गृहस्थ वेष के धारी हैं अर्थात् स्वयं अव्रती हैं और संयमी सम्यग्दृष्टि मुनियों के चरणयुगलों में नहीं झुकते हैं, उन्हें नमोस्तु कहकर नमस्कार नहीं करते हैं, अभिमान से खड़े रहते हैं, वे अस्पष्टभाषी गूंगे हो जाते हैं अर्थात् बोलने और सुनने में असमर्थ हो जाते हैं पुनः उन्हें लाखों जन्म में बोधि रत्नत्रय की प्राप्ति होना कठिन हो जाता है।

जो जानते हुए भी लज्जा, गर्व अथवा भय के कारण उन मिथ्यादृष्टियों के चरणों में पड़ते हैं, उनको भी रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि वे पाप की अनुमोदना करने वाले हैं।[३]

जो जानते हैं कि ये सम्यग्दर्शन से रहित हैं—जिनमुद्रा स्वरूप नग्नत्व, मयूर पिच्छिका, कमंडलु और जैनशास्त्र के ग्रहण से रहित कुलिंगी हैं, गृहस्थ जैसे वस्त्र आदि वेष को धारण करने वाले हैं, साधु होने पर भी वीतराग निर्ग्रंथ मुद्रा से रहित हैं अतः नमस्कार के योग्य नहीं हैं, ऐसा जान करके भी यदि लज्जा से, गर्व से या भय से "यह राजमान्य है, नमस्कार न करने पर कुछ उपद्रव आदि कर देगा" इत्यादि भय से नमस्कार करते हैं वे उनके उस पाप की अनुमोदना करने वाले हैं अतः उनके रत्नत्रय की प्राप्ति होना बहुत ही कठिन है।

जो मुनि दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं, तीनों योगों पर संयम रखते हैं अर्थात् मन, वचन, काय की प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखते हैं, इंद्रियों के वशीभूत हो ज्ञान को मलिन नहीं करते और खड़े होकर भोजन करते हैं उन्हीं के सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थों की उपलब्धि अर्थात् जानकारी हो जाने से यह जीव कल्याण तथा अकल्याण को विशेषरूप से जानता है। हित और अहित को जानने वाला मनुष्य दुष्ट स्वभाव को उन्मूलित करता है तथा उत्तम शील, श्रेष्ठ स्वभाव से युक्त होता हुआ शील के फलस्वरूप सांसारिक सुख को प्राप्त होता है और उसके बाद मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।[४]

जिसने श्रेय—सम्यक्त्व और अश्रेय—मिथ्यात्व को समझ लिया है वह दुःशील—दुष्ट स्वभाव विषय कषाय आदिरूप परिणति को उखाड़कर दूर कर देता है, शील से—आत्म परिणति से युक्त मनुष्य शील के फलस्वरूप पहले तो अभ्युदय, देव तथा चक्रवर्ती आदि के सांसारिक सुख को प्राप्त होता है और उसके बाद निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

---

१. दर्शनपाहुड़ गाथा १०-११। २. जो दंसणेसु भट्ठा पाए ण पडंति दंसणधराणं। ते होंति लल्ल-मूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं।।१२।। दर्शनपाहुड़। ३. गाथा १३। ४. गाथा १४-१५-१६

पुनरपि श्री कुन्दकुन्ददेव कहते हैं—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं[१]।

ये जिनेन्द्रदेव के वचन महौषधि हैं, विषय सुखों का विरेचन कराने वाले हैं, अमृतरूप हैं, जरा और मरणरूप व्याधि को हरण करने वाले हैं तथा सर्व दुःखों का क्षय करने वाले हैं।

यहां पर श्री कुंदकुंद देव ने वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी को औषधि की उपमा दी है। जैसे—उत्तम औषधि शरीर के भीतर रुके हुए मल का विरेचन कर व्याधि को दूर करती है, मनुष्य के अकालमरण को दूर कर उसके नाना प्रकार के रोगों का क्षय कर देती है तथा मनुष्य को स्वस्थता प्रदान कर तरुण के समान स्फूर्तिमान बना देती है उसी प्रकार जिनवाणीरूपी औषधि मनुष्य की आत्मा में विद्यमान पंचेंद्रियों के विषय सुखों से अरुचि कराकर उनका त्याग करा देने से विषय सुखों का विरेचन कराने वाली है, अमृतरूप है, बुढ़ापा और मरणरूपी जो महारोग हैं, उनको भी नष्ट करने वाली है तथा शारीरिक, मानसिक और आगंतुक समस्त दुःखों का क्षय करने वाली है।

जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान के वचनों को पढ़कर या सुनकर हृदय में अवधारण करते हैं पुनः उन वचनों के अनुसार अणुव्रत, महाव्रत आदि चारित्र को धारण कर लेते हैं वे संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर विषय सुखों को सर्वथा छोड़ देते हैं पुनः चारित्र और तपश्चरण के बल से स्वर्ग सुखों को भोगकर परम्परा से जन्म-मरण को नाशकर मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेते हैं। आज तक जितने भी जीव सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं, होते हैं और होंगे वह सब जिनवचनरूपी औषधि का ही प्रभाव है, बिना जिनवचन के न किसी को सिद्धि हुई है और न होगी ही, ऐसा विश्वास करके हमेशा जिनवचन का स्वाध्याय करते रहना चाहिए। जैनाचार्यों का कहना है कि यह स्वाध्याय अभ्यंतर तप के अन्तर्गत होने से 'स्वाध्यायः परमं तपः' परम श्रेष्ठ तप है। इस काल में केवली भगवान अर्हन्तदेव के दर्शन नहीं हो सकते हैं किन्तु उनकी वाणी का दर्शन, पठन, श्रवण हो सकने से भव्य जीव अपने को पुण्यशाली ही समझते हैं क्योंकि ये जिनवचन भी बड़े सौभाग्य से ही जीवों को उपलब्ध होते हैं। इस जिनवाणी को प्राप्त करके उस पर श्रद्धान करना अपना परम कर्त्तव्य हो जाता है। वर्तमान के उपलब्ध षट्खण्डागम सूत्र ग्रंथ, उनकी धवला आदि टीका में, महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र, उनकी सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि टीकायें और समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि अध्यात्मग्रन्थ तथा रत्नकरण्डश्रावकाचार, दर्शनपाहुड़, चारित्रपाहुड़ आदि सभी ग्रन्थों को भगवान जिनेन्द्रदेव की वाणी का ही अंश मानकर उन पर दृढ़ श्रद्धान करके उनके अनुसार अपनी चर्या को समीचीन बनाना ही श्रावकों का परम कर्त्तव्य है।

एक जिनेन्द्र भगवान का नग्नरूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का रूप और तीसरा आर्यिकाओं का रूप इस प्रकार जिनशासन में तीन लिंग कहे गये हैं, चौथा लिंग जिनशासन में नहीं है।

सकल-विकल के भेद से चारित्र के दो भेद हैं। इनमें से मुनियों के सकल चारित्र होता है। उनका लिंग अर्थात् वेष नग्न दिगम्बर मुद्रा है। परिग्रहत्याग महाव्रत और आचेलक्य मूलगुण के धारक होने से उनके शरीर पर तिलतुषमात्र भी परिग्रह नहीं रहता है। संयम की उपकरण पिच्छी, शौच का उपकरण कमंडलु और ज्ञान का उपकरण शास्त्र इनको वे अपने पास रखते हैं। पिच्छी कमंडलु तो वे प्रतिक्षण अपने पास में रखते ही हैं।

१. दर्शनपाहुड़, गाथा १७

विकल चारित्र के धारकों में जो उत्कृष्ट श्रावक हैं, वे ग्यारह प्रतिमाधारी ऐलक या क्षुल्लक के वेष में रहते हैं। ग्यारह प्रतिमाधारकों के दार्शनिक, व्रतिक, सामायिक, प्रोषधोपवासी, सचित्तत्यागी, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत और उद्दिष्टविरत ये भेद होते हैं। इनमें से प्रारम्भ के ६ प्रतिमा धारकों तक जघन्य श्रावक संज्ञा है, उसके बाद सप्तम, अष्टम और नवमी प्रतिमाधारक मध्यम श्रावक है। इसके ऊपर दशमी प्रतिमाधारी और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक, क्षुल्लक या ऐलक के वेष में रहते हैं। ऐलक कौपीन, पिच्छी और कमंडलु रखते हैं तथा क्षुल्लक एक छोटी चादर भी रखते हैं। ये गुरु के पास निवास करते हैं। श्रावकों के यहां बिना बुलाये अतिथि के समान चर्यावृत्ति से जाकर भोजन करते हैं। दिन में एक बार ही भोजन करते हैं। इस प्रकार से जिनागम में यह दूसरा लिंग उत्कृष्ट श्रावक का बतलाया गया है।

आर्यिकायें उपचार से सकल चारित्र की धारक कहलाती हैं। ये एक सफेद धोती पहनती हैं और पिच्छी, कमण्डलु रखती हैं। इनकी सारी चर्या मुनि के समान रहती है। एक धोती पहनना और बैठकर पात्र में आहार लेना, इतना मात्र ही अन्तर रहता है। इसलिए ग्यारह प्रतिमाओं से ऊपर मुनियों के मूलगुण ही इनके लिए माने गये हैं, इस प्रकार जिनागम में यह तीसरा लिंग है। यहां पर इन तीनों लिंगों में पूज्यता का क्रम विवक्षित नहीं है। सर्वोत्कृष्ट और सर्वपूज्य तो मुनि लिंग है, उसके बाद पूज्यता में आर्यिका लिंग है क्योंकि आर्यिकाओं को उपचार से महाव्रती कहा गया है और ऐलक को जबकि उनके पास लंगोटी मात्र परिग्रह है फिर भी अणुव्रती श्रावक कहा गया है। कारण यही है कि ऐलक उतने मात्र भी परिग्रह को छोड़ सकता है किन्तु आर्यिका १६ हाथ की साड़ी के परिग्रह को छोड़ने में असमर्थ हैं इसलिए आर्यिकायें ऐलक के द्वारा वंद्य हैं जबकि मुनि एक घण्टे का भी यदि दीक्षित है और आर्यिका ५० वर्ष की भी दीक्षित हैं तो भी मुनि को वह नमस्कार करती है। अतः पूज्यता की दृष्टि से पहले मुनिलिंग है, बाद में आर्यिका लिंग है, अनंतर उत्कृष्ट श्रावक का ऐलक, क्षुल्लक लिंग है। कहा भी है—

कौपीनेपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतम्।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात् साटकेप्यार्यिकार्हति[१]।।३६।।

अहो! आश्चर्य है कि ग्यारहवीं प्रतिमाधारी ऐलक लंगोटी में ममत्व सहित होने से उपचार से भी महाव्रत के योग्य नहीं है परन्तु आर्यिका एक साड़ी धारण करने पर भी ममत्वरहित होने से उपचार महाव्रत के योग्य है अर्थात् ऐलक उपचार से भी महाव्रती नहीं है किन्तु आर्यिका उपचार से महाव्रती होने से ऐलक से वंद्य है।

उत्कृष्ट श्रावक क्षुल्लक के सदृश क्षुल्लिका का वेष है जो कि तृतीय लिंग में ही है। आगे कहते हैं—

'छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्व कहे गये हैं। उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए।[२]'

जो तीनों कालों में अपने गुण पर्यायों को प्राप्त करते थे, करते हैं और करेंगे, उन्हें द्रव्य कहते हैं। वे छह होते हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ कहलाते हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय ये पांच अस्तिकाय हैं, काल अस्तिकाय नहीं हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व माने गये हैं।

इन द्रव्यों में जीव सचेतन है बाकी पुद्गल आदि पांच द्रव्य अचेतन हैं। उपयोग यह जीव का लक्षण है।

---

१. सागारधर्मामृत, पृ. ५१८। २. दर्शनपाहुड़ गाथा १९।

इस उपयोग के ज्ञान और दर्शन ऐसे दो भेद हैं। इनमें से ज्ञान के भी मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ऐसे पांच भेद होते हैं। इनमें से भी प्रत्येक के असंख्यात भेद हो जाते हैं तथा मति, श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान मिथ्यात्व के निमित्त से विपरीत — कुमति, कुश्रुत और कुअवधिरूप भी हो जाते हैं। आजकल प्रायः मनुष्यों में जितना भी ज्ञान का अधिक विस्तार देखा जाता है वह सब कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान के अंतर्गत ही है। हां! जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वही ज्ञान मति, श्रुत के रूप में परिणत हो जाता है। दर्शनोपयोग के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद होते हैं। ऐसे सभी उपयोग मिलकर बारह भेदस्थ हो जाते हैं।

पुद्गल के अणु और स्कंध की अपेक्षा दो भेद हैं। स्कंधों में द्वयणुक से लेकर महास्कंध पर्यन्त असंख्यातों भेद होते हैं। जिसमें रूप, रस, गंध और स्पर्श पाया जाता है वह पुद्गल है। हम और आप को जो भी दिख रहा है वह सब पुद्गल ही है। यहां तक कि हमारे शरीर, आयु, श्वासोच्छ्वास आदि भी सब पुद्गल से ही बने हुए हैं।

जीव पुद्गल को गमन में सहकारी, अमूर्तिक, असंख्यात प्रदेशी ऐसा धर्म द्रव्य है। ऐसे ही जीव, पुद्गल को ठहरने में सहकारी, अमूर्तिक, असंख्यात प्रदेशी अधर्मद्रव्य है। जीव, पुद्गल आदि सभी द्रव्यों को अवकाश दान देने में समर्थ आकाश द्रव्य है और सभी द्रव्यों में परिणमन करने में सहायक काल द्रव्य है।

ऐसे ही सात तत्त्वों में जीव चेतना लक्षण वाला है, अजीव अचेतन है। जीव के रागादि परिणामों को निमित्त करके पौद्गलिक कर्मों का आना आस्रव है।

जीव और कर्मों का परस्पर में एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होना बंध है। कर्मों का आना रुक जाना संवर है, कर्मों का एकदेश निर्जीर्ण होना निर्जरा है और सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हो जाना मोक्ष है। इन सभी द्रव्य, पदार्थ, तत्त्व और अस्तिकायों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। आगे आचार्य श्रीकुंदकुंद देव नयों की विवक्षा से कहते है। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना व्यवहार नय से सम्यक्त्व है और निश्चयनय से आत्मा का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। अर्थात् जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है और अपनी आत्मा का श्रद्धान निश्चय सम्यक्त्व है।

एवं जिणपण्णत्तं दंसण-रयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स[1]।।२१।।

इस प्रकार से जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शनरूप रत्न को हे भव्य जीवों! तुम भावपूर्वक धारण करो। यह सम्यग्दर्शनरूप रत्न उत्तम क्षमा आदि गुणों तथा सम्यग्दर्शन आदि तीन रत्नों में सर्वश्रेष्ठ रत्न है और मोक्षरूपी महल में चढ़ने के लिए पहली सीढ़ी है।

पुनरपि आचार्यदेव कहते हैं—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं[2]।।२२।।

जो करना शक्य है उसे तो करना चाहिए और जो करना शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिए, क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान करने वाले के ही सम्यक्त्व कहा है।

यहां पर यह समझना चाहिए कि जो ज्ञानाचार, चारित्राचार और तप आचार करने के लिए दुर्धर हैं,

१. दर्शनपाहुड़ गाथा २१। २. दर्शनपाहुड़ गाथा २२।

अपनी शक्ति से बाहर है अर्थात् शारीरिक संहनन की हीनता आदि से वर्तमान में करना कठिन प्रतीत हो रहा है, उनका श्रद्धान ही करना चाहिए और जो चारित्र पालन करना शक्य है, अणुव्रत आदि रूप से जो पाला जा सकता है उसको अवश्य पालना चाहिए, शक्ति नहीं छिपाना चाहिए।

आजकल कुछ लोग चारित्र पालन करने में स्वयं प्रमादी होते हुए चारित्र को ढोंग या पाखंड अथवा यह व्यवहार चारित्र हेय है ऐसा कहकर उपेक्षा कर देते हैं और चारित्र के धारकों की निन्दा, अवहेलना आदि करते हैं, उन्हें द्रव्यलिंगी, पाखंडी, मिथ्यादृष्टि आदि कहते हैं। उनके प्रति ही भगवान कुंदकुंददेव का यह उपदेश है कि जितना शक्य हो उतना करो, जो कुछ शक्य न हो उस पर श्रद्धान करो यही सम्यक्त्व है क्योंकि मोक्षमार्ग में अपनी शक्ति को छिपाना भी आत्मवंचना है इसलिए प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि मोक्षमार्ग में अपने आत्मगुणों को वृद्धिंगत करने का ही सतत् पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। प्रमाद को छोड़कर संसार के दुःख से छुड़ाने वाले देवपूजा, गुरुपास्ति आदि आवश्यक क्रियाओं को शक्ति से बाहर न समझ कर यथायोग्य करते ही रहना चाहिए और चारित्रधारी संयमी या देशव्रती श्रावकों की निन्दा न करके उनके गुणों में अनुरक्त होते हुए उनकी प्रशंसा करनी चाहिए, यही गृहस्थ का कर्त्तव्य है।

कर्मक्षय के कारण क्या-क्या हैं

जो चौंसठ चमरों से सहित हैं, चौंतीस अतिशयों से युक्त हैं, विहार काल में पीछे चलने वाले सेवक तथा अनेक जीवों का हित करने वाले हैं, वे तीर्थंकर परमेदव भव्यों के कर्मक्षय में निमित्त कारण हैं ऐसे तीर्थंकर परमदेव को नमस्कार हो।[१]

समवसरण में तीर्थंकरदेव के आजू-बाजू में यक्षदेव चौंसठ चमर ढोरते रहते हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के जन्म के १० अतिशय, केवलज्ञान के १० अतिशय और देवकृत १४ अतिशय, ऐसे ३४ अतिशय होते हैं। जब तीर्थंकर का श्रीविहार होता है उस समय साथ में पीछे चलने वाले संख्यातों मनुष्य और असंख्यात देवगण अपने स्वर्ग और मोक्ष का मार्ग सीख लेते हैं। उन तीर्थंकर देव को नमस्कार करने से, उनकी भक्ति विशेष से उस शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है जो कि कर्मक्षय का सीधा कारण है अर्थात् जिनेन्द्रदेव की भक्ति से असंख्यात गुणश्रेणीरूप में अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है जो कि कर्मों में एकदेश क्षयरूप है तथा परम्परा से संपूर्ण कर्मों का क्षय भी हो जाता है जिससे कि मोक्षसुख की प्राप्ति होती है इसीलिए तो अर्हन्तदेव को भव्यों के कर्मक्षय में कारण माना गया है।

पुनः यह प्रश्न होता है कि कर्मक्षय में और क्या-क्या कारण हैं तथा शुक्लध्यान में हेतु क्या हैं ?

आचार्यदेव उत्तर देते हुए कहते हैं—

"ज्ञान, दर्शन, तप और चारित्र ये चारों संयम गुण कहलाते हैं। इन चारों के एकत्रित होने पर ही जिनशासन में मोक्ष कहा गया है[२]।"

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यक् तप इन चारों के समायोग से ही जैनशासन में मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है। इन चारों का समायोग ही संयम गुण कहलाता है। अतः संक्षेप से संयम गुण के द्वारा ही मोक्ष होता है। यहां यह बात ध्यान रखने की है कि ये दर्शन, ज्ञान आदि मिलकर ही मोक्षमार्ग हैं, भिन्न-भिन्न नहीं।

---

१. दर्शन पाहुड़ गाथा-२९-३०। २. दर्शन पाहुड़ गाथा-२९-३०।

श्री वीरनन्दि आचार्य के शिष्य श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कहा है—

वनशिखिनि मृतोऽन्धः-संचरन् वाढमंघ्रि-
द्वितय-विकलमूर्तिर्वीक्षमाणोऽपि खंजः।
अपि सनयनपादो पादोऽश्रद्दधानश्च तस्मात्।
दृगवमचारित्रेः संयुतैरेव सिद्धिः।।[१]

वन में अग्नि के लग जाने पर अंधा मनुष्य अच्छी तरह चलता हुआ, दोनों पैरों से रहित पंगु मनुष्य देखता हुआ और "यह अग्नि है" इस श्रद्धा से रहित मनुष्य नेत्र और पैरों से सहित होता हुआ भी चूँकि दावानल में जल कर मर जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों के मिलने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है अर्थात् जैसे वन में दावानल अग्नि लग गई उस समय अंधा मनुष्य चलते हुए भी मार्ग न देख सकने से जल कर मर गया। पंगु मनुष्य देखते हुए भी चल नहीं सकने से जल गया और नेत्र, पैर सहित भी मनुष्य "यह अग्नि मुझे जलायेगी" ऐसा विश्वास न करने से वहीं पड़ा रहने से मर गया। इसी प्रकार से सम्यग्ज्ञान शून्य मनुष्य अन्धे के समान है। मोक्षमार्ग को नहीं देखता हुआ संसाररूपी वन में जन्ममृत्युरूपी दावानल में झुलस रहा है। सम्यग्चारित्र से हीन मनुष्य पंगु के समान है, सम्यग्ज्ञान के द्वारा सही-सही मार्ग के देखने पर भी मोक्षमार्ग में चल नहीं सकने से संसार में ही भ्रमण करता रहता है और सम्यग्दर्शन शून्य मनुष्य उस संशयालु मनुष्य के समान है जिसके नेत्र और पैर होने पर भी वन में जल जाता है उसी से यह भी संसाररूपी वन में भटकता ही रहता है।

इसलिए श्रीकुंदकुंद देव का यही कहना है कि इन तीनों के मिलने से ही रत्नत्रय संज्ञा आती है और इन्हीं में सम्यक् तप के मिला देने से चार आराधनायें हो जाती हैं। इन चारों का समायोग ही मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है। जहाँ पर तीन ही कहे जाते हैं वहां पर सम्यक् चारित्र में ही सम्यक् तप गर्भित समझना चाहिए।

आगे श्री कुंदकुंददेव का कहना है कि—

'जीव के लिए ज्ञान सार है और ज्ञान से अधिक सम्यक्त्व सार है' क्योंकि सम्यक्त्व से ही चारित्र होता है और चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

ज्ञान और चारित्र के होने पर भी यदि सम्यक्त्व नहीं है तो वे सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र नहीं कहलाते हैं। ज्ञान और चारित्र में सम्यक्पना लाने वाला सम्यक्त्व ही है इसीलिए यहां पर सम्यक्त्व को सारभूत प्रधान कहा है। क्योंकि—

'ज्ञान, दर्शन (श्रद्धान), चारित्र और तप, ये चारों जब सम्यक्त्व से सहित हो जाते हैं तभी चारों के योग से जीव सिद्धि को प्राप्त कर लेता है इसमें कोई संदेह नहीं है।[२]',

किसी को चौदह महाविद्याओं का ज्ञान है जैसा कि इन्द्रभूति गौतम का था। किसी को श्रद्धान है किन्तु सम्यक् श्रद्धान नहीं है और किसी के पास चारित्र तथा तपश्चरण भी है जैसे कि अभव्य मुनि के होते हैं। इन सबके होने पर भी जब तक सम्यक्त्व नहीं हुआ है तब तक किसी भी जीव को इन चारों का योग मोक्ष की प्राप्ति नहीं करा सकता है इसीलिए यह मानना चाहिए कि सम्यक्त्व गुण सर्व गुणों में सारभूत है, प्रधान है, महान है क्योंकि एक वही गुण इन चारों में समीचीनता लाकर इन चारों को मोक्ष का साधन बना देता है अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सम्यक्त्व से रहित ज्ञान, दर्शन आदि युक्ति के कारण नहीं हैं और सहित भी

१. पद्मनंदिपंचविंशतिका। २. दर्शनपाहुड़ गाथा ३१।

ये चारों पृथक्-पृथक् एक या दो मिलकर भी मुक्ति के कारण नहीं हैं।

कहा भी है—

ज्ञानं पंगौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्वयम्।
ततो ज्ञानक्रिया श्रद्धात्रयं तत्पदकारणम्।।

पंगु मनुष्य का ज्ञान, अंधे मनुष्य की क्रिया और श्रद्धाहीन मनुष्य की दोनों ही वस्तुयें कार्यकारी नहीं हैं इसीलिए ज्ञान, क्रिया और श्रद्धा इन तीनों की एकता ही मोक्ष का कारण है।

यहां यह बात महत्त्व की है कि दर्शनपाहुड़ में श्रीकुंदकुंददेव सम्यग्दर्शन को ही सारभूत सिद्ध कर रहे हैं, फिर भी उनका कहना है कि बिना चारों के योग के निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती है अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि सम्यक्त्व गुण प्रधान होते हुए भी केवल उसी के गीत गाने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। यथाशक्ति चारित्र को ग्रहण करना ही चाहिए। यदि महाव्रत ग्रहण करना कठिन है तो भी अणुव्रती बनना कठिन नहीं है। यह अणुव्रत तो गार्हस्थ्य जीवन में भी जीवों को सुखी, संपन्न और निराकुल, शांत बनाने वाले हैं।

मुनिमुद्रा सदा पूज्य है

जो मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपोविनय में सदा लीन रहते हैं वे ही वंदनीय हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र ओर तप के भेद से आराधना के चार भेद होते हैं। जो मुनि इन चारों प्रकार की आराधनाओं में निरंतर लगे रहते हैं और अन्य गुणी मनुष्यों के प्रति किसी प्रकार मात्सर्य भाव न रखते हुए उनके गुणों का वर्णन करते हैं वे मुनि नमस्कार के योग्य हैं।

ऐसे दिगम्बर मुनियों के स्वाभाविक नग्नरूप को देखकर जो मनुष्य उन्हें नहीं मानते हैं, उल्टा उनके प्रति द्वेष भाव रखते हैं वे संयम को प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि हैं। वास्तव में नग्न दिगम्बर मुद्रा सहजोत्पन्न स्वाभाविक मुद्रा है। उसे देखकर जो पुरुष उसका आदर नहीं करता है, प्रत्युत नग्न मुद्रा में अरुचि करता हुआ यह कहता है कि नग्नत्व में क्या रखा है, क्या पशु नग्न नहीं होते ? साथ ही दूसरों के शुभ कार्य में द्वेष रखता है वह दीक्षा को प्राप्त होने पर भी मिथ्यादृष्टि है। श्रीकुंदकुंद देव का स्पष्टतया यही कहना है कि मुनि का वेष सहजोत्पन्न दिगम्बर मुद्रा ही है। जिन्होंने हिंसा आदि पांच पापों का सर्वथा त्याग कर दिया है, वे म्लेच्छ आदि दुष्ट पुरुषों के उपसर्ग से भयभीत होकर किसी प्रकार के आवरण को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उपसर्ग के आने पर उसे सहन करना ही मुनि का कर्त्तव्य है। इसी प्रकार जो शीत आदि परीषह सहन नहीं कर सकते हैं तथा जिनके विकार वासनाओं का शमन नहीं हुआ है वे जैनेश्वरी दीक्षा के पात्र नहीं हैं। उन्हें उत्कृष्ट श्रावक—ऐलक, क्षुल्लक के पद में रहकर संयम को पालन करना चाहिए, ऐसा आचार्यों का उपेदश है। इसलिए मुनिपद को ग्रहण कर उसी के अनुरूप चर्या करना उचित है। जो देवों से वंदित तथा शील से सहित तीर्थंकर परमदेव के रूप को धारण करने वाले ऐसे नग्न दिगम्बर मुनियों को देखकर स्वयं गर्विष्ट होते हुए उन्हें नमस्कार नहीं करते हैं वे सम्यक्त्व से रहित मिथ्यादृष्टि हैं। तीर्थंकर भगवान भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के द्वारा वंदनीय हैं तथा शील और व्रतों से विभूषित हैं। इनके नग्नरूप को देखकर अथवा तीर्थंकर देव की नग्नमुद्रा के धारी मुनियों को देखकर जो जैनाभास अथवा अन्यधर्मी लोग गर्व करते हैं, उनकी उपासना नहीं करते हैं, वे सम्यक्त्वरूपी रत्न को गंवा देते हैं, पुनः दीर्घकाल तक संसाररूपी समुद्र में उन्मज्जन-निमज्जन किया करते हैं।

उपासकाध्ययन में भी कहा है—

ये गुरुं नैव मन्यंते तदुपास्ति न कुर्वते।
अन्धकारो भवेत्तेषामुदितेपि दिवाकरे।।

जो गुरु को नहीं मानते हैं और उनकी उपासना नहीं करते हैं उनके लिए सूर्योदय होने पर भी अंधकार ही बना रहता है।

वास्तव में देखा जाए तो मिथ्यात्व ही घोर अंधकार है और सम्यक्त्व का उदय ही सूर्य का प्रकाश है। जब तक दिगम्बर गुरुओं के प्रति श्रद्धा भक्ति नहीं होती है तब तक मोक्षमार्ग की पहली सीढ़ी जो सम्यग्दर्शन है उसका लाभ भी असंभव ही है। कोई गुरुओं के प्रति द्वेष करता रहे और अपने को सम्यग्दृष्टि कहता रहे यह बात संभव नहीं है क्योंकि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा ही मोक्षमार्ग है ऐसा श्री गौतमस्वामी ने स्वयं कहा है—"इमं णिग्गंथ पवयणं, मोक्खमग्गं।" इसलिए दिगम्बर मुनि, गुरु ही सदा वंदनीय हैं।

अब जो वंदनीय नहीं हैं श्री कुन्दकुन्ददेव उनके बारे में कहते हैं—

"असंयमी की वंदना नहीं करना चाहिए और जो वस्त्ररहित होकर भी असंयमी है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है। ये दोनों ही समान हैं इनमें एक भी संयमी नहीं है।"

जो संयम को पालन करते हुए भी असंयत हैं अर्थात् वस्त्र धारण किए हुए हैं वे वंदनीय नहीं हैं। ऐसे ही जो वस्त्र रहित होकर भी संयम से रहित हैं–मात्र वेष को धारण करने वाले हैं उनकी चर्या आगम के विरुद्ध हैं, वे भी नमस्कार के योग्य नहीं हैं।

जैनागम में पूज्यता संयम से बतलाई गई है, संयम महाव्रती के ही होता है और महाव्रती निर्ग्रन्थ होने से नग्न ही रहता है। जो साधु महाव्रतरूप संयम को लेकर भी वस्त्र धारण करते हैं, वे गृहस्थ के समान ही असंयमी हैं अतः वे वंदना के योग्य नहीं हैं। इसी प्रकार जो नग्न होकर भी वास्तविक संयम से रहित है, आगम की मर्यादा से बाह्य है, वह भी असंयमी है अतः नमस्कार के योग्य नहीं है। यद्यपि संयमासंयम के धारक ऐलक, क्षुल्लक और ब्रह्मचारी आदि भी गृहस्थ के द्वारा वंदनीय होते हैं तथापि यहां गुरु का प्रकरण होने से उनकी विवक्षा नहीं की गई है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक अपने पद के अनुसार जो व्रत ग्रहण करते हैं उनका वे ठीक तरह से पालन करते हैं अतः वस्त्र सहित होने पर भी उसे असंयमी नहीं कहा जाता है किन्तु संयमासंयमी नहीं कहा जाता है पर जो पंच महाव्रत का नियम लेकर भी वस्त्र धारण करते हैं वे अपने गृहीत संयम से च्युत होने के कारण असंयमी कहे जाते हैं। इस गाथा में श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने द्रव्य संयम और भावसंयम दोनों को उपादेय बतलाया है। अपनी मान्यता के अनुसार संयम के धारक होने पर भी जो सवस्त्र हैं उनके द्रव्यसंयम भी नहीं हैं वे अवंदनीय हैं। साथ ही वस्त्र रहित होने से जो द्रव्य संयम के धारक हैं किन्तु यदि उनके भाव संयम नहीं हैं तो वे भी वंदनीय नहीं हैं क्योंकि मोक्ष प्राप्ति के लिए द्रव्य शुद्धि और भावशुद्धि दोनों ही आवश्यक हैं।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि किसी मुनि का द्रव्यसंयम निर्दोष है और भाव संयम नहीं है उसकी परीक्षा हम और आपको कर सकना असंभव है अतः यह विषय अवधिज्ञानी मुनि और केवली भगवान के ही गम्य है अतः द्रव्यसंयम को देखकर द्रव्य वेषधारी मुनि को नमस्कार करना, उन्हें आहारदान देना श्रावकों का कर्त्तव्य है। उदाहरण के लिए संघ में रहते हुए पुष्पडाल मुनि द्रव्यसंयमी थे भावसंयमी नहीं थे किन्तु श्रावकों द्वारा उन्हें नमस्कार किया जाना, आहार दिया जाना चालू था बल्कि संघस्थ मुनियों में भी

वंदना, प्रतिवंदना चालू थी। हां, जैसे अभव्यसेन मुनि की चर्या में सदोषता देख कर क्षुल्लक ने उन्हें नमस्कार नहीं किया अतः नमस्कार करने न करने में बाह्य चर्या ही द्रष्टव्य है न कि अंतःपरिणाम।

आगे श्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं कहते हैं—

न शरीर की वंदना की जाती है, न कुल की वंदना की जाती है, और न जातियुक्त मनुष्य की वंदना की जाती है। किस गुणहीन की वंदना करूं ? क्योंकि गुणहीन मनुष्य न मुनि हैं और न श्रावक ही हैं।

वास्तव में न तो किसी के शरीर की पूजा होती है, न कुल—पितृपक्ष की पूजा होती है, और न जाति—मातृपक्ष ही पूजा जाता है किन्तु संयमगुण की पूजा की जाती है। जिसमें संयम नहीं है वह सुन्दर, स्वस्थ शरीर, उच्च कुल और उच्च जाति वाला होकर भी अपूजनीय ही रहता है। कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि मैं किसी भी गुणहीन की वंदना नहीं कर सकता हूँ क्योंकि संयमगुण से भ्रष्ट पुरुष न मुनि ही हैं और न श्रावक ही हैं। तात्पर्य यही है कि गुणवान मुनि ही वंदनीय हैं।

पुनः आचार्य कहते हैं—

मैं उन मुनियों को नमस्कार करता हूँ जो तप से सहित हैं। साथ ही उनके शील को, गुण को, ब्रह्मचर्य को और मुक्ति प्राप्ति को भी सम्यक्त्व तथा शुद्ध भाव से वंदना करता हूँ।

अनशन, अवमौदर्य आदि के भेद से तप के बारह भेद हैं। शील के अठारह हजार भेद होते हैं। गुणों के चौरासी लाख भेद हैं और ब्रह्मचर्य नव बाढ़ की अपेक्षा नौ प्रकार का है। जो तप, शील, गुण और ब्रह्मचर्य से संपन्न है, श्री कुन्दकुन्ददेव ने यहाँ पर उन मुनियों को नमस्कार किया है। ऐसे मुनि ही अपनी साधना से कर्म, नोकर्म और भावकर्म से रहित स्वस्वरूप की उपलब्धिरूप सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। यह स्व स्वरूपोपलब्धि ही जीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है। इसी को आचार्यदेव ने श्रद्धापूर्वक शुद्ध भाव से नमस्कार किया है।

इन महामुनियों के गुणों का स्मरण करने से, उन्हें नमस्कार करने से वे महान गुण अपनी आत्मा में प्रकट होते हैं। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द देव भी ऐसे महर्षियों को "वंदामि" आदि शब्दों के द्वारा भावभक्ति पूर्वक नमस्कार करते हैं। आज के इस निकृष्ट काल में भी उनके प्रतीक नग्न दिगम्बर मुनि विचरण कर रहे हैं। ये निर्दोष महाव्रत को पालने वाले महामुनि तीन लोक में वंद्य हैं, मोक्षमार्ग के सच्चे पथिक हैं, प्रत्येक श्रावक को उनकी भक्ति, पूजा, उपासना करनी ही चाहिए।

जिनेन्द्रदेव का वैभव

"भव्य जीव कल्याणकों के समूह के साथ-साथ सम्यक्त्व को निर्दोष कर लेते हैं पुनः यह सम्यग्दर्शन-रूप रत्न सुर-असुरों से सहित इस संसार में सबके द्वारा पूजा जाता है।"

गर्भावतार, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पांच कल्याणक हैं। जो भव्य अपने सम्यक्त्व को निरतिचार—निर्दोष बना लेते हैं उनको ही गर्भावतार आदि पांच कल्याणकों की प्राप्ति होती है। ये कल्याणक तीर्थंकर परमदेव के ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं तभी तीर्थंकर परमदेव होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने के लिए दर्शनविशुद्धि का होना अत्यन्त आवश्यक है। देव और दानवों से युक्त इस संसार में यह सम्यग्दर्शन सबके द्वारा पूजा जाता है। यह सम्यग्दर्शन अनर्घ्य रत्न है अतः इसका मूल्य करने कोई भी समर्थ नहीं है। सचमुच में जो सम्यक्त्वरूपी रत्न तीन लोक का स्वामी बनाने में समर्थ है भला उसकी कीमत क्या कोई आंक सकता है।

जो उत्तम गोत्र से सहित मनुष्य अपने मानव जन्म को अत्यन्त दुर्लभ समझकर सम्यक्त्वरूपी रत्न को ग्रहण कर लेता है वह अविनाशी तथा मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

जिस प्रकार हाथ से छूटकर महासमुद्र में गिरा हुआ रत्न पाना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है उसी प्रकार उत्तम गोत्र से युक्त मनुष्य जन्म का पाना अत्यन्त दुर्लभ है। इस तरह अनेक दृष्टांतों के द्वारा मनुष्य जन्म की दुर्लभता को विचार करके जो भव्य जीव सम्यक्त्वरूपी महारत्न को प्राप्त कर लेता है वह निज शुद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग स्वभाव से युक्त परमात्मा का श्रद्धान करता है, उसी शुद्ध, बुद्ध परमात्मा का ज्ञान करता है और उसी में तन्मयता को प्राप्त होकर निश्चय चारित्र को प्राप्त करता है अर्थात् निश्चय रत्नत्रय रूप अभेद निर्विकल्प ध्यान में लीन हो जाता है वही अपनी आत्मा से उत्पन्न परमानन्द लक्षण परमसुख को प्राप्त कर लेता है। उसी के घातिया कर्मों का अभाव हो जाने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है और उसी भव्यात्मा के द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित, ऊर्ध्वगमन लक्षण से संयुक्त निर्वाण की प्राप्ति होती है। ऐसे तीर्थंकर महापुरुष ही धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करते हैं।

एक हजार आठ शुभ लक्षणों से युक्त तथा चौंतीस अतिशयों से सहित तीर्थंकर भगवान जब तक यहां विहार करते हैं तब तक उनको स्थावर प्रतिमा कहा गया है।[१]

तीर्थंकर परमदेव श्रीवृक्ष आदि १०८ लक्षणों से तथा तिल, मसा आदि ९०० व्यंजनों से सहित होते हैं। जन्म के १०, केवलज्ञान के १० और देवकृत १४ ऐसे चौंतीस अतिशयों से संयुक्त होते हैं। इन सबसे युक्त तीर्थंकर जिनेन्द्रदेव जब तक आर्यखण्ड में भव्य जीवों को संबोधते हुए विहार करते रहते हैं तब तक उन्हें स्थावर प्रतिमा कहा जाता है। और जब वे समस्त कर्मों का क्षय करके एक समय में सिद्धशिला की ओर अग्रसर होते हैं तब उन्हें जंगम प्रतिमा कहते हैं। प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छाया और प्रतिकृति ये सब प्रतिमा के पर्यायवाची नाम हैं। व्यवहारनय की अपेक्षा से चंदन, सुवर्ण, महामणि, स्फटिक, पाषाण, धातु आदि से निर्मित प्रतिमा को "स्थावर प्रतिमा" कहते हैं और समवशरण में विराजमान, विहार करने वाले तीर्थंकर परमदेव के शरीर को "जंगम प्रतिमा" कहते हैं।

तीर्थंकर भगवान के शरीर में १००८ लक्षण कौन कौन से हैं। सो ही बतलाते हैं—

"श्रीवृक्ष, हाथ पैरों में शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, श्वेतछत्र, सिंहासन, ध्वज, दो मछली, दो कलश, कछुआ, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, स्त्री, पुरुष, सिंह, धनुष, बाण, मेरु, इन्द्र, पर्वत, नदी, पुर, गोपुर, चंद्र, सूर्य, उत्तम, अश्व, व्यजन, बाँसुरी, वीणा, मृदंग, दो पुष्प मालायें, रेशमी वस्त्र, बाजार, कुन्डल आदि सोलह आभूषण, फलों से युक्त उपवन, अच्छी तरह पका हुआ धान का खेत, रत्नद्वीप, वज्र, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, बैल, चूड़ामणि, महानिधि, कल्पबेल, सुवर्ण, जंबूवृक्ष, गरुड़ नक्षत्र, तारे, राजभवन, ग्रह, सिद्धार्थ वृक्ष, आठ प्रातिहार्य तथा आठ मंगलद्रव्य आदि इन्हें लेकर १०८ लक्षण होते हैं और तिल, मसा आदि ९०० व्यंजन होते हैं। ये सब मिलाकर १००८ लक्षण कहलाते हैं।[२]

आठ प्रातिहार्य के नाम—अशोक वृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, दुंदुभि और छत्रत्रय, जिनेन्द्रदेव के आठ प्रातिहार्य माने गये हैं।"

आठ मंगल द्रव्यों के नाम—सुवर्ण झारी, तालपत्र, सुवर्ण कलश, पताका, सुप्रीतिका (ठोना), सफेद छत्र, दर्पण और चंवर ये आठ मंगलद्रव्य हैं।

१-२. दर्शनपाहुड़, गाथा-३५।

जिनेन्द्रदेव का वैभव—तीर्थंकरों में जन्म से लेकर देशना हेतु विहार पर्यन्त जो विशेषताएं पाई जाती हैं उन्हें अतिशय कहते हैं। वे चौंतीस हैं—

तीर्थंकर महापुरुष के जन्म लेते ही दश अतिशय प्रगट हो जाते हैं। उनके शरीर में पसीना नहीं आता है, मल-मूत्र नहीं होता है, दूध के समान सफेद रुधिर होता है, उनका समचतुरस्र संस्थान होता है, वज्रवृषभनाराच संहनन होता है, अतिशय सुन्दर रूप होता है, उनके शरीर से अतीव सुगंधि आती है। उनके शरीर में १००८ लक्षण होते हैं, अतुल्य बल वीर्य होता है और वे सबसे प्रिय तथा हितकारी वचन बोलते हैं।

जब उन्हें केवलज्ञान प्रगट होता है तब दश अतिशय प्रगट हो जाते हैं। जहां भगवान का समवशरण रहता है वहां से चार सौ कोश तक सुभिक्ष रहता है, भगवान का आकाश में अधर गमन होता है, किसी भी प्राणी का वध नहीं होता है, तीर्थंकर केवली कवलाहार नहीं करते हैं, उन पर उपसर्ग नहीं होता है, चारों दिशाओं में उनका मुख दिखता है, वे सब विद्याओं के स्वामी होते हैं, उनकी छाया नहीं पड़ती है, नेत्रों की पलकें नहीं झपकती हैं तथा उनके नख और केश भी नहीं बढ़ते हैं।

तभी केवली भगवान के देवकृत १४ अतिशय प्रगट हो जाते हैं। भगवान की सर्वार्ध मागधी भाषा होती है। इसका अभिप्राय यह है कि दिव्यध्वनि का अर्धभाग तो भगवान की भाषा है जो मगध देश की भाषा स्वरूप होता है और आधा भाग समस्त भाषाओं का रहता है इसलिए उनकी भाषा को सर्वार्धमागधी भाषा कहते हैं। भाषा में उस प्रकार का परिणमन मगध देशों के सन्निधान में होता है। इसलिए उसमें देवोपुनीत—देवकृतपना घटित होता है। दूसरे अतिशय में भगवान को केवलज्ञान होने पर सर्व जनता में आपस में मैत्रीभाव हो जाता है, तीसरे में सब ऋतुओं के फल और फूल एक साथ आ जाते हैं। चतुर्थ अतिशय में पृथ्वी दर्पण के समान रत्नमयी हो जाती है, पांचवे अतिशय में मंद सुगंध वायु अनुकूल दिशा से चलने लगती है, छठे अतिशय में सब लोगों को परम आनंद होता है, सातवें में मंद सुगंध वायु आगे-आगे एक योजन तक भूमि को साफ करती हुई धूलि कंटक आदि को दूर कर देती है, आठवें में मेघकुमार देव सुगंधियुक्त जल की वर्षा करते हैं, नौवें अतिशय में सुवर्ण की कलिकाओं और पद्मराग मणिमय केसर से सुशोभित एक योजन विस्तार वाला कमल होता है ऐसे ही चौदह कमल और होते हैं अर्थात् एक कमल भगवान के चरण के नीचे और सात-सात कमल आगे-पीछे होते हैं। इस तरह पन्द्रह-पन्द्रह कमलों की पन्द्रह पंक्तियां रहती हैं। दशवें अतिशय में पृथ्वी पर अठारह प्रकार के धान्य उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् सर्वत्र हरी-भरी खेती लहलहाने लगती है। ग्यारहवें अतिशय में दिशायें और आकाश धूली, धूमिका तथा दिग्दाह आदि दोषों से रहित हो जाती हैं। बारहवें अतिशय में ज्योतिष्क, व्यंतर तथा भवनवासी देव सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से सब देवों का आह्वान करते हैं, तेरहवें अतिशय में भगवान के आगे-आगे आकाश में धर्मचक्र चलता है और चौदहवें अतिशय में अष्टमंगल द्रव्य रहते हैं। सुवर्ण की झारी, तालपत्र, सुवर्णकलश, पताका, सुप्रीतिका, सफेद छत्र, दर्पण और चमर ये आठ मंगल द्रव्य हैं, प्रत्येक मंगल द्रव्य एक सौ आठ-एक सौ आठ रहते हैं। इस प्रकार ये चौदह अतिशय देवोपुनीत कहलाते हैं।

तीर्थंकर भगवान के ये चौंतीस अतिशय होते हैं, आठ महाप्रातिहार्य होते हैं। अशोक वृक्ष का होना, देवों द्वारा पुष्पवृष्टि का किया जाना, तीनों संध्याकालों में छह-छह घटिका पर्यन्त दिव्यध्वनि का खिरना, चौंसठ चामरों का ढुराया जाना, रत्नमयी सिंहासन का होना, भामंडल का होना, साढ़े बारह करोड़ प्रकार के दुन्दुभि बाजों का बजाया जाना और तीन छत्र का होना ये प्रातिहार्य कहलाते हैं।

ऐसे ही अर्हन्त भगवान के चार अनंत चतुष्टय होते हैं, जिनके नाम हैं—अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य। इस प्रकार से ३४ अतिशय, ८ प्रातिहार्य और ४ अनंतचतुष्टय मिला कर ४६ गुण अर्हन्त परमेष्ठी के होते हैं।

जो भव्यजीव निर्मल सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं वे ही पंचकल्याणक से सुशोभित ऐसे उत्तम अर्हन्त जिनेन्द्रदेव के वैभव को प्राप्त कर लेते हैं।

बारह प्रकार के तप से युक्त मुनि चारित्र के बल से अपने कर्मों का क्षय करके पद्मासन और कायोत्सर्ग इन दो प्रकार के व्युत्सर्गों से शरीर का त्याग करते हुए सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त हुए हैं।

जो मुनि सम्यग्दर्शन से सहित हैं वे ही बारह प्रकार के तपों का अनुष्ठान करके अपने कर्मों की निर्जरा कर सकते हैं और वे ही तपश्चरण के अंतिम भेदरूप शुक्लध्यान के बल से यथाख्यातचारित्र को प्राप्त कर सकते हैं। पुनः वे ही पद्मासन या खड्गासन मुद्रा में स्थित होकर योगों का निरोध करके संपूर्ण कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं।

आज तक जितने भी महापुरुष इस प्रकार से निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में भी अन्य—विदेहक्षेत्रों से निर्वाण प्राप्त कर रहे हैं और जो भी भविष्यकाल में निर्वाण प्राप्त करेंगे, यह सब सम्यग्दर्शन का प्रभाव ही समझना चाहिए क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन के तीन काल में निर्वाण की प्राप्ति असंभव है। यहां यह बात भी ध्यान में रखने की है कि दिगम्बर जैन संप्रदाय के अनुसार पद्मासन या खड्गासन मुद्रा से ही केवलज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति होती है अन्य आसनों से नहीं। हां, अन्य कुक्कुटासन, मकरासन आदि आसनों से जो ध्यान करने का उपदेश आगम में मिलता है, उसे धर्मध्यान का ही अभ्यास समझना चाहिए।

इस दर्शनपाहुड़[१] में श्री कुन्दकुन्द देव ने सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हुए संक्षेप से उसके माहात्म्य का वर्णन किया है। श्री श्रुतसागर सूरि ने इसकी टीका करते हुए बहुत कुछ विस्तार किया है जो कि प्रत्येक भव्य जीवों के लिए पठनीय और मननीय है।

आचार्यों की भक्ति

देसकुलजाइसुद्धा, विसुद्धमणवयणकायसंजुत्ता।
तुम्हं पायपयोरुह-मिह मंगलमत्थु मे णिच्चं।।7।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत–आचार्यभक्ति गाथा-1)

अर्थ–देश, कुल और जाति से शुद्ध, विशुद्ध मन, वचन, काय से संयुक्त हे आचार्यवर्य! आपके चरणकमल नित्य ही मेरे मंगल के लिये होवें।

१. दर्शनपाहुड़ गाथा ३६।

१५. जैनधर्म एवं भगवान ऋषभदेव

नमः ऋषभदेवाय, धर्मतीर्थप्रवर्तिने।
सर्वा विद्या-कला, यस्मा-दाविर्भूता महीतले।।१।।

जहाँ यह जीव संसरण करता है, चतुर्गति में परिभ्रमण करता है, उसका नाम "संसार" है। यह संसार "लोक" नाम से भी कहा जाता है—

''लोक्यन्ते'' अवलोक्यन्ते जीवादिषड्द्रव्याणि अस्मिन्निति लोकः''

जहाँ पर जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छहों द्रव्य देखे जाते हैं वह लोक है। वह लोक अकृत्रिम, अनादिनिधन है एवं स्वभाव से बना हुआ है, अर्थात् इसे किसी ने बनाया नहीं है।

श्री नेमिचंद्रसिद्धान्तचक्रवर्ती कहते हैं—

लोगो अकिट्टिमो खलु, अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।
जीवाजीवेहिं फुडो, सव्वागासवयवो णिच्चो[१]।।४।

यह लोक तीन भागों में विभक्त है—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। तीन लोक की ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है एवं मोटाई सर्वत्र ७ राजू है। लोक के तलभाग में चौड़ाई ७ राजू है मध्यलोक तक इसकी ऊँचाई ७ राजू है तथा मध्यलोक से ऊपर सिद्धशिला तक ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई भी ७ राजू है। अधोलोक के तल भाग से घटते-घटते चौड़ाई मध्यलोक के पास १ राजू रह गई है, आगे मध्यलोक से चौड़ाई बढ़ते हुए ऊपर ब्रह्मस्वर्ग तक साढ़े ३ राजू तक पांच राजू हो गई है पुनः ऊपर घटते हुए साढ़े ३ राजू तक सिद्धशिला तक १ राजू रह गई है अतः यह लोक पैर फैलाकर कमर पर हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के सदृश "पुरुषाकार" हो जाता है। शंका यह हो सकती है कि १४ राजू ऊँचे लोक में ७ राजू में अधोलोक एवं ७ राजू में ऊर्ध्वलोक है तो पुनः मध्यलोक को कितना हिस्सा मिला ?

इसका समाधान यह है कि असंख्यातों योजनों का १ राजू होता है और १४ राजू ऊँचे लोक में ७ राजू में नीचे नरक एवं ७ राजू में ऊपर स्वर्ग हैं। इन दोनों के मध्य में १ लाख ४० हजार योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है। बस इसी सुमेरु प्रमाण ऊँचाई वाला मध्यलोक है जो कि ऊर्ध्वलोक का कुछ भाग है और वह राजू में ना कुछ के समान है अतएव १४ राजू में ऊँचाई में उसका वर्णन नहीं आया है।

मध्यलोक—यह मध्यलोक १ राजू चौड़ा है। इस तीन लोक के बीच में १४ राजू ऊँची, एक राजू चौड़ी और एक राजू मोटी एक त्रसनाली है। त्रस जीव इसी में रहते हैं मध्यलोक में असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं।

इसमें सर्वप्रथम द्वीप का प्रथम जंबूद्वीप है। यह थाली के समान गोल है, एक लाख योजन अर्थात् (४००००००००) मील व्यास वाला है। इसको घेरकर २ लाख योजन व्यास वाला लवणसमुद्र है। इसको घेरकर चार लाख योजन व्यास का धातकीखण्ड है। इसे घेरकर कालोदधि समुद्र है। इसे घेरकर पुष्करद्वीप है। इसी के ठीक बीच में मानुषोत्तर पर्वत है जो कि चूड़ी के समान आकार वाला है। यहीं तक जंबूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और आधा पुष्कर ये ढाई द्वीप माने जाते हैं। ऐसे ही एक-एक द्वीप को घेरकर एक-एक समुद्र होने से जितने द्वीप हैं उतने ही समुद्र हैं, जो कि पूर्व-पूर्व के द्वीप-समुद्र से दूने-दूने विस्तार वाले हैं।

जम्बूद्वीप—जम्बूद्वीप के ठीक बीच में सुमेरु पर्वत है यह एक लाख योजन ऊँचा है। इसकी नींव

---

१. त्रिलोकसार गाथा ४।

चित्रा पृथ्वी के नीचे एक हजार योजन है और भूमि से ऊपर ९९ हजार योजन है इसकी चूलिका ४० योजन ऊँची है।

इस गोलाकार द्वीप में दक्षिण से लेकर उत्तर तक पूर्व-पश्चिम लंबे ऐसे छह कुलपर्वत हैं, जिनके नाम हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी हैं। इन पर्वतों से विभाजित सात क्षेत्र हैं — भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। एक-एक क्षेत्र में २-२ नदियां ऐसे गंगा-सिंधु, रोहित्-रोहितास्या आदि १४ महानदियाँ हैं।

विदेहक्षेत्र — विदेह के बीच में सुमेरु पर्वत होने से उसके दक्षिण और उत्तर में देवकुरु और उत्तरकुरु भोगभूमि हैं तथा पूर्व और पश्चिम में पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह हैं पूर्व विदेह के मध्य में सीता नदी से दक्षिण और उत्तर में ऐसे दो भाग हो गये पुनः दक्षिण में चार वक्षार और तीन विभंगा नदी से आठ देश हो गये, ऐसे ही उत्तर में आठ क्षेत्र हुए एवं पश्चिम विदेह में भी चार-चार वक्षार तथा तीन-तीन विभंगा नदियों से ८-८ क्षेत्र होने से कुल ३२ विदेह क्षेत्र हो जाते हैं।

"एक-एक विदेह देश में ९६ करोड़ ग्राम, २६ हजार नगर, १६ हजार खेट, २४ हजार खर्वट, ४ हजार मंडब, ४८ हजार पत्तन, ९९ हजार द्रोण, १४ हजार संवाह और २८ हजार दुर्गाटवी हैं। एक-एक विदेह में एक-एक उपसमुद्र हैं, उन पर एक-एक टापू हैं। वहाँ ५६ अन्तरद्वीप, २६ हजार रत्नाकर और ७०० कुक्षिवास हैं ये रत्नों के क्रय-विक्रय के स्थान हैं।"[१]

१७० कर्मभूमियाँ — जंबूद्वीप में एक भरत, एक ऐरावत एवं बत्तीस विदेह क्षेत्र हैं तथा धातकी- खंडद्वीप में पूर्वधातकीखंड और पश्चिमधातकीखंड एवं पुष्करार्धद्वीप में पूर्व- पुष्करार्धद्वीप और पश्चिमपुष्करार्धद्वीप ऐसे दो-दो भाग हो गये हैं। इसमें विजय, अचल, मंदर और विद्युन्माली ऐसे चार मेरु हैं तथा एक-एक भरत, एक-एक ऐरावत और ३२-३२ विदेह होने से ५ भरत, ५ ऐरावत और ३२×५=१६० विदेह हो जाते हैं। प्रत्येक में छह-छह खण्ड होने से मध्य के आर्यखंड में कर्मभूमि व्यवस्था है। इस प्रकार ये १७० कर्मभूमियां मानी है।

अधिकतम तीर्थंकर १७० एवं कम से कम २० होते हैं — इन्हीं १७० कर्मभूमियों के आर्यखंडों में यदि एक साथ अधिकतम तीर्थंकर या चक्रवर्ती या नारायण, प्रतिनारायण और बलभद्र होवें तो अधिकतम १७० हो सकते हैं और कम से कम एक-एक मेरु संबंधि विदेहों में ४-४ ऐसे ४×५=२० तीर्थंकर तो रहते ही हैं।

कहा भी है —

तित्थद्धसयलचक्की सट्ठिसयं पुह वरेण अवरेण।
वीसं वीसं सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो[२]।।६८१।।

तीर्थंकर अर्धचक्री और सकलचक्री ये विदेहक्षेत्र की अपेक्षा अधिकतम १६० एवं कम से कम बीस होते हैं। इन्हीं में भरत-ऐरावत के भी मिला देने से अधिकतम १७० हो जाते हैं।

इस गाथा से स्पष्ट है कि श्रीऋषभदेव और श्री महावीरस्वामी जैसे तीर्थंकर महापुरुष इन कर्मभूमियों में अनन्तों हो चुके हैं और आगे भी होते रहेंगे।" चतुर्थकालो विदेहे चावस्थित एव[३]।" इस नियम के अनुसार विदेह- क्षेत्रों में हमेशा चतुर्थकाल ही रहता है, षट्काल परिवर्तन नहीं होता है।

षट्काल परिवर्तन कहाँ-कहाँ है ?

भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्।।२७।।

---

१. त्रिलोकसार गाथा ६७४-६७५-६७७। २. त्रिलोकसार गाथा ६८१। ३. त्रिलोकसार गाथा ८८२ की टीकांश।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिता[१]।।२८।।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में छह कालों से युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा जीवों की आयु, ऊँचाई, सुख आदि में वृद्धि और ह्रास होता रहता है। यहाँ भरत से पाँचों भरत और ऐरावत से पांचों ऐरावत क्षेत्र लेना है।

पुनः इनसे अतिरिक्त क्षेत्रों में — विदेह क्षेत्रों में तथा हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रों में जैसी की तैसी व्यवस्था बनी रहती है। विदेहों में १६० विदेह क्षेत्र गिनाये हैं। हैमवत तथा हैरण्यवत में जघन्य भोगभूमि, हरि और रम्यक में मध्यम तथा देवकुरु-उत्तरकुरु में जो कि सुमेरु के दक्षिण-उत्तर में हैं, उनमें उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था स्थायी है।

प्रथम कर्मभूमि — जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में मध्य में पूर्व-पश्चिम तथा विजयार्ध पर्वत एवं हिमवन पर्वत से निकली हुई गंगा-सिंधु नदियों के निमित्त से छहखंड हो जाते हैं इनमें मध्य के आर्यखण्ड में षट्काल परिवर्तन होता रहता है। अवसर्पिणी में सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमा दुःषमा, दुःषमा सुषमा, दुःषमा और अतिदुःषमा ये छह काल होते हैं और उत्सर्पिणी में अतिदुःषमा से लेकर सुषमासुषमा पर्यन्त छह काल होते हैं इनमें से सुषमासुषमा आदि तीन कालों में भोगभूमि एवं दुःषमासुषमा आदि तीन में कर्मभूमि की व्यवस्था होती है।

इस व्यवस्था के अनुसार प्रथम जंबूद्वीप के प्रथम भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में जो कर्मभूमि आती है वह प्रथम कहलाती है।

भोगभूमि — भोगभूमि में मद्यांग, वादित्रांग, भूषणांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भोजनांग, भाजनांग और वस्त्रांग ये दशप्रकार के कल्पवृक्ष मनवांछित फल देते रहते हैं।

कुलकरों की उत्पत्ति — इस वर्तमान अवसर्पिणी में यहां भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में तृतीय काल में जब पल्य का आठवां भाग शेष रह गया तब कुलकरों की उत्पत्ति प्रारंभ हो गई, इनके नाम — प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचंद्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित और नाभिराज।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि बारहवें मरुदेव कुलकर ने अकेले पुत्र "प्रसेनजित्" को जन्म दिया अतः यहाँ से युगलिया परंपरा समाप्त हो गई। इनका विवाह किसी प्रधान कुल की कन्या के साथ सम्पन्न हुआ है।

कहा भी है —

प्रसेनजितमायोज्य प्रस्वेदलवभूषितम्।
विवाहविधिना वीरः प्रधानकुलकन्यया।।[२]

इन प्रसेनजित् से नाभिराज भी अकेले ही जन्मे। इन्द्र ने इनका विवाह कु. मरुदेवी के साथ सम्पन्न किया।

कहा भी है —

तस्यासीन्मरुदेवीति, देवी देवीव सा शची।।
तस्याःकिल समुद्वाहे, सुरराजेन चोदिता।
सुरोत्तमाः महाभूत्या, चक्रुः कल्याणकौतुकम्[३]।।५६।।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ. ३। २. हरिवंशपुराण, सर्ग ७। ३. महापुराण पर्व १२।

हरिवंशपुराण में भी कहा है—

अथ नाभेरभूद्देवी मरुदेवीति वल्लभा।
देवी शचीव शक्रस्य शुद्धसंतानसंभवा[१]।।६।।

शुद्ध कुल में उत्पन्न हुई मरुदेवी राजा नाभिराज की वल्लभा हुई।

अयोध्या नगरी की रचना—मरुदेवी और नाभिराज से अलंकृत पवित्र स्थान में जब कल्पवृक्षों का अभाव हो गया तब उनके पुण्य विशेष से इन्द्र ने एक नगरी की रचना करके उसका नाम 'अयोध्या' रखा।

"छठे काल के अंत में जब प्रलयकाल आता है तब उस प्रलय में यहाँ आर्यखंड में एक हजार योजन नीचे तक की भूमि नष्ट हो जाती है। उस काल में अयोध्यानगर स्थान के सूचक नीचे चौबीस कमल देवों द्वारा किये जाते हैं[२]।"

इन्हीं चिन्हों के आधार से देवगण पुनः उसी स्थान पर अयोध्या की रचना कर देते हैं।

इसीलिए "अयोध्यानगरी" शाश्वत मानी गई है।

वैदिक ग्रंथों में भी अयोध्या को बहुत ही महत्व दिया है यथा—

'अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या[३]।"

यह देवों की नगरी अयोध्या आठ चक्र और नवद्वारों से शोभित है।

रुद्रयामल ग्रंथ में तो अयोध्यापुरी को विष्णु भगवान का मस्तक कहा है। यथा—एतद् ब्रह्मविदो वदन्ति मनुयोऽयोध्यापुरी-मस्तकम्।

बाल्मिकि रामायण में इसे मनु द्वारा निर्मित बारह योजन लंबी माना है।

हरिवंशपुराण में राजा नाभिराज के महल को ८१ खन ऊँचा, रत्ननिर्मित "सर्वतोभद्र" नाम से कहा है।

श्री ऋषभदेव का स्वर्गावतरण—छह माह बाद भगवान ऋषभदेव "सर्वार्थसिद्धि" विमान से च्युत होकर यहाँ माता मरुदेवी के गर्भ में आने वाले हैं ऐसा जानकर सौधर्मइन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी—हे धनपते! तुम अयोध्या में माता मरुदेवी के आंगन में रत्नों की वर्षा प्रारंभ कर दो। उसी दिन से कुबेर ने प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ प्रमाण उत्तम-उत्तम पंचवर्णी रत्न बरसाना शुरू कर दिया।

एक दिन मरुदेवी महारानी ने पिछली रात्रि में ऐरावत हाथी आदि उत्तम-उत्तम सोलह स्वप्न देखे। प्रातः पतिदेव के मुख से "तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर पुत्र अवतरित होंगे" ऐसा सुनकर महान हर्ष को प्राप्त हुईं।

जब इस अवसर्पिणी के तृतीय काल में चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ माह शेष रह गये थे तब आषाढ़ कृ. द्वितीया के दिन भगवान का गर्भागम हुआ। उसी दिन अपने दिव्यज्ञान से जानकर इन्द्र ने असंख्या देवों के साथ आकर महाराजा नाभिराज और महारानी मरुदेवी का अभिषेक करके वस्त्राभरण आदि से उनका सम्मान कर गर्भकल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा से श्री, ह्री आदि देवियां माता की सेवा करने लगीं।

क्या भगवान पुनः अवतार लेते हैं ? जैनधर्म के अनुसार कोई भी भगवान पुनः-पुनः अवतार नहीं लेते हैं। प्रत्युत हम और आप जैसे कोईभी संसारी प्राणी क्रम-क्रम से उत्थान करते हुए तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर पांच कल्याणकों को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं वे पुनः इस संसार में कभी भी अवतार नहीं लेते हैं जैसा कि भगवान ऋषभदेव के 'दशावतार' अर्थात् दशभवों का वर्णन पढ़ने से यह भगवान का

१. हरिवंशपुराण सर्ग ८। २. भक्त्यादिक्रियासंग्रह (टिप्पण) पृ. १६२। ३. अथर्ववेद दशमस्कंध।

गर्भावतार प्रकरण स्पष्ट हो जाता है।

इसी जंबूद्वीप के विदेह क्षेत्र में गंधिला देश के विजयार्ध की श्रेणी में एक 'महाबल' नाम के विद्याधर राजा थे एक बार इन्होंने अपने स्वयंबुद्ध मंत्री के द्वारा जैनधर्म को स्वीकार कर सल्लेखना से मरणकर स्वर्ग में 'ललितांग' नाम के देव पद को प्राप्त किया। वहाँ से च्युत हो विदेह क्षेत्र में राजा 'वज्रजंघ' हो गये। इन्होंने अपनी रानी श्रीमती के साथ एक बार वन में युगल मुनियों को आहारदान दिया। इसके फलस्वरूप उत्तम भोगभूमि में 'आर्य' हो गये। वहाँ चारणऋद्धिधारी मुनियों के संबोधन से सम्यग्दर्शन ग्रहण कर आयु के अंत में मरकर दूसरे स्वर्ग में 'श्रीधर' देव हो गये। वहां से च्युत हो विदेहक्षेत्र में सुसीमा नगरी के राजा 'सुविधि' हो गये। यहां भी श्रावकधर्म व क्षुल्लकदीक्षा के अनंतर मुनि बनकर समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर पुनः सोलहवें स्वर्ग में 'इन्द्र' हो गये, वहाँ से च्युत होकर जंबूद्वीप के विदेह में पुण्डरीकिणी नगरी में 'वज्रनाभि' चक्रवर्ती हो गये। इस भव में भी महामुनि बनकर पिता तीर्थंकर भगवान वज्रसेन के पादमूल में सोलहकारण भावनाओं को भाते हुए तीर्थंकरप्रकृति का बंध कर लिया। फलस्वरूप अंत में समाधिध्यान से मरण कर 'सर्वार्थसिद्धि' में 'अहमिंद्र' हो गये।

इस प्रकार-१. महाबल २. ललितांगदेव ३. राजा वज्रजंघ ४. भोगभूमिज- आर्य ५. श्रीधरदेव ६. राजा सुविधि, ७. अच्युतेन्द्र ८. वज्रनाभि चक्रवर्ती ९. अहमिन्द्र इन नवभवों में क्रम-क्रम से उत्थान करते हुए जिनधर्म के प्रसाद से सर्वार्थसिद्धि से च्युत होकर यही अहमिन्द्र का जीव माता मरुदेवी के गर्भ में आ गया। जब ये भगवान ऋषभदेव निर्वाण को प्राप्त कर लेंगे तो पुनः कभी भी इस संसार में अवतार नहीं लेंगे।

जन्मकल्याणक महोत्सव— पंद्रह माह तक कुबेर द्वारा रत्नवृष्टि के अनंतर चैत्र कृष्णा नवमी को सूर्योदय के समय माता मरुदेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। उसी क्षण स्वर्ग में इन्द्रों के आसन हिलने लगे, मुकुट झुक गये, कल्पवृक्षों से पुष्प बरसने लगे और चारों प्रकार के देवों के यहां बिना बजाये अपने आप बाजे बजने लगे। यथा—

कल्पेषु घण्टा भवनेषु शंखो, ज्योतिर्विमानेषु च सिंहनादः।
दध्वान भेरी वनजालयेषु, यज्जन्मनि ख्यात जिनः स एषः[१]।।

कल्पवासी देवों के यहाँ घंटे बजने लगे, भवनवासी देवों के यहाँ शंखध्वनि होने लगी, ज्योतिष्क देवों के यहां सिंहनाद होने लगा और व्यंतर देवों के यहां भेरी बजने लगी। जिनके जन्म के समय ऐसा हुआ ये जिन भगवान वे ही हैं।

जैसे कि आज टेलीविजन या रेडियों का बटन दबाते ही हजारों किलोमीटर दूर के भी दृश्य और संगीत सामने आ जाते हैं किन्तु वहां तो बटन दबाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। प्रत्युत तीर्थंकर प्रकृति का पुण्यरूपी बटन अपने आप ही दब गया और ४० करोड़ मील से अधिक ऊँचाई पर स्थित स्वर्गलोक में अतिशय फैल गया। तत्क्षण ही सौधर्मइन्द्र असंख्य देव परिवारों के साथ मध्यलोक में आये और जन्मजात शिशु को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर १००८ कलशों से उनका जन्माभिषेक संपन्न किया।

कुछ विद्वान सहज ही कह देते हैं कि वे तीर्थंकर हम आप जैसे साधारण मानव थे लेकिन ऐसा नहीं है वे तीर्थंकरप्रकृति नामकर्म के बंध करने तक तो साधारण कहे जा सकते हैं किन्तु तीर्थंकर प्रकृति को बांध लेने के बाद उनमें कुछ विशेष ही अतिशय प्रगट हो जाते हैं इसीलिए तो श्रीसमन्तभद्रस्वामी ने कहा है—

---

१. प्रतिष्ठातिलक अ. ९।

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान्, देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ! परमाऽसि देवता, श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः[१]।।

हे नाथ! आपने मनुष्य योनि में जन्म तो लिया है किन्तु आप मानुषी प्रकृति का उल्लंघन कर चुके हैं इसीलिए आप देवताओं के भी देवता हैं यही कारण है कि आप परमदेवता हैं। हे जिनधर्म तीर्थंकर! आप हमारे कल्याण के लिए हम पर प्रसन्न होइये।

श्री ऋषभदेव के द्वारा कर्मभूमि व्यवस्था—श्री नाभिराजा ने भगवान का यशस्वती और सुनन्दा कुमारिकाओं के साथ इन्द्र की अनुमति से विवाह कर दिया। यशस्वती ने भरत आदि १०० पुत्र एवं ब्राह्मी पुत्री को तथा सुनन्दा ने बाहुबली एवं सुंदरी कन्या को जन्म दिया।

भगवान ने पुत्रियों को एवं पुत्रों को सर्वविद्याओं में तथा कलाओं में निष्णात कर दिया।

प्रजा की प्रार्थना से असि, मषि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य इन षट्क्रियाओं का उपदेश देकर उन्हें जीने की कला सिखायी। वर्णव्यवस्था और विवाहव्यवस्था आदि प्रगट की वह भी अवधिज्ञान से विदेह क्षेत्र की शाश्वत व्यवस्था को जानकर ही की थी अतएव वे प्रभु स्रष्टा, विधाता, ब्रह्मा आदि भी कहलाये थे।

श्री नेमिचन्द्राचार्य ने कहा है—

पुरगामपट्टणादी, लोहियसत्थं य लोयववहारो।
धम्मो वि दयामूलो, विणिम्मियो आदिबम्हेण[२]।।८०२।।

भगवान की आज्ञा से चूँकि इन्द्र ने देश, नगर, ग्राम आदि की व्यवस्था बनाई थी। अतः पुर, ग्राम, नगर आदि लौकिकशास्त्र-व्याकरण आदि, लोकव्यवहार एवं दयामूल धर्म को आदिब्रह्मा ने—भगवान ऋषभदेव ने निर्माण किया है।

एक समय इन्द्रों ने आकर महाराजा नाभिराजा से आज्ञा लेकर प्रभु का राज्याभिषेक कर दिया। अनंतर भगवान ने अनेक राजा, महाराजा आदि बनाकर उन्हें सुंदर राजनीति का उपदेश दिया।

दीक्षाकल्याणक—पुनः एक दिन भगवान नीलांजना के नृत्य के समय उसकी आयु समाप्त हुई देखकर विरक्त हो गये। इन्द्रों द्वारा लाई गई पालकी में बैठकर सिद्धार्थ वन में पहुँचे और जहाँ वटवृक्ष के नीचे केशलोंच करके दैगम्बरी दीक्षा ली उस स्थल का नाम "प्रयाग" यह प्रसिद्ध हो गया। एक वर्ष ३९ दिन बाद हस्तिनापुर में राजकुमार श्रेयांस ने प्रभु को वैशाख शु. ३ के दिन इक्षुरस का आहार देकर दानतीर्थ- प्रवर्तक पद को प्राप्त किया।

केवलज्ञान कल्याणक—एक हजार वर्ष तपश्चरण के बाद प्रभु को प्रयाग में वटवृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्रगट हो गया। उसी क्षण भगवान पृथ्वी से ५००० धनुष—२०००० हाथ ऊपर आकाश में अधर पहुँच गये और अर्धनिमिष मात्र में ही कुबेर ने आकाश में भगवान का समवसरण बना दिया। यह १२ योजन—९६ मील का गोल था। इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

समवसरण में आठ भूमियां और तीन कटनी होती हैं तथा चारों ओर चार वीथी—सड़कें होती हैं। इन सड़कों के मध्य प्रारंभ में ही चारों दिशाओं में एक-एक ऐसे चार मानस्तंभ होते हैं। ये भगवान के शरीर की ऊँचाई से बारह गुने ऊँचे होते हैं। यथा—भगवान ऋषभदेव के शरीर की ऊँचाई ५०० धनुष २००० हाथ थी अतः २०००×१२=२४००० हाथ ऊँचे थे। इनके दर्शन से मानी का मान गलित हो जाता था, वह भव्यात्मा

१. स्वयंभूस्तोत्र। २. त्रिलोकसार गाथा ८०२।

सम्यग्दृष्टि बनकर अनंतसंसार को सीमित कर लेता था।

इस समवसरण में पृथिवी से एक हाथ ऊपर से १-१ हाथ ऊँची ऐसी २० हजार सीढ़ियाँ रहती थीं। इनसे चढ़कर मनुष्य, तिर्यंच आदि सभी भव्य जीव — बाल, वृद्ध, रोगी, अंधे, लंगड़े, लूले आदि ४८ मिनट मात्र में ऊपर पहुँच जाते थे। यह अतिशय भगवान का ही था।

इसमें चार परकोटे और पांच वेदियों के अंतराल में आठ भूमियां हैं। जिनमें क्रम से धूलिसाल परकोटा, चैत्यप्रासादभूमि, वेदी, खातिकाभूमि, वेदी, लताभूमि, परकोटा, उपवनभूमि, वेदी, ध्वजाभूमि, परकोटा, कल्पवृक्षभूमि, वेदी, भवनभूमि, परकोटा, श्रीमण्डपभूमि और वेदी ऐसी व्यवस्था रहती है। आगे १६ सीढ़ी चढ़कर प्रथम कटनी, ८ सीढ़ी के बाद दूसरी कटनी, पुनः ८ सीढ़ी चढ़कर तीसरी कटनी पर गंधकुटी में भगवान विराजमान रहते हैं।

प्रत्येक परकोटे एवं वेदियों में चारों दिशाओं में १-१ गोपुर द्वार बने थे, उनमें दोनों तरफ नाट्यशालाएं, मंगलघट, धूपघट और नवनिधि भंडार रखे हुए थे, इन द्वारों के रक्षक देवगण थे।

प्रथम भूमि में — १-१ जिनमंदिर के अंतर से ५-५ प्रासाद थे।

द्वितीय भूमि में — निर्मल जल में हंस, बतख आदि एवं कमल आदि थे।

तृतीय भूमि में — छहों ऋतुओं के पुष्प खिले थे। चतुर्थभूमि में चार दिशा में क्रम से अशोक, सप्तच्छद, चंपक और आम्र के वन थे, इनमें एक-एक चैत्यवृक्षों में चारों दिशाओं में जिनप्रतिमाएं विराजमान रहती हैं। पांचवी भूमि में दशविध चिन्हों से सहित ध्वजाएं थीं। छठी भूमि में दशविध कल्पवृक्ष थे तथा चार दिशा में क्रम से नमेरु, मंदार, संतानक और पारिजात सिद्धार्थ वृक्षों में सिद्धों की प्रतिमाएं विराजमान थीं। सातवीं भूमि में भवन बने थे इसमें उभय तरफ अर्हंत, सिद्ध प्रतिमाओं से सहित ९-९ स्तूप थे और आठवीं भूमि में बारह सभा बनी हुई थीं।

क्रम से इन बारह सभाओं में १. मुनिगण २. कल्पवासिनी देवियां ३. आर्यिका और श्राविका ४. ज्योतिषीदेवी ५. व्यंतर देवी ६. भवनवासिनी देवी ७. भवनवासी देव ८. व्यंतर देव ९. ज्योतिषी देव १०. कल्पवासीदेव ११. मनुष्य और १२. तिर्यंचगण बैठते थे।

समवसरण का ऐसा प्रभाव रहता है कि जातविरोधी सिंह, हरिण, गाय, व्याघ्र, सर्प, नेवला, मोर आदि सभी पशु-पक्षी परस्पर के वैर को छोड़कर मैत्रीभाव धारण कर भगवान का उपदेश सुनते हैं।

संसार में एक तीर्थंकर भगवान का समवसरण ही ऐसा है कि जहाँ देवों और मनुष्यों के समान तिर्यंचों के लिए भी एक कोठा निश्चित है उस कोठे में बैठकर संख्यातों पशु-पक्षी भगवान का उपदेश सुनकर अपना कल्याण कर लेते हैं। इनमें लाखों पशु तो अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत धारण करके स्वर्ग को प्राप्त कर लेते हैं तथा दिक्कुमारियां हाथ में मंगलद्रव्य धारण करती हैं।

भगवान के विहार से सर्वत्र ८००-८०० मीलों तक मंगल क्षेम और सुभिक्ष हो जाता है। सभी आपस में मैत्रीभाव धारण कर लेते हैं। रोग, शोक, आधि, व्याधि आदि उपद्रव नहीं होते हैं। भूकंप, नदी, बाढ़, अग्निप्रकोप, अकालमृत्यु आदि दुर्घटनाएं भी टल जाती हैं।

वास्तव में जो महापुरुष स्वयं प्राणीमात्र पर दया करते हुए पूर्ण अहिंसा धर्म का पालन करते हैं उन्हीं में ऐसी विशेषता आ जाती है कि क्रूर प्राणी भी उनके सानिध्य को प्राप्त कर क्रूरता छोड़ देते हैं, वैर-विरोध

छोड़ देते हैं।

पुनरपि भगवान ने समवसरण में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण का उपदेश देकर असंख्य प्राणियों को धर्मामृत का पान कराया। जब भगवान केवलज्ञानी हो जाते हैं। तब मोह, राग, द्वेष, इच्छा आदि का अभाव हो जाने से उनका उपदेश भी बिना इच्छा के मात्र भव्यों के पुण्योदय से ही होता है जैसे कि मेघ बिना इच्छा के ही बरसते हैं।

मोक्षकल्याणक—लाखों वर्षों तक भगवान ऋषभदेव ने श्रीविहार करके भव्यों को संतर्पित किया। अनंतर कैलाशपर्वत पर योगनिरोध करके आयुकर्म के अंत में निर्वाण धाम प्राप्त कर लिया। जब तृतीयकाल में तीन वर्ष साढ़े आठ माह शेष थे तब भगवान मोक्ष गये हैं। हुंडावसर्पिणी काल के दोष से प्रथम तीर्थंकर तृतीयकाल के अंत में ही जन्म लेकर तृतीयकाल में ही मोक्ष चले गये हैं। वहाँ वे भगवान अनन्तानन्त काल तक अतीन्द्रिय सुख में निमग्न रहेंगे पुनः कभी भी इस पृथिवी पर अवतार नहीं लेंगे।

कहा भी है—

काले कल्पशतेऽपि च, गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या।
उत्पातोऽपि यदि स्यात्, त्रिलोकसंभ्रातिकरणपटुः[१]।।

सैकड़ों कल्पकाल के व्यतीत हो जाने पर भी मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों में विकार आवागमन संभव नहीं है। भले ही तीनों लोकों में क्षोभ करने वाला ऐसा उत्पात ही क्यों न हो जाये?

अनंत ईश्वरों का अस्तित्व—तीनलोक के अग्रभाग पर ऐसे अनन्तानन्त सिद्ध परमात्मा विराजमान हैं और ये सभी संसार के चतुर्गति के भ्रमण से छूटकर ही मुक्त हुए हैं। इसीलिए जैनधर्म में अनंत ईश्वरों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। हम और आप में से कोई भी महापुरुष दर्शनविशुद्धि, विनयसंपन्नता आदि सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर बन सकते हैं अथवा कोई भी रत्नत्रय के बल से कर्मों को नाशकर सामान्य केवली होकर सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं जैसे भरत-बाहुबली आदि।

क्या जैनधर्म नास्तिक है ? भारतीय दर्शन में लिखा है—"वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार न करने तथा ईश्वर में आस्था न रखने वाले भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन का स्थान चार्वाक दर्शन के बाद आता है।"

किंतु यह बात उचित नहीं है जैनधर्म में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं माना है क्योंकि ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने में अनेक दोष आते हैं। जैसे कि ईश्वर विश्व के प्राणियों के प्रति दयालु है, परमपिता है पुनः वह किसी को पाप का फल नरक, निगोद, तिर्यंच योनि अथवा दुःखी दरिद्री क्यों बनाता है? यदि कहो पाप का फल कटु ही है तो फिर परमपिता परमेश्वर ने हिंसा, झूठ, व्यभिचार आदि पापों की सृष्टि ही क्यों की?

कहा भी है—

विचित्रभुवनत्रयं यदि कदाचिदीशः सृजेत्।
जगद्धि सकलं शुभं निखिलदोषशून्यं न किं।।
निगोदनरकादि-दुर्गतिकृतिश्च दुष्टाय चेत्।
कथं पुनरधर्मिणां विहितसृष्टिरन्यायिनी[२]।।९।।

यदि ईश्वर ने तीनों लोकों को बनाया है तो उसने दोषों से रहित शुभरूप ही सारा जगत् क्यों नहीं बनाया? यदि कहो दुष्टों के लिए ये नरक, निगोद आदि दुर्गतियां बनाई गईं तो पुनः दुष्टों की सृष्टि ही क्यों की?

---

१. भारतीय दर्शन पु.। २. चन्द्रप्रभुस्तुति।

न युज्यत इयं कृतिः सकलजंतु-कारूण्यतः।
कुतूहलधियापि चेन्न महतां हि संभाव्यते।।
अदृष्टपरिकल्पनापि जिन! नो भवेत्त्वद्द्विषां।
अतश्च भवतो विना क्वचिदपीश्वरत्वं कथं[१]।।२०।।

ईश्वर संपूर्ण प्राणीमात्र पर करुणा करने वाला है अतः उनके द्वारा यह शुभ-अशुभ संसार का निर्माण युक्त नहीं है। यदि कहो ईश्वर कुतूहल बुद्धि से यह सब करता है तो यह कुतूहल भी महापुरुषों के लिए नहीं शोभता है। यदि कहो उन प्राणियों के भाग्य से ही यह सब होता है तो यह अदृष्ट — भाग्य की कल्पना भी अन्य जनों के यहां संभव नहीं है इसलिए हे भगवन्! वीतराग जिनेन्द्र भगवान आपमें ही ईश्वरत्व घटित होता है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार तो प्रत्येक प्राणी ही अपनी-अपनी सृष्टि का कर्ता है और जब उसे समाप्त कर देता है तब स्वयं ही सिद्ध भगवान बन जाता है। जैसे कि कहा भी है —

—शिखरिणी छंद —

शरीरी प्रत्येकं भवति भुवि वेधाः स्वकृतितः।
विधत्ते नानाभू-पवनजलवन्हिद्रुमतनुम्।।
त्रसो भूत्वा भूत्वा कथमपि विधायात्र कुशलम्।
स्वयं स्वस्मिन्नास्ते भवति कृतकृत्यः शिवमयः[२]।।१८।।

प्रत्येक प्राणी अपनी द्वारा किये गये पुण्य-पाप के अनुसार प्रत्येक प्रकार के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति-वृक्षादि में जन्म लेता रहता है। कभी यही प्राणी त्रस — दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय होकर कदाचित् पुण्य कार्य को करके जब स्वयं अपने आत्मा में स्थित हो जाता है तब कृतकृत्य हुआ भगवान बन जाता है।

इन सभी उद्धरणों से यह बात सिद्ध है कि जैन अर्हंत केवली की वाणी को ही 'वेद' मानते हैं उसे 'अपौरुषेय' नहीं मानते। ईश्वर को सृष्टि का कर्ता न मानकर भी अनन्त ईश्वर मानते हैं। आत्मा के अस्तित्व को, परलोक को और पुण्य-पाप तथा उसके फल को भी स्वीकार करते हैं। इसलिए "जैनधर्म" चार्वाक के समान नास्तिक धर्म नहीं है।

जैनधर्म शाश्वत है — "कर्मारातीन् जयतीति जिनः" व्याख्या के अनुसार कर्म शत्रुओं को जीतने वाले जिन हैं और "जिनो देवता अस्येति जैनः" जिन भगवान जिनके देवता हैं — उपास्य हैं वे जैन हैं। अतः यह जैनधर्म शाश्वत है, प्राणीमात्र का हित करने वाला है, सभी को भगवान बनने के लिए अधिकार देने वाला "सार्वभौम" है और सर्वहितंकर है। जैनधर्म में वर्तमान में भगवान ऋषभदेव से महावीर तक चौबीस तीर्थंकर माने हैं।

वेदों में भी श्रीऋषभदेव — ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में श्री ऋषभदेव के नाम आये हैं।

"ॐ त्रैलोक्यप्रतिष्ठितान् चतुर्विंशतितीर्थंकरान् ऋषभाद्यान् वर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये[३]।"

"ॐ नमो अर्हतो ऋषभाय[४]।"

मनुस्मृति में भी कहा है —

१-२. चन्द्रप्रभुस्तुति। ३. ऋग्वेद। ४. यजुर्वेद।

दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः,
नीतित्रितयकर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः[१]।।

भागवत में भी कहा है—

''भगवान परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमंथिनां शुक्लया तनुवावतार[२]।''

यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्रीभगवान महाराज नाभिराज का प्रिय करने के लिए उनके रणिवास में मरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर संयासी और ऊर्ध्वरिता मुनियों का धर्म प्रगट करने के लिए शुद्ध सत्वमय विग्रह से प्रगट हुए।

नित्यानुभूतिनिजलाभनिवृत्ततृष्णः, श्रेयस्य तद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-माख्यान् नमो भगवते ऋषभाय तस्मै[३]।।

जैन ग्रंथों के अनुसार ये भगवान ऋषभदेव इस अवसर्पिणी में युग की आदि में प्रथम तीर्थंकर हुए हैं और वैदिक ग्रंथों के अनुसार ये अष्टम अवतार माने गये हैं। यथा—

कुलादिबीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः।
चक्षुष्मान् यशस्वी वा-भिचंद्रोऽथप्रसेनजित्।।
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुलसत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जातः उरक्रमः[४]।।

भरत के नाम से भारतवर्ष—इन्हीं ऋषभदेव के प्रथम पुत्र भरतचक्रवर्ती के नाम से हमारे देश का नाम ''भारतवर्ष'' पड़ा है। ऐसा ''आदिपुराण'' में कहा ही है। वैदिक ग्रंथों में भी कहा है। जैसे कि—

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण।
आसीद् येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति[५]।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः[६]।।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।।

भगवान ऋषभदेव से भरत हुए जो कि सौ पुत्रों में अग्रणी वीर थे। ऋषभदेव ने भरत पुत्र का राज्याभिषेक करके दीक्षा ले ली। भरत ने हिमवान से लेकर दक्षिण क्षेत्र पर्यंत जो राज्य प्राप्त किया था विद्वानों ने उस समस्त क्षेत्र को ''भारतवर्ष'' इस नाम से जाना है।

चौबीसों तीर्थंकरों के शासन की महिमा—इस भारत देश में भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक यह जैनशासन अहिंसा धर्म से प्राणी मात्र में शांति की स्थापना करता रहा है। आज भी इन तीर्थंकर भगवन्तों के अहिंसामयी धर्म की आवश्यकता है। क्योंकि इस पावन शासन में ''तीन'' आपस में पूर्णरूपेण अविरोधी—विरोध रहित होकर रहते हैं।

इसी बात को श्रीसमन्तभद्रस्वामी ने कहा है—

नयसत्त्वर्तवः सर्वे गव्यन्ये चाप्यसंगता[७]।

---

१. मनुस्मृति। २-३. भागवत स्कंध ५, अ. ६। ४. मनुस्मृति। ५. भागवत स्कंध, अ. ४। ६. वायुपुराण। ७. स्तुति विद्या।

नय, सत्व-प्राणी और ऋतुएं ये तीनों जैनशासन में परस्पर विरोधी होते हुए विरोध को छोड़कर मैत्रीभाव को प्राप्त कर लेते है। जैनधर्म के अनुसार द्रव्यार्थिक नय कहता है — आत्मा नित्य है, जन्म-मरण से रहित है, पर्यायार्थिक नय कहता है कि — आत्मा अनित्य है, जन्म-मरण के निमित्त से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी आदि पर्यायों को धारण करता है। कथंचित् — अपेक्षा से ये दोनों बातें सही हैं आत्मा नित्य भी है क्योंकि अनादिकाल से अनन्त काल तक विद्यमान है। पर्यायों की अपेक्षा अनित्य भी है क्योंकि मनुष्य को छोड़कर देव में जन्म लेता है इत्यादि। ऐसे ही परस्पर विरोधी प्राणी भी महामुनियों का और तीर्थंकर भगवन्तों का आश्रय लेकर परस्पर के वैर को छोड़कर प्रीति को प्राप्त हो जाते है।

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतम्।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकांता भुजंगीम्।।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम्[१]।।२६।।

हरिणी सिंह के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से स्पर्श करती है, गाय व्याघ्र के बालक को, बिल्ली हंस के बच्चे को एवं मयूरनी प्रेम के वश में सर्प के बच्चे को प्यार करने लगती है। जन्म से ही वैर को धारण करने वाले ऐसे क्रूर पशु भी वैर, अभिमान आदि को छोड़ देते हैं। कब? जबकि ये परमसाम्य को प्राप्त क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषों से रहित ऐसे महायोगियों का आश्रय ले लेते हैं।

इसी प्रकार इन महापुरुषों की छत्रछाया में कितने ही कोसों तक छहों ऋतुओं के फल-फूल एक साथ आ जाते हैं।

वर्तमान में आवश्यकता — वर्तमान में भी ऐसे ही महापुरुष प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करने के लिए, परस्पर में सौहार्द भाव स्थापित करने के लिए और पर्यावरण की शुद्धि के लिए सन् १९९८ से २००१ तक "श्रीऋषभदेव के समवसरण का श्रीविहार' सारे भारत में कराया गया।

भगवान के 'कृषि' क्रिया का सही रूप बतलाने के लिए तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि धर्म का मूल्यांकन कराने के लिए ही हस्तिनापुर में ४ अक्टूबर से ६ अक्टूबर १९९८ तक एक "भगवान ऋषभदेव राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन" आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में पधारे सभी कुलपति महोदयों ने जैनधर्म के संस्थापक भगवान महावीर नहीं हैं प्रत्युत चौबीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव और अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी हुए हैं, ऐसा प्रतिपादन किया है। अतः जैनधर्म की अतीव प्राचीनता स्वतः सिद्ध है।

अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महोत्सव — ४ फरवरी २००० को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी द्वारा लाल किला मैदान, दिल्ली से एक वर्ष तक चलने वाले 'भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव वर्ष' का उद्घाटन किया गया।

टोरण्टो, कनाडा, न्यूजर्सी आदि स्थानों पर भी इन्हीं प्रेरणाओं के माध्यम से ४ फरवरी २००० को निर्वाण महामहोत्सव मनाया गया।

इस युग में जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव पर देश-विदेश में अनेक संगोष्ठियाँ, भगवान ऋषभदेव कीर्तिस्तंभों का निर्माण तथा अन्य अनेक सामाजिक एवं शैक्षणिक कार्यक्रम राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय

---

१. ज्ञानार्णव, सर्ग २४, श्लोक २६।

स्तर पर इस वर्ष के अंतर्गत आयोजित किये गये।

फरवरी २००१ में निर्वाण महोत्सव वर्ष समापन के उपलक्ष्य में भगवान ऋषभदेव की दीक्षाभूमि-प्रयाग (इलाहाबाद) में 'तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ' का नवनिर्माण करके वहाँ के इतिहास को पुनः जीवन्त किया गया। आज से कोड़ाकोड़ी सागर वर्ष पूर्व युग की आदि में भगवान ऋषभदेव ने प्रयाग में वटवृक्ष के नीचे दीक्षा ली थी एवं केवलज्ञान भी प्रयाग में वटवृक्ष के नीचे हुआ था। आज भी वही वटवृक्ष शाखा—उपशाखा के रूप में विद्यमान है जो कि ''अक्षय वटवृक्ष'' के नाम से जाना जाता है। इस तीर्थ पर भगवान के दीक्षाकल्याणक के प्रतीकस्वरूप धातु के वटवृक्ष के नीचे ध्यान में लीन महायोगी ऋषभदेव की सवा पांच फुट उत्तुंग पिच्छी-कमण्डलु सहित खड्गासन प्रतिमा, केवलज्ञान कल्याणक के प्रतीकस्वरूप भगवान की चतुर्मुखी प्रतिमा सहित दिव्य समवसरण रचना तथा निर्वाण कल्याणक के प्रतीक स्वरूप ५१ फुट उत्तुंग 'कैलाशपर्वत' के ऊपर भगवान ऋषभदेव की १४ फुट उत्तुंग अत्यंत मनोहारी लालवर्णी पद्मासन प्रतिमा तथा तीन चौबीसी के प्रतीक स्वरूप ७२ जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। कैलाशपर्वत की गुफा में सवा तीन फुट पद्मासन अष्टधातु की ऋषभदेव प्रतिमा विराजमान हैं, जहाँ भक्तगण पूजा-पाठ करके मनोवांछित फल की प्राप्ति करते हैं। इसी पर्वत के ईशान कोण में ४ प्रतिमाओं से समन्वित ३१ फुट उत्तुंग 'ऋषभदेव कीर्तिस्तंभ' भी निर्मित है। ४ से ८ फरवरी २००१ तक 'भगवान ऋषभदेव पंचकल्याणक प्रतिष्ठा' एवं १००८ महाकुंभों से कैलाशपर्वत पर प्रतिष्ठित भगवान ऋषभदेव का 'महाकुंभमस्तकाभिषेक' कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। इसी प्रकार से अनेकानेक आयोजनों के माध्यम से भगवान ऋषभदेव के प्रचार-प्रसार से आज समाज में जागृति उत्पन्न हुई और जैन समाज अब भगवान महावीर की जन्मजयंती एवं निर्वाण महोत्सव के समान ही प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की जन्मजयंती एवं निर्वाणोत्सव मनाने लगा है। आप सभी श्रद्धालुभक्त भगवान ऋषभदेव से महावीर तक चौबीसों तीर्थंकर भगवान की भक्ति करते हुए सभी को जैनधर्म की अनादिनिधनता से परिचित करावें, यही मंगल प्रेरणा है।

योगभक्ति में संघ के लिये याचना

एवं मए अभित्थुया, अणयारा रागदोसपरिसुद्धा।
संघस्स वरसमाहिं, मज्झवि दुक्खक्खयं दिंतु।।8।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत-योगभक्ति गाथा-23)

अर्थ-इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुत तथा रागद्वेष से विशुद्ध-रहित, अनगार-मुनिगण संघ को उत्तम समाधि प्रदान करें और मेरे भी दुःखों का क्षय करें।

भावार्थ-योगभक्ति में आचार्यदेव ने तेईस गाथाओं द्वारा सर्व प्रकार से तपस्वी मुनियों की वंदना करके याचना की है कि वे सर्वमुनिगण संघ को समाधि, धर्मध्यान की सिद्धि प्रदान करें। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये बहुत बड़े चतुर्विध संघ के आचार्य थे, एकाकी नहीं थे।

जैनागम में वर्णित
१६. गणधर प्रमुख दिगम्बर जैनाचार्य
गणधरदेव श्री गौतमस्वामी

मगध देश में एक ब्राह्मण नाम का नगर था। वहाँ एक शांडिल्य नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी भार्या का नाम स्थंडिला था, वह ब्राह्मणी बहुत ही सुन्दर और सर्व गुणों की खान थी। इस दम्पति के बड़े पुत्र के जन्म के समय ही ज्योतिषी ने कहा था कि यह गौतम समस्त विद्याओं का स्वामी होगा। उसी स्थंडिला ब्राह्मणी ने द्वितीय गार्ग्य पुत्र को जन्म दिया था, वह भी सर्वकला में पारंगत था, इन्हीं ब्राह्मण की दूसरी पत्नी केशरी के पुत्र का नाम भार्गव था। इस प्रकार ये तीनों भाई सर्व वेद-वेदांग के ज्ञाता थे। वह गौतम ब्राह्मण किसी ब्रह्मशाला में पांच सौ शिष्यों का उपाध्याय था। "मैं चौदह महाविद्याओं का पारगामी हूँ, मेरे सिवाय और कोई विद्वान् नहीं है।" ऐसे अहंकार में यह सदा चूर रहता था। इन तीनों भाइयों के इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नाम ही प्रसिद्ध हैं।

भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्रगट होकर समवसरण की रचना हो चुकी थी किन्तु दिव्यध्वनि नहीं खिर रही थी। ६६ दिन व्यतीत हो गए। तभी सौधर्म इन्द्र ने समवशरण में गणधर का अभाव समझकर अपने अवधिज्ञान से "गौतम" को इस योग्य जानकर वृद्ध का रूप बनाया और वहाँ गौतमशाला में पहुँचकर कहते हैं—

"मेरे गुरु इस समय ध्यान में होने से मौन हैं अतः मैं आपके पास इस श्लोक का अर्थ समझने आया हूँ।" गौतम ने विद्या के गर्व से गर्विष्ठ हो पूछा—"यदि मैं इसका अर्थ बता दूँगा तो तुम क्या दोगे ?" तब वृद्ध ने कहा—यदि आप इसका अर्थ कर देंगे तो मैं सब लोगों के सामने आपका शिष्य हो जाऊँगा और यदि आप अर्थ न बता सके तो इन सब विद्यार्थियों और अपने दोनों भाइयों के साथ आप मेरे गुरु के शिष्य बन जाना। महाअभिमानी गौतम ने यह शर्त मंजूर कर ली क्योंकि वह समझता था कि मेरे से अधिक विद्वान इस भूतल पर कोई है ही नहीं। तब वृद्ध ने वह काव्य पढ़ा—

धर्मद्वयं त्रिविधकालसमग्रकर्म, षड्द्रव्यकायसहिताः समयैश्च लेश्याः।
तत्त्वानि संयमगती सहितं पदार्थै-रंगप्रवेदमनिशं वद चास्तिकायं।।

तब गौतम ने कुछ देर सोचकर कहा—"चतरे ब्राह्मण! तू अपने गुरु के पास ही चल। वहीं मैं इसका अर्थ बताकर तेरे गुरु के साथ वाद-विवाद करूँगा।" इन्द्र तो चाहता ही यह था। वह वृद्ध वेषधारी इन्द्र गौतम को समवशरण में ले आया।

वहां मानस्तम्भ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उसे सम्यक्त्व प्रगट हो गया। गौतम ने अनेक स्तुति करते हुए भगवान के चरणों में नमस्कार किया तथा अपने पांच सौ शिष्यों और दोनों भाइयों के साथ भगवान के पादमूल में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। अन्तर्मुहूर्त में ही इन गौतममुनि को अवधि और मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया तथा वे महावीर स्वामी के प्रथम गणधर हो गए। उत्तर पुराण में लिखा है—

"तदनन्तर सौधर्मेन्द्र ने मेरी पूजा की और मैंने पांच सौ ब्राह्मण पुत्रों के साथ श्री वर्धमान भगवान को

नमस्कार कर संयम धारण कर लिया। परिणामों की विशेष शुद्धि होने से मुझे उसी समय सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। तदनन्तर भट्टारक वर्धमान स्वामी के उपदेश से मुझे श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन पूर्वान्ह काल में समस्त अंगों के अर्थ तथा पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया, पुनः चार ज्ञान से सहित मैंने रात्रि के पूर्व भाग में अंगों की तथा रात्रि के पिछले भाग में पूर्वों की रचना की, उसी समय मैं ग्रन्थकर्ता हुआ हूँ।[१]''

''जिस दिन भगवान् महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त होगा, उसी दिन मैं केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। तदनन्तर विपुलाचल पर्वत पर जाकर निर्वाण प्राप्त करूँगा।[२]''

श्री गौतमस्वामी के द्वारा रचित दो महामूल्यवान रचनायें दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में आज भी उपलब्ध हैं और प्रसिद्ध हैं।

१. चैत्यभक्ति, २. प्रतिक्रमण पाठ।

चैत्यभक्ति—चैत्यभक्ति के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि गौतम ब्राह्मण जब भगवान महावीर स्वामी के समवसरण में पहुँचते हैं और मानस्तम्भ देखकर उनका मान गलित हो जाता है, तब भक्ति में गद्‌गद् होकर भगवान की स्तुति करते हुए उच्चारण करते हैं—''जयति भगवान्'' इत्यादि।

इस बात का स्पष्टीकरण स्वयं टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य के शब्दों में देखिए—

''श्रीवर्धमानस्वामिनं प्रत्यक्षीकृत्य गौतमस्वामी जयतीत्यादि स्तुतिमाह''—

श्री वर्धमानस्वामी का प्रत्यक्ष दर्शन करके श्री गौतमस्वामी ''जयति'' इत्यादि स्तुति करते हैं। यथा—

जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृंभिता-वमरमुकुटच्छायोद्‌गीर्णप्रभापरिचुम्बितौ।
कलुषहृदया मानोद्‌भ्रान्ताः परस्परवैरिणो, विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः।।१।।

वे भगवान जयवन्त होवें कि जिनके चरणों का आश्रय लेकर कलुष मन वाले, मान से ग्रसित ऐसे परस्पर में एक दूसरे के वैरी भी जन्तु क्रूर भाव को छोड़कर परस्पर विश्वास को प्राप्त हो गए हैं। भगवान के चरण युगल कैसे हैं ? देवों द्वारा रचित सुवर्णमयी कमलों पर विहार करने से शोभा को प्राप्त हैं तथा इन्द्रों के मुकुटों की मणियों की निकलती हुई कांति की प्रभा से स्पर्शित हैं।

यह चैत्यभक्ति अनेक छन्दमय है, ३५ श्लोकों में बहुत ही मधुर, सरस और उत्तम है। अन्त में पांच श्लोक जो पृथ्वी छन्द में हैं उनका छन्द और वर्ण लालित्य अवर्णनीय है। उनमें भगवान की वीतराग छवि और अनेक शुभ लक्षणों का वर्णन है यथा—

अताम्रनयनोत्पलं सकलकोपवन्हेर्जयात्, कटाक्षशरमोक्षहीनमविकारतोद्रेकतः।
विषादमदहानितः प्रहसितायमानं सदा, मुखं कथयतीव ते हृदयशुद्धिमात्यन्तिकीम्।३१।।

हे भगवन्! आपके नेत्रकमल लालिमा रहित हैं क्योंकि आपने सकल क्रोधरूपी अग्नि को जीत लिया है। आपके नेत्र कटाक्ष बाणों से भी रहित हैं क्योंकि आप में विकार का उद्रेक है ही नहीं। आप का मुख सदा मन्द-मन्द मुस्कान को लिए हुए है अर्थात् प्रसन्न मुद्रायुक्त है क्योंकि आप में विषाद और मद का अभाव हो चुका है इसलिए हे नाथ! आपका मुख ही मानो आपके हृदय की आत्यन्तिक शुद्धि—निर्मलता को कह रहा है।

इस प्रकार से बहुत ही गूढ़ और महान अर्थ को लिए हुए यह चैत्यभक्ति अपने आप में अनुपम निधि है।

उसी प्रकार से मुनि, आर्यिका आदि जिस प्रतिक्रमण को प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल में करते हैं वह दैवसिक—रात्रिक प्रतिक्रमण तथा पन्द्रह दिन में होने वाला या चार महीना या वर्ष में होने वाला बड़ा

१. उत्तरपुराण, पर्व ७४। २. उत्तरपुराण, पर्व ७६, श्लोक ५१५ से ५१७।

प्रतिक्रमण तथा अष्टमी आदि में होने वाली आलोचना—ये तीनों प्रतिक्रमण श्री गौतम स्वामी द्वारा रचित हैं। यह रचनायें साक्षात् उनके मुखकमल से विनिर्गत हैं।

दैवसिक प्रतिक्रमण की टीका करते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं—

''श्रीगौतमस्वामी मुनीनां दुष्षमकाले दुष्परिणामादिभिः प्रतिदिनमुपार्जितस्य कर्मणो विशुद्यर्थं प्रतिक्रमणलक्षणमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलार्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्करोति''—

'श्रीमते वर्धमानाय नमो' इत्यादि।

श्री गौतमस्वामी इस दुष्षमकाल में मुनियों के द्वारा दुष्परिणाम आदि से प्रतिदिन उपार्जित किए गए जो कर्म हैं, उनकी विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण लक्षण उपाय को कहते हुए उसकी आदि में मंगल के लिए इष्ट देवता विशेष को नमस्कार करते हैं—

श्रीमान् वर्धमान भगवान् को नमस्कार हो—इत्यादि।

निषीधिका दण्डक—इस दैवसिक प्रतिक्रमण के अन्तर्गत प्रतिक्रमण भक्ति में ''निषीधिका दण्डक'' आता है जो कि हमें बहुत ही प्रिय है। इसमें प्रथम पद जो ''णमो णिसीहियाए'' है, उसका अर्थ टीकाकार ने १७ प्रकार से किया है। यथा—

१. जिन और सिद्ध की कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमायें, २. उनके मन्दिर, ३. बुद्धि आदि ऋद्धि से सहित मुनिगण, ४. उनसे आश्रित क्षेत्र, ५. अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानी, ६. उनके ज्ञान उत्पत्ति के प्रदेश, ७. उनसे आश्रित क्षेत्र, ८. सिद्धजीव, ९. उनके निर्वाण क्षेत्र, १०. उनसे आश्रित आकाश प्रदेश, ११. सम्यक्त्व आदि चार गुणयुक्त तपस्वी, १२. उनसे आश्रित क्षेत्र, १३. उनके द्वारा छोड़े गए शरीर के आश्रित प्रदेश, १४. योग में स्थित तपस्वी, १५. उनसे आश्रित क्षेत्र, १६. उनके द्वारा छोड़े गए शरीर के आश्रित प्रदेश, १७. और तीन प्रकार के पण्डितमरण में स्थित मुनिगण।[१]

इस निषीधिका दण्डक में श्रीगौतमस्वामी ने अष्टापदपर्वत, सम्मेदशिखर, चम्पापुरी, पावापुरी आदि की भी वंदना की है।

जब चार ज्ञानधारी सर्वऋद्धि समन्वित गौतम गणधर इन तीर्थक्षेत्रों की वंदना करते हैं, तब आज जो अध्यात्म की नकल करने वाला कोई यह कह दे कि ''यदि साधु के तीर्थ वंदना का भाव हो जावे तो उसे प्रायश्चित्त लेना चाहिए।'' यह कथन जैन सिद्धान्त से कितना विपरीत है, यह विद्वानों को स्वयं सोचना चाहिए।

गणधरवलय मन्त्र—इसी प्रकार बड़ा प्रतिक्रमण जो कि पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिकरूप से किया जाता है। उसकी टीका के प्रारम्भ में टीकाकार कहते हैं—

''श्रीगौतमस्वामी दैवसिकादि प्रतिक्रमणादिभिर्निराकर्तुमशक्यानां दोषानां निराकरणार्थं वृहत्प्रतिक्रमणलक्षमुपायं विदधानस्तदादौ मंगलाट्यर्थमिष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह णमोजिणाणमित्यादि।''

ये ''णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं'' आदि ४८ मन्त्र गणधरवलय मन्त्र कहे जाते हैं, वृहत्प्रतिक्रमणपाठ में प्रतिक्रमणभक्ति में इनका प्रयोग है।

इन मन्त्रों का मंगलाचरणरूप धवला की नवमी पुस्तक में है। वहाँ का प्रकरण देखिए—

णमो जिणाणं—जिनों को नमस्कार हो।

शंका—यह सूत्र किसलिए कहा जाता है ?

---

१. प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी पृ. २०।

समाधान—यह मंगल के लिए कहा जाता है।

शंका—मंगल किसे कहते हैं ?

समाधन—पूर्व संचित कर्मों के विनाश को मंगल कहते हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो "जिनसूत्रों का अर्थ भगवान के मुख से निकला हुआ है, जो विसंवाद रहित होने के कारण केवलज्ञान के समान है तथा वृषभसेन आदि गणधर देवों द्वारा जिनकी शब्द रचना की गई है, ऐसे द्रव्य सूत्रों से उनके पढ़ने और मनन करनेरूप क्रिया में प्रवृत्त हुए सब जीवों के प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूप से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है।" इसी प्रकार विधान होने से यह जिन नमस्कारात्मक सूत्र व्यर्थ पड़ता है[१] अथवा यदि यह सूत्र सफल है तो सूत्रों का अध्ययन व्यर्थ होगा क्योंकि उससे होने वाला कर्मक्षय इस जिन नमस्कारात्मक सूत्र में ही पाया जाता है, इस प्रकार दोनों का विषय भिन्न है।

आगे दूसरे सूत्र की उत्थानिका में विशेष स्पष्टीकरण हो रहा है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक जनों के अनुग्रहार्थ गौतम भट्टारक महाकर्मप्रकृति प्राभृत की आदि में नमस्कार करके पर्यायार्थिक नययुक्त शिष्यों के अनुग्रहार्थ उत्तर सूत्रों को कहते हैं[२]।

णमो ओहिजिणाणं।।२।।

अवधिजिनों को नमस्कार हो।।२।।

यहाँ अभिप्राय यह है कि "महाकर्मप्रकृति प्राभृत" ग्रन्थ को रचते हुए भट्टारक श्री गौतमस्वामी मंगलाचरण में सर्वप्रथम "णमो जिणाणं" सूत्र का उच्चारण करते हैं। यद्यपि उतने एक सूत्र से मंगल हो गया है फिर भी पर्यायार्थिकजन के अनुग्रह के लिए आगे के अन्य सूत्रों की रचना करके मंगल करते हैं।

यहाँ यह बात विशेष समझने की है कि धवला के सूत्र साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् के मुख से विनिर्गत होने से बहुत ही प्रमाणिक हैं।

इस धवला ग्रन्थ में ये गणधरवलय मन्त्र ४४ हैं और वृहत्प्रतिक्रमण में ४८ हैं। इसमें "णमो सयंबुद्धाणं" "णमो पत्तेयबुद्धाणं" "णमो बोहियबुद्धाणं" तथा "णमो बड्ढमाणाणं"। ये चारों मन्त्र अधिक हैं।

यहाँ 'णमो जिणाणं' में छठे गुणस्थान से लेकर अर्हन्त भगवान तक के सभी जिनों को लिया है अव्रतियों को नहीं लिया है, ऐसा समझना चाहिए। एक-एक मन्त्र के अर्थों की कितनी विशेषता है, सो हिन्दी पद्यानुवाद में किंचित् व्यक्त की गई है। विशेष इच्छुकों को इनके टीका ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। एक मन्त्र के अर्थ को कहते हैं—

"णमो दित्ततवाणं"।।२३।।

दीप्ति का कारण होने से तप दीप्ति कहा जाता है। दीप्त है तप जिनका, वे दीप्ति तप हैं। चतुर्थ व षष्ठ आदि उपवासों के करने पर जिनका शरीर तेज तप जनित लब्धि के माहात्म्य से प्रतिदिन शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान बढ़ता जाता है, वे ऋषि दीप्ततप कहलाते हैं। उनकी केवल दीप्ति ही नहीं बढ़ती है अपितु बल भी बढ़ता है क्योंकि शरीर, बल, माँस और रुधिर की वृद्धि के बिना शरीर दीप्ति की वृद्धि नहीं हो सकती है

---

१. "..... जिणवयणविणिग्गयत्थादो अविसंवादेण केवलणाणसमाणादो उसहसेणादिगणहरदेवेहि विरइयसददरयणादो दव्वसुत्तादो तप्पढणगुणणकिरियावावदाणं सव्वजीवाणं पडि समयसंखेज्जगुणसेढीए पुव्वसंचिदकम्मणिज्जरा होदि त्ति णिप्फलमिदं सुत्तमिदि।" —(धवला पुस्तक ९ पृ. २)। २. एवं दव्वट्ठिय जणाणुग्गहट्ठं णमोक्कारं गोदमभडारो महाकम्मपयडिपाहुडस्स आदिम्हि काऊण पज्जवट्ठियणयाणुग्गहट्ठमुत्तर सुत्ताणि भणदि।-(धवला पु. ९, पृ. १२)।

इसलिए उनके आहार भी नहीं होता क्योंकि उसके कारणों का अभाव है। यदि कहा जाए कि भूख के दुःख को शांत करने के लिए वे भोजन करते हैं, सो भी ठीक नहीं क्योंकि उनके भूख के दुःख का अभाव है।[१]

धवला टीका से यह निश्चित है कि श्री गौतम स्वामी चार ज्ञान के धारक सर्व ऋद्धियों से समन्वित महान तपस्वी भगवान महावीर स्वामी के प्रथम गणधर थे। भगवान को केवलज्ञान होने के बाद भी ६६ दिन तक उनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी, फिर जब इन्द्र ने इस इन्द्रभूति गौतम को भगवान के समवशरण में प्रवेश कराया था तब उनके जैनेश्वरी दीक्षा लेने के बाद ही ६६ दिन के अनंतर भगवान की दिव्यध्वनि खिरी थी पुनः श्रीगौतमस्वामी ने दीक्षा लेते ही अन्तर्मुहूर्त के बाद मनःपर्ययज्ञान को प्राप्त कर लिया था उसी दिन सायंकाल में अंगपूर्व की रचना कर ली थी।

इन्हें धवला में भूतबलि आचार्य ने कैसे लिया है, सो इसी धवला में स्पष्ट है। यथा—

"यह निबद्ध मंगल तो नहीं हो सकता क्योंकि कृति आदिक चौबीस अनुयोगद्वाररूप अवयवों वाले महाकर्मप्रकृति प्राभृत की आदि में गौतम स्वामी ने इसकी प्ररूपणा की है और भूतबलि भट्टारक ने वेदना-खण्ड के आदि में मंगल के निमित्त इसे वहाँ से लाकर स्थापित किया है अतः इसे निबद्ध मंगल मानने में विरोध है।[२]"

"वर्धमान भगवान ने तीर्थ की उत्पत्ति की है।[३]" अठारह महाभाषा और सात सौ क्षुद्रभाषा स्वरूप द्वादशांगात्मक उन अनेक बीजपदों के प्ररूपक अर्थकर्ता हैं तथा बीजपदों में लीन अर्थ के प्ररूपक बारह अंगों के कर्ता गणधर भट्टारक ग्रन्थकर्ता हैं।[४] ग्रंथकर्ता गौतम स्वामी की विशेषता धवला टीकाकार क्या बतला रहे हैं। देखिए—

पाँच महाव्रतों के धारक, तीन गुप्तियों से रक्षित, पांच समितियों से युक्त, आठ मदों से रहित, सात भयों से मुक्त, बीज, कोष्ठ, पदानुसारी व सम्भिन्नश्रोतृत्व बुद्धियों से उपलक्षित, प्रत्यक्षभूत उत्कृष्ट अवधिज्ञान से असंख्यात लोकमात्र काल में अतीत, अनागत एवं वर्तमान परमाणु पर्यन्त समस्त मूर्त द्रव्य व उनकी पर्यायों को जानने वाले सप्त तपलब्धि के प्रभाव से मल-मूत्ररहित, दीप्ततपलब्धि के बल से सर्वकाल उपवासयुक्त होकर भी शरीर के तेज से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले, सर्वौषधि लब्धि के निमित्त से समस्त औषधियों स्वरूप, अनन्त बलयुक्त होने से हाथ की कनिष्ठा अंगुली द्वारा तीनों लोकों को चलायमान करने में समर्थ, अमृतास्रव आदि ऋद्धियों के बल से हस्तपुट में गिरे हुए सब आहारों को अमृत स्वरूप से परिणमाने में समर्थ, महातप गुण से कल्पवृक्ष के समान, अक्षीणमहानस लब्धि के बल से अपने हाथों में गिरे हुए आहारों की अक्षयता के उत्पादक, अघोरतप ऋद्धि के माहात्म्य से जीवों के मन, वचन एवं कायगत समस्त कष्टों को दूर करने वाले, सम्पूर्ण विद्याओं के द्वारा सेवित चरणमूल से संयुक्त, आकाशचारण गुण से सब जीवसमूहों की रक्षा करने वाले, वचन एवं मन से समस्त पदार्थों के सम्पादन करने में समर्थ, अणिमादिक आठ गुणों के द्वारा सब देवसमूहों को जीतने वाले, तीनों लोकों के जनों में श्रेष्ठ, परोपदेश के बिना अक्षर व अनक्षररूप सब भाषाओं से हम सबको ही कहते हैं—"इस प्रकार सबको विश्वास कराने वाले तथा समवसरणस्थ जनों के कर्ण इन्द्रियों में अपने मुँह से निकली हुई अनेक भाषाओं के सम्मिश्रित प्रवेश के निवारक ऐसे गणधर देव ग्रन्थकर्ता हैं क्योंकि ऐसे स्वरूप के बिना ग्रन्थ की प्रमाणता का विरोध होने से धर्म

१.....तेण तेसिं भुत्ति वि तक्कारणाभावादो। (धवला पु. ९, पृ. ९०)। २. धवला पुस्तक ९, पृ. १०३। ३.....वड्ढमाण भडारएण तित्थमुप्पाइदं। (धवला पु. ९, पृ. ११३)। ४. वही पुस्तक, पृ. १२७।

रसायन द्वारा समवसरण के जनों का पोषण बन नहीं सकता। यहाँ उपर्युक्त गाथा है—

गणधरदेव बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध, रस, बल, अक्षीण, सुस्वरत्वादि ऋद्धियों तथा अवधि एवं मनःपर्यय ज्ञान से सहित होते हैं।।३८।।

संपहि वड्ढमाणतित्थगंथकत्तारो वुच्चदे—

अब वर्धमान जिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता को कहते हैं—

पाँच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, पांच महाव्रत, आठ प्रवचनमाता अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति तथा सहेतुक बन्ध और मोक्ष।।३९।।

"उक्त पांच अस्तिकायादिक कथा हैं।" ऐसे सौ धर्मेन्द्र के प्रश्न से सन्देह को प्राप्त हुए, पाँच सौ-पाँच सौ शिष्यों से सहित तीन भ्राताओं से वेष्टित, मानस्तम्भ के देखने से मान से रहित हुए, वृद्धि को प्राप्त होने वाली विशुद्धि से संयुक्त वर्धमान भगवान के दर्शन करने पर असंख्यात भवों में अर्जित महान कर्मों को नष्ट करने वाले, जिनेन्द्रदेव की तीन प्रदक्षिणा करके पंच सृष्टियों से अर्थात् पांच अंगों द्वारा भूमिस्पर्शपूर्वक वंदना करके एवं हृदय से जिनभगवान का ध्यान कर संयम को प्राप्त हुए, विशुद्धि के बल से मुहूर्त के भीतर उत्पन्न हुए समस्त गणधर के लक्षणों से संयुक्त तथा जिनमुख से निकले हुए बीजपदों के ज्ञान से सहित ऐसे गौतम गोत्र वाले इन्द्रभूति ब्राह्मण द्वारा चूंकि आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग व दृष्टिवादांग, इन बारह अंगों तथा सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निषिद्धिका, इन अंगबाह्य चौदह प्रकीर्णकों की श्रावण मास के कृष्ण पक्ष में युग की आदि में प्रतिपदा के पूर्व दिन में रचना की थी अतएव इन्द्रभूति भट्टारक वर्धमान जिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता हुए। कहा भी है—

वर्ष के प्रथम मास व प्रथम पक्ष में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के पूर्व दिन में अभिजित् नक्षत्र में तीर्थ की उत्पत्ति हुई[१]।।४०।।

आचार्य श्रीगुणधरदेव

श्रुतधर आचार्यों की परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य कौन हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर इतिहासकारों ने बड़े आदर से महान आचार्यश्री "गुणधर देव" का नाम लिया है। श्रीगुणधर और धरसेन ये दोनों आचार्य श्रुत के प्रतिष्ठापकरूप से प्रसिद्ध हुए हैं फिर भी गुणधरदेव, धरसेनाचार्य की अपेक्षा अधिक ज्ञानी थे और लगभग उनके दो सौ वर्ष पूर्व हो चुके हैं ऐसा विद्वानों का अभिमत है अतएव आचार्य गुणधर को दिगम्बर परम्परा में लिखितरूप से प्राप्त श्रुत का प्रथम श्रुतकार माना जा सकता है। धरसेनाचार्य ने किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की, जब कि गुणधराचार्य ने "पेज्जदोसपाहुड" ग्रन्थ की रचना की है।

आचार्य का समय—

ये गुणधराचार्य किनके शिष्य थे इत्यादि रूप से इनका परिचय यद्यपि आज उपलब्ध नहीं है तो भी उनकी महान कृति से ही उनकी महानता जानी जाती है। यथा—

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात्[२]।।५१।।

---

१. वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले। पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्तिदु अभिजिम्मि।।४०।। २. इन्द्रनंदिकृत श्रुतावतार।

गुणधर और धरसेन की पूर्वापर गुरु परम्परा हमें ज्ञात नहीं है क्योंकि इसका वृत्तांत न तो हमें किसी आगम में मिला और न किसी मुनि ने ही बतलाया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रनंदि आचार्य के समय तक आचार्य गुणधर और धरसेन का गुरु शिष्य परम्परा का अस्तित्व स्मृति के गर्भ में विलीन हो चुका था फिर भी इतना स्पष्ट है कि श्री अर्हद्बलि आचार्य द्वारा स्थापित संघों में "गुणधर संघ" का नाम आया है। नंदिसंघ की प्राकृत पट्टावली में अर्हद्बलि का समय वीर नि.सं. ५५६ अथवा वि. सं. ९५ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुणधर देव अर्हद्बलि के पूर्ववर्ती हैं पर कितने पूर्ववर्ती हैं, यह निर्णयात्मकरूप से नहीं कहा जा सकता। यदि गुणधर की परम्परा को ख्याति प्राप्त करने में सौ वर्ष का समय मान लिया जाए तो षट्खंडागम के प्रवचनकर्ता धरसेनाचार्य से "कसायपाहुड" के प्रणेता गुणधराचार्य का समय लगभग दो सौ वर्ष पूर्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार आचार्य गुणधर का समय विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है[१]।

कषायपाहुड़ ग्रन्थ रचना—भगवान महावीर की दिव्यध्वनि को सुनकर श्री गौतमस्वामी ने उसे द्वादशांगरूप से निबद्ध किया। यह द्वादशांग श्रुत अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु आचार्य तक पूर्णरूप से विद्यमान रहा पुनः धीरे-धीरे ह्रास होते हुए अंग और पूर्व के एकदेशरूप ही रह गया तब श्रुतरक्षा की भावना से प्रेरित हो कुछ आचार्यों ने उसे ग्रन्थरूप से निबद्ध किया।

श्रीगुणधराचार्य को पाँचवें ज्ञानप्रवाद पूर्व की दशवीं वस्तु के तीसरे पेज्जदोसपाहुड का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त था जबकि षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के प्रणेताओं को उक्त ग्रन्थों की उत्पत्ति के आधारभूत "महाकम्मपयडिपाहुड" का आंशिक ही ज्ञान प्राप्त हुआ था। इस प्रकार से गुणधराचार्य ने "कसायपाहुड़" जिसका अपरनाम "पेज्जदोसपाहुड" भी है, उसकी रचना की है। १६००० पद प्रमाण कसायपाहुड़ के विषय को संक्षेप से एक सौ अस्सी गाथाओं में ही उपसंहृत कर दिया है।

पेज्ज नाम प्रेयस् या राग का है और दोस नाम द्वेष का है। यतः क्रोधादि चारों कषायों में माया, लोभ को रागरूप से और क्रोध, मान को द्वेषरूप से, ऐसे ही नव नोकषायों का विभाजन भी राग और द्वेषरूप में किया है अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल नाम "पेज्जदोसपाहुड" है और उत्तर नाम "कसायपाहुड" है। कषायों की विभिन्न अवस्थाओं का एवं इनसे छूटने का विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है अर्थात् किस कषाय के अभाव से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है, किस कषाय के क्षयोपशम आदि से देशसंयम और सकलसंयम की प्राप्ति होती है, यह बतला करके कषायों की उपशमना और क्षपणा का विधान किया गया है। तात्पर्य यही है कि इस ग्रन्थ में कषायों की विविध जातियां बतला करके उनके दूर करने का मार्ग बतलाया गया है।

इस ग्रन्थ की रचना गाथासूत्रों में की गई है। आचार्य गुणधरदेव स्वयं कहते हैं—"वोच्छामि सुत्तगाहा जपिगाहा जम्मि अत्थम्मि[२]" जिस अर्थाधिकार में जितनी-जितनी सूत्र गाथायें प्रतिबद्ध हैं, उन्हें मैं कहूँगा। इस ग्रन्थ में कुल २३३ गाथायें हैं, जिन्हें "कसायपाहुड" सुत्त की प्रस्तावना में पं. हीरालाल जी ने श्रीगुणधराचार्य रचित ही माना है अर्थात् ५३ गाथाओं में विवाद होकर भी गुणधराचार्य रचित ही निर्णय मान्य होता है।

"इस प्रकार के उपसंहृत एवं गाथासूत्र निबद्ध द्वादशांग जैन वाङ्मय के भीतर अनुसंधान करने पर यह ज्ञात हुआ है कि कसायपाहुड ही सर्वप्रथम निबद्ध हुआ है। इससे प्राचीन अन्य कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं है[३]।" अतः श्री गुणधराचार्य दिगम्बराचार्य की परम्परा में प्रथम सूत्रकार माने जाते हैं।

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, भाग २, पृ. ३०। २. कसायपाहुड, गा. २। ३. कसायपाहुड सुत्त, प्रकाशकीय वक्तव्य।

ग्रन्थ की महत्ता—आचार्य इन्द्रनंदि ने अपने श्रुतावतार में कहा है कि "कसायपाहुड" ग्रन्थ पर आचार्य यतिवृषभ ने ६,००० श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र रचे हैं।

उच्चारणाचार्य ने १२,००० श्लोक प्रमाण में उच्चारणावृत्ति रची है। शामकुन्डाचार्य ने ४८,००० श्लोक प्रमाण में 'पद्धति' नाम से व्याख्या रची है। तुम्बलूराचार्य ने ८४,००० श्लोक प्रमाण में चूड़ामणि टीका रची है और आचार्यश्री वीरसेन तथा जिनसेन ने ६०,००० श्लोक प्रमाण में "जयधवला" नाम से टीका लिखी है। उपलब्ध जैन वाङ्मय में से कसायपाहुड पर ही सबसे अधिक व्याख्यायें और टीकायें रची गई हैं। यदि उक्त समस्त टीकाओं के परिमाण को सामने रखकर मात्र २३३ गाथाओं वाले कसायपाहुड को देखा जाए तो वह दो लाख प्रमाण से भी ऊपर सिद्ध होता है। वर्तमान में मूल गाथाएँ यतिवृषभाचार्यकृत चूर्णिसूत्र और जयधवला टीका ही उपलब्ध है, बाकी टीकाएँ उपलब्ध नहीं हैं।

चूर्णिसूत्रकार ने और जयधवलाकार ने तो इनकी गाथाओं को बीजपदरूप और अनंतार्थगर्भी कहा है। "कसायपाहुड की किसी-किसी गाथा के एक-एक पद को लेकर एक-एक अधिकार का रचा जाना तथा तीन गाथाओं का पांच अधिकारों में निबद्ध होना ही गाथाओं की गम्भीरता और अनंत अर्थगर्भिता को सूचित करता है। वेदक अधिकार की जो जंसंकामेदिय" (गाथांक ६२) गाथा के द्वारा चारों प्रकार के बंध, चारों प्रकार के संक्रमण, चारों प्रकार के उदय, चारों प्रकार की उदीरणा और चारों प्रकार के सत्व सम्बन्धी अल्पबहुत्व की सूचना निश्चयतः उसके गांभीर्य और अनन्तार्थगर्भित्व की साक्षी है। यदि इन गाथा सूत्रों में अंतर्निहित अनंत अर्थ को चूर्णिकार व्यक्त न करते, तो आज उनका अर्थबोध होना असम्भव था।

इस ग्रंथ का भगवान महावीर स्वामी से सीधा सम्बन्ध है। देखिए—स्वयं जयधवलाकार प्रस्तुत ग्रंथ के गाथासूत्रों और चूर्णिसूत्रों को किस श्रद्धा और भक्ति से देखते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में देखिए। एक स्थल पर शिष्य के द्वारा यह शंका किए जाने पर कि "यह कैसे जाना ?" इसके उत्तर में वीरसेनाचार्य कहते हैं—

"एदम्हादो विउलगिरिमत्थ यत्थवड्ढमाणादिवायरादो विणिग्गमिय गोदमलोहज्जजंबुसमियादि आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थी हितो जसिवसहमुहणयिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणमिद दिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे[१]।"

अर्थात् "विपुलाचल के शिखर पर विराजमान वर्धमान दिवाकर से प्रकट होकर गौतम, लोहार्य (सुधर्मा स्वामी[२]) और जम्बूस्वामी आदि की आचार्य परम्परा से आकर और गुणधराचार्य को प्राप्त होकर गाथास्वरूप से परिणत हो पुनः आर्यमंक्षु और नागहस्ति द्वारा यतिवृषभ को प्राप्त होकर और उनके मुख-कमल से चूर्णिसूत्र के आकार से परिणत दिव्यध्वनिरूप किरण से जानते हैं।"

"पाठक स्वयं अनुभव करेंगे कि जो दिव्यध्वनि भगवान महावीर से प्रगट हुई है वही गौतमादि के द्वारा प्रसारित होती हुई गुणधराचार्य को प्राप्त हुई और फिर उनके द्वारा गाथारूप से परिणत होकर आचार्य परम्परा द्वारा आर्यमंक्षु और नागहस्ति को प्राप्त होकर उनके द्वारा यतिवृषभ को प्राप्त हुई और फिर वही दिव्यध्वनि चूर्णिसूत्रों में निर्दिष्ट प्रत्येक बात दिव्यध्वनिरूप ही है। इसमें किसी प्रकार के संदेह या शंका की कुछ भी गुंजाइश नहीं है। अस्तु ! कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रों में जिस ढंग से वस्तुतत्त्व का निरूपण किया गया है, उसी से वह सर्वज्ञ कथित है" यह सिद्ध होता है[३]।

इस उपर्युक्त प्रकरण से आचार्य परम्परा और श्रुत परम्परा का अविच्छेद भी जाना जाता है।

---

१. जयधवला आ. पत्र ३१३। २. जंबूद्वीपण्णत्ति १/१०-११। ३. कसायपाहुडसुत्त, प्रकाशकीय वक्तव्य।

जयधवलाकार तो इस कषायपाहुड के ऊपर रचे गए चूर्णिसूत्रों को षट्खण्डागम सूत्रों के सदृश सूत्र-रूप और प्रमाण मानते हैं। देखिए—किसी स्थल पर चूर्णिकार यतिवृषभ और षट्खंडागम के कर्ता भूतबलि के मत में कुछ अन्तर होने पर श्री वीरसेनाचार्य कहते हैं कि "**एदेसिं दोण्हमुवदेसाणं मज्झे सच्चेणेक्केणेव होदव्वं। तत्थ सच्चत्तणेगदरणिण्णओ णत्थि त्ति दोण्हं पि संगहो कायव्वो**[१]।" इन दोनों उपदेशों में से सत्य तो एक ही होना चाहिए किन्तु किसी एक की सत्यता का निर्णय आज केवली या श्रुतकेवली के न होने से सम्भव नहीं है अतएव दोनों का ही संग्रह करना चाहिए।

श्री वीरसेनाचार्य ने भगवान की दिव्यध्वनि को सूत्र कहा है पुनः श्रीगणधरदेव और गणधरदेव के वचनों को भी सूत्र सम कहकर प्रमाणता दी है तथा सूत्र के लक्षण के बाद प्रश्न होता है कि—

"इस वचन से ये गाथाएँ सूत्र नहीं हैं क्योंकि गणधर, प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वी के वचन सूत्र माने गए हैं किन्तु भट्टारक गणधरादि नहीं हैं तो आचार्य कहते हैं कि नहीं, गुणधर भट्टारक की गाथाएँ निर्दोष, अल्पाक्षर एवं सहेतुक होने से सूत्र के समान हैं अतः इन्हें सूत्र ही माना गया है।" ऐसे ही कई स्थलों पर जयधवला में उल्लेख है[२]।

इन सभी बातों से आचार्य गुणधर देव कितने महान थे और उनका यह कसायपाहुड ग्रन्थ कितना महान है, इसका बोध सहज ही हो जाता है।

महत्त्वपूर्ण गाथा—

उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति का पूरा वर्णन करके सम्यक्त्व के लक्षण को बतलाते हुए श्रीगुणधरदेव कहते हैं—

सम्माइट्ठी जीवो पवयणं णियमसा दु उवइट्ठं।।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणिओगा।।१०७।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का तो नियम से श्रद्धान करता ही है किन्तु कदाचित् अज्ञानवश सद्भूत अर्थ को स्वयं नहीं जानता हुआ गुरु के नियोग से असद्भूत अर्थ का भी श्रद्धान कर लेता है।

यह गाथा किसी ग्रंथ में इसी रूप में अथवा कहीं पर किंचित् परिवर्तित रूप में कई ग्रन्थों में आती है। लब्धिसार में गाथा का पूर्वार्ध बदला हुआ है और उत्तरार्ध यही है। वहां पर "अजाणमाणो गुरुणिओगा" का अर्थ टीकाकर ने ऐसा किया है कि गुरु यदि विस्मरण से, दुष्ट अभिप्राय से अथवा ज्ञान से कुछ गलत अर्थ भी कह रहे हैं और शिष्य गुरु के वचन पर श्रद्धान कर रहा है तो वह सम्यग्दृष्टि ही है, मिथ्यादृष्टि नहीं है। पुनः आगे गाथा में कहते हैं कि यदि किसी अन्य आचार्य ने सूत्र से सही अर्थ को दिखा दिया है और फिर वह पूर्व के हठ को नहीं छोड़ता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है[३]।

इस उपर्युक्त गाथा से गुरु के वचन का महत्त्व दिख रहा है तथा पुनरपि अन्य गुरु के द्वारा आगम पंक्ति दिखाए जाने पर भी यदि कोई दुराग्रह को नहीं छोड़ता है तो वास्तव में अपने सम्यक्त्वरत्न को छोड़ देता है अतः आचार्यों के वचनों पर हमें दृढ़ श्रद्धान होना चाहिए क्योंकि आज हमारे सामने केवली या श्रुतकेवली नहीं हैं। वर्तमान के उपलब्ध प्रामाणिक ग्रन्थ ही उनकी वाणीरूप होने से श्रद्धान करने योग्य हैं और सर्वथा मान्य हैं तथा पूर्व में आचार्य ग्रन्थों को गुरुमुख से ही पढ़ते थे पुनः उस पर टीका या भाष्य आदि लिखते थे,

१. जयधवला। २. जयधवला, भाग-१, पृ. १५४। ३. लब्धिसार।

यह भी स्पष्ट दिख रहा है।

गुणधर देव के इस इतिहास से हमें यह समझना है कि ये आचार्य विक्रम पूर्व की प्रथम शताब्दी में हुए हैं अतः ये षट्खण्डागम के उपदेष्टा श्री धरसेनाचार्य व कुन्दकुन्दाचार्य आदि से प्रथम हुए हैं। इनका ग्रन्थ "कसायपाहुड" महान सूत्र ग्रन्थ है जो कि चूर्णिसूत्र व हिन्दी सहित "वीर सेवा मन्दिर" से छप चुका है और जयधवला टीका भी (मथुरा संघ से) कई भागों में छप चुकी है। जयधवला टीका के अध्ययन से इस ग्रन्थ के रहस्य को कुछ समझ सकते हैं एवं उपर्युक्त गाथा नं. १०७ को यदि पाठकगण हृदय में अंकित कर लेंगे तथा उसके अनुरूप आचार्यों की वाणी पर पूर्ण श्रद्धान करेंगे तो अवश्य ही इस सम्यग्दर्शन के बल पर संसार समुद्र को पार कर लेंगे।

आचार्य श्री धरसेन

भगवान महावीर स्वामी ने भावश्रुत का उपदेश दिया अतः वे अर्थकर्ता हैं। उसी काल में चार ज्ञान से युक्त गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ने बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रन्थों की एक ही मुहूर्त्त में क्रम से रचना की है। उन गौतमस्वामी ने भी दोनों प्रकार का श्रुतज्ञान लोहार्य को दिया। लोहार्य ने भी जम्बूस्वामी को दिया। परिपाटी क्रम से ये तीनों ही सकलश्रुत के धारण करने वाले कहे गए हैं और यदि परिपाटी क्रम की अपेक्षा न की जाए तो उस समय संख्यात हजार सकलश्रुत के धारी हुए। गौतमस्वामी, लोहार्य और जम्बूस्वामी ये तीनों निर्वाण को प्राप्त हुए। इसके बाद विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँचों ही आचार्य, परिपाटी क्रम से चौदह पूर्व के धारी हुए। तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धान्त, स्थविर, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल और गंगदेव ये ग्यारह ही महापुरुष परिपाटी क्रम से ग्यारह अंग, दशपूर्व के धारक और शेष चार पूर्वों के एकदेश के धारक हुए।

इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पांडुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पांचों ही आचार्य परिपाटी क्रम से सम्पूर्ण ग्यारह अंगों के और चौदह पूर्वों के एकदेश के धारक हुए।

तदनंतर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहार्य, ये चारों ही आचार्य संपूर्ण आचारांग के धारक और शेष अंग तथा पूर्वों के एकदेश के धारक हुए। इसके बाद सभी अंग और पूर्वों का एक देश ज्ञान आचार्य परम्परा से आता हुआ धरसेन आचार्य को प्राप्त हुआ[१]।

सौराष्ट (गुजरात-काठियावाड़) देश के गिरिनगर नाम के नगर की चन्द्रगुफा में रहने वाले अष्टांग महानिमित्त के पारगामी, प्रवचनवत्सल और आगे अंग श्रुत का विच्छेद हो जाएगा, इस प्रकार उत्पन्न हो गया है भय जिनको, ऐसे उन धरसेनाचार्य से महामहिमा (पंचवर्षीय साधु सम्मेलन) में सम्मिलित हुए दक्षिणापथ के (दक्षिण देश के निवासी) आचार्यों के पास एक लेख भेजा। लेख में लिखे गए धरसेनाचार्य के वचनों को अच्छी तरह समझकर उन आचार्यों ने शास्त्र के अर्थ को ग्रहण और धारण करने में समर्थ, नाना प्रकार की उज्ज्वल और निर्मल विनय से विभूषित अंग वाले, शीलरूपी माला के धारक, गुरुओं द्वारा प्रेषण (भेजने) रूपी भोजन से तृप्त हुए , देश, कुल और जाति से शुद्ध अर्थात् उत्तम कुल और उत्तम जाति में उत्पन्न हुए, समस्त कलाओं में पारंगत और तीन बार पूछा है आचार्यों को जिन्होंने, ऐसे दो साधुओं को आन्ध्र देश में बहने वाली वेणानदी के तट से भेजा।

---

१. तदो सव्वेसिमग-पुव्वाणमेग-देसो आइरियपरम्पराए आगच्छमाणो धरसेनाइरियं संपत्तो।-(धवला पु.-१, पृ. ६८।)

मार्ग में उन दोनों के आते समय श्री धरसेन भट्टारक ने रात्रि के पिछले भाग में स्वप्न देखा कि समस्त लक्षणों से परिपूर्ण, सफेद वर्ण वाले दो उन्नत बैल उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर चरणों में पड़ गए हैं। इस प्रकार के स्वप्न को देखकर संतुष्ट हुए धरसेनाचार्य ने "जयउ सुयदेवदा — श्रुतदेवता जयवन्त हों" ऐसा वाक्य उच्चारण किया।

उसी दिन दक्षिणापथ से भेजे हुए वे दोनों साधु धरसेनाचार्य को प्राप्त हुए। उसके बाद धरसेनाचार्य की पादवन्दना आदि कृतिकर्म करके और दो दिन बिताकर तीसरे दिन उन दोनों ने धरसेनाचार्य से निवेदन किया कि "इस कार्य से हम दोनों आपके पादमूल को प्राप्त हुए हैं।" उन दोनों मुनियों के इस प्रकार निवेदन करने पर "अच्छा है, कल्याण हो" इस प्रकार कहकर धरसेन भट्टारक ने उन दोनों साधुओं को आश्वासन दिया। इसके बाद भगवान धरसेन ने विचार किया कि—

"शैलघन, भग्नघट, सर्प, चालनी, महिष, मेंढा, जोंक, तोता, मिट्टी और मशक के समान श्रोताओं को जो मोह से श्रुत का व्याख्यान करता है, वह मूढ़ दृढ़रूप से ऋद्धि आदि तीनों प्रकार के गौरवों के आधीन होकर विषयों की लोलुपतारूपी विष के वश से मूर्च्छित हो, बोधि — रत्नत्रय की प्राप्ति से भ्रष्ट होकर भव वन में चिरकाल तक परिभ्रमण करता रहता है।"

इस वचन के अनुसार स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करने वाले श्रोताओं को विद्या देना संसार और भय को ही बढ़ाने वाला है, ऐसा विचार कर शुभ स्वप्न के देखने मात्र से ही यद्यपि उन दोनों साधुओं की विशेषता को जान लिया था तो भी फिर से उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया क्योंकि उत्तम प्रकार से ली गई परीक्षा हृदय में संतोष को उत्पन्न करती है। अनंतर धरसेनाचार्य ने उन दोनों को दो विद्याएँ दीं। उनमें से एक अधिक अक्षर वाली थी और दूसरी हीन अक्षर वाली थी। उनको विद्याएँ देकर यह कहा कि दो दिन का उपवास करके इन विद्याओं को सिद्ध करो। (इन्द्रनंदि आचार्य ने बताया है कि उन दोनों ने गुरु की आज्ञा से नेमिनाथ की निर्वाण स्थली पर जाकर विद्याओं को सिद्ध किया)। जब उनकी विद्याएँ सिद्ध हो गईं तो उन्होंने विद्या की अधिष्ठात्री देविकाओं को देखा कि "एक देवी के दांत बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है।" 'विकृतांग होना देवताओं का स्वभाव नहीं है।' इस प्रकार विचार कर मंत्र सम्बन्धी-व्याकरण शास्त्र में कुशल उन दोनों ने हीन अक्षर वाली विद्या में अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षर वाली विद्या में से अक्षर निकालकर उस मन्त्र को फिर सिद्ध किया। जिससे वे दोनों विद्या देविकाएँ अपने स्वभाव से सुन्दररूप में दिखलाई पड़ीं (उन्होंने — 'आज्ञा देवो' ऐसा कहा, तब इन मुनियों ने कहा कि मैंने तो गुरु की आज्ञा मात्र से ही मंत्र का अनुष्ठान किया है, मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है तब वे देविकाएँ अपने स्थान को चली गईं ऐसा श्रुतावतार में वर्णन है)।

तदनन्तर भगवान धरसेन के समक्ष योग्य विनय सहित उन दोनों ने विद्या सिद्धि सम्बन्धी समस्त वृत्तान्त निवेदित कर दिया। "बहुत अच्छा" ऐसा कहकर संतुष्ट हुए धरसेनाचार्य ने शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ वार में ग्रन्थ को पढ़ाना प्रारम्भ किया। इस तरह क्रम से व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान से उन दोनों ने आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन पूर्वान्ह काल में विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया। इसलिए सन्तुष्ट हुए भूत जाति के व्यंतर देवों ने उन दोनों में से एक की पुष्प, बलि तथा शंख और सूर्य जाति के वाद्य विशेष के नाद से व्याप्त बड़ी भारी पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारक ने उनका "भूतबलि" यह नाम रखा तथा जिनकी भूतों ने पूजा की है और अस्त-व्यस्त दन्तपंक्ति को दूर करके जिनके दांत समान कर दिए हैं,

ऐसे दूसरे का भी श्री धरसेन भट्टारक ने "पुष्पदन्त" नाम रखा।

तदनन्तर उसी दिन वहां से भेजे गए उन दोनों ने "गुरु की आज्ञा अलंघनीय होती है" ऐसा विचार कर आते हुए अंकलेश्वर (गुजरात) में वर्षाकाल बिताया। (गुरु ने अपनी अल्प आयु जानकर उन दोनों को वहाँ से विहार कर अन्यत्र चातुर्मास करने की आज्ञा दी और वे दोनों मुनि आषाढ़ सुदी ११ को निकलकर श्रावण वदी ४ को अंकलेश्वर आये, वहाँ पर वर्षायोग स्थापित किया)।

वर्षायोग को समाप्त कर और जिनपालित को साथ लेकर पुष्पदन्ताचार्य तो वनवासी देश को चले गए और भूतबलि भट्टारक तमिल देश को चले गए। तदनन्तर पुष्पदन्ताचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर बीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र बनाकर और जिनपालित मुनि को पढ़ाकर अनंतर उन्हें भूतबलि आचार्य के पास भेजा। भूतबलि ने जिनपालित के द्वारा दिखाए गए सूत्रों को देखकर और पुष्पदंताचार्य अल्पायु हैं, ऐसा समझकर तथा हम दोनों के बाद महाकर्मप्रकृति प्राभृत का विच्छेद हो जाएगा; इस प्रकार की बुद्धि के उत्पन्न होने से भगवान भूतबलि ने द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर ग्रन्थ रचना की इसलिए इस खण्ड सिद्धान्त (षट्खण्ड सिद्धान्त) की अपेक्षा भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुत के कर्ता कहे जाते हैं। अनुग्रन्थकर्ता गौतम स्वामी हैं और उपग्रन्थकर्ता राग, द्वेष और मोह से रहित भूतबलि, पुष्पदन्त आदि अनेक आचार्य हैं[१]।"

धरसेनाचार्य का समय—नंदि संघ की प्राकृत पट्टावली में ६८३ वर्ष के अन्दर ही धरसेन को माना है। यथा—केवली का काल बासठ वर्ष, श्रुतकेवलियों का १०० वर्ष, दश पूर्वधारियों का १८३ वर्ष, ग्यारह अंगधारियों का १२३ वर्ष, दस, नव व आठ अंगधारी का ९७ वर्ष ऐसे ६२+१००+१८३+१२३+९७=५६५ वर्ष हुए पुनः एक अंगधारियों में अर्हतबलि का २८ वर्ष, माघनंदि का २१ वर्ष, धरसेन का १९ वर्ष, पुष्पदन्त का ३० वर्ष और भूतबलि का २० वर्ष, ऐसे ११८ वर्ष हुए। कुल मिलाकर ५६५+११८=६८३ वर्ष के अन्तर्गत ही धरसेनाचार्य हुए हैं।

इस प्रकार इस पट्टावली और इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के आधार पर भी श्री धरसेन का समय वीर निर्वाण संवत् ६०० अर्थात् ई. सन् ७३ के लगभग आता है।

धरसेन के गुरु—उपर्युक्त पट्टावली के अनुसार इनके गुरु श्री माघनन्दि आचार्य थे अथवा इन्द्रनन्दि आचार्य ने स्पष्ट कह दिया है कि इनकी गुरु परम्परा का हमें ज्ञान नहीं है।

धरसेनाचार्य की रचना—चूँकि श्री धरसेनाचार्य ने अपने पास में पढ़ने के लिए आये हुए दोनों मुनियों को मन्त्र सिद्ध करने का आदेश दिया था अतः ये मन्त्रों के विशेष ज्ञाता थे। इनका बनाया हुआ योनिप्राभृत नाम का एक ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है। यह ग्रन्थ ८०० श्लोकों प्रमाण प्राकृत गाथाओं में है। उसका विषय मन्त्र-तन्त्रवाद है, वृहत् टिप्पणिका नामक इन्स्टीट्यूट पूना में है। इस प्रति में ग्रन्थ का नाम तो योनिप्राभृत ही है किन्तु उसके कर्ता का नाम पण्हसवण मुनि पाया जाता है। इस महामुनि ने उसे कूष्माण्डिनी महादेवी से प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि के लिए लिखा। इन दो नामों के कथन से इस ग्रन्थ का धरसेन कृत होना बहुत सम्भव जंचता है। प्रज्ञाश्रमणत्व एक ऋद्धि का नाम है उसके धारण करने वाले प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे। पूना में उपलब्ध "जोणिपाहुड" की इस प्रति का लेखन काल सं. १५८२ है अर्थात् वह प्रति चार सौ वर्ष से अधिक प्राचीन है। जोणिपाहुड ग्रन्थ का उल्लेख धवला में भी आया है, जो

१. धवला पुस्तक १, पृ. ६६ से ७२।

इस प्रकार है—

जोणिपाहुडे भणिदमंत-तंत-सत्तीओ पोग्गलाणु भागोत्ति घेत्तव्वौ।[१] धवला अ. प्रति-पत्र।।१८।।

इस प्रकार से धरसेनाचार्य के महान उपकार स्वरूप ही आज हमें षट्खण्डागम ग्रन्थ का स्वाध्याय करने को मिल रहा है। इनके बारहवें दृष्टिवाद अंग के अन्तर्गत पूर्वों के तथा पांचवे सम्प्रदाय की मान्यतानुसार षट्खण्डागम और कषायपाहुड ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका सीधा सम्बन्ध महावीर स्वामी की द्वादशांग वाणी से माना जाता है। कहा भी है—

''जयउ धरसेणणाहो जेण, महाकम्मपयडिपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ, समप्पिओ पुप्फयन्तस्य[२]।।'' (धवला अ. ४७५)

वे धरसेनस्वामी जयवन्त होवें जिन्होंने इस महाकर्मप्रकृति प्राभृतरूपी पर्वत को बुद्धिरूपी मस्तक से उठाकर श्री पुष्पदंत आचार्य को समर्पित किया है अर्थात् जिन्होंने पुष्पदन्त मुनि को पढ़ाया है, पुनः इन्होंने ग्रन्थ की रचना की है।

(इस प्रकार से इन धरसेनाचार्य के इतिहास से हमें यह समझना है कि ये आचार्य अंग और पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता थे, मंत्रशास्त्र के ज्ञाता थे एवं एक योनिप्राभृत ग्रन्थ भी रचा था। इन्होंने बहुत काल तक चन्द्रगुफा में निवास किया था। योग्य मुनियों को अपना श्रुतज्ञान पढ़ाया था। शिष्यों को मंत्र सिद्ध करने को भी दिया था। इस प्रकार से जो मंत्र देने का विरोध करते हैं उन्हें अवश्य सोचना चाहिए कि आज के मुनि या आचार्य किसी को मिथ्यात्व के प्रपंच से हटाकर शांति हेतु या किसी कार्य सिद्धि हेतु यदि कुछ मंत्र दे देते हैं, तो देने वाले या मंत्र जपने वाले दोनों ही मिथ्यादृष्टि नहीं हैं तथा उन्होंने श्रुत के विच्छेद के भय से जो दो मुनियों को अपना श्रुतज्ञान देकर उनके निमित्त से आज श्रुतज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न रखी है उनका यह महान उपकार प्रतिदिन स्मरण करना चाहिए। जिस दिन षट्खण्डागम की रचना पूरी हुई उस दिन चतुर्विध संघ ने मिलकर श्रुत की महापूजा की थी, उस दिन ज्येष्ठ सुदी पंचमी थी अतः उस पंचमी को आज श्रुतपंचमी कहकर सर्वत्र श्रुतपूजा करने की प्रथा चली आ रही है। उसे भी विशेष पर्वरूप में मनाकर श्रुत की, गुरु धरसेनाचार्य, पुष्पदंत तथा भूतबलि आचार्य की पूजा करनी चाहिए।)

आचार्य श्री पुष्पदन्त और भूतबलि

पुष्पदन्त और भूतबलि का नाम साथ-साथ प्राप्त होता है फिर भी नंदिसंघ की प्राकृत पट्टावली में पुष्पदंत को भूतबलि से ज्येष्ठ माना गया है। धरसेनाचार्य के बाद पुष्पदंत का आचार्य काल ३० वर्ष का बताया है और इनके बाद भूतबलि का २० वर्ष कहा गया है अतः इनका समय धरसेनाचार्य के समय के लगभग ही स्पष्ट है।

यह तो निश्चित ही है कि श्री धरसेनाचार्य ने दो मुनियों को अन्यत्र मुनिसंघ से बुलाकर विद्याध्ययन कराया था। अनंतर शास्त्र समाप्ति के दिन उनकी विनय से सन्तुष्ट हुए भूतजाति के व्यंतर देवों ने उन दोनों में से एक मुनि की पुष्प, बलि तथा शंख और सूर्य जाति के वाद्य विशेषों के नाद से बड़ी भारी पूजा की। उसे देखकर धरसेनाचार्य ने उनका ''भूतबलि'' यह नाम रखा और दूसरे मुनि की अस्त-व्यस्त दंतपंक्तियों को ठीक करके उनके दांत समान कर दिए, जिससे गुरु ने उनका ''पुष्पदंत'' नाम रखा। इस धवला टीका के

१. धवला पु. १, प्रस्तावना पृ. २५-२६। २. धवला पु. १, प्रस्तावना पृ. ६२।

कथन से यह बात स्पष्ट है कि इनका पूर्व नाम कुछ और ही होना चाहिए तथा इनका गृहस्थाश्रम का परिचय क्या है यह जिज्ञासा सहज ही होती है।

विबुध श्रीधर के श्रुतावतार में भविष्यवाणी के रूप में पुष्पदंत और भूतबलि आचार्य के जीवन पर अच्छा प्रकाश देखने में आता है। यथा—

भरतक्षेत्र के वामिदेश—ब्रह्मादेश में वसुन्धरा नाम की नगरी होगी। वहां के राजा नरवाहन और रानी सुरूपा पुत्र न होने से खेदखिन्न होंगे। उस समय सुबुद्धि नाम का सेठ उन्हें पद्मावती की पूजा का उपदेश देगा। तदनुसार देवी की पूजा करने पर राजा को पुत्र लाभ होगा और उस पुत्र का नाम पद्म रखा जाएगा। तदनन्तर राजा सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण कराएगा। इसी समय बसन्त ऋतु में समस्त संघ यहाँ एकत्र होगा और राजा सेठ के साथ जिनपूजा करके रथ चलाएगा। इसी समय राजा अपने मित्र मगध सम्राट को मुनीन्द्र हुआ देख सुबुद्धि सेठ के साथ विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण करेगा। इसी समय एक लेखवाहक वहां आएगा वह जिनदेव को नमस्कार कर मुनियों की तथा परोक्ष में धरसेन गुरुदेव की वन्दना कर लेख समर्पित करेगा। वे मुनि उसे बाचेंगे कि "गिरिनगर के समीप गुफावासी धरसेन मुनीश्वर अग्रायणीय पूर्व की पंचमवस्तु के चौथे प्राभृतशास्त्र का व्याख्यान आरम्भ करने वाले हैं अतः योग्य दो मुनियों को भेज दो। वे मुनि नरवाहन और सुबुद्धि मुनि को भेज देंगे। धरसेन भट्टारक कुछ दिनों में नरवाहन और सुबुद्धि नाम के मुनियों को पठन, श्रवण और चिंतन कराकर आषाढ़ शुक्ला एकादशी को शास्त्र समाप्त करेंगे। उनमें से एक की भूतजाति के देव बलिविधि करेंगे और दूसरे के चार दाँतों को सुन्दर बना देंगे अतएव भूतबलि के प्रभाव से नरवाहन मुनि का नाम भूतबलि और चार दाँत समान हो जाने से सुबुद्धि मुनि का नाम पुष्पदंत होगा[१]।"

इन्द्रनंदिकृत श्रुतावतार में यह लिखा है कि इन्होंने ग्रन्थ समाप्त कर गुरु की आज्ञा से वहाँ से विहार कर अंकलेश्वर में वर्षायोग बिताया। वहाँ से निकलकर दक्षिण देश में पहुंचे। वहाँ पर पुष्पदंत मुनि ने करहाटक देश में अपने भानजे जिनपालित को साथ लिया और दैगम्बरी दीक्षा देकर उन्हें साथ लेकर वनवास देश को चले गए तथा भूतबलि मुनि द्रविड़ देश में चले गए। वनवास देश में पुष्पदंताचार्य ने "बीसदि" सूत्रों की रचना की और जिनपालित को पढ़ाकर तथा उन सूत्रों को उसे देकर भूतबलि मुनि का अभिप्राय जानने के लिए उनके पास भेजा। उन्होंने पुष्पदंताचार्य की अल्पायु जानकर और उन सूत्रों को देखकर बहुत ही सन्तोष प्राप्त किया। पुनः आगे श्रुत का विच्छेद न हो जाए, इस भावना से द्रव्य प्रमाणानुगम को आदि लेकर आगे के सूत्रों की रचना की।

इस प्रकार से भूतबलि आचार्य ने पुष्पदंताचार्य विरचित सूत्रों को मिलाकर पाँच खण्डों के छह हजार सूत्र रचे और तत्पश्चात् महाबन्ध नामक छठे खण्ड की तीस हजार सूत्रग्रंथरूप रचना की। इस तरह षट्खण्डागम की रचना कर उसे ग्रन्थरूप में निबद्ध किया, पुनः ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन उस श्रुत की महान पूजा की। अनंतर भूतबलि ने जिनपालित को षट्खण्डागम सूत्र देकर पुष्पदंत के पास भेजा। अपना सोचा हुआ कार्य पूर्ण हुआ, ऐसा देखकर पुष्पदंताचार्य ने भी श्रुतभक्ति के अनुराग से पुलकित होकर श्रुतपंचमी के दिन चतुर्विध संघ के समक्ष उनकी महान पूजा की।

यह षट्खण्डागम ग्रन्थ महाकर्मप्रकृति प्राभृत का अंश है तथा इसमें उसके अर्थ के साथ-साथ सूत्र भी समाविष्ट हैं। भूतबलि आचार्य ने चतुर्थ वेदनाखंड में जो "णमो जिणाणं" आदि ४४ मंगलसूत्र दिए हैं, वे

१. श्रुतावतार, माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, ग्रंथांक २१ सिद्धान्तसारादिसंग्रह पृ. ३१६-३१७।

गौतमस्वामी के मुखकमल से निकले हुए हैं। इससे श्री पुष्पदंत और भूतबलि आचार्य इस महान ग्रन्थ के कर्ता नहीं हैं बल्कि प्ररूपक हैं अतः षट्खंडागम का द्वादशांगवाणी के साथ साक्षात् संबंध है।

षट्खंडागम का रहस्य—यह ग्रन्थ छह खण्डों में विभक्त है, अतः इसे षट्खण्डागम कहते हैं। उनके नाम—जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्तविचय, वेयणा, वग्गणा और महाबंध।

श्री धरसेनाचार्य, पुष्पदंत और भूतबलि के विषय में धवला में अनेक विशेषताएँ उपलब्ध हैं। यथा—

जयउ धरसेणणाहो, जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ पुप्फयन्तस्स[१]।।

वे धरसेनस्वामी जयवन्त होवें जिन्होंने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतरूपी पर्वत को अपने बुद्धिरूपी मस्तक से उठाकर पुष्पदंत को समर्पित किया है।

पणमामि पुप्फयंतं, दुण्णयंधयाररविं।
भग्गसिवमग्गकंटय मिसिसमिइवइं सया दंतं[२]।।

जो पापों का अन्त करने वाले हैं, कुनयरूपी अन्धकार का नाश करने के लिए सूर्यतुल्य हैं, जिन्होंने मोक्षमार्ग के विघ्नों को नष्ट कर दिया है, जो ऋषियों की सभा के अधिपति हैं और निरंतर पंचेन्द्रियों का दमन करने वाले हैं, ऐसे पुष्पदंताचार्य को मैं प्रणाम करता हूँ।

यहाँ पर "ऋषिसमितिपति" विशेषण से ये महान संघ के नेता आचार्य सिद्ध होते हैं। ऐसे ही—

"ण चासंबद्धं भूदबलिभडारओ परूवेदि, महाकम्मपयडिपाहुड-अमियवाणेण ओसारिदासेसरागदोस-मोहत्तादो[३]।"

भूतबलि भट्टारक असंबद्ध कथन नहीं कर सकते क्योंकि महाकर्मप्रकृति प्राभृतरूपी अमृतपान से उनका समस्त राग-द्वेष, मोह दूर हो गया है।

इन प्रकरणों से इन पुष्पदंत और भूतबलि आचार्यों की महानता का परिचय मिल जाता है। ये आचार्य हम और आप जैसे साधारण लेखक या वक्ता न होकर भगवान महावीर की द्वादशांग वाणी के अंशों के आस्वादी और उस वाणी के ही प्ररूपक थे तथा राग, द्वेष और मोह से बहुत दूर थे। उनके संज्वलन कषाय का उदय होते हुए भी वे असत्यभाषण से सर्वथा परे होने से वीतरागी थे, महान पापभीरू थे।

बड़े सौभाग्य की बात है कि उनके द्वारा शास्त्ररूप से निबद्ध हुआ परमागम आज हमें उपलब्ध हो रहा है और हम लोग उनकी वाणी का स्वाध्याय करके अपने असंख्यातगुणित कर्मों की निर्जरा कर रहे हैं तथा महान पुण्य संचय के साथ-साथ ही सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर अपने आप में कृतकृत्यता का अनुभव कर रहे हैं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव

दिगम्बर जैन आम्नाय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम श्री गणधरदेव के पश्चात् लिया जाता है अर्थात् गणधरदेव के समान ही इनका आदर किया जाता है और इन्हें अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। यथा—

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगल कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलं।।

यह मंगल श्लोक शास्त्र स्वाध्याय के प्रारम्भ में तथा दीपावली के बही पूजन व विवाह आदि के मंगल

१. धवला पृ. १, मंगलगाथा। २. षट्खण्डागमटीका, पु. १, पृ.-३५। ३. धवला पुस्तक १०, पृ. २७४-२७५।

प्रसंग पर भी लिखा जाता है। ऐसे आचार्य के विषय में जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश के लेखक लिखते हैं—

"आप अत्यन्त वीतरागी तथा अध्यात्मवृत्ति के साधु थे।" आप अध्यात्म विषय में इतने गहरे उतर चुके थे कि आपके एक-एक शब्द की गहनता को स्पर्श करना आज के तुच्छ बुद्धि व्यक्तियों की शक्ति के बाहर है। आपके अनेक नाम प्रसिद्ध हैं तथा आपके जीवन में कुछ ऋद्धियों व चमत्कारिक घटनाओं का भी उल्लेख मिलता है। अध्यात्म प्रधानी होने पर भी आप सर्व विषयों के पारगामी थे और इसीलिए आपने सर्व विषय पर ग्रन्थ रचे हैं। आज के कुछ विद्वान इनके सम्बन्ध में कल्पना करते हैं कि इन्हें करणानुयोग व गणित आदि विषयों का ज्ञान था, पर ऐसा मानना उनका भ्रम है क्योंकि करणानुयोग के मूलभूत व सर्वप्रथम ग्रन्थ षट्खण्डागम पर आपने एक परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह टीका आज उपलब्ध नहीं है।

इनके आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़कर अज्ञानीजन उनके अभिप्राय की गहनता को स्पर्श न करने के कारण अपने को एकदम शुद्ध-बुद्ध व जीवन्मुक्त मानकर स्वच्छन्दाचारी बन जाते हैं परन्तु ये स्वयं महान चारित्रवान थे। भले ही अज्ञानी जगत उन्हें न देख सके पर उन्होंने अपने शास्त्रों में सर्वत्र व्यवहार व निश्चयनयों के साथ-साथ कथन किया है। जहाँ वे व्यवहार को हेय बताते हैं वहीं उसकी कथंचित् उपादेयता बताए बिना नहीं रहते। क्या ही अच्छा हो कि अज्ञानीजन उनके शास्त्रों को पढ़कर संकुचित एकांतदृष्टि अपनाने की बजाय व्यापक अनेकांत दृष्टि अपनाएँ[१]।

यहाँ पर उनके नाम, उनका श्वेताम्बरों के साथ वाद, विदेहगमन, ऋद्धि प्राप्ति, उनकी रचनायें, उनके गुरु, उनका जन्मस्थान और इनका समय—इन आठ विषयों का किंचित् दिग्दर्शन कराया जाता है।

१. नाम—मूलनंदि संघ की पट्टावली में पाँच नामों का उल्लेख है—

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनंदीति तन्नुतिः।।

कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनंदि। मोक्षपाहुड़ की टीका की समाप्ति में भी ये पाँच नाम दिए गए हैं तथा देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य आदि ने भी इन्हें पद्मनंदी नाम से कहा है। इनके नामों की सार्थकता के विषय में पं. जिनदास फड़कुले ने मूलाचार की प्रस्तावना में कहा है—इनका कुन्दकुन्द यह नाम कोण्डकुण्ड नगर में रहवासी होने से प्रसिद्ध है। इनका दीक्षा नाम पद्मनंदी है। विदेह क्षेत्र में मनुष्यों की ऊँचाई ५०० धनुष और इनकी वहाँ पर साढ़े तीन हाथ होने से इन्हें समवशरण में चक्रवर्ती ने अपनी हथेली पर रखकर पूछा—प्रभो! नराकृति का यह प्राणी कौन है ? भगवान ने कहा—भरतक्षेत्र के यह चारण-ऋद्धिधारक महातपस्वी पद्मनंदि नामक मुनि हैं, इत्यादि। इसलिए उन्होंने उनका नाम एलाचार्य रख दिया। विदेहक्षेत्र से लौटते समय इनकी पिच्छी गिर जाने से गृद्धपिच्छ लेना पड़ा अतः "गृद्धपिच्छ" कहाये और अकाल में स्वाध्याय करने से इनकी ग्रीवा टेढ़ी हो गई तब ये वक्रग्रीव कहलाये। पुनः सुकाल में स्वाध्याय से ग्रीवा ठीक हो गई थी; इत्यादि।

२.श्वेताम्बरों के साथ वाद—गुर्वावली में स्पष्ट है—

पद्मनंदि गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणीः, पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती।
उर्ज्जयंतगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत्, अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनंदिने।।

बलात्कार गणाग्रणी श्री पद्मनन्दी गुरु हुए, जिन्होंने ऊर्जयन्त गिरि पर पाषाण निर्मित सरस्वती की मूर्ति को बुलवा

१. जैनेन्द्रसिद्धांत कोश, भाग २, पृ. १२६।

दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ अतः उन पद्मनंदी मुनीन्द्र को नमस्कार हो। पांडवपुराण में भी कहा है—

कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयंतगिरिमस्तके,
सोऽवदात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ।

जिन्होंने कलिकाल में ऊर्जयन्त गिरि के मस्तक पर पाषाण निर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया। कवि वृन्दावन ने भी कहा है—

संघ सहित श्री कुन्दकुन्दगुरु, वंदन हेतु गये गिरनार।
वाद पर्‌यो तहं संशयमति सों, साक्षी बनी अंबिकाकार।।
''सत्यपंथनिर्ग्रन्थ दिगम्बर'' कही सुरी तहं प्रगट पुकार''।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे, विघन हरण मंगल करतार।।

अर्थात् श्वेताम्बर संघ ने वहाँ पर पहले वंदना करने का हठ किया, तब निर्णय यह हुआ कि जो प्राचीन सत्यपंथ के हों, वे ही पहले वंदना करें। तब श्री कुन्दकुन्ददेव ने ब्राह्मी की मूर्ति से कहलवा दिया कि "सत्यपंथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर" ऐसी प्रसिद्धि है।

३. विदेह गमन—देवसेनकृत दर्शनसार ग्रंथ सभी को प्रामाणिक है। उसमें कहा है कि—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयासंति।।४३।।

यदि श्री पद्मनंदिनाथ सीमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान से बोध न देते तो श्रमण सच्चे मार्ग को कैसे जानते ? पंचास्तिकाय टीका के प्रारम्भ में श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है—"प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञसीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवर्ण..... पुरप्यागतैः श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः" श्री श्रुतसागर सूरि ने भी षट्प्राभृत की प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में "पूर्व विदेह पुण्डरीकिणीनगर वंदित सीमंधरापरनाम स्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतसम्बोधित भारतवर्ष भव्यजनेन।" इत्यादि रूप से विदेहगमन की बात कही है।

४. ऋद्धिप्राप्ति—श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" नामक पुस्तक भाग ४ के अन्त में बहुत सी प्रशस्तियाँ दी हैं। उनमें देखिए—

''श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा, ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः।''
''द्वितीयमासीदभिधानमुद्‌यच्चरित्र-सञ्जातसुचारणर्द्धिः।''[१]
''वंद्योविभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः, कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्ति-विभूषिताशः।''
यश्चारुचारण-करांबुजचंचरीक-श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्[२]**।**
श्री कोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्‌गतचारणर्द्धिः[३]**।**
.....चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः[४]**।।४।।**
तद्वंशाकाशदिनमणि-सीमंधरवचनामृतपान-संतुष्टचित्त-श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणाम्[५]**।।५।।**

इन पांचों प्रशस्तियों में श्री कुन्दकुन्द के चारणऋद्धि का कथन है तथा जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश-२ में शिलालेख नं. ६२, ६४, ६६, ६७, २५४, २६१, पृ. २६३-२६६ कुन्दकुन्दाचार्य वायु द्वारा गमन कर सकते थे

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पुस्तक, भाग-४, पृ. ३६८। २. पुस्तक वही पृ. ३७४। ३. पु. वही पृ. ३८३। ४. पु. वही पृष्ठ ३८७। ५. पृ. वही पृ. ४०४।

उपरोक्त सभी लेखों से यही घोषित होता है।

५. जैन शिलालेख संग्रह—(पृ. १९७-१९८) रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तबह्यापि संव्यजयितुंयतीशः रजः पदं भूमितलं विहाय, चचार मन्ये चतुरंगुल सः।

यतीश्वर श्री कुन्दकुन्ददेव रजःस्थान को और भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊँचे आकाश में चलते थे। उसके द्वारा मैं यों समझता हूँ कि वह अन्दर में और बाहर में रज से अत्यन्त अस्पष्टपने को व्यक्त करते थे।

"हल्ली नं. २१ ग्राम हेग्गरे में एक मन्दिर के पाषाण पर लेख-स्वस्ति श्री वर्द्धमानस्य शासने। श्री कुन्दकुन्दनामाभूत् चतुरंगुलचारण।" श्री वर्द्धमान स्वामी के शासन में प्रसिद्ध श्रीकुन्दकुन्दाचार्य भूमि से चार अंगुल ऊपर चलते थे।

ष. प्रा.। मो. प्रशत्ति। पृ. ३९३ "नामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना," "नाम पंचक विराजित (श्रीकुन्दकुन्दाचार्य) ने चतुरंगुल आकाशगमन ऋद्धि द्वारा विदेह क्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर में स्थित श्री सीमंधरप्रभु की वंदना की थी।"

भद्रबाहु चरित्र में राजा चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्नों का फल कहते हुए आचार्य ने कहा है कि "पंचमकाल में चारणऋद्धि आदि ऋद्धियां प्राप्त नहीं होती।" अतः यहां शंका होना स्वाभाविक है किन्तु वह ऋद्धि निषेध कथन सामान्य समझना चाहिए। इसका अभिप्राय यही है कि "पंचमकाल में ऋद्धि प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है तथा पंचमकाल के प्रारम्भ में दुर्लभ नहीं है, आगे अभाव है, ऐसा भी अर्थ समझा जा सकता है। यही बात पं. जिनराज फड़कुले ने मूलाचार की प्रस्तावना में की है।

ये तो हुई इनके मुनि जीवन की विशेषताएं, अब आप इनके ग्रन्थों को देखिए—

६. ग्रन्थ रचनाएं—कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार आदि ८४ पाहुड़ रचे, जिनमें १२ पाहुड़ ही उपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में सर्व विद्वान एकमत हैं परन्तु इन्होंने षट्खण्डागम ग्रन्थ के प्रथम तीन खण्डों पर भी एक १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नाम की टीका लिखी थी, ऐसा श्रुतावतार में इन्द्रनंदि आचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसके आधार पर ही आगे उनके काल सम्बन्धी निर्णय करने में सहायता मिलती है—

एवं द्विविधो द्रव्य भावपुस्तकगतः समागच्छत्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धान्तः कोण्डकुण्डपुरे।।१६०।।
श्री पद्मपंदिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य।।१६१।।

इस प्रकार द्रव्य व भाव दोनों प्रकार के श्रुतज्ञान को प्राप्त करके गुरु परिपाटी से आये हुए सिद्धान्त को जानकर श्री पद्मनंदि मुनि ने कोण्डकुण्डपुर ग्राम में १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नाम की षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों की व्याख्या की। इनकी प्रधान रचनायें निम्न हैं—

षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नाम की टीका-समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय, रयणसार इत्यादि ८४ पाहुड़, मूलाचार, दशभक्ति, कुरलकाव्य[१]।

मूलाचार श्री कुन्दकुन्द देव की ही रचना है। कुन्दकुन्द व वट्टकेर एक ही हैं। ऐसा मूलाचार प्र. में पं. जिनदास ने स्पष्ट किया है। जैनेन्द्र सि. कोशकार भी कुन्दकुन्द का एक नाम वट्टकेर मानते हैं और मूलाचार

१. जैनेन्द्र सि. को. पृ. १२८।

इन्हीं की कृति मानते हैं तथा मूलाचार सटीक का हिन्दी अनुवाद करते समय मैंने भी पूर्णतया इस कृति को श्री कुन्दकुन्द देव की ही निर्णय किया है। कुरलकाव्य के विषय में भी बहुत से विद्वान इन्हीं की कृति है, ऐसा मानते ही हैं। इन ग्रन्थों में रयणसार, मूलाचार मुनिधर्म का वर्णन करता है। अष्टपाहुड़ के चारित्रपाहुड़ में संक्षेप से श्रावकधर्म वर्णित है। कुरलकाव्य नीति का अनूठा ग्रन्थ है और परिकर्म टीका में सिद्धान्त कथन होगा। दश भक्तियां, सिद्ध, श्रुत, आचार्य आदि की उत्कृष्ट भक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। शेष सभी ग्रन्थ मुनियों के सरागचारित्र और निर्विकल्प समाधिरूप वीतरागचारित्र के प्रतिपादक ही हैं।

७. गुरु—गुरु के विषय में कुछ मतभेद हैं, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि भद्रबाहु श्रुतकेवली इनके परम्परा गुरु थे। कुमारनन्दि आचार्य शिक्षागुरु हो सकते हैं किन्तु अनेक प्रशस्तियों से यह स्पष्ट है कि इनके दीक्षागुरु "श्री जिनचन्द्र" आचार्य थे।

८. जन्मस्थान—इसमें भी मतभेद हैं—जैनेन्द्र सि. कोश में कहा है—

कुरलकाव्य। प्र. २१। पं. गोविन्दाय शास्त्री "दक्षिणादेशे मलये हेम-ग्रामे मुनिमहात्मासीत्। एलाचार्यो नाम्नो द्रविड़ गणधीश्वरो श्रीमान्।" यह श्लोक हस्तलिखित मन्त्र ग्रन्थ में से लेकर लिखा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि महात्मा एलाचार्य दक्षिण देश के मलय प्रान्त में हेमग्राम के निवासी थे और द्रविड़ संघ के अधिपति थे। मद्रास प्रेजीडेन्सी के मलया प्रदेश में "पोन्नूर गाँव" को ही प्राचीन काल में हेमग्राम कहते थे और सम्भवतः वही कुन्दकुन्दपुर है। इसी के पास नीलगिरि पहाड़ पर श्री एलाचार्य की चरणपादुका बनी हुई हैं। पं. नेमिचन्द्र जी भी लिखते हैं—"कुन्दकुन्द के जीवन परिचय के सम्बन्ध में विद्वानों ने सर्वसम्मति से स्वीकार किया हैकि ये दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम कर्मण्डु और माता का नाम श्रीमती था। इनका जन्म "कौण्डकुन्दपुर" नामक ग्राम में हुआ था। इस गाँव का दूसरा नाम कुरमरई भी कहा गया है।[२]

९. समय—आचार्य कुन्दकुन्द के समय में भी मतभेद हैं फिर भी डा. ए.एन उपाध्याय ने इनको ई. सन् प्रथम शताब्दी का माना है। कुछ भी हो, ये आचार्यश्री भद्रबाहु आचार्य के अनंतर ही हुए हैं यह निश्चित है क्योंकि इन्होंने प्रवचनसार और अष्टपाहुड़ में सवस्त्रमुक्ति और स्त्रीमुक्ति का अच्छा खण्डन किया है।

नन्दिसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि. सं. ४९ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ९५ वर्ष १० महीने और १५ दिन की थी[३]।

आपने आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव का संक्षिप्त जीवनपरिचय देखा है। इन्होंने अपने साधु जीवन में जितने ग्रन्थ लिखे हैं, उससे सहज ही यह अनुमान हो जाता है कि इनके साधु जीवन का बहुभाग लेखन कार्य में ही बीता है और लेखन कार्य जंगल में विचरण करते हुए मुनि कर नहीं सकते। बरसात, आंधी, पानी, हवा आदि में लिखे गए पेजों की या ताड़पत्रों की सुरक्षा असम्भव है। इससे यही निर्णय होता है कि आचार्य मन्दिर, मठ, धर्मशाला, वसतिका आदि स्थानों पर ही रहते होंगे।

कुछ लोग कह देते हैं कि कुन्दकुन्ददेव अकेले ही आचार्य थे, यह बात भी निराधार है। पहले तो वे संघ के नायक महान आचार्य गिरनार पर्वत पर संघ सहित ही पहुँचे थे। दूसरी बात गुर्वावली[४] में श्री गुप्तिगुप्त, भद्रबाहु आदि से लेकर १०२ आचार्यों की पट्टावली दी है। उसमें इन्हें पाँचवें पट्ट पर लिया है।

---

१. जैन सि. को.। २. तीर्थंकर महावीर (पू. १०१) भाग २, पृ. ८५। ३. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास..... । ४. तीर्थंकर महावीर..... पृ. ३८३।

यथा—१. श्री गुप्तिगुप्त, २. भद्रबाहु, ३. माघनन्दी, ४. जिनचन्द्र, ५. कुन्दकुन्द, ६. उमास्वामी आदि। इससे स्पष्ट है कि जिनचन्द्र आचार्य ने इन्हें अपना पट्ट दिया।

पश्चात् इन्होंने उमास्वामी को अपने पट्ट का आचार्य बनाया। यही बात नंदिसंघ की पट्टावली के आचार्यों की नामावली में है। यथा—४. जिनचन्द्र, ५. कुन्दकुन्दाचार्य, ६. उमास्वामी[१]। इन उदाहरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि ये महान संघ के आचार्य थे। दूसरी बात यह भी है कि इन्होंने स्वयं अपने "मूलाचार" में "माभूद सत्तु एगागी" मेरा शत्रु भी एकाकी न रहे, ऐसा कहकर पंचमकाल में एकाकी रहने का मुनियों के लिए निषेध किया है। इनके आदर्श जीवन व आदेश से आज के आत्महितैषियों को अपना श्रद्धान व जीवन उज्ज्वल बनाना चाहिए। ऐसे महान जिनधर्मप्रभावक परम्पराचार्य भगवान श्री कुन्दकुन्ददेव के चरणों में मेरा शत-शत नमोस्तु।

आचार्य श्री उमास्वामी

तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ के रचयिता आचार्य श्री उमास्वामी हैं। इनको उमास्वाति भी कहते हैं। इनका अपरनाम गृद्धपिच्छाचार्य है। धवलाकार ने इनका नामोल्लेख करते हुए कहा है कि—

"तह गिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चत्थसुत्तेवि"[२]।

उसी प्रकार से गृद्धपिच्छाचार्य के द्वारा प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है।

इनके इस नाम का समर्थन श्री विद्यानन्द आचार्य ने भी किया है। यथा—

"एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यंतमुनिसूत्रेण व्यभिचारता निरस्ता।"[३]

इस कथन से गृद्धपिच्छाचार्य पर्यंत मुनियों के सूत्रों से व्यभिचार दोष का निराकरण हो जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र के किसी टीकाकार ने भी निम्न पद्य में तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता का नाम गृद्धपिच्छाचार्य दिया है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वंदे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम्।।

"गृद्धपिच्छ" इस नाम से उपलक्षित, तत्त्वार्थसूत्र के कर्तागण के नाथ उमास्वामी मुनीश्वर की मैं वन्दना करता हूँ।

श्री वादिराज ने भी इनके गृद्धपिच्छ नाम का उल्लेख किया है—

अतुच्छगुणसंपातं गृद्धपिच्छं नतो स्मिऽतम्।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणयोत्पतिष्णवः।।[४]

आकाश में उड़ने की इच्छा करने वाले पक्षी जिस प्रकार अपने पंखों का सहारा लेते हैं, उसी प्रकार मोक्षनगर को जाने के लिए भव्य लोग जिस मुनीश्वर का सहारा लेते हैं, उस महामना, अगणित गुणों के भण्डार स्वरूप गृद्धपिच्छ नामक मुनि महाराज के लिए मेरा सविनय नमस्कार हो।

श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में गृद्धपिच्छ नाम की सार्थकता और कुन्दकुन्द के वंश में उनकी उत्पत्ति बतलाते हुए उनका "उमास्वाति" नाम भी दिया है। यथा—

---

१. तीर्थंकर..... पृ. ४४१। २. षटखंडागम, धवलाटीका, जीवस्थान, कालअनुयोगद्वार पृ. ३१६। ३. तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक पृ. ६। ४. पार्श्वनाथचरित १, १६।

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे, वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिन प्रणीतं, शास्त्रार्थतार्थजातं मुनिपुंगवेन।।
स प्राणि संरक्षण सावधानो, बभार योगी किल गृद्धपिक्षान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्य, शब्दोत्तर गृद्धपिच्छम्[१]।।

आचार्य कुन्दकुन्द के पवित्र वंश में सकलार्थ के ज्ञाता उमास्वाति मुनीश्वर हुए, जिन्होंने जिनप्रणीत द्वादशांगवाणी को सूत्रों में निबद्ध किया। इन आचार्य ने प्राणिरक्षा के हेतु गृद्धपिच्छों को धारण किया, इसी कारण वे गृद्धपिच्छाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रमाण में गृद्धपिच्छाचार्य को "सकलार्थवेदी" कहकर "श्रुतकेवली सदृश" भी कहा है। इससे उनका आगम सम्बन्धी सातिशय ज्ञान प्रकट होता है।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य और अभिलेखों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपिच्छाचार्य, अपरनाम उमास्वामि या उमास्वाति हैं।

समय निर्धारण और गुरु शिष्य परम्परा—नन्दि संघ की पट्टावली और श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से यह प्रमाणित होता है कि ये गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्द के अन्वय में हुए हैं। नन्दिसंघ की पट्टावली विक्रम के राज्याभिषेक से प्रारम्भ होती है। वह निम्न प्रकार है—

१. भद्रबाहु द्वितीय (४), २. गुप्तिगुप्त (२६) ३. माघनन्दि (३६), ४. जिनचन्द्र (४०), ५. कुन्दकुन्दाचार्य (४९), ६. उमास्वामि (१०१), ७. लोहाचार्य (१४२)..... ।

अर्थात "नन्दिसंघ की पट्टावली में बताया है कि उमास्वामी वि. सं. १०१ में आचार्यपद पर आसीन हुए, वे ४० वर्ष आठ महीने आचार्य पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ८४ वर्ष की थी और विक्रम सं. १४२ में उनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुए। प्रो. हार्नले, डॉ. पिटर्सन और डॉ. सतीशचन्द्र ने इस पट्टावली के आधार पर उमास्वाति को ईसा की प्रथम शताब्दी का विद्वान माना है।[२]"

"किन्तु स्वयं नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने इन्हें ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी का अनुमानित किया है।"

कुछ भी हो ये आचार्य श्री कुन्दकुन्द के शिष्य थे। यह बात अनेक प्रशस्तियों से स्पष्ट है। यथा—

तस्मादभूद्योगिकुलप्रदीपो, बलाकपिच्छः स तपोमहर्द्धिः।
यदंगसंस्पर्शनमात्रतोऽपि, वायुर्व्विषादोनमृतीचकार[३]।।१३।।

इन योगी महाराज की परम्परा में प्रदीपस्वरूप महर्द्धिशाली तपस्वी बलाकपिच्छ हुए। इनके शरीर के स्पर्शमात्र से पवित्र हुई वायु भी उस समय लोगों के विष आदि को अमृत कर देती थी।

विरुदावलि में भी कुन्दकुन्द के पट्ट पर उमास्वाति को माना है। "दशाध्यायसमाक्षिप्तजैनागमतत्त्वार्थ-सूत्रसमूह-श्रीमदुमास्वातिदेवानाम्[४]।।३।।"

इन सभी उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री कुन्दकुन्द के पट्ट पर ही ये उमास्वामि आचार्य हुए हैं और इन्होंने अपना आचार्य पद बलाकपिच्छ या लोहाचार्य को सौंपा है।

तत्त्वार्थसूत्र रचना—इन आचार्य महोदय की "तत्त्वार्थसूत्र" रचना एक अपूर्व रचना है। यह ग्रन्थ जैनधर्म का सार ग्रन्थ होने से इसके मात्र पाठ करने या सुनने का फल एक उपवास बतलाया गया है। यथा—

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं. १०८ पृ. २१०-११। २. भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृ. १५२। ३. भगवान महावीर उनकी आचार्यपरम्परा पुस्तक-४, पृ. ४११। ४. वही पुस्तक-४, पृ. ४३१।

दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।
फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुंगवैः।।

दश अध्याय से परिमित इस तत्त्वार्थसूत्र शास्त्र के पढ़ने से एक उपवास का फल होता है ऐसा मुनिपुंगवों ने कहा है। वर्तमान में इस ग्रन्थ को जैनपरम्परा में वही स्थान प्राप्त है जो कि हिन्दूधर्म में "भगवद्गीता" को, इस्लाम में "कुरान" को और ईसाईधर्म में "बाइबिल" को प्राप्त है। इससे पूर्व प्राकृत में ही जैन ग्रन्थों की रचना की जाती थी।

इस ग्रन्थ को दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में समानरूप से ही महानता प्राप्त है। अनेक आचार्यों ने इस पर टीका ग्रन्थ रचे हैं। श्री देवनन्दि अपरनाम पूज्यपाद आचार्य ने इस पर "सर्वार्थसिद्धि" नाम से टीका रची है जिसका अपर नाम "तत्त्वार्थवृत्ति" भी है। श्री भट्टाकलंक देव ने "तत्त्वार्थराजवार्तिक" नाम से तथा विद्यानन्द महोदय ने "तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक" नाम से दार्शनिक शैली में टीका ग्रन्थों का निर्माण करके इस ग्रन्थ के अतिशय महत्व को सूचित किया है। श्री श्रुतसागर सूरि ने "तत्त्वार्थ वृत्ति" नाम से टीका रची है और अन्य-अन्य कई टीकायें उपलब्ध हैं। श्री समन्तभद्र स्वामी ने इसी ग्रन्थ पर "गन्धहस्ति महाभाष्य" नाम से "महाभाष्य" रचा है जो कि आज उपलब्ध नहीं हो रहा है।

दशाध्यायपूर्ण इस ग्रन्थ का एक मंगलाचरण ही इतना महत्त्वशाली है कि आचार्य श्री समंतभद्र ने उस पर "आप्तमीमांसा" नाम से आप्त की मीमांसा—विचारणा करते हुए एक स्तोत्र रचा है, उस पर श्री भट्टाकलंकदेव ने अष्टशती एवं श्री विद्यानन्द आचार्य ने "अष्टसहस्री" नाम से महान उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ रचा है। श्री विद्यानन्द आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र पर ही "श्लोकवार्तिक" नाम से जो महान टीका ग्रन्थ की रचना की है उसमें सबसे प्रथम मंगलाचरण की टीका में उन्होंने १२४ कारिकाओं में आप्तपरीक्षा ग्रन्थ की रचना की एवं उसी पर स्वयं ने ही स्वोपज्ञ टीका रची है।

कुछ विद्वान "मोक्षमार्गस्य नेतारं" इत्यादि मंगलाचरण को श्री उमास्वामी आचार्य द्वारा रचित न मानकर किन्हीं टीकाकारों का कह रहे थे परन्तु "श्लोकवार्तिक" और "अष्टसहस्री" ग्रन्थ में उपलब्ध हुए अनेक प्रमाणों से अब यह अच्छी तरह निर्णीत किया जा चुका है कि यह मंगल श्लोक श्री सूत्रकार आचार्य द्वारा ही विरचित है।

इन महान आचार्य के द्वारा रचा हुआ एक श्रावकाचार भी है जो कि "उमास्वामी श्रावकाचार" नाम से प्रकाशित हो चुका है। कुछ विद्वान इस श्रावकाचार को इन्हीं सूत्रकर्ता उमास्वामी का नहीं मानते हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है, वास्तव में वह इन्हीं आचार्यदेव की रचना है यह बात उसी श्रावकाचार के निम्न पद्य में स्पष्ट है। यथा—

सूत्रे तु सप्तमेप्युक्ताः पृथग्नोक्तास्तदर्थतः।
अवशिष्टः समाचारः सौऽत्रैव कथितो ध्रुवम्।।४६४।।

अर्थात् इस श्रावकाचार में श्रावकों की षट्आवश्यक क्रियाओं का वर्णन करते हुए उनके अणुव्रत आदिकों का भी वर्णन किया है पुनः यह संकेत दिया है कि मैंने "तत्त्वार्थसूत्र" के सप्तम अध्याय में श्रावक के १२ व्रतों का और उनके अतिचारों का विस्तार से कथन किया है अतः यहां उनका कथन नहीं किया है। बाकी जो आवश्यक क्रियायें देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान का वर्णन वहां नहीं किया है, उन्हीं को यहां पर कहा गया है।

पुनरपि अन्तिम श्लोक में कहते हैं कि—

इति वृत्तं मयेष्टं संश्रये षष्ठमकेऽखिलम्।
चान्यन्मया कृते ग्रंथेऽन्यस्मिन् दृष्टव्यमेव च।।४७६।।

इस प्रकार से मैंने इस श्रावकाचार की छठी अध्याय में श्रावक के लिए इष्ट चारित्र का वर्णन किया है। अन्य जो कुछ भी श्रावकाचार है, वह सब मेरे द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ (तत्त्वार्थसूत्र) से देख लेना चाहिए।

इस प्रकार के उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि यह श्रावकाचार भी पूज्य उमास्वामी आचार्य की ही रचना है।

यद्यपि इस श्रावकाचार में भाषा शैली की अतीव सरलता है फिर भी उससे यह नहीं कहा जा सकता है कि यह रचना उनकी नहीं है क्योंकि सूत्रग्रन्थ में सूत्रों की रचना सूत्ररूप ही रहेगी और श्लोक ग्रन्थों में श्लोकरूप। जिस प्रकार से श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों की रचना अतीव प्रौढ़ है तथा अष्टपाहुड़ गाथासूत्रों की रचना उतनी प्रौढ़ न होकर सरल है फिर भी एक ही आचार्य कुन्दकुन्द इन ग्रन्थों के रचयिता मान्य हैं वैसे ही यहां भी समझना चाहिए और उमास्वामी आचार्य की प्रमाणता के अनुरूप ही उनके इस श्रावकाचार को भी प्रमाण मानकर उसका भी स्वाध्याय करना चाहिए।

आचार्य श्री यतिवृषभ

श्री गुणधर आचार्य रचित "कषायपाहुड" गाथासूत्रों पर चूर्णिसूत्रों की रचना करने वाले आचार्य का नाम "यतिवृषभ" है। जयधवला टीका के निर्देशानुसार आचार्य यतिवृषभ ने आर्यमंक्षु और नागहस्ति से कसायपाहुड की गाथाओं का सम्यक् प्रकार अध्ययन कर अर्थ अवधारण किया और कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्रों की रचना की। इस प्रकार से इन आचार्य महोदय ने चूर्णिसूत्रों की रचना संक्षिप्त शब्दावली में प्रस्तुत कर महान अर्थ को निबद्ध किया है। यदि ये आचार्य चूर्णिसूत्रों की रचना न करते तो सम्भव है कि कसायपाहुड का अर्थ ही स्पष्ट न हो पाता अतः दिगम्बर सम्प्रदाय में चूर्णिसूत्रों के प्रथम रचयिता होने के कारण इन यतिवृषभ आचार्य का अत्यधिक महत्त्व है। श्री वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला टीका में षट्खण्डागम के सूत्रों को भी "चुण्णिसुत्त" कहा है। इससे यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि यतिवृषभ के चूर्णिसूत्रों का महत्त्व "कसायपाहुड" की गाथाओं में किसी तरह कम नहीं है। आचार्य वीरसेन के उल्लेखानुसार चूर्णिसूत्रकार श्री यतिवृषभ का मत "कसायपाहुड" और "षट्खण्डागम" के मत के समान ही प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण है। विक्रम सं. की ११वीं शताब्दी में आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने "लब्धिसार" नामक ग्रन्थ में पहले "यतिवृषभ" के मत का निर्देश किया है, तदनन्तर भूतबलि के मत का निर्देश किया है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि इनके चूर्णिसूत्र मूलग्रन्थों के समान ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी थे।

समय निर्णय—इनके विद्यागुरु के नाम आर्यमंक्षु और नागहस्ति बताए गए हैं। यथा—

गुणहरवयणविणिग्गय-गाहाणत्थोवहारिओ सव्वो।
जेणज्जमंखुणा सो, सणागहत्थी वरं देऊ।।७।।
जो अज्जमंखुसीसो, अंतेवासी वि णागहत्थिस्स।
सो वित्तिसुत्तकत्ता, जइवसहो मे वरं देऊ[१]।।८।।

---

१. जयधवला पृ. १ मंगलाचरण।

जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने गुणधराचार्य के मुखकमल से विनिर्गत कसापाहुड़ की गाथाओं के समस्त अर्थ को अवधारण किया वे हमें वर प्रदान करें। जो आर्यमंक्षु के शिष्य और नागहस्ति के अंतेवासी हैं, वृत्तिसूत्र के कर्त्ता वे यतिवृषभ मुझे वर प्रदान करें।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट झलकता है कि आर्यमंक्षु और नागहस्ति समकालीन थे तथा यतिवृषभ के गुरू थे।

इन्द्रनंदि के श्रुतावतार में आर्यमंक्षु और नागहस्ति को श्री गुणधर आचार्य का शिष्य कहा है। यथा—

एवं गाथासूत्राणि, पंचदशमहाधिकाराणि।
प्रविरच्य व्याचख्यौ स, नागहस्त्यार्यमंक्षुभ्याम्[१]**।।१५४।।**

गुणधराचार्य ने पन्द्रह महाधिकारों में गाथा सूत्रों को रचकर नागहस्ति और आर्यमंक्षु को उसका व्याख्यान किया तथा उपर्युक्त प्रमाण से यह भी स्पष्ट है कि यतिवृषभ ने नागहस्ति और आर्यमंक्षु से ज्ञान प्राप्त कर चूर्णिसूत्र रचना की है। इस दृष्टि से इनका समय वीर निर्वाण सं. की सातवीं शताब्दी आता है। चूंकि ये भूतबलि आचार्य के समकालीन अथवा उनके कुछ ही उत्तरवर्ती प्रतीत होते हैं।

अतः यतिवृषभ का समय वि. सं. ६६६ के पश्चात् नहीं हो सकता है।

आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ति दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में समानरूप सम्मानित हुए हैं।

रचना—यतिवृषभाचार्य की दो ही कृतियाँ प्रसिद्ध हैं—

१. कषायपाहुड पर रचित "चूर्णिसूत्र" और २. तिलोयपण्णत्ति।

तिलोयपण्णत्ति की अन्तिम गाथा में चूर्णिसूत्र का उल्लेख आया है। यथा—

चुण्णिस्सरूवछक्करण, जं तं सरूवपमाण होइ किं जंत्तं।
अट्ठसहस्स पमाणं, तिलोयपण्णत्तिणामाए[२]**।।**

अर्थात् तिलोयपण्णत्ती में चूर्णिसूत्रों की संख्या ८००० मानी है पर इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार में चूर्णिसूत्रों का परिमाण ६००० श्लोक प्रमाण कहा गया है किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि चूर्णिसूत्र कितने थे।

जयधवला टीका से इन सूत्रों का प्रमाण ७००९ आता है। अस्तु,

चूर्णिसूत्र रचना महान सिद्धान्त है और तिलोयपण्णत्ती की रचना में तीन लोक का सविस्तार वर्णन बहुत ही सुन्दर किया गया है।

पं. हीरालाल जी शास्त्री के मतानुसार आचार्य यतिवृषभ की एक अन्य रचना "कम्मपयडि" चूर्णि भी है। जिसका उल्लेख उन्होंने "कसायपाहुडसुत्त" ग्रन्थ की प्रस्तावना में किया है[३]।

श्री नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य ने "यतिवृषभ" का समय ईस्वी सन् की द्वितीय शती माना है।[४]

कसायपाहुड में तो चूर्णिसूत्रों को भगवान महावीर की दिव्यध्वनि की किरण माना है। यथा—

"एतम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थ-वड्ढमाणदिवायरादो अज्जमंखुणागहत्थीहिंतो जइवसहायरियमुवणमिय-चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणि किरणादो णव्वदे।"[५]

अर्थात् विपुलाचल के ऊपर स्थित भगवान महावीररूपी दिवाकर से निकलकर गौतम, लोहार्य, जम्बूस्वामी आदि आचार्य परम्परा से आकर गुणधराचार्य को प्राप्त होकर वहाँ गाथारूप से परिणमन करके

---

१. श्रुतावतार। २. तिलोयपण्णत्ति पु. २, पृ. ८८२। ३. कसायपाहुड़सुत्त, प्रस्तावना, पृ. ३८, (प्रकाशित-वीरशासन संघ, कलकत्ता)। ४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पु. २, ९५। ५. कसायपाहुड़, पंचम भाग, पृ. ३८८।

पुनः आर्यमंक्षु और नागहस्ति आचार्य के द्वारा यतिवृषभाचार्य को प्राप्त होकर चूर्णिसूत्ररूप से परिणत हुई दिव्यध्वनि किरणरूप से हमने जाना है।

इस प्रकार से यतिवृषभाचार्य के वचनों की प्रमाणता को समझकर उनके ग्रन्थों पर पूर्ण श्रद्धान रखना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है।

इस इतिहास को पढ़कर निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना चाहिए—

१. यतिवृषभाचार्य ने आर्यमंक्षु और नागहस्ति आचार्य के पास कसायपाहुड की गाथाओं का अध्ययन किया था।

२. इनके द्वारा रचित चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ महान प्रमाणता की कोटि में आते हैं।

३. ये आचार्य परमागमरूप सिद्धान्त के और भौगोलिक विषय के तथा बीजगणित आदि के उच्चकोटि के विद्वान थे।

आचार्यश्री समंतभद्रस्वामी

जिस प्रकार गृद्धपिच्छाचार्य संस्कृत के प्रथम सूत्रकार हैं, उसी प्रकार जैन वाङ्मय में स्वामी समन्तभद्र प्रथम संस्कृत कवि और प्रथम स्तुतिकार हैं। ये कवि होने के साथ-साथ प्रकाण्ड दार्शनिक और गम्भीर चिंतक भी हैं। स्तोत्रकाव्य का सूत्रपात आचार्य समंतभद्र से ही होता है। इनकी स्तुतिरूप दार्शनिक रचनाओं पर अकलंक और विद्यानन्द जैसे उद्भट आचार्यों ने टीका और विवृत्तियाँ लिखकर मौलिक ग्रन्थ रचयिता का यश प्राप्त किया है। वीतरागी तीर्थंकर की स्तुतियों में दार्शनिक मान्यताओं का समावेश करना असाधारण प्रतिभा का द्योतक है।

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन इन्हें कवियों के विधाता कहते हैं और उन्हें गमक आदि चार विशेषणों से विशिष्ट बतलाते हैं। यथा—

नमः समंतभद्राय महते कविवेधसे,
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः।।४३।।
कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते[१]।।४४।।

मैं कवि समंतभद्र को नमस्कार करता हूँ जो कि कवियों के लिए ब्रह्मा हैं और जिनके वचनरूपी वज्रपात से मिथ्यामत रूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं। कविगण, गमकगण, वादीगण और वाग्मीगण—इन सभी के मस्तक पर श्री समंतभद्र स्वामी का यश चूड़ामणि के समान शोभित होता है।

स्वतन्त्र कविता करने वाले "कवि" कहलाते हैं, शिष्यों को मर्म तक पहुँचा देने वाले "गमक" शास्त्रार्थ करने वाले "वादी" और मनोहर व्याख्यान देने वाले "वाग्मी" कहलाते हैं।

श्री शुभचन्द्र आचार्य, श्री वर्द्धमान सूरि, श्री जिनसेनाचार्य और श्री वादीभसूरि आदि ने अपने-अपने ग्रन्थ ज्ञानार्णव, वरांगचरित, अलंकार चिंतामणि और गद्यचिंतामणि आदि में श्री समंतभद्र स्वामी की सुन्दर-सुन्दर श्लोकों में स्तुति की है।

ये जैनधर्म और जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ विद्वान होने के साथ-साथ तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार एवं

१. महापुराण, भाग-१, पर्व-१, श्लोक ४३-४४।

काव्य, कोष आदि विषयों में पूर्णतया अधिकार रखते थे। सो ही इनके ग्रन्थों से स्पष्ट झलक जाता है। इन्होंने जैन विद्या के क्षेत्र में एक नया आलोक विकीर्ण किया है। श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में तो इन्हें जिनशासन के प्रणेता और भद्रमूर्ति कहा गया है।

इनका जीवन परिचय, मुनिपद, गुरु शिष्य परम्परा, समय और इनके रचित ग्रन्थ इन पाँच बातों पर यहां संक्षेप में प्रकाश डाला जाएगा—

जीवन परिचय—इनका जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। इन्हें चोल राजवंश का राजकुमार अनुमानित किया जाता है। इनके पिता उरगपुर (उरैपुर) के क्षत्रिय राजा थे। यह स्थान कावेरी नदी के तट पर फणिमण्डल के अन्तर्गत अत्यन्त समृद्धिशाली माना गया है। श्रवणबेलगोला के दोरवली जिनदास शास्त्री के भण्डार में पाई जाने वाली आप्तमीमांसा की प्रति के अन्त में लिखा है—"इति फणिमंडलालंकारस्योरगपुराधिप सूनोः श्री स्वामी समंतभद्रमुनेः कृतौ आप्तमीमांसायाम्"—इस प्रशस्तिवाक्य से स्पष्ट है कि समंतभद्र स्वामी का जन्म क्षत्रियवंश में हुआ था और उनका जन्मस्थान उरगपुर है।

इनका जन्म नाम शांतिवर्मा बताया जाता है। "स्तुतिविद्या" अपरनाम "जिनस्तुतिशतक" में ११६ वें पद्य में कवि और काव्य का नाम चित्रबद्धरूप में अंकित है। इस काव्य के छह आरे और नववलय वाली चित्र रचना पर से "शांतिवर्मकृतम्" और "जिनस्तुतिशतम्" ये दो पद निकलते हैं। सम्भव है यह नाम माता-पिता के द्वारा रखा गया हो और "समंतभद्र" मुनि अवस्था का हो।

मुनिदीक्षा और भस्मकव्याधि—मुनिदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जब वे मणुवकहल्ली स्थान में विचरण कर रहे थे कि उन्हें भस्मक व्याधि नामक भयानक रोग हो गया जिससे दिगम्बर मुनिचर्या का निर्वाह उन्हें अशक्य प्रतीत हुआ। तब उन्होंने गुरु से समाधिमरण धारण करने की इच्छा व्यक्त की। गुरु ने भावी होनहार शिष्य को आदेश देते हुए कहा—

"आपसे धर्मप्रभावना की बड़ी-बड़ी आशायें हैं अतः आप दीक्षा छोड़कर रोग शमन का उपाय करें, रोग दूर होने पर पुनः मुनिदीक्षा ग्रहण करके स्व-पर कल्याण करें।" गुरु की आज्ञानुसार समंतभद्र रोगोपचार हेतु जिनमुद्रा छोड़कर सन्यासी बन गए और इधर-उधर विचरण करने लगे। एक समय वाराणसी में शिवकोटि राजा के शिवालय में जाकर राजा को आशीर्वाद दिया और "शिवजी को मैं खिला सकता हूँ" ऐसी घोषणा की। राजा की अनुमति प्राप्त कर समंतभद्र शिवालय के किवाड़ बंद कर उस नैवेद्य को स्वयं ही भक्षण कर रोग को शांत करने लगे। शनैः-शनैः उनकी व्याधि का उपशम होने लगा अतः भोग की सामग्री बचने लगी तब राजा को संदेह हो गया अतः गुप्तरूप से उसने इस रहस्य का पता लगा लिया। तब समंतभद्र से उन्होंने शिवजी को नमस्कार करने के लिए प्रेरित किया। समंतभद्र ने इसे उपसर्ग समझकर चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति प्रारम्भ की। जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति कर रहे थे कि शिव की पिंडी से भगवान चन्द्रप्रभ की प्रतिमा प्रकट हो गई। समंतभद्र के इस माहात्म्य को देखकर शिवकोटि राजा अपने भाई शिवायन सहित उनके शिष्य बन गए। यह कथानक "राजाबलिकाथे" में उपलब्ध है।

श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में लिखा है—

वंद्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपदस्वमंत्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभः ।

आचार्यस्स समंतभद्र गणभृद्येनेह काले कलौ,
जैनं वर्त्म समंतभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः[१]।।

अर्थात् जो अपने भस्मक रोग को भस्मसात् करने में चतुर हैं, पद्मावती नामक देवी की दिव्य शक्ति के द्वारा जिन्हें उदात्त पद की प्राप्ति होने से मंत्रवचनों द्वारा जिन्होंने चन्द्रप्रभ को प्रकट किया है और जिनके द्वारा यह कल्याणकारी जैनमार्ग इस कलिकाल में सब ओर से भद्ररूप हुआ है, वे गणनायक आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी बार-बार हम सभी के द्वारा वंद्य हैं।

आराधना कथाकोष में मूर्ति प्रकट होने के अनंतर ऐसा प्रकरण आया है कि चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट होने के इस चमत्कार को देखकर उनकी स्तोत्र रचना पूरी होने के बाद राजा शिवकोटि ने उनसे उनका परिचय पूछा। तब समन्तभद्र ने उत्तर देते हुए कहा—

कांच्याँ नग्नाटकोऽहं, मलमलिनतनुर्लम्बिशे पांडुपिण्डः।
पुण्ड्रेण्डे शाक्यभिक्षुर्दशपुर नगरे, मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं शशकरधवलः पाण्डुरांगस्तपस्वी।
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स, वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी।।

मैं कांची में नग्न दिगम्बर यति के रूप में रहा, शरीर में रोग होने पर पुण्ड्र नगरी में बौद्ध भिक्षु बनकर मैंने निवास किया। पश्चात् दशपुर नगर में मिष्ठान्न भोजी परिव्राजक बनकर रहा। अनंतर वाराणसी में आकर शैव तपस्वी बना। हे राजन्! मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूँ। यहाँ जिसकी शक्ति वाद करने की हो, वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे। पुनश्च—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे, भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालव सिन्धु ठक्क विषये, कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते, शार्दूलविक्रीडितम्।।

मैंने पहले पटना नगर में वाद की भेरी बजाई, पुनः मालवा, सिन्धु देश, ढक्क—ढाका, बंगाल, कांचीपुर और वैदिश—विदिशा—भेलसा के आस-पास के प्रदेशों में भेरी बजाई। अब बड़े-बड़े वीरों से युक्त इस करहाटक नगर को प्राप्त हुआ हूँ। इस प्रकार हे राजन्! मैं वाद करने के लिए सिंह के समान इतस्ततः क्रीड़ा करता हुआ विचरण कर रहा हूँ।

राजा शिवकोटि समन्तभद्र के इस आख्यान को सुनकर भोगों से विरक्त हो दीक्षित हो गए, ऐसा वर्णन है।

गुरु शिष्य परम्परा—यद्यपि समन्तभद्र की गुरु शिष्य परम्परा के विषय में बहुत कुछ अनिर्णीत ही है। फिर भी इन्हें किन्हीं प्रशस्तियों में उमास्वामी के शिष्य बलाकपिच्छ का पट्टाचार्य माना है। श्रवणबेलगोला के एक अभिलेख में भी आया है—

श्री गृद्धपिच्छमुनिपस्य बलाकपिच्छः। शिष्यो जनिष्ट.....। एवं महाचार्य परम्परायां....., समन्तभद्रो जनि वादिसिंहः[२]।

अर्थात् भद्रबाहुश्रुतकेवली के शिष्य चन्द्रगुप्त, चंद्रगुप्त के वंशज पद्मनन्दि अपरनाम श्री कुन्दकुन्दाचार्य,

१. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ५४, पृ. १०२। २. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग लेख संख्या ४०, पद्य ८-९, पृ. २५।

उनके वंशज गृद्धपिच्छाचार्य, उनके शिष्य बलाकपिच्छ और उनके पट्टाचार्य श्री समन्तभद्र हुए हैं।

'श्रुतमुनि-पट्टावली' में कहा है—

तस्मादभूद्-योगिकुलप्रदीपो, बलाकपिच्छः स तपोमहर्द्धिः।
यदंगसंस्पर्शनमात्रतोऽपि, वायुर्विषादीनमृतीचकार।।१३।।
समंतभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्[१]**।।१४।।**

चन्नदायपट्टण ताल्लुके के अभिलेख नं. १४९ में इन्हें ऋद्धि मानी है और इन्हें वर्धमान जिन के शासन की सहस्रगुणी वृद्धि करने वाला कहा है।

समय निर्धारण—आचार्य समन्तभद्र के समय के संबंध में विद्वानों ने पर्याप्त ऊहापोह किया है। मि. लेविस राईस का अनुमान है कि ये आचार्य ई. की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुए हैं। डॉ. ज्योतिप्रसाद जी आदि ने भी सन् १२० में राजकुमार के रूप में, सन् १३८ में मुनि पद में, सन् १८५ के लगभग स्वर्गस्थ हुएऐसे ईस्वी सन् की द्वितीय शती को ही स्वीकार किया है अतएव संक्षेप में समंतभद्र का समय ईस्वी सन् द्वितीय शतब्दी ही प्रतीत होता है।

समंतभद्र की रचनायें—१. वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, २. स्तुतिविद्या-जिनशतक ३. देवागमस्तोत्र-आप्तमीमांसा, ४. युक्त्यनुशासन, ५. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६. जीवसिद्धि, ७. तत्त्वानुशासन, ८. प्राकृतव्याकरण, ९. प्रमाण पदार्थ, १०. कर्मप्राभृत टीका, ११. गन्धहस्ति महाभाष्य।

१. "स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले" आदि रूप से स्वयंभूस्तोत्र, धर्मध्यानदीपक आदि पुस्तकों में प्रकाशित हो चुका है। यह सटीक भी छप चुका है।

२. "स्तुतिविद्या" इसमें भी चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति है जो कि एक अक्षर, दो अक्षर आदि के श्लोकों में अथवा मुरजबंध, हारबंध आदि चित्रकाव्यरूप श्लोकों में एक अपूर्व ही रचना है।

३. इस देवागमस्तोत्र में सर्वज्ञदेव को तर्क की कसौटी पर कसकर सच्चा आप्त सिद्ध किया गया है। तत्कालीन नैरात्म्यवाद, क्षणिकवाद, ब्रह्माद्वैतवाद, पुरुष-प्रकृतिवाद आदि की समीक्षा करते हुए स्याद्वाद सिद्धान्त की प्रतिष्ठा जैसी इस ग्रन्थ में उपलब्ध है, वैसी सप्तभंगी की सुन्दर व्याख्या अन्यत्र जैन वाङ्मय में आपको कहीं नहीं मिलेगी। यह स्तोत्र ग्रन्थ केवल तत्त्वार्थसूत्र के "मोक्षमार्गस्य" मंगलाचरण को आधार करके बना है। इसी स्तोत्र पर अकलंक देव ने अष्टशती नाम का भाष्य ग्रंथ बनाया है और विद्यानन्द आचार्य ने अष्टसहस्री नाम का जैनदर्शन का सर्वोच्च ग्रन्थ निर्मित किया है।

४. युक्त्यनुशासन में भी परमत का खण्डन करते हुए आचार्यदेव ने वीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ घोषित किया है।

५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार में तो १५० श्लोकों में ही आचार्यदेव ने श्रावकों के सम्पूर्ण व्रतों का वर्णन कर दिया है। इसमें अतिथिसंविभाग व्रत के स्थान पर वैयावृत्य का सुन्दर स्वरूप बतलाकर इसी व्रत में देव पूजा को भी ले लिया है।

आगे की ७ रचनायें आज उपलब्ध नहीं हैं।

इस प्रकार से श्री समंतभद्राचार्य अपने समय में एक महान आचार्य हुए हैं। इनकी गौरवगाथा गाने के लिए हम और आप जैसे साधारण लोग समर्थ नहीं हो सकते हैं। कहीं-कहीं इन्हें भावी तीर्थंकर माना गया है।

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग ४, पृ. ४११।

आचार्यश्री विद्यानन्द

आचार्य श्री विद्यानन्द ऐसे महान तार्किक आचार्य हुए हैं कि जिन्होंने प्रमाण और दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना करके श्रुत परम्परा को महत्त्वशील बनाया है। इनकी रचनाओं के अवलोकन से यह अवगत होता है कि ये दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के निवासी थे। इसी प्रदेश को इनकी साधना और कार्यभूमि होने का सौभाग्य प्राप्त है। किंवदन्तियों के आधार से यह माना जाता है कि इनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इस मान्यता की सिद्धि इनके प्रखर पांडित्य और महती विद्वत्ता से भी होती है। इन्होंने वैशेषिक न्याय, मीमांसा, वेदांत आदि दर्शनों का अध्ययन कर लिया था। इन आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त ये दिग्नाग, धर्मकीर्ति और प्रज्ञाकर आदि बौद्ध ग्रन्थों के तलस्पर्शी विद्वान थे।

ये कब हुए हैं ? इनकी गुरुपरम्परा क्या थी ? इनका जीवन वृत्त क्या है ? इत्यादि बातें अनिर्णीत ही हैं। फिर भी विद्वानों ने इनका समय निश्चित करने के लिए पर्याप्त प्रयत्न किया है।

शक संवत् १३२० के एक अभिलेख[१] में कहे गए नन्दिसंघ के मुनियों की नामावलि में विद्यानन्द का नाम आता है, जिससे यह अनुमान होता है कि इन्होंने नन्दिसंघ के किसी आचार्य से दीक्षा ग्रहण की है और महान आचार्य पद को सुशोभित किया है। श्री वादिराज ने (ई. सन् १०५५) अपने "पार्श्वनाथ चरित" नामक काव्य में इनका स्मरण करते हुए लिखा है—

"ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानंदस्य विस्मयः।
श्रृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरंगेषु रंगति[२]।।"

आश्चर्य है कि विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री जैसे दीप्तिमान अलंकारों को सुनने वालों के भी अंगों में दीप्ति आ जाती है, तो उन्हें धारण करने वालों की बात ही क्या है ?

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी कीर्ति ई. सन् की १० वीं शताब्दी में चारों तरफ फैल रही थी।

पं. दरबारीलाल जी कोठिया ने विद्यानन्द के जीवन और समय पर विशेष विचार किया है—

"विद्यानन्द गंगनरेश शिवमार द्वितीय (ई. सन् ८१०) और राचमल सत्यवाक्य प्रथम (ई. सन् ८१६) के समकालीन हैं और इन्होंने अपनी कृतियां प्रायः इन्हीं के राज्य समय में बनाई हैं। विद्यानन्द और तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक को शिवमार द्वितीय के और आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा तथा युक्त्यनुशासनालंकृति ये तीन कृतियां राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई. ८१६-८३०) के राज्यकाल में बनी जान पड़ती हैं। अष्टसहस्री श्लोकवार्तिक के बाद की और आप्तपरीक्षा आदि के पूर्व की रचना है जो करीब ई. ८१०-८१५ में रची प्रतीत होती है तथा पत्रपरीक्षा, श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र और सत्यशासन परीक्षा ये तीन रचनाएँ ई. सन् ८३०-८४० में रची ज्ञात होती हैं। इससे भी आचार्य विद्यानन्द का समय ई. सन् ७७५-८४० प्रमाणित होता है।"

अतएव आचार्य विद्यानन्द का समय ई. सन् की नवम् शती है[३]।

इनके गृहस्थ जीवन का तथा दीक्षा गुरु का कोई विशेष परिचय और नाम उपलब्ध नहीं है। इनकी रचनाओं को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—

१. स्वतन्त्र ग्रंथ और २. टीकाग्रन्थ

१. स्वतन्त्र ग्रन्थ—१. आप्तपरीक्षा (स्वोपज्ञवृत्ति सहित), २. प्रमाण परीक्षा, ३. पत्र परीक्षा,

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-१, लेखांक १०५। २. पार्श्वनाथ चरित, १/१८। ३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-२, पृ. ३५२।

४. सत्यशासन परीक्षा, ५. श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र, ६. विद्यानन्द महोदय।

२. टीका ग्रन्थ—१. अष्टसहस्री, २. श्लोकवार्तिक, ३. युक्त्यानुशासनालंकार।

१. आप्तपरीक्षा ग्रन्थ में १२४ कारिकायें हैं और इन्हीं ग्रन्थकर्ता द्वारा रचित वृत्ति है। इस ग्रन्थ में अर्हंत को मोक्षमार्ग का नेता सिद्ध करते हुए मोक्ष, आत्मा, संवर, निर्जरा आदि के स्वरूप और भेदों का प्रतिपादन किया है। इसमें ईश्वर परीक्षा, कपिल परीक्षा, सुगत परीक्षा, ब्रह्माद्वैत परीक्षा करके अर्हन्त के सर्वज्ञतत्त्व की सिद्धि की है।

२. प्रमाण परीक्षा में प्रमाण का स्वरूप, प्रामाण्य की उत्पत्ति एवं ज्ञप्ति, प्रमाण की संख्या, विषय एवं उसके फल पर विचार किया गया है।

३. पत्र परीक्षा नामक लघुकाय ग्रन्थ में विभिन्न दर्शनों की अपेक्षा 'पत्र' के लक्षणों को उद्धृत कर जैन दृष्टिकोण से पत्र का लक्षण दिया गया है तथा प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों को ही अनुमान का अंग बताया है।

४. सत्यशासन परीक्षा की महत्ता के सम्बन्ध में पण्डित महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य ने लिखा है—"उनकी यह सत्यशासन परीक्षा ऐसा एक तेजोमय रत्न है जिससे जैन न्याय का आकाश दमदमा उठेगा। यद्यपि इसमें आये हुए पदार्थ फुटकररूप से उनके अष्टसहस्री आदि ग्रन्थों में खोजे जा सकते हैं पर इतना सुन्दर और व्यवस्थित तथा अनेक नये प्रमेयों का सुरुचिपूर्ण संकलन, जिसे स्वयं विद्यानन्द ने ही किया अन्यत्र मिलना असम्भव है[१]।"

५. विद्यानन्द महोदय नाम का यह ग्रन्थ आचार्य विद्यानन्द की सर्वप्रथम रचना है। इसके पश्चात् ही इन्होंने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है पर उसका नामोल्लेख श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में मिलता है।

६. श्रीपुर या अंतरिक्ष के पार्श्वनाथ की स्तुति में कुल ३० पद्य हैं। इस स्तोत्र में दर्शन और काव्य का गंगा यमुनी संगम है। डॉ. नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य कहते हैं कि—"इस स्तोत्र में सर्वज्ञ सिद्धि, अनेकान्त सिद्धि, भावाभावात्मक वस्तु निरूपण, सप्तभंगीनय, सुनय, निक्षेप, जीवादि पदार्थ, मोक्षमार्ग, वेद की अपौरुषेयता का निराकरण, ईश्वर के जगत कर्तृत्व का खण्डन, सर्वथा क्षणिकत्व और नित्यत्व मीमांसा, कपिलाभिमत पच्चीस तत्त्व समीक्षा, ब्रह्माद्वैत मीमांसा, चार्वाक समीक्षा आदि दार्शनिक विषयों का समावेश किया गया है। भगवान पार्श्वनाथ को रागद्वेष का विजेता सिद्ध करते हुए, उनकी दिव्य वाणी का जयघोष किया है।[२]"

७. अष्टसहस्री—जैन न्याय का यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अध्ययन की महत्ता बतलाते हुए स्वयं श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं—

"श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायेत ययैव, स्वसमय परसमयसद्भावः[३]।।"

हजारों ग्रन्थों के सुनने से क्या प्रयोजन है ? मात्र एक अष्टसहस्री ही सुनना चाहिए क्योंकि इस अष्टसहस्री के द्वारा ही स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त का सद्भाव (स्वरूप) जाना जाता है।

श्री समन्तभद्र स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र पर गन्धहस्तिमहाभाष्य नामक भाष्य लिखते समय प्रारम्भ में "मोक्षमार्गस्य नेतारं" इत्यादि मंगलाचरण के ऊपर ११४ कारिकाओं द्वारा आप्त की मीमांसा की है

---

१. अनेकांत, वर्ष ६, किरण ११। २. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग-२, पृ. ३६१। ३. अष्टसहस्री मूल, पृ. १५७।

अतः प्रारम्भिक "देवागम" पद को लेकर इस रचना का "देवागमस्तोत्र" यह नाम भी प्रसिद्ध है।

श्रीअकलंकदेव ने इस स्तोत्र पर ८०० श्लोक प्रमाण द्वारा भाष्य रचना की है जिसका नाम 'अष्टशती' प्रसिद्ध है।

अष्टशती समेत इस आप्तमीमांसा पर आचार्यश्री विद्यानन्द महोदय ने ८००० श्लोक प्रमाण "अष्टसहस्री" नाम से "महाभाष्य" बनाया है। यह ग्रन्थ न्याय की प्रांजल-भाषा में रचा गया दुरुह और जटिल ग्रंथ है। स्वयं ग्रन्थकार ने इसे "कष्टसहस्री" कहा है—

कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्त्रीयमत्र मे पुष्यात्।

जो कष्टसहस्री सिद्ध है ऐसी यह अष्टसहस्री[१] मेरे मनोरथ को पूर्ण करे।

इस ग्रन्थ में एकादश नियोग विधिवाद, भावनावाद और इनका निराकरण तथा तत्त्वोपप्लववाद, संवेदनाद्वैत, चित्राद्वैत, ब्रह्माद्वैत, सर्वज्ञाभाव आदि का निराकरण करके सर्वज्ञत्व सिद्धि, मोक्षतत्त्व और उसके उपाय की सिद्धि का सुन्दर विवेचन है।

प्रत्येक प्रकरण में सप्तभंगी स्याद्वाद का जैसा सुन्दर विवेचन इस ग्रन्थ में है वैसा विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

यह ग्रन्थ दश परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद सबसे बड़ा है और आधा ग्रन्थ इसी में समाप्त है और आधे में नव परिच्छेद हैं।

८. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक नाम का ग्रन्थ टीका ग्रन्थों में एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, यह ग्रन्थ उमास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्यरूप से रचा गया है। पद्यात्मक शैली में है, साथ ही पद्यवार्तिकों पर उन्होंने स्वयं भाष्य अथवा गद्य में व्याख्यान लिखा है। आचार्य महोदय ने इसकी रचना करके कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध तार्किकों के द्वारा जैनदर्शन पर किए गए आक्षेपों का उत्तर दिया है। इस ग्रन्थ की समता करने वाला जैनदर्शन में तो क्या अन्य किसी भी दर्शन में एक ग्रन्थ भी नहीं है।

जीव का अन्तिम ध्येय मोक्ष है। बन्धनबद्ध आत्मा को मुक्ति के अतिरिक्त और क्या करना चाहिए, इस ग्रन्थ में मुक्ति के साधनभूत रत्नत्रयमार्ग का सुन्दर और गहन विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय के प्रथम सूत्र के भाष्य में "पृथ्वी घूमती है।" इस सिद्धान्त का खण्डन करके पृथ्वी को स्थिर सिद्ध किया है। इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज से १००० वर्ष पूर्व भी कुछ आम्नायी वैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार पृथ्वी को घूमती हुई मानते थे। इसी प्रकार से चतुर्थ अध्याय में ज्योतिर्लोक का बहुत ही स्पष्ट और विस्तृत विवेचन है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद पं. माणिकचन्द जी न्यायाचार्य ने किया है। ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। सभी के लिए पठनीय और मननीय है।

९. युक्त्यानुशासनालंकार—यह भी एक टीका ग्रन्थ है। श्री स्वामी समन्तभद्र ने ६४ कारिकाओं में "युक्त्यानुशासन" नाम से यह एक स्तुति रचना की है। इसमें स्वामी ने श्री महावीर भगवान के शासन को "सर्वोदय" शासन सिद्ध किया है। श्री विद्यानन्द आचार्य ने अलंकार स्वरूप ही टीका रचकर "युक्त्यानुशासनालंकार" यह सार्थक नाम दिया है।

स्वामी समन्तभद्र ने अद्वैतवाद, द्वैतवाद, शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद, बन्धवाद, मोक्षवाद और बन्धकारण-मोक्षकारणवाद आदि प्रमेयों की समीक्षा करके स्याद्वाद की सिद्धि की है। उसी का

१. अष्टसहस्री पृ. २९५।

विस्तार टीकाकार ने किया है। श्री विद्यानन्द आचार्य के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए डॉ. नेमिचन्द ज्योतिषाचार्य कहते हैं—

अतः हमें विद्यानन्द की "श्रोताव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः। विज्ञायेत ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः। आदि गर्वोक्ति स्वभावोक्ति प्रतीत होती है।"[१]

वास्तव में जैसे इनकी अष्टसहस्री ग्रन्थ के प्रश्नोत्तर की शैली अनूठी है, अनुपम है और सभी के लिए पठनीय है, मननीय है, वैसे ही इनके सभी ग्रन्थ न्याय और सिद्धान्त के सूक्ष्म ज्ञान को कराने में सर्वथा सक्षम हैं।

आचार्यश्री अमृतचन्द्रसूरि

आध्यात्मिक ग्रन्थों के टीकाकारों में श्री अमृतचंद्रसूरि का सर्वप्रथम स्थान है। यदि अमृतचंद्रसूरि न होते तो आचार्य श्री कुंदकुंद देव के रहस्य को समझना कठिन हो जाता अतः कुंदकुंद देव के व्याख्याता के रूप में अमृतचंद्रसूरि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके मौलिक ग्रन्थ भी अपने आप में अतीव विशेषता लिए हुए हैं। निश्चयतः इन आचार्य की विद्वत्ता, वाग्मिता और प्रांजल शैली अप्रतिम है। आध्यात्मिक विद्वानों में कुंदकुंद देव के पश्चात् यदि आदरपूर्वक किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे अमृतचंद्रसूरि हैं।

इनका जीवन परिचय, समय और इनकी रचनाओं पर यहां किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है—

जीवन परिचय—इनका परिचय किसी भी कृति में प्राप्त नहीं होता है पर कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे इनके व्यक्तित्व का निश्चय किया जा सकता है। पं. आशाधर ने इनका उल्लेख "ठक्कुर पद" के साथ किया है—"ऐतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचंद्रसूरिविरचित समयसारटीकायां दृष्टव्यम्[२]।"

यहां "ठक्कुर" शब्द विचारणीय है। "ठक्कुर" शब्द का प्रयोग प्रायः जागीरदार या जमींदार के लिए प्रयुक्त होता है। यह पद क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दोनों के लिए समानरूप से प्रयुक्त होता है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अमृतचंद्रसूरि क्षत्रिय थे या ब्राह्मण पर इतना निश्चय अवश्य है कि वे किसी सम्माननीय कुल के व्यक्ति रहे थे। संस्कृत और प्राकृत इन दोनों ही भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ये मूलसंघ के आचार्य थे।

समय विचार—डॉ. उपाध्ये ने इनका समय ईस्वी सन् की १० वीं शताब्दी के लगभग माना है। पट्टावली में अमृतचंद्र के पट्टारोहण का समय वि.सं. ९६२ दिया है, जो ठीक प्रतीत होता है। डॉ. नेमिचंद्र ज्योतिषाचार्य भी इनका समय ई. सन् की १०वीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही मानते हैं।

रचनायें—टीका ग्रन्थ—१. समयसार टीका, २. प्रवचनसार टीका, ३. पंचास्तिकाय टीका।

मौलिक ग्रन्थ—४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ५. तत्त्वार्थसार, ६. समयसार कलश।

१. समयसार टीका—इस टीका का नाम "आत्मख्याति" है। इस टीका में आचार्यश्री ने गाथा के शब्दों का व्याख्यान न कर उसके अभिप्राय को अपनी परिष्कृत गवशैली में व्यक्त किया है। गाथा की टीका के अन्त में, कहीं-कहीं मध्य में भी कुछ पद्य काव्य दिए हैं जो सरस और मधुर हैं, इन्हीं काव्यों का "समयसार कलश" नाम से पृथक् अस्तित्व भी है। टीका को नाटक के समान अंकों में विभाजित किया है। प्रारम्भिक भाग को पूर्व रंग कहा है। नाटक में पात्रों के प्रवेश निष्क्रमणवत् यहां भी प्रवेश और निष्क्रमण

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग—२, प. ३६५। २. अनागार धर्मामृत टीका, पृष्ठ ५८८।

दिखाया है। यथा—"जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ।" अर्थात् जीवाजीवाधिकार के प्रारम्भ में "जीव-अजीव पृथक्-पृथक् होकर चले गए।" इसी तरह प्रत्येक अधिकार में वर्णन है। वस्तुतः यह संसार एक रंगमंच है जिस पर जीव-अजीव नानारूप धारण करके अभिनय करते हैं।

शुद्धनय को प्राप्त करने के अधिकारी कौन हैं ? व्यवहारनय कहां तक उपयोगी है ? स्थल-स्थल पर टीका में अच्छा प्रकाश मिलता है। यथा—ये खलु पर्यंकपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परम भावमनुभवन्ति, तेषां.....शुद्धनयं एव..... प्रयोजनवान्। जो अंतिम पाक से उत्तीर्ण अर्थात् सोलह ताव को प्राप्त हुए सुवर्ण के सदृश परम भाव का अनुभव करते हैं उनके लिए शुद्धनय ही प्रयोजनवान् है और जो एक, दो आदि ताव से शुद्ध ऐसे अशुद्ध अपरमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। यहां स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे शुद्ध भाव का अनुभव शुद्धोपयोगी मुनि को ही होगा न कि श्रावक को या सरागचर्या वाले मुनि को, अतः संयमासंयमी और सरागसंयमी के लिए व्यवहारनय ही प्रयोजनीभूत है। श्री जयसेनस्वामी ने इसी अभिप्राय को अपने अतीव सरल शब्दों में कहा है "अपरम्-अशुद्ध असंयत् सम्यग्दृष्टि, श्रावक, प्रमत्तमुनि तथा भेदरत्नत्रय में स्थित शुभोपयोगी अप्रमत्त मुनि अपरम भाव का अनुभव करते हैं अतः उनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है तथा अभेद रत्नत्रयरूप परम समाधि के काल में शुद्धोपयोगी मुनियों को शुद्धनय प्रयोजनीभूत है[१]।"

आगे व्यवहारनय का महत्त्व दिखलाते हुए ४६वीं गाथा की टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं कि—

'व्यवहारो हि..... परमार्थ प्रतिपादकत्वात् अपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्ति निमित्तं दर्शयितुं न्याय एव।' व्यवहारनय, परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपरमार्थ होते हुए भी तीर्थ की प्रवृत्ति का निमित्त है अतः उसका वर्णन करना न्यायसंगत ही है। चूंकि यदि व्यवहारनय का उपदेश न दिया जाए तो निश्चय से तो जीव और शरीर भिन्न ही हैं पुनः उन त्रस-स्थावर जीवों की राख के समान निःशंक होकर मर्दन कर डालने पर भी हिंसा नहीं होनी चाहिए और हिंसा के अभाव में उसे पाप बंध भी नहीं होना चाहिए तथा....परमार्थ से जीव के राग, द्वेष, मोह भी नहीं है पुनः उनसे छूटने के लिए मोक्ष के लिए उपायभूत रत्नत्रय को भी ग्रहण नहीं करना चाहिए और इस तरह से मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा[२]।

तात्पर्य यही हुआ कि व्यवहारनय के आश्रय से ही संसार से छूटने का मार्ग ग्रहण किया जाता है।

इसी तरह श्रीअमृतचंद्रसूरि द्वारा रचित प्रवचनसार और पंचास्तिकाय की टीकायें भी स्याद्वादमय भाषा से परिपूर्ण होने से स्थल-स्थल पर एकांत दुराग्रही निश्चयाभाषी की कठोर भर्त्सना करती हैं और व्यवहाराभाषी को भी निश्चय का भान कराने में समर्थ हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय—यह मुख्यरूप से श्रावकाचार ग्रन्थ है, इसमें आठ अंगों के वर्णन में निश्चय-व्यवहार नयों का अच्छा विवेचन है। अहिंसाणुव्रत का वर्णन करते हुए आचार्यश्री मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर फलों के त्याग का आदेश देते हुए कहते हैं—

"अष्टावनिष्टदुस्तर दुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।७४।।"

ये आठ अनिष्ट हैं, दुस्तर पाप के स्थान हैं, जो इनका त्याग कर देते हैं वे ही शुद्ध बुद्धि वाले मनुष्य जिनधर्म की देशना के लिए पात्र होते हैं।

समयसार की टीका, कलश काव्य आदि के रचयिता श्री अमृतचंद्रसूरि के उपर्युक्त शब्द ध्यान देने

१. समयसार गाथा १२, पृष्ठ २४-२५-२६। २. समयसार गाथा ४६ पृ. ८४।

योग्य हैं। वास्तव में आज पात्रता न देखकर ही जो उपदेश दे देते हैं वह उनके लिए व शिष्यों के लिए भी हानिप्रद अर्थात् विपरीत हो जाता है। ऐसे ही पुरुषार्थसिद्धि ग्रन्थ का और भी एक श्लोक बहुत ही महत्त्वशाली है—

''निरतःकात्स्न्र्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।४१।।''

ऊपर में पांच पाप के त्याग को चारित्र कहा है। पुनः श्लोक में कहते हैं कि जो इन पांचों पापों से पूर्णतया विरत हो चुके हैं—त्याग कर चुके हैं वे यति समयसारभूत होते हैं और जो इन पांच पापों का एक-देश त्याग करते हैं वे उनके उपासक होते हैं।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुनि ही समयसाररूप हैं और श्रावक उपासक कहलाते हैं। समयसार अवस्था को प्राप्त करने में वे समर्थ नहीं हैं।

इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अहिंसा का जितना सुन्दर विवेचन है वैसा प्रायः अन्यत्र देखने में नहीं आता है अतः यह ग्रन्थ प्रत्येक श्रावक-श्राविकाओं के लिए विशेषतया पठनीय है। ऐसे ही सत्य, अचौर्य आदि व्रतों का वर्णन भी इसमें बहुत ही मार्मिक है।

तत्त्वार्थसार—यों तो यह तत्त्वार्थसार ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र का व्याख्यान अथवा सार है फिर भी इसके विषयस्रोत गृद्धपिच्छाचार्य के तत्त्वार्थसूत्र के अतिरिक्त पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, अकलंकदेव का तत्त्वार्थवार्तिक, प्राकृत पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ हैं अतः इसे ''तत्त्वार्थसूत्र'' ग्रन्थ के अभिप्राय को स्पष्ट करने वाला पद्यात्मक ग्रन्थ कहा जाए तो कोई बाधा नहीं है।

समयसार कलश—यद्यपि ये सभी कलश काव्य समयसार की ''आत्मख्याति व्याख्या'' टीका के अन्तर्गत ही हैं फिर भी काव्य के रसास्वादी साधु इन्हें पृथक् ग्रन्थ के रूप में लेकर उन पर टीका भी रच चुके हैं। ये काव्य कुल २७८ हैं। जैसे मन्दिर के ऊपर मणिमयी कलश चढ़ाने पर ही मन्दिर शोभित होता है वैसे ही समयसार टीकारूपी मन्दिर पर ये काव्य मणिमयी कलश के समान सुन्दर, मनोहर होने से सार्थक नाम वाले होते हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

आत्मा का अनुभव करने वाले शुद्धोपयोगी मुनियों की कैसी अद्वैत अवस्था होती है—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं, क्वचिदपि न च विद्मो यातिनिक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्यो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।

उस समय नयों का उदय ही नहीं होता है, प्रमाण भी अस्त हो जाते हैं और पता ही नहीं कि निक्षेपसमूह कहां चले जाते हैं ? अधिक तो क्या कहें, सभी को समाप्त करने वाले इस अनुभवरूप तेज के प्रकट हो जाने पर भी कुछ भी ''द्वैत'' प्रतिभाषित नहीं होता है। उस समय मात्र आत्मानुभवरूप एक अद्वैत ही प्रतिभाषित होता है।

इस प्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि अपने नाम के अनुसार ही आत्मानुभवरूपी अमृत का स्वयं तो पान करते ही होंगे किन्तु उनकी वाणी आज भी अगणित भव्यजीवों को जिनधर्मरूपी अमृत का पान करा रही है और आगे भी पता नहीं कितने जीवों को इस मधुर अमृत का पान कराती ही रहेगी।

आचार्यश्री अकलंकदेव

जैन दर्शन में अकलंकदेव एक प्रखर तार्किक और महान दार्शनिक आचार्य हुए हैं। बौद्धदर्शन में जो स्थान धर्मकीर्ति को प्राप्त है, जैन दर्शन में वही स्थान अकलंकदेव का है। इनके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैनदर्शन और जैन न्यायविषयक हैं।

श्री अकलंकदेव के सम्बन्ध में श्रवणबेलगोला के अभिलेखों में अनेक स्थान पर स्मरण आया है।

अभिलेख संख्या ४७ में लिखा है—

षट्तर्केष्वकलंकदेव विबुधः साक्षादयं भूतले[१]।

अर्थात् अकलंकदेव षट्दर्शन और तर्कशास्त्र में इस पृथ्वी पर साक्षात् वृहस्पति देव थे।

अभिलेख नं. १०८ में पूज्यपाद के पश्चात् अकलंकदेव का स्मरण किया गया है—

''ततः परं शास्त्रविदां मुनीनामग्रे, सरोऽभूदकलंकसूरिः।
मिथ्यान्धकार स्थगिताखिलार्थाः, प्रकाशिता यस्य वचोमयूखैः[२]।।''

इनके बाद शास्त्रज्ञानी महामुनियों के अग्रणी श्री अकलंकदेव हुए जिनकी वचनरूपी किरणों के द्वारा मिथ्या अंधकार से ढके हुए अखिल पदार्थ प्रकाशित हुए हैं।

इनका जीवन परिचय, समय, गुरु परम्परा और इनके द्वारा रचित ग्रन्थ इन चार बातों को संक्षेप से यहां दिखाया जाएगा—

जीवन परिचय—तत्त्वार्थवार्तिक के प्रथम अध्याय के अंत में जो प्रशस्ति है उसके आधार से ये ''लघुहव्वनृपति'' के पुत्र प्रतीत होते हैं। यथा—

''जीयाच्चिरम कलंकब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः।
अनवरतनिखिलजननुतविधः प्रशस्तजनहृदयः।।''

लघुहव्वनृपति के श्रेष्ठ पुत्र श्री अकलंक ब्रह्मा चिरकाल तक जयशील होवें, जिनको हमेशा सभी जन नमस्कार करते थे और जो प्रशस्तजनों के हृदय के अतिशय प्रिय हैं।

ये कौन थे ? किस देश के थे ? यह कुछ पता नहीं चल पाया है। हो सकता है ये दक्षिण देश के राजा रहे हों। श्री नेमिचन्द्रकृत आराधना कथाकोष में इन्हें मंत्रीपुत्र कहा है। यथा—

मान्यखेट के राजा शुभतुंग के मन्त्री का नाम पुरुषोत्तम था, उनकी पत्नी पद्मावती थीं। इनके दो पुत्र थे—अकलंक और निकलंक। एक दिन आष्टान्हिक पर्व में पुरुषोत्तम मंत्री ने चित्रगुप्त मुनिराज के समीप आठ दिन का ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और उसी समय विनोद में दोनों पुत्रों को भी व्रत दिला दिया।

जब दोनों पुत्र युवा हुए तब पिता के द्वारा विवाह की चर्चा आने पर विवाह करने से इंकार कर दिया। यद्यपि पिता ने बहुत समझाया कि तुम दोनों को व्रत विनोद में दिलाया था तथा वह आठ दिन के लिए ही था किन्तु इन युवकों ने यही उत्तर दिया कि—पिताजी व्रत ग्रहण में विनोद कैसा ? और हमारे लिए आठ दिन की मर्यादा नहीं की थी।

पुनः ये दोनों बाल ब्रह्मचर्य के पालन में दृढ़प्रतिज्ञ हो गए और धर्माराधना में तथा विद्याध्ययन में तत्पर हो गए। ये बौद्ध शास्त्रों के अध्ययन हेतु ''महाबोधि'' स्थान में बौद्ध धर्माचार्य के पास पढ़ने लगे। एक दिन

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ अभिलेख ४७। २. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १ अभिलेख १०८।

बौद्ध गुरु पढ़ाते-पढ़ाते कुछ विषय को नहीं समझा सके तो वे चिन्तित हो बाहर चले गए। वह प्रकरण सप्त-भंगी का था, अकलंक ने समय पाकर उसे देखा, वहां कुछ पाठ समझकर उसे शुद्ध कर दिया। वापस आने पर गुरु को शंका हो गई कि यहां कोई विद्यार्थी जैनधर्मी अवश्य है। उसकी परीक्षा की जाने पर ये अकलंक-निकलंक पकड़े गए। इन्हें जेल में डाल दिया गया। उस समय रात्रि में धर्म की शरण लेकर ये दोनों वहां से भाग निकले। प्रातः इनकी खोज शुरू हुई। नंगी तलवार हाथ में लिए घुड़सवार दौड़ाए गए।

जब भागते हुए इन्हें आहट मिली, तब निकलंक ने भाई से कहा—भाई! आप एकपाठी हैं अतः आपके द्वारा जैनशासन की विशेष प्रभावना हो सकती है अतः आप इस तालाब के कमलपत्र में छिपकर अपनी रक्षा कीजिए। इतना कहकर वे अत्यधिक वेग से भागने लगे। इधर अकलंक ने कोई उपाय न देख अपनी रक्षा कमलपत्र में छिपकर की और निकलंक के साथ एक धोबी भी भागा। तब ये दोनों मारे गए।

कुछ दिन बाद एक घटना हुई वह ऐसी है कि—

रत्नसंचयपुर के राजा हिमशीतल की रानी मदनसुन्दरी ने फाल्गुन की आष्टान्हिका में रथयात्रा महोत्सव कराना चाहा। उस समय बौद्धों के प्रधान आचार्य संघश्री ने राजा के पास आकर कहा कि जब कोई जैन मेरे से शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त कर सकेगा तभी यह जैन रथ निकल सकेगा अन्यथा नहीं। महाराज ने यह बात रानी से कह दी। रानी अत्यधिक चिंतित हो जिनमन्दिर में गई और वहां मुनियों को नमस्कार कर बोली—प्रभो! आप में से कोई भी इस बौद्ध गुरु से शास्त्रार्थ करके उसे पराजित कर मेरा रथ निकलवाइये। मुनि बोले—रानी! हम लोगों में एक भी ऐसा विद्वान नहीं है। हाँ, मान्यखेटपुर में ऐसे विद्वान मिल सकते हैं। रानी बोली—गुरुवर! अब मान्यखेटपुर से विद्वान आने का समय कहाँ है? वह चिंतित हो जिनेन्द्रदेव के समक्ष पहुँची और प्रार्थना करते हुए बोली—भगवन्! यदि इस समय जैनशासन की रक्षा नहीं होगी तेा मेरा जीना किस काम का? अतः अब मैं चतुराहार का त्याग कर आपकी ही शरण लेती हूँ। ऐसा कहकर उसने कायोत्सर्ग धारण कर लिया।

उसके निश्चल ध्यान के प्रभाव से पद्मावती देवी का आसन कंपित हुआ। उसने जाकर कहा—देवि! तुम चिन्ता छोड़ो, उठो, कल ही निकलंक देव आयेंगे जो कि तुम्हारे मनोरथ को पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष होंगे। रानी ने घर आकर यत्र-तत्र किंकर दौड़ाए। अकलंकदेव बगीचे में अशोकवृक्ष के नीचे ठहरे हैं सुनकर वहां पहुँची। भक्तिभाव से उनकी पूजा की और अश्रु गिराते हुए अपनी विपदा कह सुनाई। अकलंकदेव ने उसे आश्वासन दिया और वहां आये। राज्यसभा में शास्त्रार्थ शुरू हुआ। प्रथम दिन ही संघश्री घबड़ा गया और उसने अपने इष्टदेव की आराधना करके तारादेवी को शास्त्रार्थ करने के लिए घट में उतारा।

छह महीने तक शास्त्रार्थ चलता रहा किन्तु तारादेवी भी अकलंकदेव को पराजित नहीं कर सकी। अंत में अकलंक को चिंतातुर देख चक्रेश्वरी देवी ने उन्हें उपाय बतलाया। प्रातः अकलंकदेव ने देवी से समुचित प्रत्युत्तर न मिलने से परदे के अन्दर घुसकर घड़े को लात मारी जिससे वह देवी पराजित हो भाग गई और अकलंकदेव के साथ-साथ जैनशासन की विजय हो गई। रानी के द्वारा कराई जाने वाली रथयात्रा बड़े धूमधाम से निकली और जैनधर्म की महती प्रभावना हुई। श्री मल्लिषेण प्रशस्ति में इनके विषय में विशेष श्लोक पाए जाते हैं। यथा—

तारा येन विनिर्जिता घटकुटीगूढ़ावतारा समं।
बौद्धैर्यो धृतपीठपीडितकुदृग्देवात्तसेवांजलिः।।
प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिजरजस्नानं च यस्याचरत्।
दोषाणां सुगतस्स कस्य विषयो देवाकलंकः कृती।।२०।।

चूर्णि ''यस्येदमात्मनोऽनन्यसामान्यनिरवद्यविद्या-विभवोपवर्णनमाकर्ण्यते।''

राजन्साहसतुंग संति वहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।
त्वद्वत्संति बुधा न संति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो,
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः।।२१।।

आगे २३ वें श्लोक में कहते हैं—

नाहंकारवशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवलं,
नैरात्म्यं प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया।
राज्ञः श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मनो
बौद्धौघान् सकलान् विजित्य सुगतः पादेन विस्फोटितः।।

अर्थात् महाराज हिमशीतल की सभा में मैंने सर्व बौद्ध विद्वानों को पराजित कर सुगत को पैर से ठुकराया। यह न तो मैंने अभिमान के वश होकर किया, न किसी प्रकार के द्वेष भाव से किन्तु नास्तिक बनकर नष्ट होते हुए जनों पर मुझे बड़ी दया आई इसलिए मुझे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा है।

इस प्रकार से संक्षेप में इनका जीवन परिचय दिया गया है।

समय—डॉ. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने इनका समय ईस्वी सन् की ८वीं शती सिद्ध किया है। पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने इनका समय ईस्वी सन् ६२०-६८० तक निश्चित किया है किन्तु महेन्द्रकुमार जी न्या. के अनुसार यह समय ई. सन् ७२०-७८० आता है।

गुरुपरम्परा—देवकीर्ति की पट्टावली में श्री कुन्दकुन्ददेव के पट्ट पर उमास्वामी अपरनाम गृद्धपिच्छ आचार्य हुए। उनके पट्ट पर श्री पूज्यपाद हुए पुनः उनके पट्ट पर श्रीअकलंकदेव हुए।

''अजनिष्टाकलंक यज्जिनशासनमादितः।
अकलंकं बभौ येन सोऽकलंको महामतिः[३]।।१०।।''

"श्रुतमुनि-पट्टावली" में इन्हें पूज्यपाद स्वामी के पट्ट[३] पर आचार्य माना है। इसके संघ भेद की चर्चा की है।

इनके द्वारा रचित ग्रन्थ—

इनके द्वारा रचित स्वतन्त्र ग्रन्थ चार हैं और टीका ग्रन्थ दो हैं—

१. लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञविवृति सहित), २. न्यायविनिश्चय (सवृत्ति), ३. सिद्धिविनिश्चय (सवृत्ति), ४. प्रमाण संग्रह (सवृत्ति)।

टीका ग्रन्थ—१. तत्त्वार्थवार्तिक (सभाष्य), २. अष्टशती (देवागम विवृत्ति)।

लघीयस्त्रय—इस ग्रन्थ में प्रमाण प्रवेश, नय प्रवेश और निक्षेप प्रवेश ये तीन प्रकरण हैं। ७८ कारिकायें हैं, मुद्रित प्रति में ७७ ही हैं। श्री अकलंकदेव ने इस पर संक्षिप्त विवृत्ति भी लिखी है, जिसे स्वोपज्ञविवृत्ति कहते हैं। श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने इसी ग्रन्थ पर "न्याय कुमुदचन्द्र" नाम से व्याख्या रची है जो कि न्याय का एक अनूठा ग्रन्थ है।

न्यायविनिश्चय—इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन ये तीन प्रस्ताव हैं। कारिकायें ४८० हैं।

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग-४, पृ. ३७६। २. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृष्ठ ३८४। ३. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ४, पृ. ४१२।

इनकी विस्तृत टीका श्री वादिराजसूरि ने की है। यह ग्रन्थ ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

सिद्धि विनिश्चय—इस ग्रन्थ में १२ प्रस्ताव हैं। इसकी टीका श्री अनन्तवीर्यसूरि ने की है। यह भी ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

प्रमाण संग्रह—इसमें ९ प्रस्ताव हैं और ८७ कारिकाएं हैं। यह ग्रन्थ "अकलंक ग्रन्थत्रय" में सिंधी ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा में धनंजय कवि ने नाममाला में एक पद्य लिखा है—

प्रमाणमकलंकस्य, पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।।

अकलंकदेव का प्रमाण, पूज्यपाद का व्याकरण और धनंजय कवि का काव्य ये अपश्चिम—सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रय—तीन रत्न हैं।

वास्तव में जैन न्याय को अकलंक की सबसे बड़ी देन है, इनके द्वारा की गई प्रमाण व्यवस्था दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों को मान्य रही है।

तत्त्वार्थवार्तिक—यह ग्रन्थ श्री उमास्वामी आचार्य के तत्त्वार्थसूत्र की टीकारूप है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रत्येक सूत्र पर वार्तिकरूप में व्याख्या लिखे जाने के कारण इसका "तत्त्वार्थवार्तिक" यह सार्थक नाम श्री भट्टाकलंकदेव ने ही दिया। इस ग्रन्थ की विशेषता यही है कि इसमें तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों पर वार्तिक रचकर उन वार्तिकों पर भी भाष्य लिखा गया है अतः यह ग्रन्थ अतीव प्रांजल और सरल प्रतीत होता है।

अष्टशती—श्री स्वामी समन्तभद्र द्वारा रचित आप्तमीमांसा की यह भाष्यरूप टीका है। इस वृत्ति का प्रमाण ८०० श्लोक प्रमाण है अतः इसका "अष्टशती" यह नाम सार्थक है।

जैनदर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। आचार्य समन्तभद्र अनेकांतवाद के सबसे बड़े व्यवस्थापक हैं। उन्होंने श्री उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के मंगलाचरण "मोक्षमार्गस्य नेतारं" आदि को लेकर आप्त—सच्चे देव की मीमांसा करते हुए ११५ कारिकाओं द्वारा स्याद्वाद की प्रक्रिया को दर्शाया है। उस पर श्री भट्टाकलंकदेव ने "अष्टशती" नाम से भाष्य बनाया है और इस भाष्य को वेष्टित करके श्री विद्यानन्द आचार्य ने ८००० श्लोक प्रमाणरूप से "अष्टसहस्री" नाम का सार्थक टीका ग्रन्थ तैयार किया और इसे "कष्टसहस्री" नाम भी दिया है। जैन दर्शन का यह सर्वोपरि ग्रन्थ है। मैंने पूर्वाचार्यों और अपने दीक्षा, शिक्षा आदि गुरुओं के प्रसाद से इस "अष्टसहस्री" ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है जिसके तीनों खण्ड "वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला" से प्रकाशित हो चुके हैं।

इस प्रकार से श्रीमद् भट्टाकलंक देव के बारे में मैंने संक्षिप्त वर्णन किया है। वर्तमान में "निकलंक का बलिदान" नाम से इनका नाटक खेला जाता है जो कि प्रत्येक मानव के मानसपटल पर जैनशासन की रक्षा और प्रभावना की भावना को अंकित किए बिना नहीं रहता है।

बाल्यकाल में "अकलंक निकलंक नाटक" देखकर ही मेरे हृदय में एक पंक्ति अंकित हो गई थी कि—

"प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्"

कीचड़ में पैर रखकर धोने की अपेक्षा कीचड़ में पैर न रखना ही अच्छा है। उसी प्रकार से गृहस्थावस्था में फंसकर पुनः निकलकर दीक्षा लेने की अपेक्षा गृहस्थ में न फंसना ही अच्छा है। इस पंक्ति ने ही मेरे हृदय में वैराग्य का अंकुर प्रगट किया था जिसके फलस्वरूप आज मैं उनके पदचिन्हों पर चलने का प्रयास करते हुए उनके विषय में कुछ लिखने के लिए सक्षम हुई हूँ।

आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी

श्री पूज्यपाद स्वामी एक महान आचार्य हुए हैं। श्री जिनसेन, शुभचन्द्र आचार्य आदि ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थ में उन्हें बड़े आदर से स्मरण किया है। यथा—

कवीनां तीर्थकृद्देवः किं तरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्।।

जो कवियों में तीर्थंकर के समान थे और जिनका वचनरूपी तीर्थ विद्वानों के शब्द सम्बन्धी दोषों को नष्ट करने वाला है, ऐसे उन देवनन्दि आचार्य का कौन वर्णन कर सकता है ?

अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक्चित्तसंभवम्।
कलंकमंगिनां सोऽयं देवनंदी नमस्यते।।

जिनके वचन प्राणियों के शरीर, वचन और चित्त के सभी प्रकार के दोष कोदूर करने में समर्थ हैं उन देवनन्दि आचार्य को मैं नमस्कार करता हूँ अर्थात् श्री पूज्यपाद ने वैद्यक ग्रन्थ बनाकर काय सम्बन्धी दोष को दूर किया है, व्याकरण ग्रन्थ बनाकर वचन सम्बन्धी दोष को एवं समाधितन्त्र ग्रन्थ बनाकर मन सम्बन्धी दोष को दूर किया है।

इन पूज्यपाद स्वामी का जीवन परिचय, समय, गुरु परम्परा और इनके रचे हुए ग्रंथों का किंचित् विवरण किया जाता है।

जीवन परिचय—इनके पिता का नाम माधव भट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। ये कर्नाटक के "कोले" नामक ग्राम के निवासी थे और ब्राह्मण कुल के भूषण थे। इनका घर का नाम "देवनन्दि" था। ये एक दिन अपनी वाटिका में विचरण कर रहे थे कि उनकी दृष्टि सांप के मुख में फँसे हुए मेंढ़क पर पड़ी इससे उन्हें विरक्ति हो गयी और ये जैनेश्वरी दीक्षा लेकर महामुनि हो गए। ये अपनी तपस्या के प्रभाव से महान प्रभावशाली मुनि हुए हैं। कथा में ऐसा वर्णन आता है कि ये अपने पैरों में गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्र में जाया करते थे। इनके विदेहक्षेत्र गमन का वर्णन प्रशस्ति के श्लोकों से भी स्पष्ट हो रहा है। यथा—

श्री पूज्यपादप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद् विदेहजिनदर्शन-पूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात्, कालायसं किल तदा कनकीचकार।।१७।।

जिनके अप्रतिम औषधि ऋद्धि प्रगट हुई थी, विदेह क्षेत्र के जिनेन्द्रदेव के दर्शन से जिनका शरीर पवित्र हो चुका था, ऐसे पूज्यपाद स्वामी एक महान मुनि हुए हैं। इन्होंने अपने पैर के धोये हुए जल के स्पर्श के प्रभाव से लोहे को सोना बना दिया था।

इस श्लोक से इनकी ऋद्धि विशेष का और विदेहगमन का स्पष्टीकरण हो रहा है। कथानकों में ऐसा भी आया है कि ये पूज्यपाद मुनि बहुत दिनों तक योगाभ्यास करते रहे। किसी समय एक देव ने विमान में इन्हें बैठाकर अनेक तीर्थों की यात्रा कराई। मार्ग में एक जगह उनकी दृष्टि नष्ट हो गई अतः उन्होंने शान्त्यष्टक रचकर ज्यों की त्यों दृष्टि प्राप्त की।

समय विचार—पूज्यपाद के समय के सम्बन्ध में विशेष विवाद नहीं है। आचार्य अकलंक देव ने अपने "तत्त्वार्थवार्तिक" में सर्वार्थसिद्धि के अनेकों वाक्यों को वार्तिक का रूप दिया है। शब्दानुशासन सम्बन्धी कथन की पुष्टि के लिए इनके जैनेन्द्र व्याकरण के सूत्रों को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है अतः पूज्यपाद अकलंकदेव के पूर्ववर्ती हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इन्होंने अपने समाधिशतक में तो श्री

कुन्दकुन्द देव के मोक्षपाहुड की अनेकों गाथायें ज्यों की त्यों संस्कृत में भाषान्तररूप की हैं तथा गृद्धपिच्छाचार्य का समय विक्रम की द्वितीय शताब्दी का अन्तिम पाद है अतः पूज्यपाद का समय विक्रम संवत् ३०० के पश्चात् ही संभव है।

पूज्यपाद स्वामी ने अपने जैनेन्द्र व्याकरण सूत्रों में भूतबलि, समन्तभद्र, श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्र नामक पूर्वाचार्यों का निर्देश किया है। नन्दिसेन की पट्टावली में देवनंदि का समय विक्रम सं. २५८-३०८ तक अंकित किया है[१]।

गुरु परम्परा—नंदिसंघ की पट्टावली में यशोनंदि आचार्य के पट्ट पर श्री देवनंदि आचार्य हुएँ ह ऐसा उल्लेख है।

इनकी रचनायें—श्री पूज्यपाद आचार्य द्वारा रचित अब तक निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. दशभक्ति २. जन्माभिषेक (पंचामृताभिषेक), सर्वार्थसिद्धि, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, जैनेन्द्र व्याकरण और सिद्धिप्रिय स्तोत्र।

१. सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति आदि नाम से ये भक्तियां "धर्मध्यान दीपक" और क्रियाकलाप आदि ग्रन्थों में छप चुकी हैं।

२. वर्तमान में एक जन्माभिषेक मुद्रित उपलब्ध है इसे पूज्यपाद द्वारा रचित माना गया है। इसकी रचना प्रौढ़ और प्रवाहमय है।

इस अभिषेक पाठ के विषय में शिलालेख संग्रह में भी लिखा है—

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयं।।
जैनेन्द्रं जिनशब्दभोगमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा।
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।।

छन्दस्सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदामाख्यातीह सपूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः[२]।।

अर्थात् इनका प्रथम नाम "देवनंदि" था पुनः बुद्धि की महत्ता से ये "जिनेन्द्र बुद्धि" कहलाये। देवताओं द्वारा उनके चरण युगल पूजे गए थे इसलिए ये "पूज्यपाद" कहलाये। इन श्री पूज्यपाद आचार्य ने जैनेन्द्र-व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैनाभिषेक पाठ, समाधिशतक आदि ग्रन्थों की रचना की है।

३. सर्वार्थसिद्धि यह रचना "तत्त्वार्थसूत्र" ग्रन्थ की विशद वृत्ति है इसका दार्शनिक और सैद्धांतिक विवेचन आचार्यवर्य की महान विद्वत्ता का प्रतीक है।

४. यह समाधितन्त्र ग्रन्थ अध्यात्म विषय का बहुत ही सुन्दर विवेचन करता है। आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की विषयवस्तु कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों से ही ग्रहण की है।

५. इस इष्टोपदेश ग्रन्थ में ५१ श्लोक में आचार्यश्री ने इष्ट आत्मतत्त्व की ओर ले जाने के लिए अध्यात्म सागर को गागर में ही भर दिया है।

६. जैनेन्द्र व्याकरण ग्रन्थ में सर्वप्रथम सूत्र है "सिद्धिरनेकान्तात्"। इस मंगलसूत्र के द्वारा आचार्यश्री ने शब्दों को भी अनेक धर्मात्मक करके अपने स्याद्वाद को सर्वोपरि और सार्वभौम सिद्ध कर दिया है।

७. सिद्धप्रिय स्तोत्र में चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। रचना प्रौढ़ और प्रवाहयुक्त है।

---

१. श्रुत मुनि पट्टावली, (भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पु. ४, पृ. ४१२)। २. जैन शिलालेख संग्रह भाग १ माणिकचंद्र दि. जैन ग्रंथमाला अभिलेख संख्या ४०।

इनका एक वैद्यक ग्रन्थ भी उपलब्ध है। कहा जाता है कि वह अपूर्ण मिल पाया है।

इन पूज्यपाद आचार्य ने समाधितन्त्र, जैनाभिषेक, सिद्धिप्रिय स्तोत्र और दशभक्ति इन चार ग्रन्थों द्वारा ध्यान, पूजा, प्रार्थना एवं भक्ति को उदात्त जीवन की भूमिका के लिए आवश्यक माना है यह स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार से उनके नेत्र ज्योति की मंदता पुनः प्रकाशमय करने वाली जो शांतिभक्ति है वह आज भी प्रत्येक भक्त के समस्त नेत्र रोगों को नष्ट करने में प्रसिद्ध है और एक दिगम्बर जैनाचार्य द्वारा वीतराग तीर्थंकर के प्रति उत्कृष्ट अनुराग का जाज्वल्यमान उदाहरण है। इस शांति भक्ति का आठवां श्लोक श्लेषालंकारमय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यथा—

शांतिं-शांति जिनेन्द्रशांतमनसस्त्वत्पादपद्माश्रयात्।
संप्राप्ताः पृथिवीतलेषु बहवः शान्त्यर्थिनः प्राणिनः।।
कारुण्यान्मम भाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरु।
त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदतः शान्त्यष्टकं भक्तितः।।८।।

हे शांति जिनेन्द्र! इस पृथ्वीतल पर शांति के इच्छुक बहुत से प्राणी शान्तमना होकर आपके चरण-कमलों का आश्रय लेकर शान्ति को प्राप्त कर चुके हैं अतः मैं भी भक्तिपूर्वक आपके चरणयुगल की इस शान्त्यष्टक द्वारा स्तुति कर रहा हूँ, हे विभो! करुणा करके मुझ भक्त पर दृष्टि प्रसन्न करो अथवा दूसरा अर्थ यह है कि हे विभो! करुणा करके मुझ भक्त की दृष्टि—चक्षु प्रसन्न—निर्मल—निर्दोष करो। कहते हैं कि इस श्लोक के उच्चारण करते ही आचार्यश्री की नेत्र ज्योति स्वच्छ हो गई थी।

ऐसे पूज्यपाद स्वामी हमारी दृष्टि—सम्यग्दर्शन को निर्मल करें।

आचार्यश्री वीरसेन

जितात्मपरलोकस्य, कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलंकावभासते[१]।।

जिन्होंने स्वपक्ष और परपक्ष के लोगों को जीत लिया है तथा जो कवियों के चक्रवर्ती हैं ऐसे श्री वीरसेन स्वामी की निर्मल कीर्ति प्रकाशित हो रही है।

ये आचार्य वीरसेन किनके शिष्य थे ? इनका समय क्या था ? इन्होंने क्या-क्या रचनायें कीं ? आदि संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

जीवन परिचय—आचार्यदेव ने स्वयं अपनी धवला टीका की प्रशस्ति में अपने गुरु का नाम एलाचार्य लिखा है पर इसी प्रशस्ति की चौथी गाथा में गुरु का नाम आर्यनंदि और दादा गुरु का नाम चन्द्रसेन कहा है। डॉ. हीरालाल जैन का अनुमान है कि एलाचार्य इनके विद्यागुरु और आर्यनंदि इनके दीक्षागुरु थे।

इस प्रशस्ति से श्री वीरसेनाचार्य सिद्धान्त के प्रकाण्ड विद्वान, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और न्याय के वेत्ता तथा भट्टारक पद से विभूषित थे, ऐसा स्पष्ट है।

जो भी हो एलाचार्य गुरु का वात्सल्य इन पर असीम था ऐसा स्पष्ट है, वे किसी न किसी रूप में इनके गुरु अवश्य थे। यथा—"जीब्भमेलाइरियवच्छओ ये" स्वयं इस वाक्य में अपने को एलाचार्य का "वत्स" कहते हैं। ऐसे और भी अनेक स्थलों पर स्वयं आचार्य ने अपने को एलाचार्य का वत्स लिखा है।

---

१. हरिवंश पुराण सर्ग १।

समय निर्णय—इनका समय विवादास्पद नहीं है। इनके शिष्य जिनसेन ने इनकी अपूर्ण जयधवला टीका को शक संवत् ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी को पूर्ण किया है अतः इस तिथि के पूर्व ही वीरसेनाचार्य का समय होना चाहिए इसलिए इनका समय ईस्वी सन् की ९वीं शताब्दी (८१६) का है।

इनकी रचनाएं—इनकी दो ही रचनायें प्रसिद्ध हैं। एक धवला टीका और दूसरी जयधवला टीका। इनमें से द्वितीय टीका तो अपूर्ण रही है।

इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार में दिया है कि "षट्खण्डागम" सूत्र पर श्री वप्पदेव की टीका लिख जाने के उपरान्त कितने ही वर्ष बाद सिद्धान्तों के वेत्ता एलाचार्य हुए, ये चित्रकूट में निवास करते थे, श्री वीरसेन ने इनके पास सम्पूर्ण सिद्धान्त ग्रंथों का अध्ययन किया, अनन्तर गुरु की अनुज्ञा लेकर वाटग्राम में पहुंचे, वहां पर आनतेन्द्र द्वारा बनवाये गये जिनमन्दिर में ठहरे, वहां पर श्री बप्पदेवकृत टीका पढ़ी। अनन्तर उन्होंने ७२००० श्लोक प्रमाण में समस्त षट्खण्डागम पर "धवला" नाम से टीका रची। यह टीका प्राकृत और संस्कृत भाषा में मिश्रित होने से "मणिप्रवालन्याय" से प्रसिद्ध है।

दूसरी रचना "कसायपाहुड सुत्त" पर "जयधवला" नाम से टीका है। इसको वे केवल २०००० श्लोक प्रमाण ही लिख पाये थे कि वे असमय में स्वर्गस्थ हो गए। इस तरह एक व्यक्ति ने अपने जीवन में ९२००० श्लोक प्रमाण रचना लिखी, यह एक आश्चर्य की बात है। श्री वीरसेन स्वामी ने वह कार्य किया है, जो कार्य महाभारत के रचयिता ने किया है। महाभारत का प्रमाण १००००० श्लोक है और इनकी टीकायें भी लगभग इतनी ही बड़ी हैं। अतएव "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।" जो इसमें है सो ही अन्यत्र है और जो इसमें नहीं है सो कहीं पर नहीं है यह उक्ति यहां भी चरितार्थ है।

इन टीकाओं से आचार्य के ज्ञान की विशेषता के साथ-साथ सैद्धान्तिक विषयों का इनका कितना सूक्ष्म तलस्पर्शी अध्ययन था, यह दिख जाता है।

वीरसेनाचार्य ने अपनी टीका में जिन आचार्यों के नाम का निर्देश ग्रंथोल्लेखपूर्वक किया है वे निम्न प्रकार हैं—

१. गृद्धपिच्छाचार्य का तत्त्वार्थसूत्र २. तत्त्वार्थभाष्य (तत्त्वार्थवार्तिक भाष्य) ३. सन्मतिसूत्र, ४. सत्कर्मप्राभृत ५. पिंडिया ६. तिलोयपण्णत्ति ७. व्याख्याप्रज्ञप्ति ८. पंचास्तिकायप्राभृत ९. जीवसमास १०. पूज्यपाद विरचित सारसंग्रह ११. प्रभाचन्द्र भट्टारक (ग्रन्थकार) १२. समंतभद्रस्वामी (ग्रंथकार) १३. छंदसूत्र, १४. सत्कर्म प्रकृतिप्राभृत १५. मूलतन्त्र १६. योनिप्राभृत और सिद्धिविनिश्चय।

और भी ग्रन्थों के उद्धरण या नाम भी धवला टीका में पाये जाते हैं।

१. आचारांग निर्युक्ति २. मूलाचार ३. प्रवचनसार ४. दशवैकालिक ५. भगवती आराधना ६. अनुयोगद्वार ७. चारित्रप्राभृत ८. स्थानांगसूत्र ९. शाकटायन न्यास, १०. आचारांगसूत्र, ११. लघीयस्त्रय १२. आप्तमीमांसा १३. युक्त्यनुशासन, १४. विशेषावश्यक भाष्य, १५. सर्वार्थसिद्धि १६. सौंदरनन्द १७. धनंजयनाममाला—अनेकार्थनाममाला १८. भावप्राभृत १९. वृहत्स्वयंभूस्तोत्र २०. नंदिसूत्र २१. समावायांग, २२. आवश्यकसूत्र २३. प्रमाणवार्तिक २४. सांख्यकारिका २५. कर्मप्रकृति।

धवला टीका में जिन गाथाओं को उद्धृत किया है उनमें से अधिकांश गाथायें गोम्मटसार, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और वसुनंदिश्रावकाचार में भी पायी जाती हैं अतः यह अनुमान होता है कि इन प्राचीन गाथाओं का स्रोत एक ही रहा है क्योंकि गोम्मटसार आदि ग्रंथ धवला टीका से बाद के ही हैं।

जयधवला की प्रशस्ति में कहा है—

''**टीका श्री वीरसेनीया शेषाः पद्धतिपंजिका**[१]।''

श्री वीरसेन की टीका ही यथार्थ टीका है शेष टीकायें तो पद्धति या पंजिका हैं।

वास्तव में श्री वीरसेन स्वामी को महाकर्मप्रकृति प्राभृत और कषायप्राभृत सम्बन्धी जो भी ज्ञान गुरु-परम्परा से उपलब्ध हुआ, उसे इन दोनों टीकाओं में यथावत् निबद्ध किया है। आगम की परिभाषा में ये दोनों टीकायें दृष्टिवाद के अंगभूत दोनों प्राभृतों का प्रतिनिधित्व करती हैं अतएव इन्हें यदि स्वतन्त्र ग्रंथ संज्ञा दी जाए तो भी अनुपयुक्त नहीं है। यही कारण है कि आज ''षट्खण्डागम'' सिद्धान्त धवल सिद्धान्त के नाम से और ''पेज्जदोसपाहुड'' जयधवल सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध हैं।

ज्योतिष एवं गणित विषय—इस महासिद्धान्त ग्रन्थ में ज्योतिष, निमित्त और गणितविषयक भी महत्त्वपूर्ण चर्चाएं हैं। ५वीं शताब्दी से लेकर ८वीं शताब्दी तक ज्योतिषविषयक इतिहास लिखने के लिए इनका यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। ज्योतिष सम्बन्धी चर्चाओं में नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा संज्ञाओं के नाम हैं। रात्रि मुहूर्त की चर्चा है। निमित्तों में व्यंजन और छिन्न निमित्तों की चर्चायें हैं।

इसमें प्रधानरूप से एक वर्ण समीकरण, अनेक वर्ण समीकरण, करणी, कल्पित राशियाँ, समानान्तर, गुणोत्तर, व्युत्क्रम आदि बीजगणित सम्बन्धी प्रक्रियायें हैं। धवला में $अ^{३}$ को अ के घन का प्रथम वर्गमूल कहा है। $अ^{९}$ को अ के घन का घन बताया है। $अ^{६}$ को अ के वर्ग का घन बतलाया है, इत्यादि।

आचार्यश्री की पापभीरुता—श्री वीरसेन स्वामी आचार्यों के वचनों को साक्षात् भगवान की वाणी समझते थे और परस्पर विरुद्ध प्रकरण में कितना अच्छा समाधान दिया है। इससे इनकी पापभीरुता सहज ही परिलक्षित होती है। उदाहरण देखिए—

''आगम का यह अर्थ प्रामाणिक गुरु परम्परा के क्रम से आया है यह कैसे निश्चय किया जाए ?

नहीं, क्योंकि.....ज्ञान विज्ञान से युक्त इस युग के अनेक आचार्यों के उपदेश से उसकी प्रमाणता जाननी चाहिए।''[२]

श्री वीरसेन स्वामी जयधवला टीका करते समय गाथा सूत्रों को और चूर्णि सूत्रों को कितनी श्रद्धा से देखते हैं—

''विपुलाचल के शिखर पर विराजमान वर्धमान दिवाकर से प्रगट होकर गौतम, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी आदि की आचार्य परम्परा से आकर और गुणधराचार्य को प्राप्त होकर गाथा स्वरूप से परिणत हो पुनः आर्यमंक्षु और नागहस्ति के द्वारा यतिवृषभ को प्राप्त होकर और उनके मुखकमल से चूर्णिसूत्र के आकार से परिणत दिव्यध्वनिरूप किरण से जानते हैं[३]।''

इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि कषायप्राभृत ग्रन्थ साक्षात् भगवान की दिव्यध्वनि तुल्य है।

जब किसी स्थल पर दो मत आये हैं तब कैसा समाधान है ?

''दोनों प्रकार के वचनों में से किस वचन को सत्य माना जाए ?''

''इस बात को केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता क्योंकि इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है इसलिए पापभीरू वर्तमान के आचार्यों को दोनों का ही संग्रह करना चाहिए अन्यथा पापभीरुता का विनाश हो जावेगा[४]।''

---

१. जयधवला प्रशस्ति, पद्य ३९। २. धवला पु. १ पृ. १९७। ३. एदहनादो बिउलगिरमत्थयत्थबड्ढमाणदिवायरादो परिणद-दिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे। (जय ध. आ. पृ. ३१३) कसायपाहुड़सुत्त की प्रस्तावना से। ४. धवला पु. १, पृ. २२२, २२३।

एक जगह वनस्पति के विषय में कुछ प्रश्न होने पर तो वीरसेन स्वामी कहते हैं कि—"गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो" यहाँ गौतम स्वामी से पूछना चाहिए अर्थात् हम इसका उत्तर नहीं दे सकते। तब बतइए इससे अधिक पापभीरुता और क्या होगी ? वास्तव में ये आचार्य अपने गुरु परम्परा से प्राप्त जानकारी के अतिरिक्त मन से कुछ निर्णय देना पाप ही समझते थे। इन आचार्यों के ऐसे प्रकरणों से आज के विद्वानों को शिक्षा लेनीचाहिए जो कि किसी भी विषय में निर्णय देते समय आचार्यों को अथवा उनके ग्रन्थों को भी अप्रमाणिक कहने में अतिसाहस कर जाते हैं।

श्री भगवज्जिनसेनाचार्य

आचार्य जिनसेन सिद्धान्त और पुराण के रचयिता अपने समय के एक महान आचार्य हुए हैं। इन्हें आज "भगवज्जिनसेनाचार्य" एवं इनके महापुराण ग्रन्थ को "आर्षग्रंथ" के रूप में मान्यता प्राप्त है।

इनका परिचय, समय, रचनायें और इनकी विशेषताएं किंचित् रूप में यहां बताई जा रही हैं—

जीवन परिचय—इन्होंने किस जाति, कुल और देश को विभूषित किया है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है फिर भी इनका सम्बन्ध चित्रकूट के साथ होने से तथा राजा अमोघवर्ष द्वारा सम्मानित होने से इनका जन्मस्थान महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमाभूमि अनुमानित किया जा सकता है।

हां, अपने दीक्षित जीवन का परिचय "जयधवला" की प्रशस्ति में स्वयं आचार्य जिनसेन ने अलंकारिक भाषा में दिया है—

"उन वीरसेन स्वामी के शिष्य श्रीमान् जिनसेन हुए जो कि उज्ज्वल बुद्धि के धारक थे। उनके कान यद्यपि अबिद्ध थे तो भी ज्ञानरूपी शलाका से बेधे गए थे। निकट भव्य होने के कारण मुक्तिरूपी लक्ष्मी ने उत्सुक होकर मानो स्वयं ही वरण करने की इच्छा से उनके लिए श्रुतमाला की योजना की थी। जिनने बाल्यकाल से ही अखंडित ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था फिर भी आश्चर्य है कि उन्होंने स्वयंवर की विधि से सरस्वती का उद्वहन किया था। जो न तो बहुत सुन्दर थे और न चतुर ही, फिर भी सरस्वती ने अनन्यशरणा होकर उनकी सेवा की थी। बुद्धि, शांति और विनय ये ही जिनके स्वाभाविक गुण थे, इन्हीं गुणों से जो गुरुओं की आराधना करते थे सो ठीक ही है, गुणों के द्वारा किसकी आराधना नहीं होती ? जो शरीर से कृश थे परन्तु तपरूपी गुणों से कृश नहीं थे। वास्तव में शरीर की कृशता-कृशता नहीं है, जो गुणों से कृश है वही कृश है। जिन्होंने न तो कापालिका (सांख्य शास्त्र पक्ष में तैरने का घड़ा) को ग्रहण किया और न अधिक चिन्तन ही किया फिर भी जो अध्यात्म विद्या के द्वितीय पार को प्राप्त हो गए। जिनका काल निरंतर ज्ञान की आराधना में ही व्यतीत हुआ था और इसलिए तत्त्वदर्शी उन्हें ज्ञानमय पिण्ड कहते हैं[१]।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन्होंने बहुत ही छोटी उम्र में दीक्षा ले ली थी। किंवदन्ती भी यही है कि इनका कर्णवेधन संस्कार भी नहीं हुआ था जब ही ये दिगम्बर मुनि के पास अध्ययन हेतु छोड़ दिए गए थे। इनका सिद्धान्त, काव्य, अलंकार, न्याय, छन्द, ज्योतिष, गणित, राजनीति आदि सभी विषय पर पूर्ण अधिकार था जभी इन्होंने स्वयं अपने को सरस्वती को विवाहने वाला कहा है।

---

१. तस्य शिष्यो भगवच्छीमान् जिनसेनः समिद्धधीः। अबिद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया।।
यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मीसमुत्सुका। स्वयंवरी तु कामेव श्रोतीं मालामयूयुजत्।।२८।।
येनानुचरितं बाल्यादब्रह्मव्रतमखण्डितं। स्वयंवर विधानेन चित्रमूढ़ा सरस्वती।।२९।।
ततो ज्ञानमयं पिण्डं यमाहुस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

इनके गुरु का नाम वीरसेन और दादा गुरु का नाम आर्यनन्दि था। वीरसेन के गुरू भाई जयसेन थे। यही कारण है कि जिनसेन ने अपने आदिपुराण में "जयसेन" का भी गुरू रूप में स्मरण किया है।

समय—जिनसेनाचार्य के समय में राजनैतिक स्थिति सुदृढ़ थी तथा शास्त्र समुन्नति का वह युग था। इनके समकालीन नरेश राष्ट्र कूटवंशी जयतुंग और नृपतुंग अपरनाम अमोघवर्ष थे जो ईस्वी सन् ८१५-८७७ में थे। जयधवला टीका की प्रशस्ति में स्वयं ही आचार्य ने लिखा है कि शक संवत् ७५९ फाल्गुन शुक्ला १० के दिन पूर्वाह्न में यह टीका पूर्ण हुई अतः ईस्वी सन् की ८वीं शती का उत्तरार्ध ही इनका समय है।

रचनायें—१. जयधवला टीका, २. पार्श्वाभ्युदय ३. वर्धमान पुराण ४. आदिपुराण (महापुराण)।

१. जयधवला टीका—वीरसेन स्वामी ने एलाचार्य गुरु के पास सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन करके षट्खण्डागम सूत्रों पर ७२,००० श्लोक प्रमाण से धवला टीका रची और "कसायपाहुड" सुत्त पर "जयधवला" नाम से टीका रचना प्रारम्भ की, २०,००० श्लोक प्रमाण टीका रचना कर चुके थे कि वे स्वर्गवासी हो गए। तब उनके सुयोग्य शिष्य भगवज्जिनसेन ने ४०,००० श्लोक प्रमाण में उस "जयधवला" टीका को आगे लिखकर उसे पूर्ण किया। यह टीका श्री वीरसेन स्वामी की शैली में ही संस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा में मणिप्रवाल न्याय से लिखी गई है। इसी से श्री जिनसेनाचार्य का वैदुष्य और रचना चातुर्य प्रगट हो रहा है। प्रशस्ति में उन्होंने कहा है कि गुरु के द्वारा "बहुवक्तव्य" पूर्वार्ध के प्रकाशित किए जाने पर मैंने उसको देखकर इस "अल्पवक्तव्य" उत्तरार्ध को पूरा किया है।

२. पार्श्वाभ्युदय—यह कालिदास के मेघदूत काव्य की समस्यापूर्ति है। इस काव्य में सम्पूर्ण मेघदूत समाविष्ट है। पार्श्वनाथ भगवान ध्यान में लीन हैं। कमठचर (शंबर नामक ज्योतिषदेव) उन पर उपसर्ग करता है। यही इस काव्य का विषय है। श्रृंगार रस से ओतप्रोत मेघदूत को शांतरस में परिवर्तित कर देना यही इसकी विशेषता है।

इस काव्य की प्रशंसा में श्री योगिराज पंडिताचार्य ने लिखा है कि "श्री पार्श्वनाथ से बढ़कर कोई साधु, कमठ से बढ़कर कोई दुष्ट और पार्श्वाभ्युदय से बढ़कर कोई काव्य नहीं दिखलाई देता है[१]।" प्रो. श्री के.बी. पाठक ने रॉयल एशियाटिक सोसायटी में कुमारिलभट्ट और भर्तृहरि के विषय में निबन्ध पढ़ते समय जिनसेन और उनके पार्श्वाभ्युदय के विषय में जो शब्द कहे हैं वे कितने अच्छे हैं—

"जिनसेन अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकाल में हुए हैं, जैसा कि उन्होंने पार्श्वाभ्युदय में कहा है। पार्श्वाभ्युदय संस्कृत साहित्य में एक उत्कृष्ट रचना है। यह उस समय के साहित्य स्वाद का उत्पादक और दर्पणरूप अनुपम काव्य है। यद्यपि सर्वसाधारण की सम्मति से भारतीय कवियों में कालिदास को पहला स्थान दिया गया है तथापि जिनसेन मेघदूत के कर्ता की अपेक्षा अधिकेतर योग्य समझे जाने के अधिकारी हैं।"

इस काव्य में एक पंक्ति सूक्तिरूप में बहुत ही सुन्दर है—

"**पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव।**"

पापों के नष्ट करने में सर्वप्रथम कारण जिनेन्द्रदेव की भक्ति ही कही गई है।

३. वर्धमान पुराण—हरिवंश पुराण में इसका उल्लेख आया है किन्तु यह अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

४. महापुराण—इस महापुराण के पूर्वार्ध को "आदिपुराण" एवं उत्तरार्ध को "उत्तरपुराण" कहते हैं। पूर्वार्ध आदिपुराण में ४७ पर्व हैं जिनमें प्रारम्भ के ४२ पर्व और तेंतालीसवें पर्व के मात्र ३ श्लोक

१. श्री पार्श्वात् साधुतः साधुः कमठात् खलतः खलः। पार्श्वाभ्युदयतः काव्यं न च क्वचिदपीष्यते।।१७।।

जिनसेनाचार्य द्वारा रचित हैं। शेष पर्वों के १६२० श्लोक उनके शिष्य भदंत गुणभद्राचार्य द्वारा विरचित हैं।

इस पुराण को महापुराण नाम क्यों दिया है ? इसके लिए श्री जिनसेनाचार्य ने कहा है—

"यह ग्रन्थ अत्यंत प्राचीनकाल से प्रचलित है इसलिए "पुराण" — पुराना कहलाता है। इसमें महापुरुषों का वर्णन किया गया है अथवा तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने इसका उपदेश दिया है अथवा इसके पढ़ने से महान कल्याण की प्राप्ति होती है इसलिए इसे "महापुराण" कहते हैं।..... यह ग्रन्थ ऋषिप्रणीत होने से "आर्ष" सत्यार्थ का निरूपक होने से "सूक्त" तथा धर्म का प्ररूपक होने से धर्मशास्त्र माना जाता है "इति इह आसीत्" यहाँ ऐसा हुआ, ऐसी अनेक कथाओं का इसमें निरूपण होने से ऋषिगण इसे "इतिहास" "इतिवृत्त" और "ऐतिहासिक" भी कहते हैं[१]।"

यह महापुराण अनेक सूक्तियों की उत्पत्ति का स्थान—रत्नाकर है ऐसा स्वयं इसमें वर्णित है—

"यथा महार्घ्यरत्नानां प्रसूतिर्मिकरालयात्।
तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात्पुराणतः[२]।।"

जिस प्रकार महामूल्यवान् रत्नों की उत्पत्ति समुद्र से होती है उसी प्रकार सुभाषितरूपी रत्नों की उत्पत्ति इस पुराण से होती है।

इस महापुराण ग्रंथ में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र ऐसे ६३ महापुरुषों का जीवन संगृहीत है।

इसकी काव्यछटा, अलंकार गुम्फन, प्रसाद, ओज और माधुर्य का अपूर्व सुमेल, शब्दचातुरी और बंध अपने ढंग के अनोखे हैं। भारतीय साहित्य के कोषागार में जो इने-गिने महान ग्रन्थरत्न हैं उनमें स्वामी जिनसेन की यह कृति महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

डॉ. नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य लिखते हैं—

"यह आकर ग्रंथ है, पुराण होते हुए भी इसमें इतिहास, भूगोल, संस्कृत, समाज, राजनीति और अर्थशास्त्र आदि विषय भी समाविष्ट हैं।"

इस महापुराण के पूर्वार्ध में भगवान आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर और भरत सम्राट् प्रथम चक्रवर्ती का सविस्तार वर्णन है। प्रसंगानुसार प्रथम कामदेव श्री बाहुबलि और जयकुमार (सेनापति) का भी सुन्दर जीवनवृत्त वर्णित है। उत्तरपुराण में शेष २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलभद्र इनका जीवन परिचय वर्णित है।

एक कथा प्रसिद्ध है कि जब जिनसेन स्वामी को इस बात का विश्वास हो गया कि अब मेरा जीवन समाप्त होने वाला है और मैं महापुराण को पूरा नहीं कर सकूँगा तब उन्होंने अपने सबसे योग्य दो शिष्य बुलाये। बुलाकर उनसे कहा कि "यह जो सूखा वृक्ष सामने खड़ा है इसका काव्यवाणी में वर्णन करो।" गुरू वाक्य सुनकर उनमें से पहले ने कहा, "शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे" फिर दूसरे शिष्य ने कहा "नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।" गुरू को द्वितीय शिष्य की वाणी में रस दिखा अतः उन्होंने उसे आज्ञा दी कि तुम महापुराण को पूरा करो। गुरुआज्ञा के अनुसार द्वितीय शिष्य ने उस महापुराण को पूर्ण किया, वे द्वितीय शिष्य ही गुणभद्र नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

"वास्तव में वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र इन तीनों आचार्यों का साहित्यिक व्यक्तित्व अत्यन्त महनीय है और तीनों एक दूसरे के अनुपूरक हैं। वीरसेन के अपूर्ण कार्य को जिनसेन ने पूर्ण किया है और

१. महापुराण। २. महापुराण पर्व २, श्लोक ११६।

जिनसेन के अपूर्ण कार्य को गुणभद्र ने।"

इस महापुराण में एक प्रकरण वर्ण व्यवस्था का है, जिस विषय पर कुछ विद्वानों में अर्थ करने में मतभेद चल रहा है, उसके विषय में भी यहाँ समझ लेना आवश्यक है।

जब कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे तब प्रजा ने आकर प्रभु से प्रार्थना की, उस समय भगवान वृषभदेव प्रजा को आश्वासन देकर सोचते हैं कि—

पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता।
साद्य प्रवर्त्तनीयात्र ततो जीवन्त्यमूः प्रजाः।।१४३।।
षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रमस्थितिः।
यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः[१]।।१४४।।

पूर्व और पश्चिम विदेह में जो स्थिति वर्तमान में है वही स्थिति आज यहाँ प्रवृत्त करना चाहिए, उसी से यह प्रजा जीवित रह सकती है। वहाँ जिस प्रकार असि, मषि आदि षट्कर्म हैं, जैसी क्षत्रिय आदि वर्णों की व्यवस्था है और जैसी ग्राम, घर आदि की पृथक्-पृथक् रचना है वैसी यहाँ पर भी होनी चाहिए।

भगवान उसी समय इन्द्र का स्मरण करते हैं और वह आकर प्रभु की आज्ञानुसार सारी व्यवस्था कर देता है।

इस कथन से यह स्पष्ट है कि विदेह क्षेत्रों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की व्यवस्था अनादि है और यहाँ पर युगादि पुरुष प्रथम तीर्थंकर द्वारा बनाई जाने से यद्यपि सादि है तथापि मान्य है अमान्य नहीं है।

आर्ष परम्परा एवं गुरु परम्परा से मान्य अर्थ—

कृत्वादितः प्रजासर्गं तद् वृत्तिनियमं पुनः।
स्वधर्मानतिवृत्त्यैव नियच्छन्नन्वशात् प्रजाः।।२४२।।
स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजद् विभुः।
क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः।।२४३।।
ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्रामस्राक्षीद् वणिजः प्रभुः।
जलस्थलादियात्राभिस्तद् वृत्तिर्वार्तया यतः।।२४४।।
न्यग्वृत्तिनियतां शूद्रां पद्भ्यामेवासृजत् सुधीः।
वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता।।२४५।।
मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्त्रक्ष्यति द्विजान्।
अधीत्यध्यापने दानं प्रतिच्छेज्येति तत्क्रियाः।।२४६।।
शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या तां स्वां च नैगमः।
वहेत् स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः।।२४७।।
स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्।
स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा।।२४८।।[२]

भगवान ने सबसे पहले प्रजा की सृष्टि(विभाग आदि) की पुनः उसकी "वृत्ति" अर्थात् आजीविका के नियम बनाये पुनः वे अपनी-अपनी मर्यादा का उल्लंघन न कर सकें ऐसे नियम बनाये। आगे २४३ से २४७ तक चार श्लोकों का अभिप्राय यह है कि भगवान ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की रचना की, आगे

१. महापुराण, पर्व १६, पृ. ३५९। २. महापुराण पर्व १६, पृ. ३६७-३६८।

भरत ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था बनायेंगे।

पुनः २४७वें श्लोक में कहते हैं कि शूद्र के द्वारा अपनी शूद्र वृत्ति — आजीविका का वहन किया जाना चाहिए अर्थात् शूद्र अपनी शूद्र वृत्ति को करे अन्य आजीविका न करे। वैश्य अपनी वैश्य की आजीविका करे और शूद्र की आजीविका सेवा शुश्रूषारूप कार्य कर सकता है। क्षत्रिय अपनी आजीविका करे और कदाचित् शूद्र तथा वैश्य की आजीविका भी कर सकता है और ब्राह्मण अपनी आजीविका करे कदाचित् किसी देश काल आदि में वह शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय इनकी आजीविका भी कर सकता है।।२४७।।

अपनी इस वृत्ति—आजीविका का उल्लंघन करके जो अन्य की वृत्ति—आजीविका को करता है तो वह राजाओं द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए, अन्यथा वर्णसंकर दोष हो जाएगा।

पण्डित सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर आदि आर्षपरम्परा के विद्वान ऐसे ही अर्थ मान्य करते हैं और यही अर्थ सही है किन्तु पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य "आदिपुराण" हिन्दी अनुवाद में उस २४७ श्लोक के पहले के सभी श्लोकों में आये हुए वृत्ति शब्द का अर्थ आजीविका करके २४८वें श्लोक के वृत्ति शब्द का अर्थ भी आजीविका करते हैं मात्र मध्य के इस श्लोक का अर्थ आजीविका से सम्बन्धित न करके विवाह अर्थ कर देते हैं कि — शूद्र शूद्र स्त्री के साथ विवाह करे, वैश्य वैश्य स्त्री के साथ विवाह करे आदि, जो कि उपयुक्त नहीं है। यदि आचार्य जिनसेन को इस श्लोक में विवाह अर्थ रखना था तो वे स्वयं २४८ वें श्लोक में ऐसा क्यों कहते कि "स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य" अपनी इस आजीविका का उल्लंघन कर इत्यादि। इसलिए "वोढव्या" में 'वह' धातु का अर्थ यहाँ विवाह न होकर आजीविका अर्थ ही सुघटित है। व्याकरणाचार्य विद्वानों को आगे और पीछे के सन्दर्भ से ही अर्थ करना चाहिए बिना सन्दर्भ के नहीं।

त्रिलोकसार आदि अन्य ग्रन्थों में भी "जातिसंकर" दोष आया है अतः विद्वानों को आर्षपरम्परा एवं आगे-पीछे के सन्दर्भ के अनुसार ही अर्थ करना चाहिए।

आचार्य श्री जयसेन

श्री कुंदकुंददेव के समयसार आदि ग्रंथों के द्वितीय टीकाकार श्री जयसेनाचार्य भी एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने समयसार की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि के नाम का भी उल्लेख किया है और उनकी टीका के कई एक कलशकाव्यों को भी यथास्थान उद्धृत किया है अतः यह पूर्णतया निश्चित है कि श्री जयसेनाचार्य के सामने श्री अमृतचन्द्रसूरि की आत्मख्याति टीका आदि टीकायें विद्यमान थीं फिर भी शैली और अर्थ की दृष्टि से इनकी तात्पर्यवृत्ति टीकायें श्रीअमृतचन्द्रसूरि की अपेक्षा भिन्न हैं।

श्री जयसेनाचार्य पंचास्तिकाय ग्रंथ की टीका के प्रारंभ में लिखते हैं कि —

"अथ श्री कुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ-सीमंधरस्वामि-तीर्थंकरपरमदेवं दृष्टवा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनंद्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।[१]

श्री जयसेनाचार्य के इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि श्री कुमारनंदि सिद्धान्तदेव के शिष्य श्रीमत्

१. पंचास्तिकाय प्राभृत पृ. ३।

कुन्दकुन्दाचार्य जिनके पद्मनंदि, एलाचार्य, वक्रग्रीव नाम भी प्रसिद्ध हैं वे विदेहक्षेत्र में गए थे। वहाँ सर्वज्ञ सीमंधरस्वामी के श्रीमुख से शुद्धात्मतत्त्व का सार ग्रहण करके वापस भरतक्षेत्र में आकर शिवकुमार नामक किन्हीं भव्य शिष्य को आदि लेकर अन्य शिष्यों को समझाने के लिए इस पंचास्तिकाय प्राभृत शास्त्र की रचना की है। उस ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति टीका मैं लिख रहा हूँ।

आचार्य श्री जयसेनस्वामी श्री अमृतचन्द्रसूरि के समान कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के टीकाकार हुए हैं। समयसार की टीका में इन्होंने अमृतचन्द्र के नाम का उल्लेख किया है इससे यह ज्ञात होता है कि जयसेन स्वामी ने अमृतचन्द्रसूरि की टीका का आधार लेकर ही किया है।

प्रवचनसार टीका के अंत में प्रशस्ति में आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने गुरुपरम्परा का परिचय निम्न प्रकार से लिखा है—

ततः श्री सोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रयः।
तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते।।
शीघ्रं बभूव मालुसाधुः सदा धर्मरतो वदान्यः।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः।।
यः संततं सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः।।

अर्थात् मूलसंघ के निर्ग्रन्थ तपस्वी वीरसेनाचार्य हुए। उनके शिष्य अनेक गुणों के धारी आचार्य सोमसेन हुए और उनके शिष्य आचार्य जयसेन हुए। सदा धर्म में रत प्रसिद्ध मालु नाम के साधु हुए हैं। उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है, उनसे यह चारुभट नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ है जो सर्वज्ञ की पूजा तथा गुरुचरणों की सदा सेवा करता है। उस चारुभट अर्थात् जयसेनाचार्य ने अपने पिता की भक्ति के विलोप होने से भयभीत हो इस प्राभृत नामक ग्रन्थ की टीका की है।

इसके आगे भी इन्होंने कहा है—

श्रीमान् त्रिभुवनचन्द्र गुरु को नमस्कार करता हूँ जो आत्मा के भावरूपी जल को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा के तुल्य हैं और कामदेव नामक प्रबल महापर्वत के सैकड़ों टुकड़े करने वाले हैं।

इस प्रशस्ति में श्री जयसेनाचार्य ने स्वयं अपने शब्दों में यह स्पष्ट किया है कि उनके गुरु का नाम सोमसेन तथा दादागुरु का नाम वीरसेन था। इन्होंने त्रिभुवनचन्द्र गुरु को भी नमस्कार किया है किन्तु प्रशस्ति से यह ज्ञात नहीं हो पाता है कि ये त्रिभुवनचन्द्र कौन हैं ? इतना स्पष्ट है कि जयसेनाचार्य गण के हैं। अन्य किसी टीका में जयसेनाचार्य ने अपना कोई परिचय नहीं दिया है।

ग्रन्थ रचना—जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय इन तीनों ग्रन्थों पर अपनी टीकाएँ लिखी हैं। इन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की टीका से भिन्न शैली में अपनी टीकाएं लिखी हैं। इनकी टीकाओं की विशेषता यह है कि प्रत्येक गाथा के पदों का शब्दार्थ पहले स्पष्ट करते हैं, उसके पश्चात् "अयमत्राभिप्रायः" लिखकर उसका विशेष अर्थ खोलते हैं। सभी ग्रन्थों में इन्होंने अपनी टीका का नाम "तात्पर्यवृत्ति" रखा है। अमृतचन्द्र जी के क्लिष्ट शब्दों को ही सरल शब्दों में बतलाना इनका प्रमुख लक्ष्य रहा है। कहीं पर भी अमृतचन्द्र जी के विपरीत इनका अर्थ नहीं देखने में आता है। यह आज के मन्दबुद्धि शिष्यों

१. प्रवचनसार, पृ. ३४४।

के लिए अनुकरणीय आदर्श है कि पूर्वाचार्यों के शब्दों में निजी स्वार्थवश तोड़-मरोड़ करना एक नैतिक अपराध भी है और नरक निगोद का द्वार तो खुल ही जाता है।

भगवान कुन्दकुन्द के भावों को नय शैली में और गुणस्थानों में खोलना जयसेन जी की प्रमुख विशेषता रही है। कोई भी प्राणी समयसार जैसे ग्रन्थों को पढ़कर बहक न जाए इसके लिए जयसेनाचार्य की टीका पढ़ना अति आवश्यक है। इन्होंने अपनी टीका में अनेक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिए हैं जो कि पूर्वाचार्यों के प्रति उनकी श्रद्धा, आस्था और अध्ययनशीलता का परिचायक है।

समयसार में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने जहाँ ४१५ गाथाओं पर आत्मख्याति टीका लिखी है, वहाँ जयसेनाचार्य ने ४४५ गाथाओं पर तात्पर्यवृत्ति टीका लिखी है। ये टीका करने से पूर्व प्रत्येक अधिकार की भूमिका में गाथाओं की संख्या खोल देते हैं जैसे कि प्रवचनसार के प्रारम्भ में ही इन्होंने बताया है कि "मध्यम रुचि वाले शिष्यों को समझाने के लिए मुख्य तथा गौणरूप से अन्तरंग तत्त्व और बाह्य तत्त्व के वर्णन करने के लिए १०१ गाथाओं में ज्ञानाधिकार कहेंगे..... इत्यादि।"

प्रवचनसार की भूमिका में श्रीजयसेनाचार्य ने यह भी बताया है कि किसी निकट भव्य शिवकुमार को सम्बोधित करने के लिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह ग्रन्थ लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि महामुनिराज कुन्दकुन्द भी शिष्य परिकर रखते थे और शिष्यों का हित चिन्तन भी करते थे।

प्रवचनसार में नौवीं गाथा की टीका में श्री जयसेन स्वामी लिखते हैं—

"यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन···· "

अर्थात् जिस प्रकार स्फटिक मणि का पत्थर निर्मल होने पर भी जपाकुसुम आदि रक्त, कृष्ण, श्वेत उपाधि के वश से लाल, काला, श्वेत रंगरूप परिणमन करता है उसी तरह यह जीव स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव होने पर भी व्यवहारनय की अपेक्षा गृहस्थ के रागसहित सम्यक्त्वपूर्वक दान-पूजा आदि शुभ कार्यों को करता है तथा मुनिधर्म के मूलगुण और उत्तर गुणों का अच्छी तरह से पालन करता हुआ परिणामों को शुभ करता है।

इस प्रकार जयसेनाचार्य ने व्यवहार और निश्चय दोनों ही नयों का आलम्बन लेकर कुन्दकुन्द के तीनों प्राभृत ग्रन्थों की व्याख्या की है।

समयसार ग्रन्थ के निर्जरा अधिकार में सबसे प्रथम गाथा में कहा है कि "सम्यग्दृष्टी के भोग निर्जरा के निमित्त हैं।" उसकी टीका में श्री जयेसनाचार्य कहते हैं कि—

शिष्य ने प्रश्न किया कि—"राग, द्वेष और मोह का अभाव हो जाने पर निर्जरा के निमित्त हैं, ऐसा आपने कहा किन्तु सम्यग्दृष्टि के तो रागादि हैं पुनः किसी वस्तु का उपभोग करके निर्जरा का कारण कैसे होगा ?"

आचार्य कहते हैं कि—

"अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तुचतुर्थगुणस्थानवर्तीसरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं।"

इस ग्रन्थ में वास्तव में वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण है चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण तो गौणरूप से है तथा मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी अनंतानुबंधी कषायचतुष्क और मिथ्यात्वजनित रागादि नहीं है अतः उतने अंश में उसके भी निर्जरा है।

आगे भी कहा है—

"अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं।"

इस ग्रन्थ में पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही मुख्यरूप से ग्रहण है, सराग सम्यग्दृष्टियों का तो गौणरूप से ग्रहण है। सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय सर्वत्र ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिए।

श्री अमृतचन्द्रसूरि द्वारा भी इसी अर्थ की पुष्टि हो रही है। देखिए—

श्री कुन्दकुन्ददेव ने गाथा १७० में कहा है कि "अबन्धोत्ति णाणी दु" ज्ञानी तो अबंधक ही है। पुनः आगे १७१ वीं गाथा में कहते हैं कि—

"जिस कारण ज्ञानगुण पुनरपि जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप परिणमन करता है इसी कारण वह ज्ञानगुण बन्ध करने वाला कहा गया है।" इसकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"स तु यथाख्यातचारित्रावस्थायां अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।"

वह (ज्ञानगुण) यथाख्यातचारित्र के नीचे अवश्यंभावी राग परिणाम का सद्भाव होने से बंध का कारण ही है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि की इस एक पंक्ति से ही सारे समयसार का अभिप्राय समझा जा सकता है कि ग्यारहवें गुणस्थान के पहले-पहले राग का सद्भाव रहने से अवश्यमेव बन्ध होता ही होता है अतः चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ यदि अपने को वीतरागी और अबन्धक मान रहे हैं सो कोरी असत् कल्पना ही है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समयसार में वीतराग सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य करके ही सब कथन है अतः इस ग्रन्थ का विषय भी साधुवर्गों के लिए ही है न कि श्रावकों के लिए। यही समयसार ग्रन्थ का रहस्य है।

श्री जयसेनाचार्य का काल—इनकी टीकाओं में उद्धृत श्लोकों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इन्होंने द्रव्यसंग्रह, तत्त्वानुशासन, चारित्रसार, त्रिलोकसार और लोकविभाग आदि ग्रन्थों का उद्धरण देकर अपनी टीकाओं में प्रयुक्त किया है। चारित्रसार के रचयिता चामुण्डराय हैं और इन्हीं के समकालीन आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने त्रिलोकसार की रचना की है। चामुण्डराय ने अपना चामुण्डपुराण शक संवत् ९०० (ईसवी सन् ९७८) में समाप्त किया है अतः निश्चित है कि जयसेन ईसवी सन् ९७८ के पश्चात् ही हुए हैं। उनके समय की यह सीमा पूर्वार्ध सीमा के रूप में मानी जा सकती है।

जयसेन ने पंचास्तिकाय की टीका (पृष्ठ ८) में वीरनन्दि के "आचारसार" ग्रन्थ के दो पद्य उद्धृत किए हैं। कर्नाटक कवि चारिते के अनुसार इन वीरनन्दि ने अपने आचारसार पर एक कन्नड़ टीका शक संवत् १०७६ (ईसवी सन् ११५४) में लिखी है अतः जयसेन ईस्वी सन् ११५४ के पश्चात् ही हुए होंगे।

डॉ. ए. एन उपाध्ये ने लिखा है कि नयकीर्ति के शिष्य बालचन्द्र ने कुन्दकुन्द के तीनों प्राभृतों पर कन्नड़ में टीका लिखी है और उनकी टीका का मूल आधार जयसेन की टीकाएँ हैं। इनकी टीका का रचनाकाल ईस्वी सन् की ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध या १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है[१]।

कुल मिलाकर श्री जयसेन स्वामी ने साहित्य जगत में अपना अपूर्व योगदान दिया है और आज की दिग्भ्रमित जनता का सन्मार्ग निर्देशन किया है। ऐसे श्रीगुरु के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्यभक्ति पूर्वक शत-शत नमोस्तु।

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा से उद्धृत।

बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य
चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज का जीवन परिचय

जन्मकाल और बाल्यावस्था —

गौरवशाली प्रकाशपुंज आचार्य कुंदकुंद,स्वामी समंतभद्र, विद्यानंदि, जिनसेन इत्यादि आचार्यों की जन्मभूमि तथा उपदेश से पुनीत विहार भूमि— कर्नाटक देश में आचार्यश्री १०८ शांतिसागर महाराज का जन्म हुआ।

बेलगांव जिले के चिकोड़ी तहसील में दूध-गंगा और वेद-गंगा के संगम के कारण तीर्थरूप "भोज" नामक ग्राम के पास "येळगुड" गांव में विक्रम संवत् १९२९ में (ई. सन् १८७२) आषाढ़ मास के कृष्णपक्ष में षष्ठी तिथि को बुधवार की रात्रि में आचार्यश्री का जन्म हुआ। जन्म नाम "सातगौंडा" था। पिताश्री का नाम भीमगौंडा था, वे पाटील घराने के थे, "पाटील" याने नगर के राजा, ऐसा ही समाज में उनका मान-सम्मानपूर्ण स्थान था। ऊँची पूरी शक्तिशाली देह थी। पराक्रमशीलतापूर्ण नैसर्गिक वृत्ति थी। धीर-वीर गंभीर सहज मनोवृति थी। माता का नाम देवी "सत्यवती" था। वह भी श्रद्धालु, धार्मिक और सदाचार सम्पन्न थीं। भगवान की भक्ति पूजा करना, त्यागीगणों को आहारदान देना, उनकी वैयावृत्य करना, दीन दुखियों को सहायता पहुँचाना आदि कार्यों में विशेष रुचि और पूर्ण सावधान थीं। उस माता का वह सहज स्वभाव था। छोटे-बड़े व्यसनों से दूर पिताजी ने सोलह वर्ष तक दिन में एक ही बार भोजन करने का व्रत लिया था। आचार्यश्री का बाल-जीवन इस प्रकार से सदाचार सम्पन्न माता-पिता की छत्रछाया में व्यतीत हुआ। एक प्रकार से निसर्ग योजना में यह मणिकांचन संयोग ही था।

यद्यपि ये नानी के घर में जन्में थे, फिर भी इनका निवासस्थान-पैतृकस्थान भोजग्राम ही है। आजकल बालकों के जन्म हास्पीटल में होता है, तो भी वह जन्मभूमि न होकर पिता का घर, गाँव ही जन्मभूमि मानी जाती है, ऐसे ही आचार्यश्री की जन्मभूमि या निवास स्थान भोज ही माना जायेगा।

सातगौंडा की विद्यालयीन शिक्षा बहुत कम हुई। वे पाठशाला में तीसरी कक्षा तक पढ़ पाये। शिक्षा के आदान-प्रदान की व्यवस्था भी आज की अपेक्षा देहातों में अपेक्षाकृत कम थी। संस्कारशील माता-पिता के द्वारा घर में जो कुछ धार्मिक संस्कार हुए, केवल वे ही जीवनाधार बन गये। सत्य-सत्य कहना हो तो जीवन में इस मूल अवस्था में सातगौंडा ने अच्छी वृद्धि ही की जिससे माता-पिता का जीवन धन्य हो गया। पाठशाला में भी सातगौंडा ने एक बुद्धिमान विद्यार्थी के रूप में ही प्रसिद्धि पाई थी।

जब चरित्रनायक सातगौंडा जी ९ साल के हुए, ज्येष्ठ भाई देवगौंडा और आदगौंडा का विवाह सम्पन्न हो रहा था। सातगौंडा का भी विवाह जबरदस्ती ही किया गया। "संसार विषये सद्यः स्वतो हि मनसो गतिः"। संसार के विषयों में संसारी जीवों की निसर्ग से प्रवृत्ति होती ही है। बच्चों के खेल जैसी प्रक्रिया हो गई। दैव को वह भी स्वीकार नहीं था। विवाह के पश्चात् छः माह के भीतर ही विवाहिता की इहलोक यात्रा समाप्त हुई। सातगौंडा बाल्यावस्था में विवाहबद्ध होकर भी निसर्ग से बालब्रह्मचारी रहे। "लाभात् अलाभं बहु मन्यमानः।" लाभ से अलाभ को लाभप्रद मानने की बालक सातगौंडा की निसर्ग प्रवृत्ति रही है। अनंतर किये गये आग्रह के वे शिकार नहीं हुए अर्थात् पुनः विवाह नहीं किया।

अध्यात्म जीवन का नैसर्गिक आकर्षण —

आत्मानुशासन, समयसार इन दो ग्रंथों का वाचन सातगौंडा प्रारंभ से ही करते थे। विशेषरूप से तत्त्वचिंतन, मनन में काल व्यतीत होता था। आयु के १७वें, १८वें वर्ष में भरी युवावस्था में ही मन में दिगम्बरी दीक्षा लेने के सहज भाव होने लगे परन्तु माता-पिता के दबाववश उस समय वे अपने विचारों को अमल में न ला सके, व्यक्त भी न कर सके। कुछ काल तक उन्हें यथापूर्व घर में ही रहना पड़ा। परन्तु प्रवृत्ति जल से भिन्न कमल की तरह बनी रही।

शास्त्र स्वाध्याय की तरह तीर्थक्षेत्रों की भक्ति का भी आचार्यश्री के जीवन में विशेष स्थान रहा। मोक्षमार्ग के पथिक साधक के जीवन में तीर्थयात्रा-दर्शन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता ही है। असंगभाव या वीतराग भावों की धारा प्रवाहित करने के लिए दृष्टिसम्पन्न साधु यात्रा को अच्छा निमित्त बना सकता है। सातगौंडा यह कर पाये इसी में परिमार्जित तत्त्वदृष्टि स्पष्ट होती है। विहार का प्रत्येक कदम वीतरागता के लिए था, वीतरागता की ओर था।

सहज संवेगभाव और वैराग्य —

इसी अवस्था में पाँच छः साल और बीत गये। सातगौंडा के मन में निर्ग्रंथ दीक्षा लेने के विचार तीव्रता से आने लगे। इस बार साहस के साथ माता-पिता के समक्ष उन्होंने अपनी भावना व्यक्त भी की परन्तु पिता जी ने कहा, "हमारे ये अंतिम दिन हैं, दीक्षा लेकर हमारी मानसिक यातनाएं बढ़ेंगी सो ठीक नहीं होगा — अच्छा नहीं होगा।" पिता की आज्ञा तथा पुत्र-कर्तव्य का विकल्प होने से सातगौंडा का दीक्षा लेने का विचार कुछ समय के लिए स्थगित हुआ।

शक संवत् १८३३ ई. सन् १९१२ में सातगौंडा की माताजी की इहलोक यात्रा समाप्त हुई। उसके कुछ साल पहले ही पिताजी का भी स्वर्गवास हुआ था। अब प्रकृतिसिद्ध त्यागमय जीवन और संयमशील बन गया। कोई लगाव भी न रहा। इसी काल में श्रवणबेलगोला-गोमटेश्वर इत्यादि पुण्यक्षेत्रों की दक्षिण यात्रा भी समाप्त कर सातगौंडा शक सं. १८३६ में भोजग्राम में आये।

क्षुल्लक पद की दीक्षा स्वीकार —

सातगौंडा ने जीवन के इकतालीस साल पूर्ण होने के उपरांत दीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय किया। उस समय कर्नाटक में दिगम्बर स्वामी श्रीदेवेंद्रकीर्ति मुनिराज विहार कर रहे थे। "कापशी" ग्राम के निकट "उत्तूर" नामक देहात है। वहाँ उनका आगमन होने पर सातगौंडा मुनिश्री के समीप पहुँचे और दिगम्बर दीक्षा देने की प्रार्थना की परन्तु श्रीदेवेन्द्रकीर्ति स्वामी ने प्रारंभ में क्षुल्लक पद की ही दीक्षा लेने को कहा। ठीक ही है "क्रमारम्भो हि सिद्धिकृत्" गुरु आज्ञा को प्रमाण माना। शक सम्वत् १८३७ ई. सन् १९१८ में ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी तिथि को "सातगौंडा" ने क्षुल्लक पद की दीक्षा धारण की। इस प्रकार स्वतंत्र संयमी जीवन का शुभारंभ हो गया।

उत्तूर ग्राम छोटा था इसलिए गुरु की आज्ञा लेकर क्षुल्लकजी महाराज चातुर्मास के लिए कार्गल आये परन्तु इसी काल में कोगनोली से कुछ नैष्ठिक श्रावक कागल पहुँचे। उन्होंने क्षुल्लक जी से प्रार्थना की कि, "हमारे कोगनोली ग्राम में आपका पहला चातुर्मास हो।" उनकी प्रार्थना स्वीकार कर क्षुल्लकजी कोगनोली पहुँचे। इस प्रकार क्षुल्लकजी का प्रथम वर्षायोग धारण करने का प्रारंभ कोगनोली से हुआ। ध्यान धारण तथा शांति अनुभवन के लिए कोगनोली का चौमासा अत्यन्त अनुकूल रहा। आचार्यश्री के सहजोद्‌गार रहे कि "कोगनोली आमचे आजोळ आहे" याने "कोगनोली हमारी मां का गांव है", ननिहाल है। ऐसा ही परस्पर व्यवहार रहा।

क्षुल्लक जी महाराज का चातुर्मास कोगनोली में अपूर्व धर्मप्रभावना के साथ सम्पन्न हुआ। दूसरा चातुर्मास कुम्भोज में और तीसरा चातुर्मास फिर से कोगनोली में हुआ। अनन्तर क्षुल्लकजी ने कर्नाटक प्रांत में विहार शुरू किया। कोगनोली से जैनवाड़ी और वहाँ से बाहुबली क्षेत्र (कुंभोज) में महाराज जी का आगमन हुआ। "महाराज जी बाहुबली में आये हैं" यह वार्ता सुनकर आस-पास के श्रावकगण भी बाहुबली आये। योगायोग से समडोली से कुछ श्रावक लोग इसी समय गिरनार जी की यात्रा के लिए जा रहे थे। उन्होंने महाराज जी से साथ में आने की प्रार्थना की। क्षुल्लक जी महाराज को वाहन में बैठने का त्याग नहीं था। यात्रियों के साथ-साथ गिरनारजी की यात्रा सानन्द सम्पन्न हुई।

ऐलक पद दीक्षा और पद विहार करने की प्रतिज्ञा —

श्री गिरनार क्षेत्र का दर्शन करते समय महाराजजी का हृदय उठी हुई वैराग्य भावनाओं से गद्‌गद् हो उठा। भगवान नेमिनाथ के चरणों के पुनः-पुनः दर्शन कर क्षुल्लकजी के वीतराग भावों में सहज वृद्धि हुई। सावधानी तो पूरी थी ही। उसी समय श्री नेमिनाथ भगवान की चरण साक्षी में स्वयं ऐलक पद को स्वीकार किया। एक कौपीन मात्र परिग्रह के बिना सब वस्त्रादि परिग्रहों को त्याग दिया। नूतन प्रतिमा की प्रतिष्ठा पूर्व प्रतिष्ठित प्रतिमा की साक्षी में होती है और नया व्रत विधान पूर्व में व्रती की साक्षी से ही होना चाहिए ऐसी एक अच्छी प्राचीन परम्परा है। महाराजजी इस परम्परा को तोड़ना नहीं चाहते थे जैसा कि निर्ग्रन्थ दीक्षा के समय देखा गया। इस समय उनसे रहा नहीं गया। वैराग्य भावों की वेगवान गति को वे रोक नहीं सके। पूज्य स्वर्गीय अनुभवसमृद्ध श्री वीरसागर जी महाराज ठीक कहते थे। "गुरु कहे सो करना गुरु करे सो नहीं करना।" अस्तु! इस समय वीतरागता का वैराग्यभाव से अपूर्व मिलन होना था, हो गया। श्री गिरनारजी से लौटते समय ऐलकजी ने श्री दक्षिण कुंडलक्षेत्र की वंदना की। श्री पार्श्वप्रभु भगवान की मूर्ति की साक्षी में ऐलकजी महाराज ने सब वाहनों का आजीवन के लिए परित्याग कर दिया। आगे के लिए विहार का रूप "पद-विहार" ही निश्चित हुआ। "याजं याजमटन्नवे तीर्थ-स्थानान्यपूजयत्।" शुद्ध निर्जंतुक रास्ते से चार हाथ आगे की जमीन को देखकर विहार करते हुए सूर्यप्रकाश में चलने की मुनि की प्रवृत्ति को ईर्यासमिति कहते हैं। गाड़ी या मोटर या रेल सवारी का त्याग त्यागी को इसीलिए होता है। श्री क्षेत्र कुन्डल से विहार करते-करते महाराज जिनमंदिर का दर्शन करते -करते नसलापुर, ऐनापुर, अथणी इस मार्ग से बीजापुर के पास अतिशय क्षेत्र "बाबानगर" को आये। पुण्यक्षेत्र के सहस्रफणी श्री पार्श्वनाथ भगवान का दर्शन करते हुए लौटकर पुनः ऐनापुर आये। वहाँ वे १५ दिन तक ठहरे। यहां योगायोग से निर्ग्रंथ मुनिराज श्री आदिसागर जी महाराज का सत्समागम मिला।

भगवती निर्वाणरूपा जिनदीक्षा —

निपाणी संकेश्वर के समीप "यरनाळ" ग्राम में पंचकल्याणक महोत्सव के लिए मुनिराज श्री देवेन्द्रकीर्तिजी पधारे थे। ऐलक सातगौंडा महाराज भी वहाँ पहुँचे। उन्होंने गुरु श्रीदेवेन्द्रकीर्ति स्वामी को दिगम्बर दीक्षा देने के लिए पुनः प्रार्थना की। एकत्रित जैन समाज को महाराजजी की योग्यता का पूरा परिचय था। वे महाराजजी से प्रभावित भी थे। मुनि दीक्षा के लिए समाजभर ने एक स्वर से अनुमोदना की।

निर्ग्रंथ दीक्षा लेने का विचार निश्चित हुआ। दीक्षाकल्याणक के दिन तीर्थंकर भगवान का वन विहार का जुलूस दीक्षा वन में आया। इसी पवित्र समय में ऐलकजी ने भी दीक्षागुरु श्री देवेन्द्रकीर्ति महाराज के पास दिगम्बरी जिनदीक्षा धारण की। 'नैर्ग्रंथ्यं हि तपोऽन्यत्तु संसारस्यैव साधनम्' यह दृढ़ धारणा थी। भगवान की

दीक्षा विधि के साथ ऐलक महाराजजी की भी निर्ग्रंथ दीक्षा विधि सम्पन्न हुई, केशलोंच समारम्भ भी हुआ। ऐलक सातगौंडा मुनि हो गये, यथाजातरूपधारी हुए। मुनि पद का नाम श्री "शांतिसागर" रखा गया। शक् सम्वत् १८४१ फाल्गुन शुक्ला १४ उनकी दीक्षामिति थी। इस पवित्र दिन से महाराज श्री का जीवनरथ अब संयम के राजमार्ग द्वारा मोक्षमहल की ओर अपनी विशिष्ट गति से सदा गतिशील ही रहा। अंतरंग में परिग्रहों से अलिप्तता का भाव सदा के लिए बना रहना और बाह्य में परिग्रह मात्र से स्वयं को दूर रखना यह मुनि की अलौकिक चर्या है। शुद्ध आत्मस्वरूप मग्नता यह उसका अन्तःस्वरूप होता है। देह के प्रति भी ममत्व का लेश नहीं होता, वे विदेही भावों के राजा होते हैं इसीलिए लोग उन्हें महाराज कहते हैं।

पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियों के विषयों पर विजय, छह आवश्यक तथा सात शेष गुण इत्यादि २८ मूलगुणों के ये धारक होते हैं।

भारतविहार —

यरनाळ में दीक्षासमारंभ समाप्त होने के अनंतर महाराज नसलापुर आये। समाज ने बड़ा आदर किया। भक्तिभावपूर्ण वैयावृत्य किया। उसके बाद महाराज कोगनोली पहुँचे। वहाँ से लौटकर फिर नसलापुर आकर चातुर्मास किया। बाद में महाराज ऐनापुर पहुँचे। यहां जैनसमाज बहुसंख्या में होने से धर्मप्रभावना अच्छी हुई। महाराजजी के विहार काल में कोण्णूर का चातुर्मास बड़ा महत्वपूर्ण रहा। यहां महाराज की जीवनी में अतिशय महत्वपूर्ण घटनाएं घटीं। कोण्णूर ग्राम में प्राचीन गुफाएं बहुसंख्या में हैं। नित्य की तरह गुफा में आचार्यश्री ध्यानस्थ बैठ गये। उसी समय एक नागराज — बड़ा सर्प वहाँ आकर महाराज जी के शरीर पर चढ़कर घूमने लगा। महाराज जी अपने आत्मध्यान में निमग्न थे। 'नागराज आया है और वह अपने शरीर पर घूम रहा है' इसका तनिक विकल्प भी महाराज जी को नहीं था। मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति की पालना किस प्रकार हो सकती है इसका यह मूर्तिमानरूप दृष्टिगोचर हुआ। महाराज जी के दर्शनार्थ जो लोग वहाँ पहुँचे थे उन्होंने यह घटना प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखी। वे साश्चर्य दिङ्मूढ़ हो बैठे रहे। वे सांप से डरते थे, सांप भी जनता से घबड़ाता था। महाराज का आश्रय इसीलिए उसने लिया था। महाराज जी का दिव्य आत्मबल देखकर वहाँ आये हुए यात्रियों में से प्रमुख श्रेष्ठी श्रीमान सेठ खुशालचंद जी पहाड़े और ब्र. हीरालाल जी बड़े प्रभावित हुए। दोनों सज्जन विचक्षण थे। दक्षिण यात्रा के लिए निकले हुए यात्री थे। मिरज पहुँचने के बाद पता चला कि निकट ही दिगम्बर साधु हैं। इसलिए परीक्षा के हेतु वे वहाँ पर पहुँचे थे। उनकी अपनी धारण थी इस काल में साधक का होना असंभव है। भरी सभा में 'क्या आपको अवधिज्ञान है? या आपको ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त है?" आदि वैयक्तिक आचारविषयक प्रश्न भी पूछने लगे। कुछ उलाहना का अंश भी जरूर था। सम्मिलित भक्तगणों में कुछ ऐसे जरूर थे जो इन सवालों का जवाब मुट्ठियों से देने के लिए तैयार हो गये। मुनि महाराज ने भक्तों को रोका। एक-एक सवाल का जवाब यथानाम "शांतिसागर जी" ने शांति से ही दिया। समागत दोनों परीक्षक अत्यधिक प्रभावित हुए। उसी समय दीक्षा के लिए तैयार भी हो गये। महाराज जी ने ही उन्हें रोककर यात्रा पूरी करने का और कुटुम्ब परिवार की सम्मति लेने को कहा। जब महाराज बाहुबली (कुम्भोज) आये तब वहां आकर उक्त दोनों सज्जनों ने महाराज जी के पास क्षुल्लक पद की दीक्षा धारण की। दीक्षा के बाद श्री सेठ खुशालचंद जी क्षु. 'चन्द्रसागर' तथा ब्र. श्री हीरालाल जी का क्षु. "वीरसागर" नामाकंन हुआ। समडोली के चातुर्मास में आचार्यश्री के पास क्षु. वीरसागर जी ने निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की। यही महाराज के प्रथम निर्ग्रंथ शिष्य थे। आचार्यश्री ने आगे चलकर अपने समाधिकाल में

श्री वीरसागर महाराज को ही उन्मुक्त भावों से आचार्यपद प्रदान किया। श्री वीरसागर जी की दीक्षा विधि हुई। कुछ ही समय बाद ऐलक नेमण्णा ने भी मुनिदीक्षा धारण की। नाम श्री 'नेमिसागर' रखा गया।

आचार्यपद की प्राप्ति व महत्वपूर्ण तीर्थरक्षा कार्य —

समडोली ग्राम में ही सर्वप्रथम आचार्यश्री का चतु:संघ स्थापन हुआ। अब तक केवल अकेले महाराज ही निर्ग्रंथ साधु स्वरूप में विहार करते थे। अब संघ सहित विहार होने लगा। संघ ने उनको 'आचार्य' पद घोषित किया। आचार्य महाराज का संघ पर वीतराग शासन बराबर चलता था। संघ सहित विहार करते-करते महाराज कुम्भोज से श्री सिद्धक्षेत्र कुंथलगिरी आये। क्षेत्र पर श्री देशभूषण और कुलभूषण मुनिद्वय के चरण पादुकाओं का पावन दर्शन किया। विहारकाल का उपयोग महाराजश्री जाप्य तथा मंत्र स्मरण के लिए विशेषरूप से कर लेते थे।

श्री सम्मेदशिखर जी की ऐतिहासिक पावन यात्रा —

(चलता फिरता वीतरागता और विज्ञानता का विश्वविद्यालय)

ई. सन् १९२७ के मार्गशीर्ष वदी प्रतिपदा के दिन श्री सम्मेदशिखर जी क्षेत्र की वंदना और धर्मप्रभावना के उद्देश्य से आचार्यश्री १०८ शांतिसागर जी महाराज की विहारयात्रा संघ सहित बाहुबली (कुम्भोज) क्षेत्र से शुरू हुई।

बम्बई निवासी पुरुषोत्तम श्रीमान् सेठ पूनमचंद जी घासीलाल जी और सुपुत्रगण आचार्यश्री के पास पहुँचे। उन्होंने आचार्यश्री को ससंघ श्रीसम्मेदाचल यात्रा को ले चलने का संकल्प प्रकट किया।

नागपुर में संघ का अपूर्व स्वागत हुआ। जुलूस तीन मील लम्बा निकला था। शहर के बाहर इतवारी में स्वतंत्र 'शांतिनगर' की रचना की गयी थी। कांग्रेस के पंडाल से शांतिनगर का पंडाल कुछ छोटा नहीं था। जनता आज भी उस समय की अपूर्व घटनाओं की स्मृति से आनंद का अनुभवन करती है और स्वयं को धन्य मानती है।

संघ की विदाई हृदयद्रावक थी। साश्रुनयनों से श्रावक-श्राविकाओं को अनिवार्यरूप से विदाई देनी पड़ी। ता. ९ जनवरी १९२८ को संघ का नागपुर छोड़कर भंडारा मार्ग से विहार शुरू हुआ। छत्तीसगढ़ के भयंकर जंगलमय विकट मार्ग से निर्बाध होते हुए संघ हजारीबाग आया। बाद में फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन तीर्थराज श्रीसम्मेदशिखर जी सिद्धक्षेत्र को पहुँचा।

यहाँ पर संघपति जी के द्वारा व्यापकरूप में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव द्वारा महती धर्मप्रभावना हुई। भीड़ की सीमा न थी। भारत के कोने-कोने से श्रावक-श्राविकाएं अत्यधिक प्रमाण में पहुँचे। इसी समय हजार से ज्यादा कपड़ों की झोपड़ियां बनवायी गईं थीं। धर्मशालाएं खचाखच भर गईं।

तीर्थक्षेत्र कमेटी तथा महासभा आदि कई सभाओं के अधिवेशन भी हुए। तीर्थराज जयध्वनि से गूंज उठा था। धर्मशालाओं के बाहर भी यत्र-तत्र लोग अपना स्वतंत्र स्थान जमाए हुए नजर आते थे। नीचे धरती ऊपर आसमान, पूर्ण निर्विकल्प होकर जनता प्रतिष्ठा यात्रा के उन्मुक्त आनन्द रस का पान करती थी। लोग कहते हैं यात्री कहीं तीन लाख से ऊपर होंगे। अस्तु! पंडित आशाधरजी के शब्दों में कहना होगा, "दलित कलिलीला-विलसितम्" यही पर्वतराज का सजीव मनोहारी दृश्य था। अनेक भाषा, अनेक वेशभूषा में व्यापक तत्व की एकता का होने वाला प्रत्यक्ष दर्शन अलौकिक ही था। निर्विकल्प वस्तु के अनुभव के समय विशेष का तिरोभाव और सामान्य का आविर्भाव होता ही है ठीक इसी तरह सांस्कृतिक एकता का यह सजीव स्वरूप

प्रभावशाली बन गया।

श्री सम्मेदशिखर की वंदना करके वहां से मंदारगिरी, चम्पापुरी, पावापुरी, राजगृही, गुणावां आदि अनेक सिद्धक्षेत्रों की संघ ने यात्रा की।

स्वर्गीय १०८ पायसागर जी महाराज आचार्य श्री को पारसमणि की उपमा देते थे। अपनी जीवनी के आधार से ही समादर की भावनाओं से वे अपने प्रवचनों में आचार्यश्री के विषय में गौरवगाथा गाते थे। स्व. आचार्यश्री कुंथुसागर महाराज जी आचार्यश्री के शिष्यों में से उद्‌भट संस्कृतज्ञ प्रवक्ता रहे जिनके द्वारा गुजरात में विशेष प्रभावना हुई। आचार्यश्री वीरसागर जी और शिष्य परम्परा से जो जागरण का कार्य हुआ वह अविस्मरणीय एवं सातिशय ही है।

प्राणांतिक आक्रमण से संघ ऐसे बच पाया —

ता. ६ जनवरी १९३० में संघ धौलपुर स्टेट के राजाखेड़ा शहर में पहुँचा। तीन चार दिन तक महती धर्मप्रभावना हुई। यह धर्मप्रभावना भी एक अजैन भाई को सहन नहीं हुई। एक संगठन बन गया। लाठी, काठी, तलवार आदि शस्त्रास्त्रों के साथ करीब ५०० लोगों के आक्रमण की गुप्त योजना भी बन गई।

मृगमीनसज्जनानां तृणजल-संतोष-विहितवृत्तीनाम् ।
लुब्धक-धीवर-पिशुना निष्कारण वैरिणो जगति।।

घास पत्ती पर अपना गुजारा करने वाले हिरन, जल में अपना निर्वाह करने वाली मछलियाँ और सन्तोषामृत का पान करने वाले साधु पुरुषों से भी शिकारी, मछलीमार और दुर्जन व्यर्थ ही शत्रुता करते हैं। यह सनातन दुष्टता की परंपरा संसार में चली ही आ रही है। इसका प्रत्युत्तर राजाखेड़ा में आया। छिद्दीलाल ब्राह्मण के नेतृत्व में आक्रमण की तैयारी हो गई थी। संघ का हत्याकाण्ड होने को ही था कि महाराज की अंतरंग स्वच्छता से अंतर्ज्ञान द्वारा जो कुछ भी संकेत मिला हो उन्होंने संघस्थ त्यागियों से प्रतिदिन की अपेक्षा शीघ्र आहार करके लौटने को कहा। तदनुसार समस्त त्यागी चर्या करके ९ बजे के भीतर ही मंदिर जी में वापिस लौट आये। आक्रामक लोग नारे लगाते हुए मंदिर जी की ओर बढ़े। जैनियों ने इस प्राणांतक आक्रमण का प्रतिकार भी किया। स्टेट की ओर से पुलिस सहायता भी दौड़ी हुई आयी। पुलिस दल ने आक्रामकों को गिरफ्तार कर लिया लेकिन महाराज जी ने करुणाभाव प्रदर्शित कर उनको छोड़ देने के लिए पुलिस अधिकारी मंडल को बाध्य किया।

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवंति परम पदमात्मनः।।

अर्थात् जाति और वेष परिवेष का विकल्प साधना में पूरा बाधक एवं हेय होता है। इसी प्रकार तेरहपंथ या बीसपंथ के विकल्पों से आत्मसाधना अर्थात् परमार्थभूत धर्मसाधना अत्यन्त दूर होती है यह धर्मदृष्टि के अभाव का ही परिणाम है। टंकोत्कीर्ण धर्म साधना लुप्तप्राय होती जा रही है और तेरह-बीसपंथ के झगड़े दृढ़मूल बनाए जा रहे हैं और उन्हें धर्माचार का रूप दिया जा रहा है। समाज में आज भी जो भाई तेरह और बीसपंथ के नाम से समय-समय पर वितंडा उपस्थित करते हैं और समाज के स्वास्थ्य को ठेस पहुँचाते हैं उनकी उस प्रवृत्ति को जो समाज के लिए महारोग के समान है, हम समझते हैं आचार्यश्री का सामंजस्य पूर्ण दूरदृष्टिता का व्यवहार एक अद्‌भुत कल्याणकारी अमृतोपम रसायन हो सकता है।

शास्त्रशुद्ध व्यापक दृष्टिकोण —

ईसवी सन् १९३३ का चातुर्मास आचार्य संघ का ब्यावर (राज.) में था।

महाराज जी का अपना दृष्टिकोण हर समस्या को सुलझाने के लिए मूल में व्यापक ही रहता था। योगायोग की घटना है इसी चौमासे में कारंजा गुरुकुल आदि संस्थाओं के संस्थापक और अधिकारी पूज्य ब्र. देवचंद जी दर्शनार्थ ब्यावर पहुँचे। पूज्य आचार्यश्री ने क्षुल्लक दीक्षा के लिए पुनः प्रेरणा की। ब्रह्मचारी जी का स्वयं विकल्प था ही। वे तो इसीलिए ब्यावर पहुँचे थे। साथ में और एक प्रशस्त विकल्प था कि "यदि संस्था-संचालन होते हुए क्षुल्लक प्रतिमा का दान आचार्यश्री देने को तैयार हों तो हमारी लेने की तैयारी है।" इस प्रकार अपना हार्दिक आशय ब्रह्मचारी जी ने प्रगट किया। ५-६ दिन तक उपस्थित पंडितों में काफी बहस हुई। पंडितों का कहना था कि क्षुल्लक प्रतिमा के व्रतधारी संस्था संचालन नहीं कर सकते आचार्यश्री का कहना था कि पूर्व में मुनि संघ में ऐसे मुनि भी रहा करते थे जो जिम्मेदारी के साथ छात्रों का प्रबंध करते थे और ज्ञानदानादि देते थे। यह तो क्षुल्लक प्रतिमा के व्रत श्रावक के व्रत हैं। अंत में आचार्य महाराजजी ने शास्त्राधारों के आधार से अपना निर्णय सिद्ध किया। फलतः श्री ब्र. देवचंद जी ने क्षुल्लक पद के व्रतों को पूर्ण उत्साह के साथ स्वीकार किया। आचार्य श्री ने स्वयं अपनी आन्तरिक भावनाओं को प्रकट करते हुए दीक्षा के समय "समंतभद्र" इस भव्य नाम से क्षुल्लकजी को नामांकित किया और पूर्व के समंतभद्र आचार्य की तरह आपके द्वारा धर्म की व्यापक प्रभावना हो इस प्रकार के शुभाशीर्वादों की वर्षा की। कहाँ तो बाल की खाल निकालकर छोटी-छोटी सी बातों की जटिल समस्या बनाने की प्रवृत्ति और कहाँ आचार्यश्री की प्रहरी के समान सजग दिव्य दूरदृष्टिता ?

चारित्रचक्रवर्ती आचार्यश्री —

संघ विहार करता हुआ गजपंथा सिद्धक्षेत्र पर आया। यहाँ पर सम्मिलित सब जैन समाज ने आचार्यश्री को "चारित्रचक्रवर्ती" पद से विभूषित किया। महाराजश्री की आत्मा निरंतर निरूपाधिक आत्मस्वरूप के अमृतोपम महास्वाद को सहज प्रवृत्ति से बराबर लेने में परमानंद का अनुभवन करती थी। उन्हें इस उपाधि से क्या ? वे पूर्ववत् उपाधिशून्य स्वभावमग्न ही थे। साधु परमेष्ठी या आचार्य परमेष्ठी के आंतरिक जीवन का यथार्थ दर्शन यह चक्षु का विषय नहीं होता। वह अपनी शान का अलौकिक ही होता है। जहां जीवनाधार श्वासोच्छ्वास की तरह इन परमेष्ठियों का श्वांस आत्मा को स्वात्मा में स्थिर बनाये रखने के लिए होता है, वहाँ उच्छ्वास विश्व में अपनी आदर्श प्रवृत्ति के द्वारा शांति स्थापना में और धर्मप्रभावना में उत्कृष्ट निमित्त के रूप में उपस्थित होने के लिए होता है। आचार्यश्री की लोकोत्तम, लोकोत्तर अलौकिकता और वैभवशाली विभूतिमत्ता इसी में थी। "चारित्रचक्रवर्ती" उपाधि का महाराज को तो कोई हर्ष विषाद ही नहीं था। "चारित्र के चक्रवर्ती तो भगवान ही हो सकते हैं। हम तो लास्ट नम्बर के मुनि हैं। हमें उपाधि से क्या ? स्वभाव से निरूपाधिक आत्मा ही हमारी शरण है।" समाज ने अपनी गुणग्राहकता और त्याग संयम के प्रति निष्ठा का जो औचित्य-पूर्ण प्रदर्शन किया वह योग्य ही हुआ।

एक प्रशस्त विकल्प —

वर्षों से एक प्रशस्त संकल्प चित्त में था, जैसे मां के पेट में बच्चा हो। वह करुणा कोमल चित्त की उद्‌भट चेतना थी। महाराष्ट्र की जैन जनता प्रायः किस्तकार (किसान) है। धर्मविषयक अज्ञान की भी उनमें बहुलता है। आचार्यश्री का समाज के मानस का गहरा अध्ययन तो अनुभूति पर आधारित था ही। 'शास्त्रज्ञान'

और तत्त्वविचार' की ओर इनका मुड़ना बहुत ही कठिन है। प्रथमानुयोगी जनमानस के लिए एक भगवान का दर्शन ही अच्छा निमित्त हो सकता है। इसी उद्देश्य को लेकर किसी अच्छे स्थान पर विशालकाय श्री बाहुबली भगवान की विशाल मूर्ति कम से कम २५ फीट की खड़ी कराने का प्रशस्त विकल्प जहां कहीं भी आचार्यश्री पहुँचते थे, प्रकट करते थे परन्तु सिलसिला बैठा नहीं। 'भावावश्यं भवेदेव न हि केनापि रुध्यते'। होनहार होकर ही रहती है। योगायोग से इसी समय अतिशयक्षेत्र बाहुबली (कुंभोज) में वार्षिकोत्सव होने वाला था। 'संभव है सत्य संकल्प की पूर्ति हो जाये' इसी सदाशय से आचार्यश्री के चरण बाहुबली की ओर यकायक बढ़े। १८ मील का विहार वृद्धावस्था में पूरा करते हुए नांद्रे से महाराज श्री क्षेत्र पर संध्या में पहुँचे। पवित्र आन्दोल्लास का वातावरण पैदा हुआ। संस्था के मंत्री श्री सेठ बालचंद देवचंद जी और मुनि श्री समंतभद्र जी से संबोधन करते हुए भरी सभा में आचार्यश्री का निम्न प्रकार समयोचित और समुचित वक्तव्य हुआ। जो आचार्यश्री की पारगामी दृष्टि सम्पन्नता का पूरा सूचक था।

'तुमची इच्छा येथे हजारो विद्यार्थ्यानी राहावे शिकावे अशी पवित्र आहे हे मी ओळखतो, हा कल्पवृक्ष उभा करून जाते। भगवंताचे दिव्य अधिष्ठान सर्व घडवून आणील। मिळेल तितका मोठा पाषाण मिळवा व लवकर हे पूर्ण करा।मुनिश्री समंतभद्राकडे वळून म्हणाले, 'तुझी प्रकृति ओळखतो, हे तीर्थक्षेत्र आहे। मुनींनी विहार करावयास पाहिजे असा सर्वसामान्य नियम असला तरी विहार करूनही जे करावयाचे ते येथेच एके ठिकाणी राहून करणे। क्षेत्र आहे। एके ठिकाणी राहाण्यास काहीच हरकत नाही, विकल्प करू नको,काम लवकर पूर्ण करून घे। काम पूर्ण होईल! निश्चित होईल!! हा तुम्हा सर्वांना आशीर्वाद आहे।'

आपकी आंतरिक पवित्र इच्छा है कि यहाँ पर हजारों विद्यार्थी धर्माध्ययन करते रहें इसका मुझे परिचय है। यह कल्पवृक्ष खड़ा करके जा रहा हूँ। भगवान का दिव्य अधिष्ठान सब काम पूरा कराने में समर्थ है। यथासंभव बड़े पाषाण को प्राप्त कर इस कार्य को पूरा कर लीजिये।" मुनि श्री समंतभद्र जी की ओर दृष्टि कर संकेत किया—"आपकी प्रकृति (स्वभाव) को बराबर जानता हूँ। यह तीर्थभूमि है। मुनियों को विहार करते रहना चाहिए इस प्रकार सर्वसामान्य नियम है। फिर भी विहार करते हुए जिस प्रयोजन की पूर्ति करनी है उसे एक स्थान में यहीं पर रहकर कर लो। यह तीर्थक्षेत्र है एक जगह पर रहने के लिए कोई बाधा नहीं है। विकल्प की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार से कार्य शीघ्र पूरा हो सके पूरा प्रयत्न करना। कार्य अवश्य ही पूरा होगा सुनिश्चित पूरा होगा। आप सबको हमारा शुभाशीर्वाद है।"

पूर्णिमा का शुभ मंगल दिन था। शुभ संकेत के रूप से पच्चीस हजार रुपयों की स्वीकृति भी तत्काल हुई काम लाखों का था। यथाकाल सब काम पूर्ण हुआ। "पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः।" पानी से कमल, कमल से पानी और दोनों से सरोवर की शोभा बढ़ती है। ठीक इस कहावत के अनुसार भगवान की मूर्ति से संस्था का अध्यात्म वैभव बढ़ा ही है। अतिशय क्षेत्र की अतिशयता में अच्छी वृद्धि ही हुई। अब तो मूर्ति के प्रांगण में और सिद्धक्षेत्रों की प्रतिकृतियां बनने से यथार्थ में अतिशयता या विशेषता आयी है। महाराज का आशीर्वाद ऐसे फलित हुआ।

टंकोत्कीर्ण श्रुत की टंकोत्कीर्ण सुरक्षा —

वि. सं. २००० (ई. सन् १९४४) की घटना है। आचार्यश्री का चौमासा कुंथलगिरि में था। पं. श्री सुमेरचंद जी दिवाकर से धर्मचर्चा के समय यह पता चला कि अतिशयक्षेत्र मूड़बिद्री में विद्यमान धवला, जयधवला और महाबंध इन सिद्धान्त ग्रंथों में से महाबंध ग्रंथ की ताड़पत्री प्रति के करीब ५००० सूत्रों का

भागांश कीटकों का भक्ष्य बनने से नष्टप्राय हुआ। भगवान महावीर के उपदेशों से साक्षात् संबंधित इस जिनवाणी का केवल उपेक्षा मात्र से हुआ विनाश सुनकर आचार्यश्री को अत्यन्त खेद हुआ। आगम का विनाश यह अपूरणीय क्षति है। इनकी भविष्य के लिए सुरक्षा हो तो कैसी हो? इस विषय में पर्याप्त विचार परामर्श हुआ। अंत में निर्णय यह हुआ कि इन ग्रंथराजों के ताम्रपत्र किये जायें और कुछ प्रतियां मुद्रित भी हों।

प्रातःकाल की शास्त्र सभा में आचार्यश्री का वक्तव्य हुआ। संघपति श्रीमान् सेठ दाडिमचंद जी, श्रीमान् सेठ चंदूलाल जी बारामती, श्रीमान् सेठ रामचन्द जी धनजी दावडा आदि सज्जन उपस्थित थे। संघपति जी का कहना था कि जो भी खर्चा हो वे स्वयं करने के लिए तैयार हैं। फिर भी आचार्यश्री के संकेतानुसार दान संकलित हुआ जो करीब डेढ़ लाख हुआ।

"श्री १०८ चा. च. शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था" नामक संस्था का जन्म हुआ। ग्रंथों के मूल ताड़पत्री प्रतियों के फोटो लेने का और देवनागरी प्रति से ताम्रपट्ट कराने का निर्णय हुआ। नियमावली बन गई। कार्य की पूर्ति के लिए ध्रुवनिधि की वृद्धि करने का भी निर्णय हुआ। कार्य की पूर्ति शीघ्र उचितरूप से किस प्रकार हो इस विषय में पत्र द्वारा मुनि श्री समंतभद्र जी से परामर्श किया गया। "आर्थिक व्यवहार चाहे जिस प्रकार हो यदि कार्य पूरा करना है तो कार्यनिर्वाह की जिम्मेदारी किसी एक जिम्मेदार व्यक्ति के सुपुर्द करनी होगी। हमारी राय में श्रीमान् बालचंद जी देवचंद जी शाह बी.ए.को यह कार्य सौंपा जाये" इस सलाह के अनुसार कार्य की व्यवस्था बन गई। आचार्यश्री के संकेत को आज्ञा के रूप में श्री सेठ बालचंद जी ने शिरोधार्य कर कार्य संभाला। प्रतियों के मुद्रण तथा ताम्रपत्र के रूप में टंकोत्कीर्ण का कार्य श्रीमान् विद्यावारिधि पं. खूबचंद जी शास्त्री, श्रीमान् पं. पन्नालाल जी सोनी, श्रीमान् पं. सुमेरचंद जी दिवाकर, श्रीमान् पं.हीरालाल जी शास्त्री, पं. श्री माणिकचंद जी भीसीकर आदि विद्वानों के यथासंभव सहयोग से यह कार्य पूरा हो पाया; जिसमें ९ वर्षों का समय लगा।

कुंथलगिरी क्षेत्र पर बृहज्जिनबिम्ब का विकल्प —

कुंथलगिरी दक्षिण का सीमावर्ती सुन्दर सिद्धक्षेत्र है। "यहाँ पर एक विशालकाय बाहुबली भगवान की मूर्ति हो तो अच्छा होगा।" यह भव्य आशय कमेटी के सभी सदस्यों को एकदम पसंद आया। पूज्य आचार्यश्री के समक्ष कार्य पूरा होना असंभव था। महाराज जी ने यम सल्लेखना का नियम कर ही लिया था। इसी अवसर पर एक समाचार विदित हुआ कि दक्षिण में म्हैसूर स्टेट के अंतर्गत "बस्ती हल्ली" देहात में एक १५ फुट ऊँची मनोज्ञ मूर्ति है और वह एक अजैन भाई के खेत में करीब अज्ञात अवस्था में पड़ी हुई है, उसी को लाकर खड़ी करने का विचार किया गया। स्व. श्रीमान् सेठ रावजी देवचंद शहा आदि सज्जन स्वयं वहां पहुँचे। काफी प्रयास किया गया परन्तु सफलता नहीं मिल पायी। केवल फोटो मात्र मिल गया। उसे ही सिर पर रखकर आचार्यश्री ने धन्यता के भाव प्रगट किये। वीतरागता की साधना में परम वीतराग मूर्ति के दर्शन से अद्‌भुत आनन्द की और धर्मोल्लास की लहर होना सहज था। आचार्यश्री की चर्या पर वह दृग्गोचर हुई। आचार्य महाराज के भव्य भावों की पूर्ति होनी ही चाहिए इस प्रकार का भव्य भाव समीपवर्ती सेवाभावी सरल प्रकृति श्रेष्ठीवर्य श्रीमान् नेमचन्द जी मियाचंद जी गांधी, नातेपुते के चित्त में आया। "यदि महाराज जी की आज्ञा हो तो इसी क्षेत्र के ऊपर १८-२० फुट ऊँची बाहुबली भगवान की मूर्ति विराजमान करने का मेरा भाव है" इसके पश्चात् सन् १९७० में १८ फीट ऊँची बाहुबली भगवान की मूर्ति पहाड़ी के ऊपर पूर्वाभिमुख विराजमान होकर प्रतिष्ठा भी सम्पन्न हो गई। इस प्रकार एक तरह से महाराज के सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हुए।

हीरक जयंती महोत्सव —

जैनियों की दक्षिणकाशी फलटन नगरी धर्मकार्यों को उत्साह तथा उल्लास के साथ करती ही आ रही है। सन् १९५२ की घटना है। पूज्यश्री की जीवनी के ८० वर्ष पूरे हुए। इस प्रसंग से हीरक जयंती महोत्सव सम्पन्न करने का निर्णय एक स्वर से किया गया। आचार्यश्री को उत्सवों से कोई हर्ष विषाद नहीं था। एक तरह से त्याग तपस्या का ही यह गौरव होना था। जून की ता. १२, १३, १४ ये तीन दिन विशेष आनन्दोत्सव के रहे। सर्वत्र चहल पहल रही। भारत के कोने-कोने से हजारों भाई फलटण पहुँचे। इंदौर से रावराजा सेठ राजकुमार सिंह जी, रावराजा सेठ हीरालाल जी पहुँचे। बम्बई से सेठ रतनचंद जी, सेठ लालचंद जी, अजमेर से सेठ भागचंद जी, कलकत्ता, देहली, कोल्हापुर, नांदगांव, नागपुर, सिवनी, जबलपुर, बेलगांव, बाहुबली, सांगली, शेडवाल, भोज आदि शहरों से सज्जन उत्सव में सम्मिलित हुए। सभा सम्मेलन हुए, योजनाबद्धरूप से श्रद्धांजलियों का समर्पण हुआ, पूजा प्रभावना हुई। ताम्रपत्रों के ऊपर उत्कीर्ण धवलादि ग्रंथों का हाथियों के ऊपर जुलूस निकालकर वे ग्रंथ भक्तिभावपूर्वक पूज्य आचार्यश्री को समारोह के साथ समर्पण किये गये। छोटे-मोटे सब ही कार्यों में विशेष सातिशय सजीवता दिखलायी देती थी। स्वयं फलटन स्टेट के अधिपति श्रीमान् मालोजीवराव निंबालकर फलटन नगरी का यह अहोभाग्य समझते रहे। हीरक जयंती महोत्सव के निमित्त से एक सचित्र स्मरणिका प्रकाशित हुई। जिससे उत्सव का सचेतन स्वरूप सुस्पष्ट होता है। इस समय महाराजश्री के अनुभव रसपूर्ण हुए। 'रत्नत्रयधर्म की साधना जीवन का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। धर्म से ही शेष पुरुषार्थों की प्राप्ति एवं सफलता होती है' ऐसे ही भावपूर्ण वक्तव्य हुए। आचार्यश्री जीवन के क्षणों का मूल्य बराबर जानते थे। उपचार और परमार्थ दोनों का परिज्ञान उन्हें बराबर था। सदा की भांति वे अपनी आत्मसाधना में विशेष तन्मय हुए। रत्नत्रयों के श्रेष्ठ आराधक रत्नत्रयों के अकम्प प्रकाश में अविचलरूप से सुस्थित थे। निर्ग्रन्थ साधु की विशेषता के पुण्यदर्शन बराबर होते थे। आचार्य महाराज खूब जानते थे।

तिथिपर्वोत्सवा सर्वे, व्यक्ता येन महात्मना।
अतिथि ते 'वजानीयात् शेषमभ्यागतं विदुः।।

सब ही तिथियाँ, पर्व और उत्सव सबंधी विकल्पों से ये महर्षि सदा ही दूर होते हैं इसीलिए इनका यथार्थ नाम 'अतिथि' होता है।

सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार करने पर आत्मा तो यही कहती है कि महाराज वर्तमान युग के महान सत्पात्र तो रहे ही हैं परन्तु उनके द्वारा जो ज्ञानदान और दृष्टिदान हुआ है उससे विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि महाराज श्रेष्ठ से श्रेष्ठ दानी भी रहे। पात्र समझकर जो चढ़ाया गया वह थोड़ा था और दाता समझकर जो कुछ समाज के द्वारा लिया गया वह भी थोड़ा था इस सत्य को स्वीकार करना होगा।

आदर्श सल्लेखना —

विचार और भावनाओं का समान संयोग आचार्यश्री के जीवन की एक विशेषता थी। भावनाओं में आकर शक्ति को व्यर्थ खोना या व्यर्थ खोने का विकल्प करना यह असंभव था। भविष्य की आशा में वर्तमान को गंवाना वे प्रकाश के बदले में अंधकार को खरीदना जैसा मानते थे। वर्षों से अखण्डरूप से की गयी हजारों मीलों की पदयात्रा, यथासंभव अनुकूल प्रतिकूल आहार का संयोग, उपवासों की धाराप्रवाहिता, वृद्धावस्था, अल्पनिद्रा आदि कारणों से दृष्टि में पूर्व की अपेक्षा अधिकाधिक मंदता का अनुभव होने लगा। वैद्य और डाक्टरों से समय-समय पर बराबर परामर्श होता था। शुद्ध उपचारों का विशुद्ध भावनाओं से अमल भी होता

था। दृष्टि विनाश होने के बाद समितियों का पालन और प्राणस्वरूप मुनिचर्या असंभव है, इसलिए साधनों की सुरक्षा सावधानीपूर्वक अप्रमाद भाव से आचार्यश्री प्रारंभ से ही करते रहे। आचार्यश्री विनोद में शरीर की सवारी को घोड़ा कहा करते थे। जब घोड़े से काम लेना है और घोड़ा बराबर काम देता है तो उसे मात्रा में चना देना ही होगा। शरीर की या इन्द्रियों की गुलामी यह कोई अलग चीज होती है। विदेही भावनाओं के धनी चारित्र-चक्रवर्ती इस जन्म से प्राप्त घोड़े से ठीक काम लेना बराबर जानते थे। राणाप्रताप के ईमानदार 'चेतक' की तरह महाराजश्री की देह ने महाराज की आत्मा का पूरा साथ दिया परन्तु देहधर्म की अपनी प्रकृति है उसे शिथिल और कमजोर पाकर महाराजश्री बिल्कुल सचेत हो गये। शुरू में कांचबिन्दु बतलाया गया और अंत में डा. आरोसकरजी के द्वारा मोतियाबिंद के सुनिश्चित होने पर निर्विकल्परूप से सल्लेखना ही एकमात्र शरण है ऐसी अन्तरंग में दृढ़ धारणा हो गई।

समाधि, सल्लेखना, समाधिमरण, वीरमरण, मृत्यु महोत्सव ये ऐसे सार्थक शब्द हैं जो यह बतलाते हैं कि साधक किन पवित्र भावनाओं से सावधानीपूर्वक मृत्यु का सहज स्वागत करता है। शरीर का गल जाना, विनश जाना यह अटल प्रकृति है। वास्तव में जन्म जितना सत्य होता है उतनी ही मृत्यु सत्य होती है। परन्तु भोगी बहिर्दृष्टि लौकिक पुरुष जन्म का सहर्ष स्वागत करता है, आनन्द मनाता है और मृत्यु से डरता है, मुत्यु के नाममात्र से रोता है, यही विकल्प परायण अज्ञानी की अज्ञानता है। जन्म होना, छोटे से बड़ा होना, परिपुष्ट होना और अंत में गल जाना यही प्राणियों के प्राणों का स्वभाव होता है। जीवन का कोई विश्वास नहीं यह सब कोई कहते हैं और नित्य नये विकल्पों को करते भी जाते हैं, यही अज्ञानियों का अज्ञान है। महाराजजी ने अपने जीवन से पूरा काम लिया था। रसपूर्ण गन्ने का पूरा रस निकाला हुआ था। सारहीन भाग यदि ठीक ढंग से जलता हो तो उसमें शोक वृथा होता है, विकल्प निरर्थक होते हैं। वस्तुतत्त्व के आधार से संकल्प विकल्पों का परित्याग और आत्मस्वरूप स्थिरता यह समाधि या सल्लेखना की आत्मा होती है और आहार के क्रमशः विधिपुरस्सर परित्यागपूर्वक होने वाला देहविसर्जन यह समाधि का कलेवर होता है। शरीर की धारणा बनी रहना यह उपजीवन है और स्वरूप में अकंप स्थिरता यह आत्मा का जीवन है। यह दोनों का सुनिश्चित स्वरूप है वैसे ही जीवन के लिए उपजीवन होता है न कि उपजीवन के लिए जीवन यह पारस्परिक संबंध भी उतना ही निश्चित है। जीवन का यह सम्यग्दर्शन पूज्य महाराज जी की युवावस्था से ही यथार्थरूप में था इसलिए परलोक यात्रा की तैयारी सहर्ष भावना से पूरी हो गई थी। दिनाँक १८-८-५५ को महाराज जी का यम सल्लेखना का ज्यों ही निर्णय प्रगट हुआ, समाज भर को, देश भर को भूचाल जैसा धक्का लगा, जो स्वाभाविक ही था।

अंतिम आहार और परित्याग —

अन्न आहार के रूप में अंतिम ग्रास दिनाँक १८-८-५५ को दिया गया। ता. २६-८-५५ को मध्यान्ह में सल्लेखना विधि के अनुसार महाराजश्री के द्वारा क्षमायाचना का, क्षमा के आदान-प्रदान का भाव व्यक्त हुआ। यह सम्पूर्ण दृश्य अभिनव था। सभा में गंभीरता का वातावरण भर आया। उपचार विधि में पूरी परमार्थता किस प्रकार हो सकती है इसका वह मूर्तिमानरूप था। बस अब सदा के लिए अन्नाहार बंद हो गया। केवल पानी मात्र की छूट थी। आगे चलकर पानी का भी दिनाँक २८-८-५५ को परित्याग कर दिया। फिर भी मंदिरों के दर्शन, यथाशक्ति वंदना, अभिषेक, पूजा इत्यादि का अवलोकन, मंत्रस्मरण आदि में कोई खण्ड नहीं रहा। लोगों की बढ़ती हुई भीड़ का क्या कहना ? कुंथलगिरि की उस वीरान पहाड़ी का क्या कहना ? कुंथलगिरि की उस वीरान पहाड़ी में जनसागर उमड़ पड़ा। जिसको भी समाचार मिला और अनुकूलता मिली वह साधकोत्तम

महापुरुष के अंतिम दर्शन के लिए वहाँ पर पहुँचा। महासाधक की वह महायात्रा थी। सम्मिश्र भावनाओं का सम्मिश्र रसरूप दृगोच्चर होता था। जहाँ महाराजश्री स्वाभाविकरूप से सहज भावना से अपूर्व आनन्द रस में उन्मुक्त मन से अधिकाधिक मग्न होते हुए नजर आते थे। स्वनामधन्य शांतिसागर जी अथाह शांति के सागर में निमग्न थे। उसी समय जनता सागर शोक में डूबता हुआ दृष्टिगोचर होता था। कुंथलगिरी का दृश्य कुछ अपूर्व था। बाहर की दुनिया में जैनाजैन समाचार पत्रों में अनुकूल प्रतिकूल समाचार साभिप्राय प्रगट होते ही थे। अपने विकल्पों को सबके लिए छूट होती ही है। व्यक्तिस्वातंत्र्य का युग है। कोई "जैन साधु की पवित्र महायात्रा" लिखता था कोई "जैन साधूची आत्महत्या" लिखता था। युद्ध में मृत्यु हो तो "वीरमरण" कहना। देशभक्त को यदि फाँसी हो तो उसे हुतात्मता कहना, यहां तक ही लौकिक दृष्टि की पहुँच हो सकती है। इससे भी बढ़कर साधक की समाधि हो सकती है इसका इनको क्या पता ? धर्म और अहिंसा जैसी पवित्र पवित्रतम वस्तुओं की वर्षों से समय असमय में बराबर खाल उतारी जाती है वहां सल्लेखना और समाधि जैसी अत्यंत पवित्र लोकोत्तम "व्रतशिरोरत्न" की जो छानबीन की चेष्टा ज्ञानी कहे जाने वाले अज्ञानियों के द्वारा हुई उसका क्या हिसाब ? पवित्रता की विडंबना ही मानो इस युग की विशेषता रही हो। जिसके पास सच्चा माप तोल ही नहीं, सूखी लकड़ियों के साथ गीली को और कोयले को ही तौलने का तराजू हो वह क्या, उनसे रत्नों का और जवाहरात का माप तोल कर सकता है ? धर्मकांटा कोई अलग वस्तु होती है, यही बात सच्ची है।

महाराजश्री की शांत स्वात्मनिर्भरता यथापूर्व हाथी की चाल से कदम कदम पर आगे के लिए बढ़ती ही जा रही थी। दिनाँक २२-८-५५ को महाराजश्री के संकेत से ही श्रीमान् सेठ बालचंद देवचंद शहा का ताम्रपट्ट तथा ग्रंथमालाओं से की गई श्रुतसेवा के लिए सभासंयोजनापूर्वक सत्कार किया गया और मानपत्र समर्पण किया गया। स्वयं महाराजश्री आशीर्वाद देने के लिए उपस्थित हुए।

अंतिम दर्शन —

शास्त्रों में सामायिक और छेदोपस्थापना का जो भी सूक्ष्म वर्णन आता है, निर्विकल्प शुद्धात्म स्वरूप मग्नता और विकल्पों में से निर्विकल्प शुद्ध स्वरूप में मग्न होने का जो सावधान प्रयत्न, इन दोनों अंतरंग प्रक्रियाओं का जराजर्जर तपस्याक्षीण देही महाराज की विदेही सावधान प्रवृत्ति में जो प्रत्यक्ष दर्शन हो पाया वह सुनिश्चित ही अद्‌भुत, अपूर्व, चैतन्यचमत्कारपूर्ण था। वैसे ही महाराज की निद्रा अत्यल्प थी। अब तो आत्मजागरण का सविशेष स्वरूप था। थकावट से निवृत्त होते ही ॐकार के उच्चारण से जागृति होती थी। उनका संकेत था "हमे औरों के द्वारा जगाने की आवश्यकता ही नहीं है।" हम हमारी आत्मा में, हमारे घर में पूर्ण सावधान हैं। सातिशय आत्मबल का ही प्रभाव समझना होगा। महाराज अंत तक परमात्म स्मरण कर पाये। णमोकार मंत्र का उच्चारण कर पाये। ऊँकार की वही अनुभव रसपूर्ण ध्वनि निकटवर्तियों को अन्त तक बराबर सुनने को मिली। भीतर ही सावधानता का और कौन सा बाहरी रूप हो सकता है? दिनाँक १८-९-५५ को भाद्रपद शुक्ल दूज रविवार प्रातःकाल ठीक ६ बजकर ५० मिनट पर महाराजश्री की परम पवित्र निरामय तपस्या से पुनीत आत्मा "ॐ सिद्धाय नमः" के उच्चारण के साथ अंतिम श्वास ले पायी। मोक्षमार्ग के साधक ने इस पर्याय की अपनी पवित्र जीवन यात्रा इस प्रकार पूरी कर परलोक यात्रा के लिए प्रस्थान कर लिया।

अब भक्तों के लिए आचार्य महाराज की केवल पुण्यस्मृति और तपस्या पुनीत देहमात्र शेष थी। विमान बनाया गया। जयनाद से आकाश गूंज उठा। श्रीमान् सेठ गोविन्दजी रावजी दोशी तथा सौ. कुमुदिनीबाई ने विमान यात्रा का बहुमान किया। विमानयात्रा के बाद दाहसंस्कार निर्धारित उसी स्थान पर हुआ जहां आज भी

इस युग पुरुष की चरणपादुकाएं विद्यमान हैं। अब ऊपर से संगमरमर की सर्वांग सुन्दर छत्री भी बन गई है, प्रेरणा लेने वाले भक्तों के लिए चरण आज भी प्रेरणा दे रहे हैं।

(यह प्रकरण चा. च. आ. शांतिसागर शताब्दी स्मृति ग्रंथ से संग्रहीत है। इसमें जन्म तिथि आदि चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ से ली गई है।)

आचार्यश्री की रत्नत्रय साधना अत्यन्त कठोर थी। वे शरीर को पूर्णरूपेण परद्रव्य समझकर उसे कभी-कभी ही आहार प्रदान करते थे। ३५ वर्ष के दीक्षित जीवन में आचार्यश्री ने २५ वर्ष से भी अधिक दिन उपवास में निकाले हैं जिनकी सूची निम्न प्रकार है—

उपवासों की संख्या	**कितनी बार**	**उपवास के कुल दिन**
१) १६ दिन का	३ बार	४८
२) १० दिन का	१ बार	१०
३) ९ दिन का	६ बार	५४
४) ८ दिन का	७ बार	५६
५) ७ दिन का	६ बार	४२
६) ६ दिन का	६ बार	३६
७) ५ दिन का	६ बार	३०
८) ४ दिन का	६ बार	२४
९) अंतिम ३६ दिन तक के उपवास में स्वर्गवास		३६

योग-३३६ दिन

	नामव्रत	**उपवासों की संख्या**
१.	चारित्र शुद्धि व्रत	१२३४
२.	तीस चौबीसी व्रत	७२०
३.	कर्मदहन व्रत (तीन बार)	४६८
४.	सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत (तीन बार)	२७०
५.	सोलहकारण व्रत (१६/१६)	२५६
६.	श्रुतपंचमी व्रत	३६
७.	विहरमाण व्रत (२० तीर्थंकर व्रत)	२०
८.	दशलक्षण पर्व	१०
९.	सिद्धों के व्रत (८)	८
१०.	अष्टाह्निका व्रत	८
११.	गणधरों के व्रत गणधरों के १४५२ उपवास होते हैं। आचार्य श्री २०० ही कर पाये थे।	२००
१२.	अतिरिक्त व्रत	६३७२
		योग ९६०२

आचार्यश्री ने सन् १९२० में निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा ली। इस समय से लेकर १९५५ तक के ३५ वर्षों में महाराज ने ६३३८ दिन उपवास किया। इसका अर्थ यह है कि ३६ वर्ष के मुनि जीवन के २५ वर्ष ७ मास अनशन में बीते। महाराज इतने दिन निराहार रहे। क्या इस कठोर उग्र तपस्या में आचार्यश्री की कोई बराबरी कर सकता है? नहीं। यह तो उनकी विशिष्ट आत्मशक्ति का प्रतीक है।

आचार्यश्री द्वारा किए गए चातुर्मासों की सूची —

स्थान का नाम	सन्	स्थान का नाम	सन्
१. कागनोली	१९२०	२०. पावागढ़	१९३९
२. नसलापुर	१९२१	२१. गोरल	१९४०
३. ऐनापुर	१९२२	२२. अकलूज	१९४१
४. कोन्नूर	१९२३	२३. कौरची	१९४२
५. समडोली	१९२४	२४. डिग्गज	१९४३
६. कुम्भोज	१९२५	२५. कुंथलगिरि	१९४४
७. नांदडी	१९२६	२६. फलटन	१९४५
८. बाहुबली डोंगर	१९२७	२७. कवलाना	१९४६
९. कटनी	१९२८	२८. सोलापुर	१९४७
१०. ललितपुर	१९२९	२९. फलटन	१९४८
११. मथुरा	१९३०	३०. कवलाना	१९४९
१२. दिल्ली	१९३१	३१. गजपंथा	१९५०
१३. जयपुर	१९३२	३२. बारामती	१९५१
१४. ब्यावर	१९३३	३३. लोणंद	१९५२
१५. उदयपुर	१९३४	३४. कुंथलगिरि	१९५३
१६. गोरल	१९३५	३५. फलटण	१९५४
१७. प्रतापगढ़	१९३६	३६. कुंथलगिरि	१९५५
१८. गजपंथा	१९३७	(१९५५ भादवा सुदी २ को स्वर्गवासी हुए)	
१९. बारामती	१९३८		

श्रद्धान ही सम्यक्त्व है

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।।

अर्थ—जिस कार्य को चारित्र या अनुष्ठान को करना शक्य है-किया जा सकता है उसे करना चाहिए और जिसको करना शक्य न हो उसका श्रद्धान करना चाहिए क्योंकि श्रद्धान करने वाले के सम्यक्त्व होता है ऐसा केवली भगवान ने कहा है। **(भगवान कुंदकुंद, दर्शनप्राभृत)**

बीसवीं सदी के प्रथम पट्टाचार्य
प्रशान्तमूर्ति आचार्य श्री वीरसागर महाराज

इस भारत वसुन्धरा पर समय-समय पर अनेकों रत्नों ने जन्म लेकर इस धरा को अलंकृत किया है। उनमें से एक श्रेष्ठरत्न आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज हो चुके हैं, जिनसे मैंने आर्यिका दीक्षा को प्राप्त कर महाव्रत से अपने जीवन को पवित्र बनाया है।

हैदराबाद राज्य के अन्तर्गत एक औरंगाबाद शहर है, जहाँ पर जैनधर्म के प्रेमी श्रावकगण हमेशा धर्म कार्यों में सक्रिय भाग लिया करते हैं। उसी जिले के अन्तर्गत एक 'ईर' नाम का ग्राम है जो छोटा सा ग्राम होते हुए भी "वीरसागर आचार्य" जैसी महान आत्मा को जन्म देने के निमित्त से स्वयं भी महान बन गया है। इस पवित्र सुन्दर ग्राम में श्रावक शिरोमणि सेठ 'रामसुख' जी निवास करते थे जो कि 'खंडेलवाल' जाति के भूषण गंगवाल गोत्रीय थे। उनकी धर्मपत्नी 'भागू बाई' भी पति के अनुरूप धर्मात्मा और सती पतिव्रता थीं। उभय दम्पत्ति सदैव धर्माराधन में अपना काल व्यतीत करते थे।

महिलारत्न भागूबाई ने सबसे प्रथम एक पुत्ररत्न को जन्म दिया, वह गुलाब के सुन्दर पुष्प सदृश अपनी यशसुरभि को फैलाने वाला था इसलिए माता-पिता ने उसका नाम 'गुलाबचंद' रख दिया। कुछ दिन बाद माता भागूबाई ने सौभाग्य से स्वप्न में एक उत्तम बैल देखा उस समय उनके उदर में होनहार पुण्यशाली सूरिवर्य वीरसागर का जीव आ गया था। गर्भवती माता ने जिनेन्द्रदेव की पूजन, तीर्थों की वंदना आदि करते हुए अपनी भावनाएं सफल की थीं। विक्रम संवत् १९३३ सन् १८७६ में आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन माता ने चन्द्रमा की चांदनी के समान अपने गुणों की उज्ज्वलतारूपी चन्द्रिका सर्वत्र छिटकाने वाले ऐसे क्रम से द्वितीय किन्तु अद्वितीय पुत्ररत्न को जन्म दिया। गंगवाल वंश को अलंकृत करने वाले हीरारत्न के सदृश ऐसे इस बालक का नामकरण "हीरालाल" किया गया। माता-पिता और समस्त परिवार के हर्षरूपी समुद्र को वृद्धिंगत करते हुए इस बालक ने आठ वर्ष की शैशव अवस्था में प्रवेश किया।

पिता ने विधिवत् उपनयन संस्कार से बालक को संस्कारित कराके रत्नत्रय का चिन्ह स्वरूप ऐसा यज्ञोपवीत (जनेऊ) धारण करा दिया और शुभ मुहूर्त में पाठशाला भेजकर विद्याध्ययन कराया। बालक हीरालाल पाठशाला में सभी बालकों में होशियार थे। वे हिन्दी और उर्दू इन दोनों भाषाओं को पढ़ते थे। सप्तम कक्षा तक पढ़कर घर में आ गये और पिता ने इन्हें व्यापार कार्य में लगा दिया। जब बालक हीरालाल यौवन अवस्था में आये तब पिता ने विवाह के लिए सोचा किन्तु युवक हीरा ने सर्वथा इंकार कर दिया तथा विरक्त-चित्त होते हुए ग्रंथों का स्वाध्याय करने लगे।

वि.सं. १९७३—सन् १९१६ में औरंगाबाद के निकट कचनेर नामक अतिशय क्षेत्र में धार्मिक पाठशाला खोलकर हीरालाल जी बालकों को धार्मिक शिक्षण देने लगे, पुनः औरंगाबाद में भी एक विद्यालय खोलकर उन्होंने धार्मिक अध्ययन कराया। दोनों जगह इन्होंने अवैतनिक अध्ययन कराया था और उस प्रान्त में सभी के द्वारा गुरूजी कहे जाने लगे थे।

वि. संवत् १९७८—सन् १९२१ में नांदगांव में ऐलक श्री पन्नालाल जी का चातुर्मास हुआ था। आप वहां पहुँचकर आषाढ़ सुदी ग्यारस के दिन ऐलक जी से सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर ब्रह्मचारी कहलाये थे। पुनः आपने नांदगांव के एक श्रावक खुशालचंद को सप्तम प्रतिमा के व्रत दिये थे। आप दोनों ब्रह्मचारी का

परस्पर में अत्यधिक प्रेम था। आपने घी, नमक, तेल और मीठे का यावज्जीवन के लिए त्याग कर दिया था।

वि.सं. १९७९ — सन् १९२२ में आपने कोन्नूर में विराजमान आचार्यवर्य चारित्रचक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज के दर्शन किये और उनके तप त्यागमयी जीवन से प्रभावित होकर गुरुदेव के पास दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। सम्वत् १९८० — सन् १९२३ में फाल्गुन सुदी सप्तमी के दिन गुरुदेव ने उभय ब्रह्मचारी को क्षुल्लक दीक्षा प्रदान कर दी। ब्र. हीरालाल का नाम 'वीरसागर' और ब्र. खुशालचंद का 'चन्द्रसागर' नाम रखा। पुनः वि. सं. १९८१ — सन् १९२४ में समडोली नगर में आचार्यश्री का चातुर्मास हुआ, उस समय आपने गुरुदेव से परम दिगम्बर वेष की याचना करते हुए लंगोटी और चादर का त्याग करके मुनिव्रत धारण कर लिया और आप आचार्यश्री के मुनियों में प्रथम शिष्य कहलाए। आपने मुनि दीक्षा के बाद आचार्यश्री के साथ विहार करते हुए श्रवणबेलगोल, गिरनार, सम्मेदशिखर, हस्तिनापुर, अयोध्या आदि अनेक तीर्थों की वंदना की थी।

आचार्यश्री के साथ आपने १२ चातुर्मास किये हैं। उन गांवों के नाम — बाहुबलि, कुम्भोजनगर, समडोली, बड़ी नांदनी, कटनी, मथुरा, ललितपुर, जयपुर, ब्यावर, प्रतापगढ़, उदयपुर तथा देहली शहर, इन प्रमुख स्थानों में संघ सहित आचार्यश्री शांतिसागर जी ने चातुर्मास किये थे। अनन्तर किसी समय आचार्यदेव ने सभी शिष्यों को बुलाकर धर्मप्रभावना हेतु यत्र-तत्र विहार करने की आज्ञा दी। उस समय संघ में वीरसागर, नेमिसागर, कुंथुसागर, सुधर्मसागर, पायसागर, नमिसागर, श्रुतसागर, आदिसागर, अजितसागर, विमलसागर और पार्श्वकीर्ति इन नाम वाले ग्यारह साधु थे। यद्यपि गुरु वियोग किसी को इष्ट नहीं था फिर भी सभी ने गुरुदेव की आज्ञानुसार अन्यत्र विहार किया था। उस काल में प्रमुख शिष्य मुनिवर श्री वीरसागर जी ने आदिसागर और अजितसागर को साथ में लेकर गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके विहार कर दिया और वि. सं. १९९२ — सन् १९३५ में सबसे प्रथम चातुर्मास गुजरात के 'ईडर' शहर में किया। उस समय सभी साधुओं के विहार कर जाने के बाद भी मुनिश्री नेमिसागर जी आचार्यश्री के सानिध्य में ही रहे थे।

अनेक गांवों में विहार करते हुए आपने अनेक शिष्यों को क्षुल्लक, ऐलक, मुनि बनाया तथा अनेकों महिलाओं को आर्यिका और क्षुल्लिका के व्रत प्रदान किये। वि. सं. १९६५ में इंदौर चातुर्मास में आपने अपने गृहस्थाश्रम के बड़े भाई गुलाबचंद्र को सप्तम प्रतिमा के व्रत दिये थे। आगे जाकर वे दसवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक प्रसिद्ध हुए थे। विक्रम संवत् २००० में आप खातेगांव चातुर्मास करके सिद्धवर कूट क्षेत्र आये। वहां पर औरंगाबाद के अन्तर्गत अड़गांव के निवासी खण्डेलवाल जाति में जन्म लेने वाले ऐसे रांवका गोत्रीय हीरालाल को क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की और उनका शिवसागर नाम रखा। आगे ये ही मुनि होकर आचार्य वीरसागर के प्रथम शिष्य बने एवं आचार्यश्री के आचार्यपद को प्राप्त करके द्वितीय पट्टाचार्य पद पर सुशोभित हुए हैं।

सन् १९५५ में कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र में आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज ने चातुर्मास किया था। उसी चातुर्मास में आपने यम सल्लेखना ग्रहण करके अपने प्रथम शिष्य श्री वीरसागर जी मुनिराज को सुयोग्य समझकर उन्हें अपना आचार्यपद दिया था। उस समय आचार्यश्री ने जयपुर समाज को आज्ञापत्र और श्री वीरसागर मुनिराज को आचार्यपद प्रदानपत्र ऐसे दो पत्र भिजवाये थे। जयपुर खानिया में वीरसागर मुनिराज ने ससंघ चातुर्मास किया था।

आचार्यश्री द्वारा लिखाया गया समाज को पत्र-

कुंथलगिरि ता.-२४-८-५५

स्वस्ति श्री सकल दिगम्बर जैन पंचान जयपुर धर्मस्नेहपूर्वक जुहारू।

अपरंच आज प्रभात में चारित्रचक्रवर्ती १०८ परमपूज्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने सहस्त्रों नर-नारी के बीच श्री १०८ मुनिराज वीरसागर जी महाराज को आचार्यपद प्रदान करने की घोषणा कर दी है अतः उस आचार्यपद प्रदान करने की नकल साथ भेज रहे हैं। उसे चतुर्विध संघ को एकत्रित कर सुना देना। विशेष आचार्य महाराज ने यह भी आज्ञा दी है कि आज से धार्मिक समाज को इन्हें — श्री वीरसागर जी महाराज को आचार्य मानकर इनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए।

लि. गेंदमल, बम्बई

लि. चन्दूलाल ज्योतिचंद, बारामती

आचार्यपद प्रदान का समारोह दिवस भाद्रपद कृष्णा सप्तमी, गुरुवार निश्चय किया गया था। विशाल प्रांगण में सहस्त्रों नर-नारियों के बीच श्री वीरसागर जी मुनिराज को गुरुदेव द्वारा दिया गया आचार्यपद प्रदान किया गया था। उस समय पंडित इंद्रलाल जी शास्त्री ने गुरुदेव द्वारा भिजवाए गए आचार्यपद प्रदानपत्र को सभा में पढ़कर सुनाया गया, जो कि निम्न प्रकार है —

कुंथलगिरि ता. २४-८-१९५५

स्वस्ति श्री चारित्रचक्रवर्ती १०८ आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज की आज्ञानुसार यह आचार्यपद प्रदान पत्र लिखा जाता है।

''हमने प्रथम भाद्रपद कृष्णा ११, रविवार, ता.२४-८-५५ से सल्लेखना व्रत लिया है। अतः दिगम्बर जैनधर्म और श्री कुंदकुंदाचार्य परम्परागत दिगम्बर जैन आम्नाय के निर्दोष एवं अखंडरीत्या संरक्षण तथा संवर्धन के लिए हम आचार्यपद प्रथम निर्ग्रन्थ शिष्य श्री वीरसागर जी मुनिराज को आशीर्वादपूर्वक आज प्रथम भाद्रपद शुक्ला सप्तमी विक्रम संवत् दो हजार बारह बुधवार के प्रभात के समय त्रियोग शुद्धिपूर्वक संतोष से प्रदान करते हैं।''

आचार्य महाराज ने पूज्य श्री वीरसागर जी महाराज के लिए इस प्रकार आदेश दिया है।

इस पद को ग्रहण करके तुमको दिगम्बर जैनधर्म तथा चतुर्विध संघ का आगमानुसार संरक्षण तथा संवर्धन करना चाहिए। ऐसी आचार्य महाराज की आज्ञा है।

आचार्य महाराज ने आपको शुभाशीर्वाद कहा है।

इति वर्धताम् जिनशासनम्

लिखी — गेंदमल बम्बई-त्रिबार नमोस्तु

लिखी — चंदूलाल ज्योतिचंद बारामती-त्रिबार नमोस्तु

उपर्युक्त आचार्यपद प्रदान पत्र पढ़ने के बाद श्री शिवसागर जी मुनिराज ने उठकर पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी द्वारा भेजे गये पिच्छी एवं कमण्डलु को पूज्य श्री वीरसागर जी मुनिराज के करकमलों में प्रदान किया। सर्वत्र सभा में आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज की जयकार गूंज उठी।

इसके पूर्व श्री वीरसागर जी ने कभी भी अपने को आचार्य शब्द से संबोधित नहीं करने दिया था।

कुंथलगिरि में आचार्यश्री शांतिसागर जी की सल्लेखना देखकर तथा म्हसवड़ नगर महाराष्ट्र में चातुर्मास पूर्ण कर वहां से छह प्रतिमाधारिणी सौ. सोनूबाई एवं दश प्रतिमाधारिणी कु. प्रभावती को साथ लेकर

मैं[१] जयपुर में आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के चरण सानिध्य में आ गई।

कुंथलगिरि चातुर्मास के पूर्व बारामती में मैंने आचार्यश्री शांतिसागर जी से आर्यिका दीक्षा देने की प्रार्थना की थी। उस समय आचार्यश्री ने यह कहा था कि तुम श्री वीरसागर जी के संघ में जाकर उन्हीं से आर्यिका दीक्षा लेओ। आचार्यश्री ने मुझसे पढ़े हुए और स्वाध्याय किये हुए ग्रंथों के नाम पूछे। मैंने भगवती आराधना, परमात्म प्रकाश, गोम्मटसार, कातंत्र रूपमाला, अमरकोष आदि नाम बताये। महाराज जी बहुत ही प्रसन्न हुए। पुनः उन्होंने कहा कि तुम अनगार धर्मामृत, मूलाचार और समयसार इन तीनों ग्रंथों का अच्छी तरह से मनन करो।

इस प्रकार से मैंने गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य कर क्षुल्लिका विशालमती माताजी के साथ म्हसवड़ गांव में चातुर्मास किया। वहां से गुरुदेव की सल्लेखना के प्रसंग पर मैं कुंथलगिरि सिद्धक्षेत्र पर एक महीना तक रही थी।

विक्रम सं. २०१३, वैशाख वदी द्वितीया के दिन जयपुर के निकट माधोराजपुरा ग्राम में मध्यान्हकाल में गुरुदेव आचार्य श्री वीरसागर महाराज के करकमलों द्वारा मेरी आर्यिका दीक्षा का कार्यक्रम चल रहा था। इसी बीच में तमाम भीड़ को चीरते हुए एक सांड वहाँ आ गया। सभी दर्शकगण और व्यवस्थापकगण भी घबरा गये किन्तु वह सीधा आचार्यश्री के सम्मुख स्टेज के पास आकर खड़ा हो गया और शांतभाव से गुरुदेव के सामने मस्तक टेक दिया। इस आकस्मिक घटना को भक्त लोगों ने चमत्कार के रूप में ही समझा था। आचार्यश्री ने उस बैल को आशीर्वाद दिया और जनता ने उसे लड्डू खिलाया।

मुझे आचार्यश्री वीरसागरजी ने कई बार यह कहा था कि देखो मैंने तुम्हारा क्या नाम रखा है उस नाम का हमेशा ध्यान रखो, बस तुम्हें हमारा इतना ही उपदेश है।

आचार्यश्री में अगणित गुण थे। वे धीर, वीर और परम गंभीर थे, मितभाषी थे, प्रायः सूत्ररूप वाक्य बोलते थे। उनके कुछ उदाहरण देखिए—

१. "जिसने सम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्र की वंदना नहीं की, श्रवणबेलगोल में स्थित भगवान बाहुबली की अतिशय मनोज्ञ मूर्ति के दर्शन नहीं किए और गुरुओं में आचार्यश्री शांतिसागर जी के दर्शन नहीं किये उसने कुछ नहीं किया।" मनुष्य जन्म को पाकर व्यर्थ ही गवां दिया अर्थात् तीर्थों में सम्मेदशिखर, मूर्तियों में श्रवणबेलगोल में स्थित भगवान बाहुबली की मूर्ति और गुरुओं में आचार्य शांतिसागर जी महाराज सर्वश्रेष्ठ महान हैं। सचमुच में गुरुवर्य वीरसागर जी महाराज की गुरुभक्ति अलौकिक थी।

२. "सुई का काम करना कैंची का काम नहीं करना।" अर्थात् सुई जैसे अनेकों वस्त्रों को जोड़कर एक कर देती है, वैसे ही संगठन की नीति को ग्रहण करना किन्तु कैंची के समान टुकड़े-टुकड़े नहीं करना, तोड़-फोड़ की नीति से दूर रहना और इसी प्रकार गुरुदेव ने स्वयं मात्र परोपदेशक ही न होते हुए क्रियान्वित करके दिखाया भी है।

३. "तृण मत बनो पत्थर बनो।" पाश्चात्य हवा के झकोरे में जो तृणवत् हल्के हैं, अस्थिर बुद्धि के हैं वे बह जाते हैं किन्तु जो पत्थर के समान अचल हैं, जिनवाणी के दृढ़ श्रद्धालु हैं, वे अपने स्थान पर एवं सम्यक्त्व में अचल रहते हैं और वे गुरुदेव स्वयं भी अचल रहे तथा अपने शिष्यों को भी आगम मार्ग में अचल रखा।

४. कभी-कभी महाराज जी कहा करते थे कि "मुझे दो रोग हैं एक तो भूख लगती है और दूसरे नींद

---

१. गणिनी आर्यिका ज्ञानमती (सन् १९५५ में क्षुल्लिका वीरमती के रूप में)

आती है।" अर्थात् जिनके ये दो रोग समाप्त हो जावेंगे वे संसारी ही नहीं रहेंगे बल्कि मुक्त कहलायेंगे। अतः इन्हीं दो रोगों के नष्ट करने का उपाय करना चाहिए।

५. "अपने दीक्षा दिवस को कभी मत भूलो" अर्थात् दीक्षा के समय परिणामों की उज्ज्वलता विशेष रहती है इसलिए उस दिवस के उज्ज्वल भावों को हमेशा याद रखने वाला साधु कभी भी अपने पद से च्युत नहीं हो सकता है और उत्तरोत्तर चारित्र की वृद्धि ही होती है।

ऐसे अनेकों सूत्ररूप वाक्य हैं। आचार्यश्री को मृगी का रोग था, जब उसका असर होता था उस समय वे "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इत्यादि सूत्रों को उच्च स्वर से बोलते हुए उनका अर्थ करने लगते और उपदेश देने लगते थे। तब पास में बैठे हुए साधुओं को अनुमान होता था कि आचार्यश्री को इस समय दौरे का प्रकोप है। कभी-कभी वे उच्चस्वर में महामंत्र का जाप्य करने लगते थे, तब यह निर्णय हो जाता था कि आचार्यश्री को मृगी का प्रकोप हो रहा है। कहने का मतलब यह है कि आचार्यश्री के स्वाध्याय और जाप्य के संस्कार इतने विशेष थे कि मूर्छित अवस्था में भी वे काम किया करते थे। वे धवला की पुस्तकों का स्वाध्याय दिन भर किया करते थे। एक बार उन्होंने कहा कि इन ग्रंथों के बहुत से विषयों को मैं समझ नहीं पाता हूँ फिर भी धवला की प्रथम पुस्तक में यह लिखा है कि स्वाध्याय के समय असंख्यात गुणितरूप से कर्मों की निर्जरा होती है इसी बात को ध्यान में रखते हुए मैं सतत इन ग्रंथों का स्वाध्याय करता रहता हूँ।

शुद्धोपयोगरूप वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थित नहीं रह सकने वाले साधुओं के लिए श्री कुंदकुंददेव ने कहा है कि—

दंसणणाणुवदेसो, सिस्सग्गहणं च पोषणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं, जिणिंदपूजोवदेसो य।।२४८।। प्रव.।।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपदेश, शिष्यों का ग्रहण तथा उनका पोषण और जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश वास्तव में सरागियों की (आचार्यों की) चर्या है।

शिष्यों का संग्रह और उनका पोषण आदि करना ये सब गुण आचार्यश्री वीरसागर जी में विद्यमान थे। श्री कुंदकुंदाचार्य ने मूलाचार में बताया है कि आर्यिकाओं के ऊपर अनुशासन करने वाले, उन्हें शिक्षा, प्रायश्चित्त आदि देने वाले आचार्य कैसे होते हैं—

पियधम्मो दिढधम्मो संविग्गो वज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहणुग्गह कुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो।।
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पको दुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि।।
एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करेदि अज्जाणं।
चत्तारि कालगा से गच्छादि विराहणा होज्ज।।

जिसको धर्म प्रिय है, जो धर्म में दृढ़ है, धर्म और धर्मफल में उत्साहयुक्त है, पापों से भयभीत है और जिसका चारित्र अखंडित है, जो शिष्यों के संग्रह और उनके अनुग्रह में कुशल है तथा सतत पाप क्रियाओं की निवृत्ति से युक्त है, गंभीर स्थिर मन वाला, मितवादी, अल्पकुतूहली, चिरकाल का दीक्षित, पदार्थों के स्वरूप को जानने वाला है, वही आर्यिकाओं का गणधर—आचार्य होता है। इन गुणों से व्यतिरिक्त जो मुनि आर्यिकाओं के गणधर बनते हैं उनके गणपोषण, आत्मसंस्कार, सल्लेखना और उत्तमार्थ ऐसे चार काल नष्ट

हो जाते हैं और गच्छ आदि की विराधना हो जाती है।

इन मूलाचार की गाथाओं के अनुसार आचार्यश्री में उपर्युक्त सभी गुण विद्यमान थे। वे आर्यिकाओं को उचित शिक्षा देते थे। संघ में जो प्रमुख योग्य और कुशल आर्यिका होती थीं उन्हीं के ऊपर उनके निकट रहने वाली आर्यिकाओं का भार रहता था। गुरुदेव इन छोटी नवदीक्षिता आर्यिकाओं को गुर्वानी आर्यिका के अनुशासन में ही रहने का उपदेश देते थे। उदाहरणस्वरूप भाद्रपद के प्रारंभ में क्षुल्लिका पद्मावती जी एक महीने सोलहकारण व्रत करते हुए एकांतर उपवास करती थीं, उन्होंने मेरी आज्ञा ले ली। श्रावण पूर्णिमा को आहार करके गुरुदेव के पास जाकर सोलहकारण व्रत की याचना की। तब आचार्यश्री ने कहा कि अपनी गुर्वानी को लेकर आवो। उन्होंने कहा कि मैं आज्ञा लेकर आई हूँ फिर भी आचार्यश्री ने उन्हें वापस कर दिया, जब मैंने उनके साथ जाकर आचार्यश्री से व्रत देने का निवेदन किया, तब उन्होंने क्षुल्लिका पद्मावती को व्रत दिया और पुनः यह शिक्षा दी कि जीवन में प्रत्येक कार्य गुर्वानी की आज्ञा से ही करना और हमारे पास व्रत या प्रायश्चित्त आदि ग्रहण करने के लिए गुर्वानी को आगे करके ही आना। ऐसे ही अनेकों उदाहरण हैं जिससे आर्यिकाओं के संघ की मर्यादा और व्यवस्था आगमानुकूल रहती है।

पुण्य और धर्म के स्वामी कौन-कौन हैं

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो।।81।।

पूजा आदि क्रियाओं में पुण्य होता है। श्रावक सम्यग्दर्शन और अणुव्रतों से सहित जिनपूजा, दान आदि क्रियाओं को करके सातिशय पुण्य संचित कर लेता है ऐसा उपासकाध्ययन नाम के अंग में जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित है। टीकाकार कहते हैं – सर्वज्ञ वीतराग देव की पूजा आदि निदानबंध से रहित है तो वह तीर्थंकर नामकर्म के बंध का भी कारण हो सकती है। अतः गृहस्थ का पूजादि से संचित पुण्य स्वर्ग के सुखों का कारण है पुनः परम्परा से मोक्ष का भी कारण है तथा मोह और क्षोभ से रहित शुद्ध, बुद्धैक आत्मा का चिच्चमत्कार लक्षण, चिदानंदरूप परिणाम धर्म कहलाता है वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। यहाँ पर पुत्र, स्त्री, धन आदि में 'यह मेरा है' ऐसे भाव को मोह कहा है और परीषह उपसर्ग के आ जाने पर चित्त का चंचल हो जाना क्षोभ कहलाता है। निर्विकल्प समाधि में स्थित महामुनि का शुद्धोपयोगरूप स्थिर परिणाम ही धर्म है। टीकाकार कहते हैं यह धर्मरूप परिणाम "गृहस्थानां न भवति पंचसूनासहितत्वात्" गृहस्थों के संभव नहीं है क्योंकि वे पंचसूना-आरंभ आदि से सहित हैं। अतः आज के गृहस्थ को जिनपूजा आदि कार्यों में ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिए।

(श्री कुन्दकुन्द देव)

१७. षट्खण्डागम की सिद्धान्तचिंतामणि टीका से सरलतापूर्वक सिद्धान्त ज्ञान प्राप्त करें

सिद्धान् सिद्ध्यर्थमानम्य, सर्वांस्त्रैलोक्यमूर्धगान् ।
इष्टः सर्वक्रियान्तेऽसौ, शान्तीशो हृदि धार्यते।।१।।

संपूर्ण अंग और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता, श्रुतज्ञान को अविच्छिन्न बनाने की इच्छा रखने वाले, महाकारुणिक भगवान श्रीधरसेनाचार्य हुए हैं। उनके मुखकमल से पढ़कर सिद्धान्तज्ञानी श्री पुष्पदंत और श्रीभूतबलि आचार्य हुए हैं। उन्होंने '**अग्रायणीय पूर्व**' नामक द्वितीय पूर्व के '**चयनलब्धि**' नामक पांचवीं वस्तु के 'कर्मप्रकृति प्राभृत' नामक चौथे अधिकार से निकले हुए जिनागम को छह खण्डों में विभाजित करके '**षट्खण्डागम**' यह सार्थक नाम देकर सिद्धान्त सूत्रों को लिपिबद्ध किया है।

छह खंड के नाम—१. जीवस्थान २. क्षुद्रकबंध ३. बंधस्वामित्वविचय ४. वेदनाखण्ड ५. वर्गणाखण्ड ६. महाबंध ये नाम हैं।

इनमें से पाँच खण्डों में छह हजार सूत्र हैं और छठे खण्ड में तीस हजार सूत्र हैं, ऐसा 'श्रुतावतार' ग्रंथ में लिखा है।

वर्तमान में मुद्रित सोलह पुस्तक—वर्तमान में छपी हुई सोलह पुस्तकों में पाँच खण्ड माने हैं। उनके सूत्रों की गणना छह हजार, आठ सौ, इकतालिस (६८४१) हैं।

प्रथम खण्ड में दो हजार तीन सौ पचहत्तर सूत्र हैं। दूसरे खण्ड में पंद्रह सौ चौरानवे, तृतीय खण्ड में तीन सौ चौबीस, चतुर्थ खंड में पंद्रह सौ पच्चीस और पांचवें खण्ड में एक हजार तेईस हैं। २३७५+१५९४+३२४+१५२५+१०२३=६८४१ हैं।

मुद्रित सोलह पुस्तकों में पाँच खण्डों का विभाजन—छपी हुई धवला टीका समन्वित प्रथम पुस्तक से लेकर छह पुस्तकों तक प्रथम खण्ड है। सातवीं पुस्तक में द्वितीय खण्ड है। आठवीं पुस्तक में तृतीय खण्ड है। नवमी से लेकर बारहवीं ऐसे चार पुस्तकों में चतुर्थ खण्ड है और तेरहवीं से लेकर सोलहवीं तक चार पुस्तकों में पाँचवां खंड है।

प्रथम खण्ड के विषय—प्रथम खण्ड में आठ अनुयोगद्वार हैं एवं अंत में एक चूलिका अधिकार है, इस चूलिका के भी नव भेद हैं। आठ अनुयोगद्वार के नाम—१. सत्प्ररूपणा, २. द्रव्यप्रमाणानुगम, ३. क्षेत्रानुगम ४. स्पर्शनानुगम ५. कालानुगम ६. अन्तरानुगम ७. भावानुगम और ८. अल्पबहुत्वानुगम।

चूलिका के नाम और भेद—१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका २. स्थानसमुत्कीर्तन चूलिका ३. प्रथम महादण्डक ४. द्वितीय महादण्डक ५. तृतीय महादण्डक ६. उत्कृष्टस्थितिबंध ७. जघन्यस्थितिबंध ८. सम्यक्त्वोत्पत्तिचूलिका और ९. गत्यागती चूलिका।

छह पुस्तकों में प्रथम खण्ड का विभाजन—प्रथम पुस्तक में सत्प्ररूपणा है, द्वितीय पुस्तक में 'आलाप अधिकार' नाम से इसी सत्प्ररूपणा का विस्तार है। तृतीय पुस्तक में द्रव्यप्रमाणानुगम और क्षेत्रानुगम है। चतुर्थ पुस्तक में स्पर्शनानुगम और कालानुगम का वर्णन है। पंचम पुस्तक में अंतरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम है। छठी पुस्तक में नव चूलिकायें हैं।

सातवीं पुस्तक में '**क्षुद्रकबंध**' नाम से द्वितीय खण्ड है। आठवीं पुस्तक में '**बंध स्वामित्वविचय**' नाम से तृतीय खण्ड है।

चतुर्थ-पंचम खण्ड का विभाजन—अग्रायणीय पूर्व के अर्थाधिकार चौदह हैं—१. पूर्वान्त २. अपरान्त ३. ध्रुव ४. अध्रुव ५. चयनलब्धि ६. अध्रुवसंप्रणिधान ७. कल्प ८. अर्थ ९. भौमावयाद्य १०. कल्पनिर्याण ११. अतीतकाल १२. अनागतकाल १३. सिद्ध और १४. बुद्ध[१]।

यहाँ 'चयनलब्धि' के अधिकार में 'महाकर्म प्रकृतिप्राभृत' संगृहीत है। उसमें चौबीस अनुयोगद्वार हैं—

१. कृति २. वेदना ३. स्पर्श ४. कर्म ५. प्रकृति ६. बंधन ७. निबंधन ८. प्रक्रम ९. उपक्रम १०. उदय ११. मोक्ष १२. संक्रम १३. लेश्या १४. लेश्याकर्म १५. लेश्या परिणाम १६. सातासात १७. दीर्घ ह्रस्व १८. भवधारणीय १९. पुद्गलात्त २०. निधत्तानिधत्त २१. निकाचितानिकाचित २२. कर्मस्थिति २३. पश्चिमस्कंध २४. अल्पबहुत्व[२]।

वेदनाखण्ड—

चतुर्थ वेदनाखण्ड में ९, १०, ११, १२ ऐसी ४ पुस्तकें हैं।

नवमी पुस्तक में उपर्युक्त २४ अनुयोगद्वारों में से प्रथम 'कृति' नाम का अनुयोगद्वार है।

दशवीं पुस्तक में वेदना अनुयोगद्वार का वर्णन करते हुए वेदना के १६ भेद किये हैं—

१. वेदनानिक्षेप २. वेदनानयविभाषणता ३. वेदनानामविधान ४. वेदनाद्रव्यविधान ५. वेदनाक्षेत्रविधान ६. वेदनाकालविधान ७. वेदनाभावविधान ८. वेदनाप्रत्ययविधान ९. वेदनास्वामित्वविधान १०.वेदनावेदनाविधान ११. वेदनागतिविधान १२. वेदनाअनंतरविधान १३. वेदनासन्निकर्षविधान १४. वेदनापरिमाणविधान १५. वेदनाभागाभागविधान और १६. वेदनाअल्पबहुत्वविधान।

दसवीं पुस्तक में—आदि के पाँच अनुयोग द्वार हैं—

१. वेदनानिक्षेप २. वेदनानयविभाषणता ३. वेदनानामविधान और ४. वेदनाद्रव्यविधान और ५. वेदनाक्षेत्रविधान।

ग्यारहवीं पुस्तक में—वेदनाकालविधान, वेदनाभावविधान ये दो अनुयोगद्वार हैं।

बारहवीं पुस्तक में—'वेदनाप्रत्यय विधान', 'वेदनाअल्पबहुत्वविधान' तक ये ९ अनुयोगद्वार हैं। इस प्रकार इन तीन ग्रंथों में 'वेदना अनुयोगद्वार' का ही वर्णन होने से यह चौथा खण्ड 'वेदनाखण्ड' नाम से विभक्त है।

वर्गणाखण्ड—तेरहवीं पुस्तक में—चौबीस अनुयोगद्वार में से स्पर्श, कर्म और प्रकृति इन तीसरे, चौथे और पाँचवें अनुयोगद्वारों का वर्णन है।

चौदहवीं पुस्तक में—'बंधन' नाम के छठे अनुयोगद्वार का कथन है।

पंद्रहवीं पुस्तक में—निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय और मोक्ष इन अनुयोगद्वारों का कथन है।

सोलहवीं पुस्तक में—संक्रम, लेश्या आदि से लेकर अल्पबहुत्वपर्यंत १३ अनुयोगद्वार वर्णित हैं।

इन चार ग्रंथों में वर्णित विषय 'वर्गणाखण्ड' नाम से कहा गया है।

संक्षेप में षट्खण्डागम के इन पांच खण्डों का १६ पुस्तकों में विभाजन एवं सूत्रसंख्या दी जा रही है।

---

१. षट्खण्डागम धवलाटीकासमन्वित, पुस्तक ९, पृ. २२६। २. षट्खण्डागम, धवलाटीकासमन्वित, पुस्तक ९, पृ. १३४।

षट्खण्डागम (१६ ग्रंथों-पुस्तकों में)

पुस्तक संख्या	विषय	सूत्र संख्या
	प्रथम खण्ड—जीवस्थान (इसमें छह पुस्तकें हैं)	
पुस्तक १	सत्प्ररूपणा (१४ गुणस्थान, १४ मार्गणा)	१७७
पुस्तक २	आलाप अधिकार	०
पुस्तक ३	द्रव्यप्रमाणानुगम (संख्या), क्षेत्रानुगम	२८४
पुस्तक ४	स्पर्शन-कालानुगम	५२७
पुस्तक ५	अंतर-भाव-अल्पबहुत्वानुगम	८७२
पुस्तक ६	जीवस्थान चूलिका (नव चूलिकायें)	५१५
	द्वितीय खण्ड—क्षुद्रकबंध	
पुस्तक ७	क्षुद्रकबंध	१५९४
	तृतीय खण्ड—बंधस्वामित्वविचय	
पुस्तक ८	बंधस्वामित्वविचय	३२४
	चतुर्थ खण्ड—वेदनाखण्ड	
पुस्तक ९	'कृति' अनुयोगद्वार (वेदनाखंड)	७६
पुस्तक १०	'वेदना' के १६ भेदों में ५ भेद	३२३
पुस्तक ११	वेदनाकालविधान व वेदनाभावविधान	५९३
पुस्तक १२	वेदना के ८वें भेद से १६ तक वर्णन	५३३
	पंचम खण्ड—वर्गणाखण्ड	
पुस्तक १३	स्पर्श, कर्म, प्रकृति अनुयोगद्वार	२०६
पुस्तक १४	बंधन अनुयोगद्वार, बंधन अधिकार की चूलिका	७९७
पुस्तक १५	निबंधन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय और मोक्ष अनुयोगद्वार	२०
पुस्तक १६	१२वें अनुयोगद्वार से २४वें तक, इसमें सूत्र नहीं हैं।	०

षट्खण्डागम की टीकायें

इस 'षट्खण्डागम' ग्रंथराज पर छह टीकायें लिखी गई हैं, ऐसा आगम में उल्लेख है। उनके नाम—

१. श्री कुन्दकुन्ददेव ने तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नाम से टीका लिखी है जो कि १२ हजार श्लोकप्रमाण थी।

२. श्री शामकुंडाचार्य ने 'पद्धति' नाम से टीका लिखी है जो कि संस्कृत, प्राकृत और कन्नड़ मिश्र थी, ये पांच खण्डों पर थी और १२ हजार श्लोकप्रमाण थी।

३. श्री तुंबुलूर आचार्य ने 'चूड़ामणि' नाम से टीका लिखी। छठा खण्ड छोड़कर षट्खण्डागम और कषायप्राभृत दोनों सिद्धान्त ग्रंथों पर यह ८४ हजार श्लोकप्रमाण थी।

४. श्री समंतभद्रस्वामी ने संस्कृत में पांच खण्डों पर ४८ हजार श्लोकप्रमाण टीका लिखी।

५. श्री वप्पदेवसूरि ने 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' नाम से टीका लिखी, यह पांच खण्डों पर और कषायप्राभृत पर थी एवं ६० हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत भाषा में थी।

६. श्री वीरसेनाचार्य ने छहों खण्डों पर प्राकृत-संस्कृत मिश्र टीका लिखी, यह 'धवला' नाम से टीका है एवं ७२ हजार श्लोकप्रमाण है।

वर्तमान में ऊपर कही हुई पांच टीकाएं उपलब्ध नहीं हैं, मात्र श्री वीरसेनाचार्य कृत 'धवला' टीका ही उपलब्ध है जिसका हिंदी अनुवाद होकर छप चुका है। इस ग्रंथ को ताड़पत्र से लिखाकर और हिंदी अनुवाद कराकर छपवाने का श्रेय इस बीसवीं सदी के प्रथमाचार्य चारित्र चक्रवर्ती श्री शांतिसागर जी महाराज को है। उनकी कृपाप्रसाद से हम सभी इन ग्रंथों के मर्म को समझने में सफल हुये हैं।

सिद्धान्तचिन्तामणि टीका—

मैंने सरल संस्कृत भाषा में 'सिद्धान्तचिंतामणि' नाम से टीका लिखी है। भगवान शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ की जन्मभूमि हस्तिनापुर 'जंबूद्वीप' तीर्थ पर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा, वीर नि. सं. २५२१ दिनाँक ८-१०-१९९५ को मैंने यह टीका लिखना प्रारंभ किया था।

अनंतर बराबर मेरा टीका लेखन कार्य चलता रहा। पुनः हस्तिनापुर में सन् २००७ में वैशाख कृ. दूज (४ अप्रैल) को मैंने सोलहवीं पुस्तक की संस्कृत टीका पूर्ण की है।

इस टीका को लिखने का मेरा भाव केवल 'षट्खण्डागम' महाग्रन्थराज के रहस्य को समझने का, अपने ज्ञान के क्षयोपशम की वृद्धि का एवं परिणामों की विशुद्धि का ही है।

यह 'षट्खण्डागम' कितना प्रामाणिक है, देखिए श्रीवीरसेनस्वामी के शब्दों में—

लोहाइरिये सग्गलोगं गदे आयार-दिवायरो अत्थमिओ। एवं बारससु दिणयरेसु भरहखेत्तम्मि अत्थमिएसु सेसाइरिया सव्वेसिमंगपुव्वाणमेगदेसभूद-पेज्जदोस-महाकम्मपयडिपाहुडादीणं धारया जादा। एवं पमाणीभूदमहारिसिपणालेण आगंतूण महाकम्मपयडिपाहुडामियजलपवाहो धरसेणभडारयं संपत्तो। तेण वि गिरिणयरचंदगुहाए भूदबलि-पुप्फदंताणं महाकम्मपयडिपाहुडं सयलं समप्पिदं। तदो भूदबलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठं महाकम्मपयडिपाहुड-मुवसंहरिऊण छखंडाणि कयाणि। तदो तिकालगोयरासेसपयत्थवि-सयपच्चक्खाणंतकेवलणा-णप्पभावादो पमाणीभूदआइरियपणालेणागदत्तादो दिट्ठिट्ठविरोहाभावादो पमाणमेसो गंथो। तम्हा मोक्खकंखिणा भवियलोएण अब्भसेयव्वो। ण एसो गंथो थोवो त्ति मोक्खकज्जजणणं पडि असमत्थो, अमियघडसयवाणफलस्स चुलुवामियवाणे वि उवलंभादो[१]।

लोहाचार्य के स्वर्गलोक को प्राप्त होने पर आचारांगरूपी सूर्य अस्त हो गया। इस प्रकार भरतक्षेत्र में बारह सूर्यों के अस्तमित हो जाने पर शेष आचार्य सब अंग-पूर्वों के एकदेशभूत 'पेज्जदोस' और 'महाकम्मपयडिपाहुड' आदिकों के धारक हुए। इस प्रकार प्रमाणीभूत, महर्षिरूप प्रणाली से आकर महाकम्मपयडिपाहुडरूप अमृत जल-प्रवाह धरसेन भट्टारक को प्राप्त हुआ। उन्होंने भी गिरिनगर की चन्द्र गुफा में सम्पूर्ण महाकम्मपयडिपाहुड भूतबलि और पुष्पदन्त को अर्पित किया। पश्चात् श्रुतरूपी नदी प्रवाह के व्युच्छेद से भयभीत हुए भूतबलि भट्टारक ने भव्यजनों के अनुग्रहार्थ महाकम्मपयडिपाहुड का उपसंहार कर छह खण्ड (षट्खण्डागम) किये। अतएव त्रिकालविषयक समस्त पदार्थों को विषय करने वाले प्रत्यक्ष अनन्त केवलज्ञान के प्रभाव से प्रमाणीभूत आचार्यरूप प्रणाली से आने के कारण प्रत्यक्ष व अनुमान से चूँकि विरोध से रहित है अतः यह ग्रंथ प्रमाण है। इस कारण मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इसका अभ्यास करना

१. षट्खण्डागम (धवलाटीकासमन्वित), पुस्तक ९, पृ. १३३-१३४।

चाहिए। चूँकि यह ग्रंथ स्तोक है अतः वह मोक्षरूप कार्य को उत्पन्न करने के लिए असमर्थ है, ऐसा विचार नहीं करना चाहिए; क्योंकि अमृत के सौ घड़ों के पीने का फल चुल्लूप्रमाण अमृत के पीने में भी पाया जाता है।

अतः यह ग्रंथराज बहुत ही महान है, इसका सीधा संबंध भगवान महावीर स्वामी की वाणी से एवं श्री गौतम स्वामी के मुखकमल से निकले 'गणधरवलय' आदि मंत्रों से है। इस ग्रंथ में एक-एक सूत्र अनंत अर्थों को अपने में गर्भित किये हुए हैं अतः हम जैसे अल्पज्ञ इन सूत्रों के रहस्य को, मर्म को समझने में अक्षम ही हैं। फिर भी श्रीवीरसेनाचार्य ने 'धवला' टीका को लिखकर हम जैसे अल्पज्ञों पर महान उपकार किया है।

इस धवला टीका को आधार बनाकर मैंने टीका लिखी है। इसमें कहीं-कहीं धवला टीका की पंक्तियों को ज्यों का त्यों ले लिया है। कहीं पर उनकी संस्कृत (छाया) कर दी है। कहीं-कहीं उन प्रकरणों से संबंधित अन्य ग्रंथों के उद्धरण भी दिये हैं। श्रीवीरसेनाचार्य के द्वारा रचित टीका में जो अतीव गूढ़ एवं क्लिष्ट सैद्धांतिक विषय हैं अथवा जो गणित के विषय हैं उनको मैंने छोड़ दिया है एवं 'धवला टीकायां दृष्टव्यं' धवला टीका में देखना चाहिए, ऐसा लिख दिया है। अर्थात् इस धवला टीका के सरल एवं सारभूत अंश को ही मैंने लिया है। चूँकि यह श्रुतज्ञान ही 'केवलज्ञान' की प्राप्ति के लिए 'बीजभूत' है।

जैसाकि मैंने लिखा है—

सिद्धांतचिंतामणिनामधेया, सिद्धान्तबोधामृतदानदक्षा।
टीका भवेत्स्वात्मपरात्मनोर्हि, कैवल्यलब्ध्यै खलु बीजभूता[१]।।१७।।

'षट्खण्डागम' में—पाँच खण्डों में सूत्र संख्या छह हजार आठ सौ इकतालिस (६८४१) है। इस प्रकार इन सोलह पुस्तकों की संस्कृत टीका मैंने वैशाख कृ. दूज, ४ अप्रैल २००७ को लिखकर पूर्ण की है। यह टीका समस्त विज्ञजनों के लिए श्रुतज्ञान के क्षयोपशम का कारण बने, यही मेरी मंगलकामना है।

भक्तिराग से स्तुति

एवमए सुदपवरा, भत्तीराएण संत्थुया तच्चा।
सिग्घं मे सुदलाहं, जिणवरवसहा पयच्छंतु।।9।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत-श्रुतभक्ति गाथा-11)

अर्थ-इस प्रकार मैंने 'भक्ति के राग' से द्वादशांगरूप श्रेष्ठ श्रुत का स्तवन किया है। जिनवर वृषभदेव या जिनवरों में श्रेष्ठ सभी तीर्थंकरदेव मुझे शीघ्र ही श्रुत का लाभ देवें।

भावार्थ-श्रुतभक्ति की ग्यारह गाथाओं में द्वादशांगरूप श्रुत की वंदना करके आचार्यदेव ने श्रुत के लाभ की याचना की है तथा यह भी कहा है कि मैंने 'भक्तिराग' से स्तवन किया है। टीकाकार श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने "भक्त्यनुरागाभ्यां-श्रद्धाप्रीतिभ्यां" भक्ति और अनुराग-'श्रद्धा और प्रीति से' ऐसा अर्थ किया है जिससे श्री कुन्दकुन्ददेव भी भक्ति के राग से सहित थे ऐसा स्पष्ट हो जाता है।

१. षट्खण्डागम, सिद्धान्तचिन्तामणिटीका समन्वित, पुस्तक १, पृ. ४।

१८. भगवान पार्श्वनाथ : संक्षिप्त परिचय

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र संबंधी काशी देश में बनारस नाम का एक नगर है। जहाँ राजा अश्वसेन (विश्वसेन) राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम वामा (ब्राह्मी) था। जब उन सोलहवें स्वर्ग के इन्द्र की आयु छह मास की अवशेष रह गई थी, तब इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने माता के आँगन में रत्नों की धारा बरसाना शुरु कर दी थी। रानी वामा ने सोलहस्वप्नपूर्वक वैशाख कृष्णा द्वितीया के दिन इन्द्र के जीव को गर्भ में धारण किया था।

नवमास पूर्ण होने पर पौष कृष्णा एकादशी के दिन पुत्र का जन्म हुआ था। इन्द्रादि देवों ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर तीर्थंकर शिशु का जन्माभिषेक करके 'पार्श्वनाथ' यह नामकरण किया था। श्री नेमिनाथ के बाद तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष बीत जाने पर इनका जन्म हुआ था। इनकी आयु सौ वर्ष की थी जो कि इसी अंतराल में सम्मिलित है। प्रभु की कांति हरितवर्ण की एवं शरीर की ऊँचाई नौ हाथ प्रमाण थी। ये उग्रवंशी थे।

सोलह वर्ष बाद नवयौवन से युक्त भगवान किसी समय क्रीड़ा के लिए अपनी सेना के साथ नगर के बाहर गये। कमठ का जीव जो कि सिंह पर्याय से नरक गया था, वह वहाँ से आकर महीपाल नगर का महीपाल नाम का राजा हुआ था। उसी की पुत्री वामा देवी भगवान पार्श्वनाथ की माता थीं। यह राजा (भगवान के नाना) किसी समय अपनी पत्नी के वियोग में तपस्वी होकर वहीं आश्रम के पास वन में पंचाग्नियों के बीच में बैठा तपश्चरण कर रहा था। देवों द्वारा पूज्य भगवान उसके पास जाकर उसे नमस्कार किये बिना ही खड़े हो गये। यह देखकर वह साधु क्रोध से युक्त हो गया और सोचने लगा "मैं कुलीन हूँ, तपोवृद्ध हूँ और इसका नाना हूँ" फिर भी इस अज्ञानी कुमार ने अहंकारवश मुझे नमस्कार नहीं किया है, क्षुभित हो उसने अग्नि में लकड़ियों को डालने के लिए पड़ी हुई लकड़ी को काटने हेतु अपना फरसा उठाया, इतने में ही अवधिज्ञानी भगवान पार्श्वनाथ ने कहा, "इसे मत काटो" इसमें जीव हैं किन्तु मना करने पर भी उसने लकड़ी काट ही डाली, तत्क्षण ही उसके भीतर रहने वाले सर्प और सर्पिणी निकल पड़े और घायल हो जाने से छटपटाने लगे।

यह देखकर प्रभु के साथ स्थित सुभौमकुमार ने कहा कि तू अहंकारवश यह कुतप करके पाप का ही आस्रव कर रहा है। सुभौम के वचन सुन तपस्वी क्रुधित होकर अपने तपश्चरण की महत्ता प्रकट करने लगा। तब सुभौमकुमार ने अनेक युक्तियों से उसे समझाया कि सच्चे देव, शास्त्र और गुरु के सिवाय कोई हितकारी नहीं है। जिनधर्म में प्रणीत सच्चे तपश्चरण से ही कर्म निर्जरा होती है। यह मिथ्यातप, जीव हिंसा सहित होने से कुतप ही है। यद्यपि वह तापसी समझ तो गया किन्तु पूर्व बैर का संस्कार होने से अपने पक्ष के अनुराग से अथवा दुःखमय संसार के कारण से अथवा स्वभाव से ही दुष्ट होने से उसने स्वीकार नहीं किया प्रत्युत 'यह सुभौमकुमार अहंकारी होकर मेरा तिरस्कार कर रहा है' ऐसा समझ वह भगवान पार्श्वनाथ पर अधिक क्रोध करने लगा। पुनः इसी शल्य से मरकर 'शम्बर' नाम का ज्योतिषी देव हो गया।

इधर सर्प और सर्पिणी पार्श्व कुमार के उपदेश से शांतभाव को प्राप्त हुए तथा मरकर बड़े ही वैभवशाली देवता धरणेन्द्र और पद्मावती हो गये।

अनंतर भगवान जब तीस वर्ष के हो गये, तब एक दिन अयोध्या के राजा जयसेन ने उत्तम घोड़ा आदि के भेंट के साथ अपना दूत भगवान पार्श्वनाथ के समीप भेजा। भगवान ने भेंट लेकर उस दूत से अयोध्या की

विभूति पूछी। उत्तर में दूत ने सबसे पहले भगवान ऋषभदेव का वर्णन किया पश्चात् अयोध्या का हाल कहा। उसी समय ऋषभदेव के सदृश अपने को तीर्थंकर प्रकृति का बंध हुआ है, ऐसा सोचते हुए भगवान गृहवास से पूर्ण विरक्त हो गये और लौकांतिक देवों द्वारा पूजा को प्राप्त हुए। प्रभु देवों द्वारा लाई गई विमला नाम की पालकी पर बैठकर अश्ववन में पहुँच गये। वहाँ दारुवृक्ष के नीचे तेला का नियम लेकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन प्रातःकाल के समय सिद्ध भगवान को नमस्कार करके प्रभु तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षित हो गये।

पारणा के दिन गुल्मखेट नगर के धन्य नामक राजा ने अष्ट मंगलद्रव्यों से प्रभु का पड़गाहन कर आहारदान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त कर लिये। छद्मस्थ अवस्था के चार मास व्यतीत हो जाने पर भगवान एक समय देवदारु वृक्ष के नीचे विराजमान होकर ध्यान में लीन हो गये। इसी समय कमठ का जीव शम्बर ज्योतिषीदेव आकाशमार्ग से जा रहा था, अकस्मात् उसका विमान रुक गया, उसे विभंगावधि से पूर्व का बैर बंध स्पष्ट दिखने लगा। फिर क्या था, क्रोधवश उसने महागर्जना, महावृष्टि, भयंकर वायु आदि से महा उपसर्ग करना प्रारंभ कर दिया, बड़े-बड़े पहाड़ तक लाकर समीप में गिराये, इस प्रकार उसने सात दिन तक लगातार भयंकर उपसर्ग किया।

अवधिज्ञान से यह उपसर्ग जानकर धरणेन्द्र अपनी भार्या पद्मावती के साथ पृथ्वीतल से बाहर निकला। धरणेन्द्र और पद्मावती ने भगवान को अपने फणाओं के ऊपर उठा लिया और वज्रमय छत्र तान कर स्थित हो गये। आचार्य कहते हैं देखो! स्वभाव से ही क्रूर प्राणी इन सर्प सर्पिणी ने अपने ऊपर किये गए उपकार को याद रखा सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष अपने ऊपर किए हुए उपकार को कभी नहीं भूलते हैं।

तदनंतर ध्यान के प्रभाव से प्रभु का मोहनीय कर्म क्षीण हो गया इसलिए बैरी कमठ का सब उपसर्ग दूर हो गया। मुनिराज पार्श्वनाथ ने चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में लोकालोकप्रकाशी केवलज्ञान को प्राप्त कर लिया। उसी समय इन्द्रों ने आकर समवसरण की रचना करके केवलज्ञान की पूजा की। शंबर नाम का देव भी काललब्धि पाकर उसी समय शांत हो गया और उसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया। यह देख उस वन में रहने वाले सात सौ तपस्वियों ने मिथ्यादर्शन छोड़कर संयम धारण कर लिया, सभी शुद्ध सम्यग्दृष्टि हो गये और बड़े आदर से प्रदक्षिणा देकर भगवान की स्तुति-भक्ति की। आचार्य कहते हैं कि पापी कमठ के जीव का कहाँ तो निष्कारण वैर और कहाँ ऐसी पार्श्वनाथ की शांति! इसलिए संसार के दुःखों से भयभीत प्राणियों को वैर विरोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में स्वयंभू को आदि लेकर दस गणधर थे, सोलह हजार मुनिराज, सुलोचना को आदि लेकर छत्तीस हजार आर्यिकाएँ, एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। इस प्रकार बारह सभाओं को धर्मोपदेश देते हुए भगवान ने पाँच मास कम सत्तर वर्ष तक विहार किया। अंत में आयु का एक माह शेष रहने पर विहार बंद हो गया। **प्रभु पार्श्वनाथ सम्मेदाचल के शिखर पर छत्तीस मुनियों के साथ प्रतिमायोग से विराजमान हो गये। श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सिद्धपद को प्राप्त हो गये। इन्द्रों ने आकर मोक्ष कल्याणक उत्सव मनाया। ऐसे पार्श्वनाथ भगवान हमें भी सम्पूर्ण प्रकार के उपसर्गों को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।**

१९. अभक्ष्य किसे कहते हैं?

जो भक्षण करने योग्य न हो, वे अभक्ष्य कहलाते हैं। स्वामी श्री समन्तभद्राचार्य ने अभक्ष्य को बतलाते हुए कहा है—

त्रसहतिपरिहरणार्थम्, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपयातैः।।८४।।

जिनेन्द्रदेव के चरणयुगल की शरण लेने वाले श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करने के लिए मधु और मांस का त्याग कर देवें और प्रमाद दूर करने के लिए मद्य का सर्वथा त्याग कर देवें।

अल्पफलबहुविघातान्, मूलकमार्द्राणि श्रृंगवेराणि।
नवनीतनिंबकुसुमं, कैतकमित्येवमवहेयम्।।८५।।[१]

जिनमें लाभ थोड़ा हो और बहुत से प्राणियों का घात होवे, ऐसे मूली, गीली अदरक, मक्खन, नीम के फूल तथा ऐसी ही वस्तुओं का त्याग कर देवें—इनको नहीं खावें।

आलू आदि कंदमूल पदार्थ भी अभक्ष्य हैं, चूँकि अनन्तकायिक हैं, जैसे कि मूली और गीली अदरक।

गोम्मटसार जीवकांड ग्रंथ में बताया है—

[२]उदये दु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी होंति।
पत्तेयं सामण्णं पदिट्ठिदिदरेत्ति पत्तेयं।।१८५।।

स्थावर नाम कर्म के अवांतर भेद ऐसे वनस्पति नामकर्म के उदय से जीव वनस्पतिकायिक होते हैं, इनके प्रत्येक और सामान्य ऐसे दो भेद हैं। एक जीव का एक ही शरीर हो अर्थात् जिस पूरे एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो, वह प्रत्येक वनस्पतिकायिक है और जिस एक ही शरीर में अनेक जीव समानरूप से रहें, उस शरीर को सामान्य या साधारण शरीर कहते हैं, इस शरीर के धारी जीव सामान्य या साधारण कहलाते हैं।

प्रत्येक वनस्पति के भी दो भेद हैं—प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। जिस एक ही जीव के उस शरीर में उसके आश्रित अनन्त निगोदिया जीव रहें, वह प्रतिष्ठित प्रत्येक है और जिसके आश्रित निगोदिया जीव नहीं हों, वह अप्रतिष्ठित प्रत्येक है।

अब वनस्पति जीवों के अनेक भेद बताते हैं—

मूलग्गपोरबीजा, कन्दा तह खंदबीजबीजरुहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाणंतकाया य।।१८६।।

जिन वनस्पतियों का बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द अथवा स्कंध है, अथवा जो बीज से उत्पन्न होती हैं, तथा जो सम्मूर्च्छन हैं, वे सभी वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं अर्थात् वनस्पतियों की उत्पत्ति के अनेक प्रकार हैं, कोई तो मूल से उत्पन्न होती हैं, जैसे—अदरक, हल्दी आदि, कोई अग्र से—जैसे गुलाब आदि, कोई पर्व से जैसे—गन्ना आदि, कोई कन्द से—जैसे पिंडालू आदि, कोई स्कंध से जैसे—पलास आदि, कोई अपने-अपने बीज से, जैसे—गेहूँ, चना आदि और कोई सम्मूर्च्छन से उत्पन्न होते हैं जैसे—घास आदि। यद्यपि सभी वनस्पतियाँ संमूर्च्छन ही हैं फिर भी यहाँ बीजमूल आदि की अपेक्षा के बिना जो अपने आप मिट्टी-पानी आदि के मिलने से उग जावें वे संमूर्च्छन

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार। २. गोम्मटसारजीवकाण्ड

उत्पत्ति से कही गई हैं।

अब सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित वनस्पति की पहचान बताते हैं—

गूढ-सिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहं च छिन्नरुहं।
साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं।।१८७।।

जिनकी शिरा, बहिःस्नायु, सन्धि—रेखा बंध और पर्व—गाँठ अप्रगट हों और जिसका भंग करने पर समान भंग हो—दोनों भंगों में परस्पर अहीरुह अन्तर्गत सूत्र तन्तु न लगा रहे तथा छेदन करने पर जिसकी पुनः वृद्धि हो जाये, उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कहते हैं और जो विपरीत हैं—इन चिन्हों से रहित हैं वे अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कही गई हैं।

भावार्थ—जिन वनस्पतियों में बाहर में शिरा लकीर प्रकट हो जाती है, जैसे—ककड़ी आदि, जिनमें बीच में संधि हो, जैसे—नारंगी आदि और गाँठ, जैसे—गन्ना की प्रगट दीखने लगती हैं, ये अप्रतिष्ठित हो गई हैं। ये ही वनस्पतियाँ जब तक इनमें शिरा, सन्धि और पर्व प्रगट नहीं हुए थे, तब तक अनन्त जीवों से आश्रित होने से सप्रतिष्ठित थीं पुनः 'समभंगअहीरुह' इन पदों का अर्थ देखिए जिनको तोड़ने पर समान भंग हो जावे और मध्य में दोनों तरफ से किसी तरफ भी तन्तु न लगा रहे वे वनस्पति सप्रतिष्ठित हैं, इनमें मूली, गाजर, अरबी आदि कन्दमूल आ जाते हैं क्योंकि इनके तोड़ने पर समान टूटते हैं इनमें तन्तु नहीं लगा रहता है तथा 'छिन्नरुह' जिनके टुकड़े करने पर भी उग जाते हैं जैसे—आलू, अरबी आदि इनके टुकड़े करने पर बोने से उग जाते हैं इसलिए समभंग, अहीरुह और छिन्नरुह इन तीन लक्षणों के अनुसार ये आलू, मूली, अदरक, अरबी, गाजर आदि कन्दमूल अनन्तकायिक हैं। महान् ग्रंथ 'षट्खंडागम' पुस्तक-१, की धवला टीका[१] में भी कहा है—बादरनिगोदप्रतिष्ठिताश्चार्षान्तरेषु श्रूयंते, क्व तेषामन्तर्भावश्चेत् ? प्रत्येकशरीर-वनस्पतिष्विति ब्रूमः। के ते ? स्नुगार्द्रकमूलकादयः।"

बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतियाँ दूसरे आगमों में सुनी जाती हैं। उसका अन्तर्भाव वनस्पति के किस भेद में होगा ? प्रत्येकशरीर वनस्पति में उनका अन्तर्भाव होगा। जो बादर निगोद से प्रतिष्ठित हैं वे कौन-कौन हैं ? थूहर, अदरख, मूली आदि वनस्पतियाँ बादर निगोद से प्रतिष्ठित हैं।

जो सप्रतिष्ठित प्रत्येक को 'साहारणसरीर' साधारण शरीर ऐसा कह दिया है, उसका अर्थ यही है कि ये साधारण निगोदिया जीवों से सहित हैं इसलिए साधारण के समान अनन्त जीवों का पिंड होने से इन्हें भी उपचार से साधारण कह दिया है।

आगे और भी कहते हैं—

मूले कन्दे छल्ली, पवालसालदलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता, असमे सदि होंति पत्तेया।।१८८।।

जिन वनस्पतियों के मूल, कंद, छाल, नवीन कोंपल अथवा अंकुर, क्षुद्रशाखा, पत्ते, फूल, फल तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हो जाये—तन्तु न लगा रहे, उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं और जिनका भंग समान न हो, वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं।

कंदस्स व मूलस्स व, सालाखंदस्स वाबि बहुलतरी।
छल्ली साणंतजिया, पत्तेयजिया तु तणुकदरी।।१८९।।

जिस वनस्पति की कंद-मूल, क्षुद्रशाला या स्कंध के छाल मोटी हो उसको अनन्त जीव सप्रतिष्ठित

---

१. षट्खण्डागम (धवला) पुस्तक-१, पृ. २७३।

प्रत्येक कहते हैं और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

बीजे जोणीभूदे जीवो वक्कमदि सो व अण्णो वा।
जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए।।१९०।।

जिस योनिभूत बीज में वही जीव या अन्य कोई जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूली आदि वनस्पतियाँ प्रथम अवस्था में अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहती हैं।

भावार्थ—यहाँ दो बातें खास समझने की हैं, एक तो जब वे मूल आदि बीज पर्यन्त सभी वनस्पतियाँ बीजरूप में होती हैं, उनके पुद्गल स्कंध इस योग्य होते हैं कि उनमें से जीव के निकल जाने पर भी बाह्य कारणों के मिलते ही पुनः उनमें जीव आकर उत्पन्न हो सकता है अर्थात् जब तक उनमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट नहीं हुई है, तब तक उनमें या तो वही जीव आकर उत्पन्न हो जाता हे, जो कि पहले उनमें था, या कोई दूसरा जीव भी कहीं अन्यत्र से मरण करके उनमें आकर उत्पन्न हो जाता है, दूसरी बात यह है कि वे मूलकन्द, पत्र आदि सभी वनस्पतियाँ जिनको पहले सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहा है वे अपनी उत्पत्ति के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त की अवस्था में हमारे और आपके ज्ञान का विषय नहीं है।

अब साधारण वनस्पति का वर्णन करते हैं—

साहारणोदएण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।
ते पुण दुविहा जीवा बादरसुहुमात्ति विण्णेया।।१९१।।
साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं।।१९२।।
जत्थेक्क मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ णंताणं।।१९३।।

अर्थ—जिन जीवों का शरीर साधारण नामकर्म के उदय से निगोदरूप होता है, उन्हीं को सामान्य या साधारण कहते हैं। इनके दो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म अर्थात् इस शरीर में एक जीव मुख्य नहीं रहता अनन्तानन्त जीव रहते हैं और वे भी सब समानरूप से रहते हैं।

इन साधारण जीवों का साधारण अर्थात् समान ही तो आहार होता है और साधारण—एक साथ ही श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है। इस तरह से साधारण जीवों का लक्षण परमागम में साधारण ही बताया है।

साधारण जीवों में जहाँ पर एक जीव मरण करता है, वहाँ पर अनन्त जीवों का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है, वहाँ पर अनन्त जीवों का उत्पाद होता है।

एक-एक निगोद शरीर में द्रव्य की अपेक्षा से जीवों का प्रमाण कितना है ? सो बताते हैं—

एगणिगोदसरीरे, जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहि अणंतगुणा, सव्वेण वितीदकालेण।।१९६।।

एक निगोद शरीर में द्रव्य की अपेक्षा सिद्ध राशि से अनन्तगुणे और सम्पूर्ण अतीतकाल के समयों से भी अनन्तगुणे इतने प्रमाण जीव पाये जाते हैं अर्थात् सिद्धजीव अनन्तानन्त हैं और भूतकाल के समय भी अनन्तानन्त हैं, इनमें भी अनन्त का गुणा करने पर जो संख्या आती है, इतने अनन्तानन्त प्रमाण जीव एक निगोद जीव के शरीर में रहते हैं, ऐसा सर्वज्ञदेव ने अपने केवलज्ञान से अवलोकन किया है। नदी, तालाब आदि के जल में जो कोई (शेवाल) होती है, ये सब साधारण वनस्पति जीवराशि है।

तात्पर्य यह निकला कि आलू आदि में भी इसी प्रकार से अनन्तानन्त जीवराशि हैं इसीलिए समन्तभद्र स्वामी ने इनके बारे में कहा है कि 'अल्पफलबहुविघातान्' खाने में स्वाद तो किंचित् मात्र है और बहुत — अनन्तानन्त जीवों का घात होता है, ऐसा समझना।

अगर आलू के टुकड़े सूखे हुए हों, तो भी खाने में दोष है क्योंकि पहली बात तो अभक्ष्य को सुखाकर खाने का एक प्रकार का विशेष रागभाव होने से दोष तो बहुत बड़ा है, दूसरी बात यह है कि वे आलू, अरबी आदि के टुकड़े भी बोने से उग जाते हैं, इसीलिए इन कन्दमूलों को सुखाकर खाना भी निषिद्ध है।

इसके अतिरिक्त मर्यादा के बाहर की बड़ी, पापड़ आदि जिनपर वर्षा ऋतु में फफूँदी लग जाती है, ऐसी चीजें खाना भी दोषास्पद है। इनमें तमाम संमूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। चौबीस घंटे के बाद का अचार, मुरब्बा आदि भी अभक्ष्य है, इसके अतिरिक्त भी बहुत सी चीजें अभक्ष्य हैं, जिन्हें विस्तार से ग्रंथों से समझा जा सकता है।

भक्ति करके याचना करना दोष नहीं है

आरोग्ग बोहिलाहं, दिंतु समाहिं च मे जिणवरिंदा।
किं ण हु णिदाणमेयं, णवरि विभासेत्थ कायव्वा।।10।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत – मूलाचार गाथा-568)

अर्थ–वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें। क्या यह निदान नहीं है ? अर्थात् नहीं है, यह तो मात्र वैकल्पिक भाषा है, ऐसा समझना।

भावार्थ–जिनेन्द्रदेव से आरोग्य लाभ – जन्म-मरण का अभाव, बोधिलाभ – जिनागम का श्रद्धान या दीक्षा लेने का परिणाम और समाधिमरण के समय धर्मध्यानरूप परिणाम, इनकी याचना करना निदान नहीं है यह एक भक्ति की भाषा का प्रकार है।

वीतराग भगवान से भी माँगना दोष नहीं है

भासा असच्चमोसा, णवरि हु भत्तीय भासिदा एसा।
ण हु खीणरागदोसा, दिंति समाहिं च बोहिं च।।11।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत – मूलाचार गाथा-569)

अर्थ–पूर्व में की गयी याचना एक असत्यमृषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति से कही गयी है, क्योंकि रागद्वेष से रहित भगवान समाधि और बोधि को नहीं देते हैं।

भावार्थ–यह बोधि, समाधि के लिये की गई याचना न सत्य है, न असत्य है, प्रत्युत अनुभय भाषा है क्योंकि वीतराग भगवान कुछ भी नहीं देते। यदि वे देने लगेंगे तो रागी-द्वेषी हो जावेंगे किन्तु उनसे याचना करने से फल मिलता ही मिलता है। तात्पर्य यही है कि भक्ति से परिणामों में निर्मलता आने से जो पुण्य बन्ध होता है उसी से सर्व मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। यह भक्ति मुक्ति की प्राप्ति में भी कारण है।

२०. क्या राजा सोमप्रभ एवं श्रेयांस श्री कामदेव बाहुबली के पुत्र थे ?

युग की आदि में भगवान ऋषभदेव ने अयोध्या नगरी में जन्म लिया था। माता मरुदेवी एवं पिता नाभिराज ने यौवन अवस्था में भगवान ऋषभदेव का विवाह यशस्वती और सुनन्दा नामक दो कन्याओं के साथ सम्पन्न किया, जिसमें से महारानी यशस्वती ने क्रम-क्रम से भरत आदि सौ पुत्र एवं ब्राह्मी नामक एक कन्या को तथा महारानी सुनन्दा ने बाहुबली नामक एक पुत्र एवं सुन्दरी कन्या को जन्म दिया।

अनेक पुत्र-पुत्रियों से घिरे हुए भगवान ऋषभदेव असंख्य ताराओं के मध्य चन्द्रमा के समान सुशोभित होते थे। महाराजा नाभिराज आदि अनेकों बड़े-बड़े राजाओं के द्वारा राजा बनाए जाने के बाद भगवान ऋषभदेव ने कर्मभूमि की रचना करके अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ बनाकर प्रजा का पालन करना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने प्रजा को वर्णों की व्यवस्था के साथ-साथ जीवन जीने की कला भी सिखाई। भगवान ने चार महाभाग्यशाली क्षत्रियों को महामण्डलीक राजा बनाया, इस विषय में महापुराण ग्रंथ, भाग-१ के पर्व १६ में स्पष्ट वर्णन है—

समाहूय महाभागान् हर्यकम्पनकाश्यपान्।
सोमप्रभं च संमान्य सत्कृत्य च यथोचितम्।।२५६।।
कृताभिषेचनानेतान् महामण्डलिकान् नृपान्।
चतुःसहस्रभूनाथपरिवारान् व्यधाद् विभुः।।२५७।।
सोमप्रभः प्रभोराप्तकुरुराजसमाह्वयः।
कुरूणामधिराजोऽभूत कुरुवंशशिखामणिः।।२५८।।
हरिश्च हरिकान्ताख्यां दधानस्तदनुज्ञया।
हरिवंशमलंचक्रे श्रीमान् हरिपराक्रमः।।२५९।।
अकम्पनोऽपि सृष्टीशात् प्राप्तश्रीधरनामकः।
नाथवंशस्य नेताभूत् प्रसन्ने भुवनेशिनि।।२६०।।
काश्यपोऽपिगुरोः प्राप्तमाधवाख्यः पतिर्विशाम्।
उग्रवंशस्य वंश्योऽभूत् किन्नाप्यं स्वामिसंपदा।।२६१।।

भगवान ने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार महाभाग्यशाली क्षत्रियों को बुलाकर उनका यथोचित सम्मान और सत्कार किया। तदनन्तर राज्याभिषेक कर उन्हें महामण्डलीक राजा बनाया। ये राजा चार हजार अन्य छोटे-छोटे राजाओं के अधिपति थे।।।२५६-२५७।। सोमप्रभ, भगवान से कुरुराज नाम पाकर कुरुदेश का राजा हुआ और कुरुवंश का शिखामणि कहलाया।।२५८।। हरि, भगवान की आज्ञा से हरिकान्त नाम को धारण करता हुआ हरिवंश को अलंकृत करने लगा क्योंकि वह श्रीमान् हरिपराक्रम अर्थात् इन्द्र अथवा सिंह के समान पराक्रमी था।।२५९।। अकम्पन भी भगवान से श्रीधर नाम पाकर उनकी प्रसन्नता से नाथवंश का नायक हुआ।।२६०।। और काश्यप भी जगद्गुरु भगवान से मघवा नाम प्राप्तकर उग्रवंश का मुख्य राजा हुआ, सो ठीक ही है, स्वामी की सम्पदा से क्या नहीं मिलता है? अर्थात् सब कुछ मिलता

है।।२६१।।

पुनः आगे इसी महापुराण ग्रंथ, भाग-१ के पर्व १७ में वर्णन है कि—

ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सूनुमग्रिमम्।
भगवान् भारतं वर्ष तत्सनाथं व्यधादिदम्।।७६।।
यौवराज्ये च तं बाहुबलिनं समतिष्ठिपत्।
तदा राजन्वतीत्यासीत् पृथ्वी ताभ्यामधिष्ठिता।।७७।।

तदनन्तर भगवान ऋषभदेव ने साम्राज्य पद पर अपने बड़े पुत्र भरत का अभिषेक कर इस भारत वर्ष को उनसे सनाथ किया।।७६।। और युवराज पद पर बाहुबली को स्थापित किया। इस प्रकार उस समय यह पृथिवी उक्त दोनों भाइयों से अधिष्ठित होने के कारण राजन्वती अर्थात् सुयोग्य राजा से सहित हुई थी।।७७।।

इसी संदर्भ में महाकवि पुष्पदंत द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचित आदिपुराण (सचित्र) में पृ. १२२ पर स्पष्ट उल्लेख है कि—

''सुनन्दा के पुत्र बाहुबलि को धरती विभक्त शुभ पोदन दिया गया।''

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि भगवान बाहुबली का जन्म अयोध्या में हुआ, उन्हें युवावस्था में पोदनपुर का राजा घोषित किया गया तथा राजा सोमप्रभ को भगवान ऋषभदेव ने राज्यावस्था में ही महामण्डलेश्वर राजा बना दिया था। तो इन्हें भगवान बाहुबलि के पुत्र कहना कहाँ तक उचित है? प्रबुद्धजनों को इस बात पर गंभीरता से विचार करना चाहिए तथा महापुराण ग्रंथ का सूक्ष्मता से अध्ययन करके राजा सोमप्रभ एवं श्रेयांस को भगवान बाहुबली का पुत्र नहीं मानना चाहिए।

भगवान की भक्ति से कर्मों का भी क्षय हो जाता है

भत्तीए जिणवराणं, खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य, विज्जा मंता य सिज्झंति।।13।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत–मूलाचार गाथा-571)

अर्थ–जिनेन्द्रदेव की भक्ति से पूर्व भवों में संचित कर्म क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और आचार्यों के प्रसाद से विद्या तथा मंत्र सिद्ध हो जाते हैं।

भावार्थ–जिनेन्द्रदेव की भक्ति, पूजा, वंदना, स्तुति आदि पूर्वक उपासना करने से अनंत-अनंत जन्म में संचित अनंतों पाप नष्ट हो जाते हैं और आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि दिगम्बर मुनियों की वंदना, भक्ति, स्तुति आदि करने से विद्या मन्त्र आदि तो सिद्ध होते ही हैं, परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति भी हो जाती है। लोक में भी यह नियम है कि बिना गुरु प्रसाद से विद्या और मन्त्रों की सिद्धि नहीं हो सकती।

२१. व्यवहार नय के बिना मोक्ष की प्राप्ति असंभव है

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा[१]।।४६।।

अर्थ—ये सब अध्यवसान आदि भाव हैं वे जीव हैं ऐसा जो श्री जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है वह व्यवहार नय का मत है।

जो राग द्वेष आदि परिणाम हैं ये कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुये हैं फिर भी सिद्धांत ग्रंथों में इन परिणामों को भी जीव कहा गया है और वह सर्वज्ञ भगवान का उपदेश है। यहाँ शिष्य का यही प्रश्न है कि इन भावों को 'कथं जीवत्वेन सूचिताः' जीवरूप से कैसे सूचित किया है। उसी का उत्तर श्री अमृतचंद्रसूरि दे रहे हैं—

ये सब अध्यवसान आदि भाव जीव हैं' ऐसा जो भगवान सर्वज्ञदेव ने कहा है वह अभूतार्थरूप व्यवहार का मत है क्योंकि व्यवहार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का प्रतिपादक है। जैसे म्लेच्छ भाषा म्लेच्छों को वस्तु स्वरूप बतलाती है, उसी तरह यह नय है इसलिये अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये व्यवहारनय का दिखलाना न्यासंगत ही है। परमार्थनय से तो शरीर से जीव का भेद देखा जाता है। व्यवहारनय के बिना यदि मात्र इसी परमार्थनय का एकांत ग्रहण करें तब तो त्रस और स्थावर जीवों का भस्म के समान निःशंक होकर घात करने से भी हिंसा का दोष नहीं होगा। पुनः हिंसा का पाप नहीं लगने से उस जीव के कर्म का बंध भी नहीं होगा। उसी प्रकार रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है वह छुड़ाने योग्य है ऐसा कहा गया है। परमार्थ से रागद्वेष, मोह से जीव को भिन्न दिखलाने पर मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जावेगा तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा। इसलिये व्यवहारनय के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।'

तात्पर्यवृत्तिकार भी कहते हैं—

'यदि अध्यवसान राग-द्वेष आदि परिणाम पुद्गल के स्वभाव हैं तो रागी, द्वेषी, मोही जीव हैं इस तरह सिद्धांत ग्रंथों में इन परिणामों को जीवरूप से कैसे कहा है ?

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—जिनेन्द्रदेव ने जो इन परिणामों को जीव कहा है वह व्यवहारनय का अभिप्राय है। यद्यपि यह व्यवहारनय बाह्य द्रव्य का अवलंबन लेने से अभूतार्थ है तो भी रागादि बाह्य द्रव्य के अवलंबन से रहित और विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावरूप अपने अवलंबन से सहित जो परमार्थ है, उस परमार्थ का प्रतिपादक है। इसलिये इस व्यवहारनय को दिखलाना उचित ही है और जब व्यवहारनय नहीं माना जावेगा तो शुद्ध निश्चयनय से त्रस, स्थावर जीव नहीं हो सकेंगे तो फिर लोग उन जीवों का निःशंकरूप मर्दन करेंगे। तब पुण्यरूप धर्म का अभाव हो जावेगा यह एक दूषण आयेगा। उसी प्रकार शुद्ध निश्चयनय से जीव पहले से ही राग, द्वेष, मोह से रहित सिद्धरूप रहता है इसलिये मोक्ष की प्राप्ति के लिये अनुष्ठान कोई नहीं करेगा तो पुनः मोक्ष का अभाव हो जावेगा, यह दूसरा दूषण आवेगा। इसलिये व्यवहारनय का व्याख्यान उचित ही है ऐसा अभिप्राय समझना[२]।

---

१. समयसार गाथा-४६। २. व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थ-प्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याटय एव। तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद् भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेष मोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपाय परिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः। (समयसार गाथा ४६ की टीका)

तात्पर्य यही है कि शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में प्रत्येक जीव अनादिकाल से शुद्ध ही है। यह शुद्धनय ही परमार्थनय कहलाता है चूँकि यह नय वस्तु के शुद्ध सहज स्वभाव मात्र को देखता है पर के संबंध से होने वाली विभाव अवस्था इसकी दृष्टि में गौण है चूँकि वह अन्य नय का विषय है अतः यह नय जीव को शरीर, राग, द्वेष, मोह, आदि भाव कर्म, नोकर्म तथा द्रव्यकर्म से पृथक् ही देखता है। यदि इसी नय को एकांत से ग्रहण कर लिया जावे तो शरीर तथा राग द्वेष आदि पुद्गलमय ठहरेंगे और पुद्गल से घात से हिंसा हो नहीं सकती एवं राग, द्वेष, मोह जीव से पृथक् होने से उनसे बंध भी नहीं हो सकता। जब बंध नहीं होगा तब उसके छूटने के लिये रत्नत्रय का अनुष्ठान क्यों करना तब तो इस तरह से बंध और मोक्ष की व्यवस्था न बन सकने से संसार और मोक्ष का ही सर्वथा अभाव हो जाएगा।

किन्तु जैन सिद्धांत में ऐसा एकांत वस्तु का स्वरूप नहीं है और अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण मिथ्या है—अवस्तुरूप ही है इसलिये व्यवहारनय का उपदेश न्याय प्राप्त है। चूँकि जैनधर्म का प्राण स्याद्वाद उभयनय के अवलंबन को लेने वाला है। इसी हेतु से दोनों नयों का विरोध मिटाकर स्याद्वाद के अवलंबन से वस्तुतत्त्व को समझना, उसरूप श्रद्धान करना ही सम्यक्त्व है। इस गाथा के अभिप्राय को हम गुणस्थानों की अपेक्षा से विचार करें तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती श्रावक इन दोनों नयों से वस्तु तत्त्व का विचार करता है, वह समझता है कि परमार्थनय जीव के शुद्ध स्वभाव को कहता है और व्यवहारनय औपाधिक पौद्गलिक कर्म से संबंधित जीव को भी जीव कहता है, उनके उन भावों और पर्यायों को भी जीव कहता है क्योंकि वह बाह्य द्रव्य के संबंध से युक्त वस्तु को ही ग्रहण करता है। दोनों नय अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं अतः सत्य हैं, असत्य प्रलाप नहीं करते हैं अतः शुद्ध तत्त्व के विचार के समय सामायिक में स्थित होकर आत्मा को शुद्ध, सिद्ध सदृश समझना तथा व्यवहार क्रियाओं की, गृहस्थ संबंधी व्यापार आदि करते समय व्यवहार नय का अवलंबन लेना होता है।

पंचमगुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावक भी श्रद्धा में शुद्धनय-निश्चयनय का अवलंबन लेता है किन्तु शुद्धात्मतत्व के अवलंबनरूप अवस्था को प्राप्त करने की भावना रखते हुए भी अपने श्रावकोचित षट् आवश्यक क्रियाओं को उपादेय मानकर ही करता है न कि हेय मानकर। उसके लिए हेय तो पंचेन्द्रिय के विषय हैं किन्तु उनको छोड़ नहीं पा रहा है। ये देवपूजा, गुरु उपासना आदि क्रियायें तो परम्परा से मोक्ष के लिए साधक हैं जैसे कि जैनागम का स्वाध्याय मोक्ष के लिए साधक है, वह स्वाध्याय भी तो एक आवश्यक क्रिया है तथा संयम और तप भी श्रावक के षट् आवश्यक में आ जाते हैं। यथा—

देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये श्रावक के षट्कर्म हैं।

इसी प्रकार मुनि भी जब छठे गुणस्थान में हैं तब वे अपनी सामायिक, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन क्रियाओं में तत्पर रहते हैं और सतत शुद्धोपयोग की भावना करते रहते हैं। सरागी मुनियों की चर्चा, संघ संचालन, शिष्यों का संग्रह, उन पर अनुग्रह और जिनेन्द्र पूजा का उपदेश, आहार-विहार आदि क्रियायें भी करते हैं, क्योंकि वे अधिक समय ध्यान में स्थिर हो नहीं पाते हैं।[१]

आज के युग में उत्तम संहनन का अभाव होने से शुक्लध्यान, एकाकी विचरण, गिरि गुफा आदि में निवास इत्यादि उनके लिए संभव नहीं हैं। ये सब बातें जिनकल्पी मुनि में ही हो सकती हैं।

---

१. दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं। चरिया हि सरागाणं जिणिंद पूजोवदेसो य।।२४८।। प्रवचनसार।।

जब तक मुनि सविकल्प अवस्था में हैं उनके लिए दोनों नय समानरूप से उपादेय हैं। आगे निर्विकल्प अवस्था में नयों का विकल्प ही नहीं रहता है किन्तु शुद्धनय की दशा स्वरूप शुद्धतत्व का ही मात्र अवलंबन रह जाता है। वह निर्विकल्प अवस्था सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होकर बारहवें तक पहुँचती है। आज के युग में सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थान असंभव हैं क्योंकि उत्तम संहनन नहीं है।

अतः जब व्यवहार नय के अवलंबन के बिना धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति व मोक्षमार्ग का अनुष्ठान असंभव है तब हम व्यवहारनय को हेय मानकर उनका निषेध कैसे कर सकते हैं ? हमें यदि सम्यग्दृष्टि बने रहना है तो दोनों नयों का अवलंबन लेकर ही चलना चाहिये। अपनी प्रवृत्ति आचार ग्रंथ के अनुकूल बनाने में व्यवहार ही कार्यकारी है और अपनी भावना उज्ज्वल रखने के लिये, चिन्ताओं को शमन करने के लिए निश्चयनय से वस्तुतत्त्व को समझना भी नितांत आवश्यक है तथा निश्चयनय की अवस्था की प्राप्ति करने के लिए व्यवहारनय के आश्रित प्रवृत्ति — सम्यक् चारित्र ही कारण है, यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है।

भक्ति श्रावक और मुनि दोनों करते हैं

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं।।15।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत – नियमसार गाथा-134)

अर्थ–जो श्रावक या मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में भक्ति करते हैं उनके ही निर्वृत्ति भक्ति – मुक्ति की भक्ति या प्राप्ति होती है, ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ–नियमसार ग्रन्थ में श्री कुन्दकुन्ददेव ने चार अधिकार तक व्यवहार रत्नत्रय का वर्णन किया है। पुनः आगे पाँचवें अधिकार से ग्यारहवें अधिकार तक निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चय प्रतिक्रमण आदि का वर्णन किया है। इस पूरे ग्रन्थ में परमभक्ति अधिकार में श्रावक का नाम लिया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय के अधिकारी मुनि ही हैं किन्तु भक्ति के अधिकारी श्रावक भी हैं और मुनि भी हैं।

२२. क्या जड़ कर्म भी चेतना का बिगाड़ कर सकता है

हाँ, अवश्य कर सकता है और कर ही रहा है जभी तो आप संसारी हैं अन्यथा सिद्धशिला पर जाकर विराजमान हो जाते, अपने अनंतज्ञान से सारे विश्व को एक समय में देख लेते, अपनी अनंतशक्ति के द्वारा अनंत पदार्थों को एवं उनकी अनंत भूत भावी पर्यायों को एक समय में जानते हुए भी श्रांत नहीं होते किन्तु आज आप दो चार घण्टे लगातार कुछ श्रम कर लेने से थक जाते हैं और इंद्रिय ज्ञान से किंचित् मात्र वस्तुओं को ही जान पाते हैं अतः स्पष्ट है कि आपकी चेतन स्वरूप आत्मा पर जड़ कर्मों ने अपना पूरा प्रभाव डाल रखा है और यदि आप अपने को जड़ कर्मों से अधिक बलशाली समझते हैं, अपने स्वरूप का, अपनी शक्ति का गौरव करते हैं तो फिर अति शीघ्र ही चारित्र के पुरुषार्थ द्वारा इन जड़ कर्मों को अपने से पृथक् कीजिये और अपने अनंत गुणों का आनंद लीजिये।

फिर भी विश्वास कीजिये कि जड़ कर्म ही आपके गुणों की दुर्दशा कर रहे हैं। भगवान् श्री कुंदकुंददेव इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं—

[१]वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं।।१६४।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं।।१६५।।
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं।।१६६।।

जैसे वस्त्र का श्वेतपना मैल के सम्बंध से नष्ट हो जाता है वैसे ही संसारी आत्मा का सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्वरूपी मैल से अवश्य ही नष्ट हो जाता है। जैसे वस्त्र का श्वेतपना मैल के संसर्ग से नष्ट हो जाता है वैसे ही संसारी आत्मा का ज्ञानगुण अज्ञानरूपी मैल के निमित्त से नष्ट हो जाता है। जैसे वस्त्र की सफेदी मैल के संबंध से नष्ट हो जाती है वैसे ही आत्मा का चारित्र गुण कषायरूपी मैल से अवश्य ही नष्ट हो जाता है ऐसा समझना चाहिए।

जब आत्मा के गुणों को ये कर्म नष्ट कर रहे हैं या आच्छादित कर रहे हैं, तो आत्मा की क्या स्थिति हो रही है, सो ही देखिये—

सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।
संसार समावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं।।१६७।।

यह आत्मा स्वभाव से सर्व चराचर को जानने वाला और देखने वाला है फिर भी वह अपने कर्मरूपी रज से आच्छादित है अतः संसार अवस्था को प्राप्त हो रहा है, यही कारण है कि वह सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को नहीं जान रहा है।

यदि कोई ऐसा कहे कि जीव के जो सम्यक्त्व आदि गुण हैं उन्हें ही तो मिथ्यात्व आदि कर्म आच्छादित करते हैं किन्तु आत्मा तो त्रैकालिक शुद्ध ध्रुव है। सो ऐसी मान्यता भी गलत है, वास्तव में आत्मा भी इन गुणों

---

१. समयसार, गाथा-१६४, १६५, १६६, १६७

का आधार होने से गुणों के दूषित हो जाने से स्वयं दूषित हो रहा है, सो ही देखिये — ये हैं समयसार ग्रंथराज के वाक्य सूत्र —

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो।।१६८।।
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो।।१६९।।
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो।।१७०।।[१]

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है, उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टी हो जाता है आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबंधक अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्र-देव ने कहा है, उसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है। आत्मा के चारित्र गुण का प्रतिबंधक कषाय भाव है ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है और उसके उदय से ही यह जीव अचारित्री अर्थात् असंयमी हो रहा है।

ये हैं भगवान श्री कुंदकुंददेव के वचन।

जो लोग कहते हैं कि निमित्त कुछ भी नहीं करता, उन एकांतवादियों को लक्ष्य में लेकर ही आचार्य देव कहते रहे हैं कि सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये तीनों आत्मा के सहज भाव मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायरूप कर्ममलों से क्रम से दबे हुए हैं। दबे हुए का अर्थ जैसा हम लोग कपड़े आदि को पत्थर आदि के नीचे दबा देते हैं वैसा नहीं है किन्तु वर्तमान में संसारी आत्मा में सम्यक्त्व आदि गुण हैं ही नहीं अपितु मिथ्यात्व आदिक ही हैं। हाँ, उन मिथ्यात्व आदि को दूर कर देने पर सम्यक्त्व आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। जिस प्रकार कपड़े की स्वच्छता कपड़े में आये हुए मैल से नष्ट हो जाती है किन्तु उस मैल के हटा देने पर स्वच्छता आ जाती है। यहाँ यह कपड़े के मैल का उदाहरण भी सर्वथा लागू नहीं है अर्थात् पहले कपड़ा स्वच्छ था पुनः मैला हुआ, पुनः मैल धोकर स्वच्छ कर लिया गया ऐसे ही आत्मा पहले स्वच्छ हो पुनः कर्म का मैल उस पर आ जावे, अनंतर मैल को साफ कर देने पर वह स्वच्छ हो जावे ऐसा नहीं है प्रत्युत आत्मा के साथ तो कर्म मैल का संबंध अनादिकाल से ही लगा हुआ है और एक बार कर्म मैल को धो डालने के बाद वह आत्मा सदा-सदा के लिये ही स्वच्छ, पवित्र, शुद्ध, निरंजन हो जाती है पुनः कर्म का संबंध उसके साथ हो ही नहीं सकता है ऐसा समझना।

सारांश यही है कि निमित्तजन्य विशेषता को लक्ष्य में रखना ही चाहिये किन्तु उसी के भरोसे रहकर हतोत्साह नहीं होना चाहिए। और करना क्या चाहिए सो ही अमृतचंद्रसूरि अपने कलश काव्य में कहते हैं —

'मोक्ष के चाहने वाले को ये समस्त कर्म ही त्यागने योग्य हैं। इस तरह इन समस्त ही कर्मों को छोड़ने से तो पुण्य और पाप की बात ही क्या रह जाती है ? अर्थात् समस्त कर्म में तो पुण्य और पाप दोनों आ ही जाते हैं। इस प्रकार संपूर्ण कर्मों का त्याग हो जाने पर जो ज्ञान है वह अपने सम्यक्त्व आदि अपने स्वभावरूप होने से मोक्ष का कारण हुआ कर्म रहित अवस्था से जिसका रस उद्भूत प्रगट हो रहा है ऐसा होता हुआ स्वयं ही दौड़ आता है अर्थात् संपूर्ण कर्मों को दूर करके ज्ञान स्वयं ही मोक्ष का कारण होकर प्रगट हो जाता है[२]।

---

१. समयसार, गाथा-१६८-१६९, १७०। २. समयसार कलश १०९।

पुनरपि आचार्यदेव एकांत दुराग्रह का त्याग कराने हेतु कहते हैं–

मग्नाः कर्मनयावलंबनपरा ज्ञानं न जानंति ये।
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः।।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं।
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च।।१११।।[१]

अर्थ—जो एकांत से कर्मनय का ही अवलंबन लेने वाले हैं और ज्ञान को जानते ही नहीं हैं वे भी डूब जाते हैं और जो क्रियाकाण्ड को छोड़कर अति स्वच्छंद ही पुरुषार्थ में मंद उद्यम—प्रमाद करने वाले हैं वे ज्ञाननय के इच्छुक होते हुये भी डूब जाते हैं किन्तु जो आप निरंतर ज्ञानरूप होते हुये कर्म को तो करते नहीं तथा प्रमाद के वश में भी नहीं होते हैं वे सर्व विश्व के ऊपर तैरते हैं।।१११।।

अभिप्राय यही है कि जो परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप अपनी आत्मा को तो जानते नहीं हैं और व्यवहाररूप दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप क्रियाओं में ही लगे रहते हैं वे कर्मनय के पक्षपाती हैं। वे एकांती होने से इस संसार समुद्र में ही डूबे रहते हैं तथा जो आत्मस्वरूप को तो ठीक से समझते नही हैं किन्तु किंचित् मात्र ज्ञान लव को पाकर आत्मा को शुद्ध-बुद्ध मानकर क्रियाकाण्ड को छोड़ बैठते हैं, स्वेच्छाचार प्रवृत्ति करते हैं वे भी इस संसार समुद्र में ही डूबे रहते हैं इसलिये एकांत पक्ष का अभिप्राय छोड़कर निरंतर ज्ञानरूप आत्मतत्त्व की भावना करते हुये जब तक आत्मस्वरूप में स्थिर न हुआ जाय तब तक अशुभ कर्म को छोड़कर शुभ कर्म में प्रवृत्ति करना चाहिये और पुनः निर्विकल्प अवस्था का अवलंबन लेकर कर्मों का नाश करके सर्व लोक के ऊपर स्थित हो जाना चाहिये।

आज के युग में निर्विकल्प ध्यान की भावना करते हुये भी अनुष्ठान में ही मुनियों को लगे रहना श्रेयस्कर है एवं श्रावक के लिये तो सिवाय शुभ अनुष्ठान के और कोई चारा ही नहीं है।

गुरुओं की भक्ति से कर्म निर्जरा भी होती है

आइरियउवज्झायाणं, पवत्तयत्थेरगणधरादीणं।
एदेसिं किदियम्मं, कादव्वं णिज्जरट्ठाए।।14।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत–मूलाचार गाथा-593)

अर्थ–आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर इनको कृतिकर्म विधिपूर्वक वंदना और भक्ति कर्मों की निर्जरा के लिये करना चाहिये।

भावार्थ–आचार्य, उपाध्याय आदि मुनियों की भक्ति, वंदना, स्तुति से असंख्य पाप कर्मों की निर्जरा हो जाती है। अतः गुरुओं की भक्ति सतत करते ही रहना चाहिये। आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर संघ में ये पाँच पद मूलाचार में माने गये हैं।

१. समयसार, कलश १११।

२३. मोह का नाश कैसे हो ?

मोह को नाश करने के लिए कारणभूत जिनेन्द्रदेव का उपदेश है, उस उपदेश को अर्थात् जिनेन्द्रदेव की वाणी को प्राप्त करके भी पुरुषार्थ ही अर्थ क्रियाकारी है। बिना पुरुषार्थ के मोह का नाश नहीं किया जा सकता है —

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण[१]।। ८८।। (प्रवचनसार)

अर्थ — जो जिनेन्द्रदेव के उपदेश को प्राप्त करके मोह, राग द्वेष का हनन करता है वह अल्प काल में सर्व दुःखों से छुटकारा पा लेता है।

श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं —

वास्तव में इस दीर्घ संसार में जैसे तैसे बहुत ही मुश्किल से श्री जिनेश्वर का उपदेश मिलता है जो कि तीक्ष्ण तलवार की धार के समान है, जो महापुरुष इस उपदेशरूपी तीक्ष्ण तलवार से मोह, राग और द्वेषरूपी अपने अंतरंग शत्रुओं का सफाया कर देते हैं वे ही जीव संसार के दुःखों से छूट जाते हैं। चूँकि हाथ में तलवार रहते हुये उसका फल यही है कि शत्रु पर प्रहार करना। यदि हाथ में तलवार रहते हुये भी कोई अपने शत्रु का वार सहता रहे और उसका सामना न कर सके या उसे न मार सके तो उसके हाथ में रखी हुई तलवार का क्या उपयोग हुआ ?

आचार्य कहते हैं कि 'अतएव सर्वारंभेण मोहक्षपणाय पुरुषार्थे निषीदामि।' इसलिये संपूर्ण प्रयत्नपूर्वक मोक्ष का क्षपण करने के लिये पुरुषार्थ में सन्नद्ध होता हूँ।

इसी गाथा की टीका करते हुए श्री जयसेनाचार्य कहते हैं —

यह जिनेन्द्रदेव का उपदेश इस संसार में अत्यंत दुर्लभ है। एकेन्द्रिय से दो इंद्रिय पर्याय पाना दुर्लभ है, दो इंद्रिय से तीन इंद्रिय पर्याय को प्राप्त करना दुर्लभ है और तीन इंद्रिय से चार इंद्रिय होना दुर्लभ है, पुनः पंचेन्द्रिय होना अत्यंत दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय पर्याय में भी मनुष्य पर्याय पाना तो बहुत ही कठिन है, मनुष्य पर्याय पाकर भी जिनेन्द्रदेव का उपदेश प्राप्त करना तो अत्यंत ही दुर्लभ है, जैसे-तैसे बड़ी कठिनता से परम्परा से दुर्लभ ऐसे जिन उपदेश को प्राप्त करके भी जो भव्य जीव निज शुद्धात्मा की निश्चल अनुभूति लक्षण निश्चय सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्ज्ञान इन दोनों के साथ अविनाभूत संबंध रखने वाले ऐसे वीतराग चारित्र नामक पैने खड्ग को पा लेता है और वह तीक्ष्ण खड्ग से मोह, रागद्वेष शत्रुओं का नाश कर देता है। वही जीव अपने सम्पूर्ण दुःखों का क्षय कर देता है।

इस गाथा में भगवान कुंदकुंददेव शिष्यों को चरित्ररूप पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दे रहे हैं। टीकाकारों ने इसी भाव को स्पष्ट किया हुआ है। श्री अमृतचंद्रसूरि ने जिनदेव की वाणी को ही पैनी तलवार की धार बताया है और मोहादि शत्रुओं के ऊपर उस शस्त्र का प्रहार करना ही चारित्र है अतः चारित्र को पालन करने की प्रेरणा दी है और स्वयं भी कहा है कि मैं मोह का क्षपण करने के लिए सर्वप्रयत्न से पुरुषार्थ में लगता हूँ।

श्री जयसेन स्वामी ने वीतराग चारित्र को पैनी तलवार बताया है चूँकि साक्षात् रूप में उसी से मोह, राग, द्वेष का निर्मूल नाश होता है। अब सोचना यह है कि जब तक हमें वीतराग चारित्र की प्राप्ति न हो तब तक

१. प्रवचनसार, गाथा-८८।

क्या करना चाहिये ? तब तक सराग चारित्र में प्रवृत्ति करनी चाहिये क्योंकि वह सराग चारित्र ही वीतराग चारित्र को प्राप्त कराने वाला है।

"सराग चारित्र क्या है ?"

अट्ठाईस मूलगुणरूप चारित्र जिसका कि मुनिजन पालन करते हैं वही सराग चारित्र है।"

"यदि हम सराग चारित्र भी ग्रहण न कर सकें तो क्या करना चाहिये ?

तो सराग चारित्र धारण करने की भावना भाते हुए एकदेशरूप पाँच अणुव्रतों को अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि मुनि तो शुद्धोपयोग में स्थित होने की भावना करते हैं और श्रावक मुनि बनने की भावना करते हैं किन्तु अणुव्रत तो ग्रहण अवश्य ही करते हैं और वे ही श्रावक कहलाने के अधिकारी होते हैं।

"मुनियों के मूलगुण तो बंध के ही कारण हैं अतः उनकी भावना कैसे करना ? क्योंकि यह व्यवहार चारित्र भी हेय ही है।

इन मूलगुणों से कर्मों की निर्जरा भी होती है तथा मूलगुणों को धारण किये बिना, इस सराग चारित्र का आश्रय लिये बिना आज तक किसी ने भी वीतराग चारित्र को प्राप्त नहीं किया है अतः यह व्यवहार चारित्र सर्वथा हेय नहीं है अन्यथा तीर्थंकर भगवान स्वयं इस सराग चारित्र को क्यों ग्रहण करते और इस भेद रत्नत्रय को पालन करने का उपदेश भी क्यों देते ? अतः जो चारित्र तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट है वह हेय नहीं कहा जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वीतराग चारित्र की अपेक्षा सराग चारित्र हेय है किन्तु वीतराग चारित्र को प्राप्त करने का यही मार्ग होने से यह उपादेय भी है।

'जो अन्त में छोड़ने योग्य है ऐसा व्यवहार चारित्र क्यों ग्रहण करना ? वास्तव में तो मोक्ष की भावना करना ही सर्वोत्तम है।

भाई ! भावना तो आप भगवान बनने की ही करिये किन्तु यहां पर शरीर के साथ रहते हुये कम से कम इंसान तो बने रहिये और यह व्यवहार चारित्र ही आपको इंसान बनाता है अन्यथा आप क्या करेंगे ? व्यवहार चारित्र को अर्थात् पाँच अणुव्रत और पाँच महाव्रतों को हेय समझकर क्या पाँच पापों का सेवन करते रहेंगे ? आखिर करेंगे क्या ? व्रत नहीं तो अव्रतरूप ही तो प्रवृत्ति होगी।"

अतः सम्यग्दृष्टि बनकर मोक्ष की प्राप्ति का ध्येय रखना चाहिए किन्तु यदि श्रावक हैं तो मुनि होने की भावना भानी चाहिए और मुनि हैं तो शुद्धोपयोग को प्राप्त करने की सतत भावना रहनी चाहिये। यह भावना दोषास्पद नहीं प्रत्युत कर्म निर्जरा के लिये भी कारणभूत सामग्री की उपेक्षा करने से और मात्र मोक्ष को प्राप्त करने की भावना करते रहने से मोक्ष की प्राप्ति असंभव ही है।

२४. पुण्यफला अरहंता

भगवान कुन्दकुन्द देव कहते हैं कि—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तह्मा सा खाइग त्ति मदा।।४५।।[१]

अर्थ—अर्हंत भगवान पुण्य प्रकृति के फल हैं और उनकी क्रिया निश्चय से औदयिकी है फिर भी वह मोहादिक से रहित है अतः क्षायिक मानी गई है।

श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं—

"अर्हंतः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवंति।" अर्हंत भगवान सचमुच में अच्छी तरह से पके हुये समस्त पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के फल ही हैं अर्थात् संपूर्ण पुण्य यदि एक साथ अच्छी तरह से कहीं फलते हैं तो वे अरिहंत भगवान में ही फलते हैं, अन्यत्र नहीं। उन अर्हंत देव की जो क्रियायें हैं वे विहार करते हैं, समवसरण में आसन पर विराजते हैं, खड़े होते हैं और उपदेश करते हैं ये जो कुछ भी उनकी क्रियायें हैं वे सब उस तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य के उदय से ही उत्पन्न होती हैं अतः वे औदयिक कहलाती हैं। ऐसा होने पर भी महामोह राजा के सर्वथा क्षय हो जाने से उनके समस्त मोह, राग और द्वेष का सर्वनाश हो चुका है अतः वे क्रियायें अरिहंतदेव के चैतन्य में विकार उत्पन्न नहीं कर सकती हैं। यही कारण है कि उन्हें औदयिकी होते हुए भी क्षायिकी कह दिया है चूँकि वे कर्म बंध के लिये कारण नहीं होती हैं प्रत्युत वे क्रियायें उन प्रभु के मोक्ष के लिए कारणभूत हैं।

यही हेतु है कि कर्मों का उदय भी अर्हंत भगवान के स्वभाव का विघात नहीं कर सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जैसे केवलियों के उपदेश, विहार आदि क्रियायें होते हुये भी उनके कर्म का बंध न होने से उनके स्वभाव का घात नहीं होता। वैसे ही हम लोग सम्यग्दृष्टि क्रियाएँ करते रहें, हमारे भी कर्मबंध न होने से स्वभाव का विघात नहीं हो सकता है अर्थात् कर्मोदय हमारा भी कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता है ऐसा मान लेवें तो क्या बाधा है ?

भगवान कुंदकुंद देव स्वयं उसका समाधान करते हैं—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं।।४६।।[२]

अर्थ—जो यह माना जाय कि वह आत्मा अपने भाव से शुभ या अशुभरूप नहीं होता है अर्थात् शुभ-अशुभ भाव में परिणत ही नहीं होता है तो समस्त जीव समूह के संसार भी नहीं रहेगा।

टीकाकार भी इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

यदि एकांत से यह मान लिया जाय कि शुभ, अशुभरूप स्वभाव से निजीभाव से यह आत्मा स्वयं उस रूप परिणत नहीं होता है, तब तो वह हमेशा ही सर्वथा विघातरहित शुद्ध स्वभाव से ही अवस्थित रहेगा और ऐसा होने पर सभी जीव समूह समस्त कर्मबंध कारणों से रहित सिद्ध हो जाएंगे पुनः कोई भी जीव अशुद्ध संसारी न रहने से संसार का ही अभाव हो जाएगा तथा सभी जीव सर्वथा नित्यमुक्त ही हो जाएंगे।

१-२. प्रवचनसार, गाथा-४५, ४६।।

परन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि आत्मा के परिणमनशील होने के कारण उसके शुभ या अशुभरूप निजभाव प्रकट ही दिख रहे हैं जैसे कि स्फटिक मणि के पीछे लाल फूल या काला फूल रख दो तो वह लाल या काली दिखने लगती है।

श्री कुंदकुंद देव की इस गाथा से उस एकांत का सर्वथा निराकरण हो जाता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में रंचमात्र में परिवर्तन नहीं कर सकता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानरूप से कर्ता नहीं है किन्तु निमित्तरूप से कर्ता है। जैसे कि मिट्टी घट का उपादान है और कुम्भकार, चाक, दंड आदि निमित्त हैं। जैसे — उपादान के बिना घड़ा नहीं बन सकता वैसे निमित्त के बिना भी अपने आप घड़ा कभी नहीं बन सकता है। दूसरी बात यह है कि निश्चयनय से सभी द्रव्य अपने-अपने में परिणमन कर रहे हैं किन्तु व्यवहार नय से जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों का आपस में संयोग संबंध चला आ रहा है।

यदि ऐसा नहीं मानोगे तो संसार में आप और सभी जीव अपने स्वभावरूप केवलज्ञान, दर्शन आदि को छोड़कर विभावरूप राग, द्वेष से परिणमन क्यों कर रहे हैं ? हमारा ज्ञान मति, श्रुत आदि रूप अल्प क्यों हो रहा है ? अतः मानना पड़ेगा कि परद्रव्य के निमित्त से हमारे स्वाभाविक गुणों का आवरण पड़ा हुआ है तथा हमारे सम्यक्त्व और सुख आदि गुण विपरीत — मिथ्यात्व और दुःख आदि रूप परिणमन कर रहे हैं इसलिये केवली भगवान के समान हमारे क्रियाओं के होते हुए भी कर्मबंध न हो ऐसी बात नहीं है।

"तो हमें क्या करना चाहिये ?"

हमें अशुभ क्रियाओं से बचने का प्रयत्न बलपूर्वक करना चाहिए और शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति रुचि-पूर्वक करनी चाहिये। जब तक हम शुद्ध, निष्क्रिय, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक एक स्वभाव अपनी शुद्ध आत्मा में स्थित नहीं हो सकते हैं तब तक हमें उस निर्विकल्प समाधि को करने के लिए साधन सामग्रीभूत अपने पद के अनुरूप दान, पूजन, तीर्थयात्रा, स्वाध्याय, जिनमंदिर निर्माण आदि कार्यों में अपना तन-मन-धन लगाते रहना चाहिये। शक्य हो तो आर्त-रौद्र ध्यान से बचना चाहिये और शुक्लध्यान के नहीं होने तक धर्मध्यान में ही प्रवृत्ति रखनी चाहिए।"

चारित्र के दो भेद

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं, जिणणाणसदेसियं तं पि।16।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत – चारित्रपाहुड़ गाथा-5)

अर्थ–जिनेन्द्रदेव भाषित ज्ञान दर्शन से शुद्ध पहला सम्यक्त्व चरण चारित्र है और दूसरा संयमचरण चारित्र है वह भी जिनेन्द्रदेव के ज्ञान से उपदेशित शुद्ध है।

२५. चारित्र से ही निर्वाण की प्राप्ति

'हे भगवन्! मोक्ष की प्राप्ति का कारण क्या है ?'

'दर्शन[१] ज्ञान है प्रधान जिसमें, ऐसा चारित्र इस जीव को देवेन्द्र, असुरेन्द्र और चक्रवर्ती के वैभव के साथ-साथ निर्वाण को प्राप्त करा देता है।'

'तो क्या चारित्र सांसारिक अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों फलों को दे सकता है ?'

'हाँ, चूँकि उस चारित्र के दो भेद किये गये हैं—सराग और वीतराग। इसमें से जो सराग चारित्र है उसका फल तो देवेन्द्र, अहमिन्द्र, धरणेन्द्र और मनुजराज का वैभव ही है तथा परम्परा से मोक्ष भी है किन्तु वीतराग चारित्र मोक्ष का ही कारण है।'

'सराग चारित्र सम्यग्दर्शन सहित होता है या रहित ?'

'यह तो ऊपर ही कहा है कि जिसमें दर्शन और ज्ञान प्रमुख हैं वही चारित्र मोक्ष का कारण है तथा सराग चारित्र भी परम्परा से मोक्ष का कारण है अतः यह भी दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन से सहित ही होता है।'

'गुरुवर्य! यह चारित्र किस-किस गुणस्थान में होता है सो भी बतलाइये ?'

'हे भव्य! तुम इस प्रश्न का उत्तर ध्यानपूर्वक सुनो! चौथे गुणस्थान में मात्र सम्यक्त्व है अतः उसे असंयत या अविरत कहते हैं अतः वहाँ संयम अर्थात् चारित्र नहीं है। पंचम गुणस्थान में देशचारित्र अर्थात् अणुव्रत होते हैं अतः उसमें संयमासंयम या देश संयम होता है। छठे गुणस्थान में सराग चारित्र होता है चूँकि यहाँ देव, धर्म, गुरु आदि के विषय में प्रशस्त राग विद्यमान है। सातवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग तरतम भाव से माना गया है। इस अपेक्षा से वीतराग चारित्र भी सप्तम से प्रारंभ होकर बारहवें तक पाया जाता है, आगे चारित्र का फल है सो ही देखिये—'मिथ्यात्व[२], सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों में तरतमता से अशुभोपयोग होता है, असंयतसम्यग्दृष्टि, देशविरत और प्रमत्तसंयत गुणस्थान में तरतमता से शुभोपयोग होता है, अप्रमत्तसंयत आदि सप्तम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग होता है, आगे सयोगीजिन और अयोगीजिन अर्थात् तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हंत अवस्था में और चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल माना गया है।'

सर्वथा वीतरागता की दृष्टि से अर्थात् सिद्धांत ग्रंथों की अपेक्षा से ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानवर्ती को ही वीतराग संज्ञा है क्योंकि दशवें गुणस्थान तक कषायों का उदय विद्यमान है इसलिए वहाँ तक का चारित्र भी सराग चारित्र कहा जा सकता है। उपर्युक्त अध्यात्म का कथन जो कि सप्तम से वीतराग चारित्र को मानता है उसमें बुद्धिपूर्वक रागादि का न होना ही विवक्षित है क्योंकि वहाँ ध्यान में निर्विकल्प अवस्था होने से उपयोग में राग आदि परिणाम नहीं पाये जाते है इसलिये कथंचित्—बुद्धिपूर्वक राग न होने की अपेक्षा सप्तम गुणस्थान से बारहवें तक वीतराग चारित्र है और कथंचित् किसी अपेक्षा से अर्थात् सर्वथा राग के न होने से चारित्रमोहनीय जन्य कषायों का उदय न होने से पूर्ण निर्मल ऐसा वीतराग चारित्र ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में ही है।'

"आजकल पंचमकाल में कितने गुणस्थान तक होते हैं ?"

"आजकल सप्तम गुणस्थान तक हो सकते हैं। आगे के गुणस्थान उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी वालों

---

१. प्रवचनसार गाथा ६। २. प्रवचनसार गाथा ९ की तात्पर्यवृत्ति टीका।

के ही हैं।"

"ऐसा क्यों ?"

"क्योंकि क्षपक श्रेणी चढ़ने वाले मुनि के तो नियम से वज्रवृषभनाराच नाम का उत्तम संहनन ही होना चाहिए और उपशम श्रेणी वाले के नाराच संहनन, वज्रनाराच संहनन और वज्रवृषभनाराच संहनन इन उत्तम संहननों में से ही कोई होना चाहिए और ये तीनों संहनन इस पंचमकाल में पुरुषों में हो नहीं सकते हैं किन्तु अर्धनाराच, कीलित और असंप्राप्तसृपाटिका ये तीन हीन संहनन ही होते हैं अतएव आजकल के मुनि उपशम या क्षपकश्रेणी पर नहीं चढ़ सकते हैं।"

"ये श्रेणी क्या हैं ?"

"चढ़ते हुये परिणामों का अर्थात् विशुद्धि से वृद्धिंगत होते हुए परिणामों का नाम ही श्रेणी है। आठवें, नवमें, दशवें और ग्यारहवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों का उपशम करते हुए जाना, यह उपशम श्रेणी है और आठवें, नवमें, दशवें गुणस्थान में कषायों का क्षय करते हुए जाना क्षपकश्रेणी है। इस श्रेणी वाला जीव दशवें में मोहनीय का समूल नाशकर बारहवें गुणस्थान में जाकर ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्मों का नाशकर केवली हो जाता है अतः ये चार गुणस्थान क्षपक श्रेणी के हैं। उपशमश्रेणी वाला जीव नियम से नीचे गिरता है।"

"गुरुदेव! एक बात हमें समझनी है ?"

"कहिये! वह क्या है ?"

"यहाँ भगवान कुन्दकुन्ददेव स्वयं ऐसा कह रहे हैं कि 'चारित्र से सुरराज, असुरराज, धरणेन्द्र और मनुजराज का वैभव मिलता है और अन्यत्र ग्रंथों में ऐसा कथन है कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भवनवासी, व्यंतरवासी और ज्योतिषी देवों में जन्म नहीं ले सकता है पुनः असुरराज से भवनवासी देवों में जन्म लेने की बात कैसे कही ?"

"हाँ, तुमने शंका बहुत ही सुंदर उठाई है, इस विषय में श्री जयसेनाचार्य ने शंका उठाकर समाधान किया है। यथा—'असुरेषु मध्ये सम्यग्दृष्टिः कथमुत्पद्यते इति चेत् निदानबंधेन सम्यक्त्व विराधनां कृत्वा तत्रोत्पद्यते इति ज्ञातव्यं।' असुरों में सम्यग्दृष्टि जीव कैसे उत्पन्न होते हैं ? यदि कोई निदानबंध के द्वारा सम्यक्त्व की विराधना करते हैं तो वहाँ पर उत्पन्न हो जाता है, ऐसा जानना चाहिए।

इसी प्रकार से सरागचारित्रयुत भावलिंगी मुनि तपश्चरण करते हुए कदाचित् नारायण या प्रतिनारायण होने का निदान कर लेते हैं तो सम्यक्त्व की विराधना करके इन शलाका पुरुषों में जन्म ले लेते हैं फिर भी सामान्य कथन की अपेक्षा से इस चारित्र को सराग चारित्र कह दिया गया है, ऐसे ही जो वीतराग चारित्र को साक्षात् मोक्षमार्ग का कारण कहा है उसमें भी यदि अधिक बारीकी से करणानुयोग की अपेक्षा देखें तो ग्यारहवें गुणस्थान में निश्चित ही वीतराग चारित्र है फिर भी वह गिरता है। यदि उसी गुणस्थान में मरण करे तो सर्वार्थसिद्धि में अहमिंद्र हो जाता है, वहाँ पर देवराज के वैभव को प्राप्त कर लेता है अथवा यदि नीचे उतर आता है और मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है तथा मरकर एकेन्द्रिय आदि में चला जाता है तो कुछ अन्तर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गल परिवर्तन तक संसार में परिभ्रमण कर लेता है। पुनः वीतराग चारित्र भी साक्षात् मोक्ष का कारण कहां रहा ? यहाँ पर भी यही समाधान है कि क्षपकश्रेणी वाले के वीतराग चारित्र की प्रधानता है अतः इस अध्यात्मशास्त्र में जो भगवान कुंदकुंददेव का कथन है और टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि का

कथन है वह सामान्य की अपेक्षा से है। यह विशेष विवक्षा करणानुयोग की अपेक्षा रखती है।

करणानुयोग हीरे के कांटे जैसा तोल करने वाला है क्योंकि इसमें अणुमात्र की भी हानि, वृद्धि का प्रमाण बता दिया जाता है तथा अध्यात्म आदि ग्रंथों में इतना बारीक विवेचन नहीं होता है। जैसे कि किसी ने कहा — यह सहस्रदल कमल है तो उसमें हजार ही दल हों ऐसा नहीं है किन्तु एक दो कम या एक दो अधिक भी हो सकते हैं। फिर भी वह कमल सहस्रदल ही कहा जाता है, इसी तरह यह कथन समझना चाहिए।

भगवन्!

'संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो।।६।।'[१]

यदि इस गाथा में द्वितीय चरण को 'देवे सुरमणुयरायविहवेहिं'। ऐसा बदलकर पढ़ें तो अर्थ ठीक हो जाता है अर्थात् देवों में जन्म लेते हैं तथा सुरराज एवं मनुजराज के वैभवों को प्राप्त करते हैं। इस अर्थ में असुरराज अर्थ नहीं आता है।

'नहीं नहीं, ऐसे गाथा का चरण बदलना उपयुक्त नहीं है। देखो, श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी वैसा ही अर्थ किया है किन्तु गाथा को बदलने का अतिसाहस नहीं किया, यथा — 'सरागा देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बंधः।' सराग चारित्र से देवराज, असुरराज और मनुजराज के वैभवरूप क्लेश का कारण ऐसा बंध होता है। ऐसे ही श्री जयसेनाचार्य भी 'देवासुरमनुष्यराज-विभूतिजनक को' ऐसा ही पाठ रखते हैं। पुनः शंका उठाकर समाधान भी कर देते हैं अतः जब इन उभय टीकाकारों ने गाथा को परिवर्तित करना नहीं सोचा तो हम और आप ऐसा नहीं सोचें।'

'ठीक है भगवन्! आपकी आज्ञानुसार आचार्यों के वचनों को अपेक्षाकृत समझने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसा कि यहां पर सामान्य कथन की विवक्षा है उसी दृष्टि से अर्थसंगत हो जाता है।'

'निष्कर्ष यही निकलता है कि सरागचारित्र से निर्वाणसुख नहीं मिल सकता है। यदि मोक्ष मिलेगा तो वीतराग चारित्र से, सिद्धांत भाषा में शुक्लध्यान से ही मिलेगा क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करना शुक्ल ध्यान का ही काम है। ऐसे ही वीतराग चारित्र होगा तो सरागचारित्र वाले निर्ग्रंथ मुनि के ही होगा न कि अव्रती या देशव्रती वस्त्रधारी के। यद्यपि वीतराग चारित्र की अपेक्षा सराग चारित्र हेय है फिर भी प्रारंभिक अवस्था में धारण किया जाने वाला होने से और वीतराग को प्राप्त कराने वाला होने से कथंचित् उपादेय भी है ऐसा समझना।'

१. प्रवचनसार, गाथा-६।

२६. व्यवहार रत्नत्रय उपादेय है या नहीं?

णियमेण य जं कज्जं तं णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणं।।३।।[१]

जो करने योग्य है नियम से वो ही 'नियम' है।
वो ज्ञान दर्शन औ चरित्ररूप धरम है।।
विपरीत के परिहार हेतु 'सार' शब्द है।
अतएव नियम से ये 'नियमसार' सार्थ है।।३।।

अर्थ—नियम से जो करने योग्य है वह 'नियम' कहलाता है। वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही है। इसमें विपरीत को दूर करने के लिय 'सार' यह पद कहा गया है।

श्री कुंदकुंददेव ने इस गाथा में रत्नत्रय को 'नियम' शब्द से कहा है और उसमें विपरीत अर्थात् मिथ्यात्व को दूर करने के लिए 'सार' यह शब्द प्रयुक्त किया है। इस तरह ग्रंथ का नाम 'नियमसार' रखने की सार्थकता व्यक्त की है। वास्तव में यह 'सार' शब्द 'सम्यक्' शब्द के स्थान पर प्रयुक्त किया गया है। जैसे 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' में सम्यक् शब्द मिथ्यात्व का परिहार करके सबके साथ लग जाता है उसी प्रकार से यहाँ पर सार शब्द से मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का परिहार होकर 'सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र' का ग्रहण हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये।

शंका—मेरी समझ में यह 'सार' शब्द विपरीत-विकल्प अर्थात् भेद रत्नत्रय का परिहार करने के लिये दिया गया है क्योंकि इस ग्रंथ में निर्विकल्परूप अभेद रत्नत्रय का ही प्रतिपादन किया गया है ?

समाधान—आपका यह कथन नितांत गलत है क्योंकि इस तीसरी गाथा के अनंतर चौथी गाथा से ही लेकर आगे चतुर्थ अध्याय पर्यंत गाथा ७५ तक व्यवहार रत्नत्रय को कहा है पुनः इस चतुर्थ अध्याय की अंतिम गाथा ७६ में स्पष्ट कर दिया है कि 'मैंने यहाँ तक व्यवहारनय के चारित्र को कहा है अब इसके आगे निश्चयनय के चारित्र को कहूँगा[२]' इत्यादि। पुनः ये ही श्री कुंदकुंददेव यहीं पर 'सार' शब्द से उस भेद रत्नत्रय का परिहार करने के लिए कैसे कह सकते थे ?

देखिये ! अगली गाथा में ही श्री कुंदकुंद देव क्या कहते हैं—

"नियम—ज्ञान, दर्शन, चारित्र' यह मोक्ष का उपाय है और इसका फल परम निर्वाण है। अब यहाँ इन तीनों की—प्रत्येक की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा होती है।"[३]

इस गाथा में श्री कुंदकुंद देव ने भेद रत्नत्रय को कहने का संकल्प किया है पुनः आगे क्रम से दर्शन, ज्ञान, चारित्र का वर्णन करते हैं। उसमें सबसे पहले सम्यक्त्व का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं—

"आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है[४]।

यह सम्यक्त्व का लक्षण व्यवहारपरक ही है। यदि श्री आचार्य महोदय को 'सार' शब्द से व्यवहार सम्यक्त्व का परिहार करना इष्ट होता तो वे इस महान ग्रंथ में उनका लक्षण क्यों कहते ?

पुनः आगे इसी गाथा में उत्तरार्ध में आप्त का लक्षण बताते हुए कहते हैं—

---

१. नियमसार-श्री कुंदकुंददेवकृत। २. एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं। णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।७६।। ३. नियमसार गा. ४। ४. नियमसार गाथा ५ का पूर्वार्ध।

"जो अशेष दोषों से रहित हैं और सकल गुणों से सहित हैं वे ही आप्त कहलाते हैं।"

"अशेष दोष क्या हैं ?"

"क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग ये अठारह महादोष हैं। ये ही अशेष दोष कहलाते हैं क्योंकि अन्य जो भी दोष होंगे वे सब इन्हीं के अंतर्गत आ जावेंगे। इन महादोषों के नष्ट हो जाने पर सर्व दोषों से रहित अरिहंत परमेष्ठी ही 'आप्त' कहलाते हैं। इस प्रकार से जो इन सर्व दोषों से रहित हैं और केवलज्ञान आदि परम वैभव से युक्त हैं वे ही परमात्मा कहलाते हैं किन्तु जो इनसे विपरीत होते हैं वे परमात्मा नहीं हैं[१]।

यह आप्त का लक्षण नियमसार में कहा गया है। इन दोनों गाथाओं में प्रकारांतर से वीतराग और सर्वज्ञ इन दो विशेषणों को पुष्ट किया गया है क्योंकि रागद्वेष आदि अठारह दोषों के न होने से वीतरागता और केवलज्ञान आदि गुणों के होने से सर्वज्ञता प्रकट होती है पुनः आगे आगम का लक्षण कहते हैं।

"उन आप्त के मुख से निकल हुए वचन जो कि पूर्वापर विरोध दोष से रहित हैं और शुद्ध हैं उन्हें ही 'आगम' यह संज्ञा है तथा इस आगम के द्वारा कहे गये पदार्थ ही तत्त्वार्थ कहलाते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छह 'तत्त्वार्थ' इस नाम से कहे गये हैं। ये नाना गुण और नाना पर्यायों से संयुक्त हैं[२]।

आचार्य महोदय ने इस गाथा में आगम और तत्त्वों का लक्षण बता दिया है तथा प्रकारांतर से आप्त के गुणों में जो हितोपदेशीपना गुण है वह भी इस गाथा से लिया जा सकता है अतः आप्त का लक्षण जो अन्यत्र ग्रंथों में देखने को मिलता है कि वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशता ये तीनों गुण यहाँ पर भी आप्त में घटित हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण भी आप्त, आगम और तत्त्वों के श्रद्धानरूप है। यह लक्षण व्यवहार सम्यग्दर्शन का ही है क्योंकि व्यवहार सम्यग्दर्शन के बिना निश्चय सम्यग्दर्शन अथवा व्यवहार रत्नत्रय के बिना निश्चय रत्नत्रय होना असंभव ही है इसीलिये व्यवहार रत्नत्रय हेय न होकर उपादेय ही है क्योंकि वह निश्चय रत्नत्रय के लिए कारण है और परम्परा से मोक्ष का भी कारण है न कि संसार का।

यहाँ पर व्यवहार से व्यवहाराभास या लोकव्यवहार को नहीं लेना चाहिए क्योंकि जिसके चार अनंतानुबंधी और तीन दर्शनमोह ये सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के होने पर सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ है उसी को आप्त, आगम और तत्त्वों पर सच्चा श्रद्धान हो सकता है अन्य को नहीं, ऐसा समझना चाहिए।

तात्पर्य यह हुआ कि 'नियम' शब्द से 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र' को लेकर 'सार' शब्द से मिथ्यात्व का परिहार करके 'सम्यक्' अर्थ ग्रहण करना चाहिये पुनः प्रत्येक का वर्णन करने में सबसे पहले सम्यक्त्व के लक्षण में सच्चे देव, शास्त्र और उनके द्वारा कथित तत्त्वों पर श्रद्धान करना चाहिए। यहाँ 'तत्त्वार्थ' से छह द्रव्य ही कहे गये हैं। इस व्यवहार रत्नत्रय को सर्वथा उपादेय ही समझना चाहिये क्योंकि जिसने एक बार भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है जब वह भी नियम से मोक्ष जायेगा ही जायेगा, तब जिसने तीनों रत्न प्राप्त कर लिये हैं वह निश्चय रत्नत्रय को प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य ही होगा।

१. नियमसार गाथा ६, ७। २. नियमसार गाथा ८, ९।

२७. यहाँ से मरकर सम्यग्दृष्टि मनुष्य विदेह में जन्म क्यों नहीं लेंगे ?

यहाँ के इस कर्मभूमि में मनुष्य यदि सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते हैं तो देवगति में ही जाते हैं। यदि पहले नरकायु बांध ली है पीछे सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है तो वे प्रथम नरक में जायेंगे। यदि पहले तिर्यंचायु बांध ली है और पुनः सम्यग्दृष्टि हुये हैं तो वे उत्तम भोगभूमि में तिर्यंच होंगे और यदि कदाचित् देव आयु बांध ली है अनंतर सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो उत्तम भोगभूमि के ही मनुष्य होंगे। जैसा कि उदाहरण स्पष्ट है—

विदेह क्षेत्र में रहने वाले जीवों ने पहले मनुष्यायु का बंध कर लिया अनंतर क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया तो पुनः वे इस अवसर्पिणी काल के अंतर्गत तृतीय काल के अवसान समय वहाँ से आकर इसी धरा पर भोगभूमि के कुलकर हुये हैं। यथा—

"प्रतिश्रुति[१] से लेकर नाभिराज ये चौदह मनु पूर्वभव में विदेह क्षेत्र के भीतर महाकुल में राजकुमार थे। ये सभी राजकुमार संयम, तप और ज्ञान से युक्त सत्पात्रों को हमेशा आहारदान देने में कुशल, अपने योग्य अनुष्ठान से संयुक्त और मार्दव आदि गुणों से सहित होते हुए पूर्व में मिथ्यात्व भावना से भोगभूमि की आयु बांधकर पश्चात् जिनेन्द्र भगवान के चरणों के समीप क्षायिक सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं। अपने योग्य श्रुत को पढ़ कर इनमें से कितने की आयु के क्षीण होने पर अवधिज्ञान के साथ यहाँ भोगभूमि में मनुष्य हुये हैं। कितने ही बिना अवधिज्ञान के यहाँ भोगभूमि में जन्में हैं। पुनः ये ही अवधिज्ञानी अपने अवधिज्ञान से और अन्य अपने जातिस्मरण से मनुष्यों के जीवन का उपाय बतलाते हैं। इसीलिये ये 'कुलकर', मनु' आदि कहलाते हैं।"

प्रश्न—पहले यदि कोई जीव मनुष्यायु बांध कर सम्यग्दृष्टि होवे पुनः विदेह में जन्म ले लेवे तो क्या बाधा है ?

उत्तर—विदेह में शाश्वत कर्मभूमि ही है वहाँ पर उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी का परिवर्तन न होने से भोग-भूमि नहीं होती है अतएव पहले आयु बांधकर पुनः सम्यक्त्व प्रकट करने वाले जीव भी यहाँ से विदेहक्षेत्र में जन्म नहीं ले सकते हैं।

मिथ्यात्व, हुंडकसंस्थान, नपुंसकवेद, असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी और नरक आयु ये सोलह प्रकृतियाँ बंध से व्युच्छिन्न हो जाती हैं अर्थात् पहले गुणस्थान तक ही इनका बंध होता है, आगे के दूसरे, तीसरे आदि गुणस्थानों में इनका बंध नहीं होता है। आगे दूसरे गुणस्थान के अंत में ३१ प्रकृतियाँ बंध से व्युच्छिन्न हो जाती हैं—

उनके नाम—

अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, न्यग्रोधसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलकसंहनन, अप्रशस्तविहायोगति, स्त्रीवेद, नीचगोत्र, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उद्योत, तिर्यंचायु, वज्रवृषभनाराच संहनन,

१. तिलोयपण्णत्ति चतुर्थ अधिकार, गाथा ५०४ से ५०८ तक, पृ. २०५-२०६।

औदारिकशरीर, औदारिकअंगोपांग, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और मनुष्यायु ये इकतीस प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान से आगे नहीं बंधती हैं।

ये १६+३१=४७ सैंतालीस प्रकृतियाँ चतुर्थगुणस्थान में मनुष्य के नहीं बंधती हैं अतः यहाँ के मनुष्य यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो विदेहक्षेत्र में नहीं जा सकते हैं और यदि विदेहक्षेत्र के मनुष्य सम्यग्दृष्टि हैं तो वे मरकर यहाँ भरतक्षेत्र और ऐरावतक्षेत्र के मनुष्य नहीं हो सकते हैं। वे देवायु का बंध कर देवगति को ही प्राप्त करते हैं।

हाँ, वहाँ से अर्थात् देवगति से अवधिज्ञान के द्वारा भगवान का समवसरण विदेह क्षेत्र में समझकर वहाँ पर विक्रिया के बल से जाकर सीमंधर भगवान आदि तीर्थंकरों का दर्शन करते हैं।

तिर्यंच भी यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेते हैं तो वे देवगति में ही जाते हैं। यदि उन्होंने पहले ही नरक, तिर्यंच या मनुष्य आयु का बंध कर लिया है पुनः सम्यक्त्व प्राप्त किया है तो वे पहले नरक में, भोगभूमि के तिर्यंच में और भोगभूमि के मनुष्य में ही जन्म लेते हैं, कर्मभूमि में नहीं।

देव और नारकी यदि सम्यग्दृष्टि हैं तो वे कर्मभूमि के ही मनुष्य होते हैं, भोगभूमि के नहीं चूँकि देवगति या नरकगति के जीव मरकर देवगति, नरकगति और भोगभूमि में नहीं जा सकते हैं, ऐसा नियम है।

तात्पर्य यह निकला कि यदि हमें विदेहक्षेत्र में जन्म लेने की उत्कण्ठा है तो पहले सम्यक्त्व को छोड़ना पड़ेगा, पुनः वहाँ जाना होगा और यदि कदाचित् विदेह क्षेत्र में सम्यक्त्व की प्राप्ति न हो सकी है तो न जाने कितने काल तक चतुर्गति में परिभ्रमण करना पड़ेगा और यदि यहाँ पर सम्यक्त्व को न छोड़कर सल्लेखनापूर्वक मरण किया जावेगा तो नियम से देवपर्याय पाकर वहाँ पर भोगों में आसक्त न होकर समवसरण में जिनेन्द्रदेव का दर्शन, उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण आदि का लाभ मिलता रहेगा और अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना आदि करके महान पुण्यसामग्री संचित करके आगे मनुष्यगति में आकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त करने का अवसर मिल जावेगा इसलिये कथमपि सम्यक्त्व को छोड़ना उचित नहीं है।

सम्यक्त्वचरण चारित्र का लक्षण

तं चेव गुणविशुद्धं, जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं, पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।।17।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत- चारित्रपाहुड़ गाथा-8)

अर्थ-वही जिन भगवान का श्रद्धान जब निःशंकित आदि गुणों से विशुद्ध तथा यथार्थ ज्ञान से युक्त होता है तब वही प्रथम सम्यक्त्वचरण चारित्र कहलाता है। यह चारित्र मोक्ष प्राप्ति का साधन है।

भावार्थ-वात्सल्य, विनय, दया, दान, मोक्षमार्ग की प्रशंसा, पर के दोषों को ढकना-उपगूहन, स्थितिकरण और आर्जव भाव ये सब सम्यक्त्व के गुण हैं। शंकादि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ता इन पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन विशुद्ध कहलाता है। ऐसे सम्यक्त्वी के सम्यक्त्वचरण चारित्र होता है।

२८. क्या जीव की रक्षा के भाव मिथ्यात्वरूप हैं ?

जो पुरुष[१] ऐसा मानता है कि मैं परजीव को मारता हूँ और परजीवों द्वारा मैं मारा जाता हूँ वह पुरुष मूढ़ है, अज्ञानी है और जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है क्योंकि जीवों का मरण तो आयु के क्षय से होता है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है और तुम आयु का हरण नहीं कर सकते पुनः तुमने उनका मरण कैसे किया तथा अन्य जीव भी तुम्हारी आयु का हरण नहीं कर सकते पुनः उनके द्वारा भी तुम्हारा मरण कैसे होगा ? इसी तरह जो जीव ऐसा मानता है कि मैं परजीवों को जीवनदान देता हूँ और परजीव भी मेरी रक्षा करते हैं वह मूढ़ है अज्ञानी है परन्तु ज्ञानी इससे विपरीत है अर्थात् ऐसी मान्यता नहीं रखता है क्योंकि आयु के उदय से जीव जीवित रहते हैं ऐसा सर्वज्ञदेव का वचन है और तुम आयु का दान कर नहीं सकते पुनः तुम उन्हें कैसे जीवित रखते हो ? और तुम्हें भी वे आयु प्रदान नहीं कर सकते पुनः वे तुम्हें भी कैसे जिलाते हैं ?

इसी प्रकार से यदि कोई जीव यह मानता है कि मैं अपने द्वारा परजीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ वह जीव मूढ़ है, अज्ञानी है किन्तु ज्ञानी इससे विपरीत है क्योंकि यदि संसारी जीव अपने-अपने कर्मों के उदय से दुःखी या सुखी होते हैं और कर्म तुम दे नहीं सकते पुनः तुमने उन्हें दुःखी या सुखी कैसे किया ?

आगे चलकर समयसार में आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव स्वयं गाथा २६० से २६५ तक कहते हैं कि—

हे आत्मन्! यह जो तेरा अभिप्राय है कि मैं जीवों को दुःखी या सुखी करता हूँ वह तेरा अभिप्राय पाप का बंधक है या पुण्य का बंधक है। अथवा मैं जीवों को मारता हूँ या जिलाता हूँ ऐसा जो तेरा अभिप्राय है वह भी पाप का बंधक है अथवा पुण्य का बंधक है। पुनः आगे कहते हैं निश्चयनय ऐसा कहता है कि जीवों को मारो अथवा मत मारो किन्तु अध्यवसान—परिणामों से बंध होता है। यही बंध का संक्षेप से कथन है।

इसी प्रकार से जो असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह में परिणामों को लगाता है अर्थात् इन पापों को करता है तो वह इन परिणामों से पाप का बंध कर लेता है। उसी प्रकार से जो जीव सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत और परिग्रहत्यागरूप अपरिग्रह महाव्रतरूप परिणामों को करता है उसके इन परिणामों से पुण्य का बंध होता है।

आगे आचार्य स्वयं बाह्य वस्तु के त्याग की उपयोगिता को स्पष्ट करते हैं—

जीवों के जो अध्यवसान—परिणाम हैं वे वस्तु बाह्य पदार्थों को अवलंबन करके होते हैं अतः बाह्य वस्तु से बंध नहीं होता है किन्तु परिणामों से ही बंध होता है।

यह प्रकरण गाथा २४५ से प्रारंभ करके आचार्यदेव ने गाथा २७० तक लिया है। उस अंतिम गाथा में कहते हैं कि—

"ये पूर्वोक्त परिणाम तथा इसी तरह से अन्य भी परिणाम जिनके नहीं हैं वे मुनिराज अशुभ अथवा शुभ कर्म से लिप्त नहीं होते[२] हैं।"

अब यहाँ समझने की बात है कि श्री कुन्दकुन्द भगवान ने जिनके लिए इन मारने, जिलाने अथवा दुःखी, सुखी करने के अभिप्राय को मना किया है वे मुनि हैं और जब वे इन अशुभ और शुभ ऐसे दोनों विकल्पों से छूटकर निर्विकल्प अवस्थारूप परमसमाधि में अर्थात् शुद्धोपयोग में स्थित हो जाते हैं तब वे इन

१. समयसार गाथा २४५ से २६५ तक। २. एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि। ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।।२७०।।समयसार

परिणामों से छूट जाने से पाप अथवा पुण्य कर्मों का बंध नहीं करते हैं। इसके पहले हम और आप जैसे चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्तियों के लिये तो प्रारंभिक अवस्था होने से ये अशुभ और शुभ भाव भी हो रहे हैं और उनके निमित्त से पाप और पुण्य का बंध भी हो रहा है। अधिक से अधिक पुरुषार्थ करें तो हम पाप कर्मों के बंध से ही अपने को बचा सकते हैं पुण्य कर्मों के बंध से बचाने की बात तो आज के युग में असंभव है और यही कारण है कि आज मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अगर पुण्य का भी निरोध हम कर सकते तो अवश्य ही मुक्ति की प्राप्ति हो जाती।

हाँ! इतनी बात अवश्य है कि हमें कर्मसिद्धांत का दृढ़ श्रद्धान करके यह अवश्य निर्णय कर लेना चाहिए कि हम किसी को आयु नहीं दे सकते हैं न हम किसी की आयु को हर सकते हैं प्रत्युत उसमें हम निमित्त अवश्य बन जाते हैं तथा अकालमृत्यु भी जैनसिद्धांतों में मानी है। उस आयु की उदीरण में भी हमारा शस्त्रप्रहार आदि कारण बन सकता है तथा किसी के साता-असाता के उदय या उदीरणा से भी हम निमित्त बन सकते हैं इसलिये कर्मसिद्धांत के निश्चयनय की अपेक्षा तो सभी प्राणियों का जीवन, मरण और सुख, दुःख उनके कर्मों पर निर्भर है फिर भी बाह्य वस्तुयें निमित्त अवश्य होती हैं। आगे चलकर आचार्य ने परिणामों को बंध का कारण कहकर उसी को मुख्य कहा है पुनः यह बात भी स्पष्ट कर दी है कि बाह्य वस्तु के आश्रय से परिणामों में राग-द्वेष होता है अतः बाह्य वस्तु का त्याग भी आवश्यक है। यथा—

प्रश्न—[१]बाह्य वस्तु के होने पर नियम से बंध हो ऐसा अन्वय नहीं है और बाह्य वस्तु के न होने पर बंध न हो ऐसा व्यतिरेक भी नहीं है तो फिर बाह्य वस्तु का त्याग क्यों कराया है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है क्योंकि रागादि परिणामों को दूर करने के लिए ही बाह्य वस्तुओं का त्याग कराया गया है अर्थात् पंचेन्द्रियों के विषयभूत ऐसी बाह्य वस्तुओं के होने पर अज्ञान भाव से राग-द्वेष आदि परिणाम होते हैं और पुनः उन रागादि परिणामों से बंध होता है। इस प्रकार से परम्परा से बाह्य वस्तुयें बंध का कारण हैं किन्तु साक्षात् से बंध का कारण नहीं हैं तथा परिणाम तो निश्चय से बंध के कारण ही हैं।

दूसरी बात यह है कि आचार्य महोदय ने गाथा २६३ और २६४ में कहा है कि हिंसा के समान ही झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप परिणामों से भी पाप बंध होता है और अहिंसा के समान ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह से पुण्य बंध होता है। तो वहाँ पर 'एवं' और 'तथा' शब्द से पीछे के मारने, जिलाने तथा दुःखी-सुखी करने के भावों से संबंध है अर्थात् मारने के भावों से एवं दुःखी करने के भावों से पाप बंध और जिलाने के भावों से एवं सुखी करने के भावों से पुण्य बंध होता है।

अब देखना यह है कि क्या हम आज चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती पुण्य बंध की क्रियाओं से अपने को छुटा सकते हैं ? यदि नहीं, तो फिर जीवों की रक्षा के भाव मिथ्यात्वरूप कैसे हो जावेंगे ? वे तो अहिंसाव्रतरूप हैं चाहे अणुव्रतरूप हों चाहे महाव्रतरूप। हाँ, अहंकार भाव से कर्तृत्व बुद्धि रखकर कोई एकांत से यही सोच ले कि मैं ही इसे जीवनदान देने वाला हूँ, मैं ही रक्षक हूँ, मैं ही सुखी करता हूँ, इसके भाग्य पुण्योदय की कुछ भी आवश्यकता ही नहीं है, सब कुछ कर्ता धर्ता मैं ही हूँ तो अवश्य ही मिथ्यात्व हो जाता है किन्तु निमित्त, नैमित्तिक भाव से कर्तृत्व भाव को रखते हुये एवं कर्मसिद्धांत को समझते हुए भी जो जीव रक्षा के या जीवों को सुखी करने के, मोक्षमार्गी बनाने के शुभ भाव हैं वे मिथ्यात्व नहीं हैं प्रत्युत सम्यक्त्व के सहचारी होने से सातिशय पुण्यबंध के कारण बन जाते हैं। अतिशयरूप प्रशस्त राग से ही

१. गाथा २६५ की टीका श्री जयसेनाचार्य कृत।

अर्थात् जीवों के उद्धार की उत्कट भावना से ही तो सातिशय तीर्थंकर प्रकृति बंध जाती है अतः जीवरक्षा के भाव मिथ्यात्व नहीं है।

हाँ, इतना अवश्य है कि यहाँ पर आचार्यदेव महामुनियों को शुद्धोपयोग की प्राप्ति का उपदेश देते हुए इन पाप और पुण्यरूप दोनों प्रकार के भावों को छोड़कर निर्विकल्प में स्थिर होने की प्रेरणा दे रहे हैं। जैसा कि २७० वीं गाथा से स्पष्ट है। स्वयं कुंदकुंद भगवान ने ही कहा है कि 'जो उपर्युक्त अच्छे या बुरे परिणामों को नहीं करते हैं वे मुनि शुभ या अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते हैं।

श्री अमृतचंद्रसूरि भी कहते हैं कि "येषामेवैतानि न विद्यंते त एव मुनिकुंजराः।" जिनके ऐसे ये परिणाम नहीं है वे ही मुनिकुंजर हैं। किन्तु ऐसा नहीं कहा है कि 'त एव श्रावककुंजराः' वे ही श्रावक कुंजर हैं अर्थात् श्रावकों में यह अवस्था असंभव ही है। वे तो अधिक से अधिक अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए अपने आपको पापों से ही बचा लें ये ही बहुत बड़ी बात है। वस्त्रधारी ऐलक, क्षुल्लक और आर्यिकायें भी शुभोपयोग से आगे शुद्धोपयोग में नहीं जा सकते हैं। उनके निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती है। यही कारण है कि वे पुण्य और पाप दोनों का निरोध कर मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं अतः आगम के अर्थ को सही समझना है तो पूर्वापर संबंध अवश्य जोड़ना चाहिए। यदि आप समयसार की गाथा २४५ से प्रारंभ कर २७० तक संबंध जोड़ेंगे और निश्चयनय की अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए अर्थ करेंगे तो समयसार के सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर अपने सम्यग्दर्शन को निर्मल बनायेंगे अन्यथा जीवदया को ही मिथ्यात्व समझकर शुद्धोपयोग में नहीं पहुँचकर अंततोगत्वा जीवअदया में ही पड़े रहकर पापों का ही बंध करते रहेंगे अतः इससे अच्छा यही है कि गुरुमुख से समयसार ग्रंथ आदि महान ग्रंथों को पढ़ें जिससे अनर्गल अर्थ नहीं किया जा सके।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

हिंसारहिए धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पावयणे, सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।18।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत–मोक्षपाहुड़ गाथा-90)

अर्थ–हिंसारहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव में, निर्ग्रंथगुरु में और अर्हंत के प्रवचन–जिन शास्त्र में जो श्रद्धा है वही सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ–जीव दया ही धर्म है। अठारह दोषों से रहित वीतरागी, हितोपदेशी, सर्वज्ञ भगवान ही देव हैं। दिगम्बर मुद्राधारी मुनि ही गुरु हैं और जिनागम ही सच्चे शास्त्र हैं। इनका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है जो कि मोक्ष-महल की पहली सीढ़ी है।

२९. महिलाओं के कर्तव्य

संसार की दृष्टि में स्त्री और पुरुष दो अंग हैं। जैसे कुंभकार के बिना चाक से बर्तन नहीं बन सकते हैं अथवा कृषक के बिना पृथ्वी से धान्य की फसल नहीं हो सकती है उसी प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों के संयोग के बिना सृष्टि की परम्परा नहीं चल सकती है। इतना सब कुछ होते हुए भी महिलाओं का दायित्व कुछ विशेष ही है। वह क्या है ? उसी पर कुछ प्रकाश डाला जाता है—

आज जब घर में कन्या का जन्म होता है, तब घर वाले ही क्या, अड़ोस-पड़ोस के लोग भी यही सोचने लगते हैं कि यह क्या बला आ गई ? इसका मूल कारण है दहेज। इस दहेज प्रथा ने कितने अनर्थों को जन्म दिया है, यह सब प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। एक समय था, जब कन्या को सबसे श्रेष्ठ रत्न और उनके माता-पिता को सबसे श्रेष्ठ रत्नाकर माना जाता था। देखिए पूर्वाचार्यों के वाक्य—

"कन्यारत्नात्परं नान्यद्। कन्यारत्न से बढ़कर अन्य कोई रत्न नहीं है। तथा—रत्नाकरत्वदुर्गर्वमम्बुधिः श्रयते वृथा।"

यह समुद्र अपने-"रत्नाकरत्व" नाम के खोटे अभिमान को व्यर्थ ही धारण कर रहा है क्योंकि जहाँ इस कन्यारत्न ने जन्म लिया है, ऐसे उसके माता-पिता में ही रत्नाकरपना शोभित होता है अर्थात् कन्यारत्न के जन्मदाता माता-पिता ही सच्चे रत्नों की खान—रत्नाकर होते हैं।

यह बात सुलोचना के स्वयंवर के प्रसंग पर श्री गुणभद्राचार्य ने कही है। वास्तव में जहाँ एक कन्या के स्वयंवर के समय करोड़ों राजा-महाराजा आकर उपस्थित होते थे और सबके मन में यही आशा रहती थी कि यह कन्या मेरे गले में वरमाला डाले। इस विषय में सुलोचना, सीता, द्रौपदी आदि के प्रत्यक्ष उदाहरण आबाल-गोपाल प्रसिद्ध ही हैं लेकिन आज सर्वथा इसके विपरीत स्थिति देखने को मिलती है। कन्याओं के जन्म को हीन दृष्टि से देखने का मूल कारण जो दहेज है, उसका कैसे निर्मूलन किया जाये ? इस पर महिलाओं को सक्रिय कदम उठाना चाहिए। महिलाएँ ही महापुरुषों की जननी हैं। तीर्थंकर जैसे नर-रत्नों को भी जन्म देने का सौभाग्य महिलाओं ने ही प्राप्त किया है। यही कारण है कि महामुनियों ने भी उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा है। श्री मानतुंगाचार्य के शब्द स्पष्ट हैं—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्।
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्ररश्मिं।
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्।।

सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों ही पुत्रों को जन्म देती हैं किन्तु हे भगवन्! आप जैसे पुत्र को जन्म देने वाली माता विरले ही होती हैं। सो ठीक ही है क्योंकि सभी दिशाएँ नक्षत्रों को तो जन्म दे सकती हैं किन्तु हजारों किरणों से देदीप्यमान ऐसे सूर्य को एक पूर्व दिशा ही जन्म देती है।

पातिव्रत्य धर्म में सीता और मैनासुन्दरी के उदाहरण प्रसिद्ध ही हैं। साथ ही पति को उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगाने के लिए रानी चेलना का पुरुषार्थ आज की महिलाओं के लिए एक प्रेरणास्पद उदाहरण है।

प्रायः आजकल महिलाएँ पति को प्रसन्न रखने के लिए उनके साथ क्लबों में घूमना व स्वच्छंद प्रवृत्ति करना ही अपना कर्तव्य समझ लेती हैं। कोई-कोई महिलाएँ तो पति के साथ रात्रिभोजन ही क्या, मदिरापान

आदि भी करने लगती हैं। भोगों में ही सुख मानने वाली कुछ महिलाएँ तो पति को दुर्व्यसनों से नहीं रोक पाती हैं किन्तु धर्मकार्य से गुरुओं के पास जाने से अवश्य रोक देती हैं। आज कितने ही ऐसे उदाहरण देखने में आते रहते हैं।

सचमुच में ऐसी महिलाओं को ही आचार्यों ने दुर्गति का द्वार बतलाया है। यथा—

''शरणमशरणं वो बंधवो बंधमूलं।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।। ६०।।[१]

जिस घर को शरण समझते हैं वह अशरण हैं, बन्धुवर्ग बंधन के मूल कारण हैं और चिरकाल से परिचित भी स्त्रियाँ आपत्ति के घर का द्वार हैं। ये वाक्य श्रीगुणभद्रसूरि के हैं किन्तु शीलवती महिलाएँ इससे विपरीत सन्मार्गदर्शिका भी देखी जाती हैं।

महिलाओं का अपनी संतान के प्रति भी क्या कर्तव्य है ? वास्तव में जो महिलाएँ सुशिक्षित हैं, वे अपनी संतान को सुयोग सांचे में ढाल सकती हैं क्योंकि माताओं की गोद ही बच्चों के लिए प्रारंभिक पाठशाला है। माताएँ बच्चों को प्रारंभ से ही लाड़-प्यार के साथ धर्म की घूँटी पिला-पिलाकर सुसंस्कारों से हृष्ट-पुष्ट बना सकती हैं। जब बच्चे कुछ समझने और बोलने लग जाएँ तब उन्हें महामंत्र सिखाना, अच्छे-अच्छे धार्मिक भजनों की पंक्तियाँ रटाना, जैसे-जैसे वे ३-४ वर्ष के होते जाएँ, उन्हें छोटी-छोटी शिक्षास्पद कथाएँ सुनाना, धार्मिक पाठशालाओं में कुछ न कुछ धर्मशिक्षा दिलाते रहना ही बच्चों को सुसंस्कारित करना है। किशोरावस्था में उन्हें कुसंगति से बचाना, मंदिरों में जाने की प्रेरणा देते रहना, गुरुओं के पास ले जाना, तीर्थयात्राओं की वंदना कराते रहना, उनके जीवन में सद्विचारों के बीजारोपण करना है। खासकर ग्रीष्मावकाश में बालक-बालिकाओं को गुरुओं के पास धर्म शिक्षा दिलाना, धार्मिक पढ़ाई में शिक्षण शिविरों में भाग दिलाना, छुट्टी के दिनों का बहुत बड़ा सदुपयोग है।

युवकों को धर्म कथाओं के माध्यम से चारित्रवान बनाना चाहिए। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र, जंबूकुमार, अकलंक, निकलंक आदि महापुरुषों के आदर्श बालकों के समक्ष पुनः-पुनः कहते रहने से उनमें वैसे बनने के संस्कार सहज ही हो सकते हैं।

कन्याओं के शील की सुरक्षा कैसे रहे ? इस पर भी उनके माता-पिता को सावधान रहना चाहिए। छोटी-छोटी बालिकाओं को कुसंगति से बचाना, युवक नौकरों को घर में न रखना, एक साथ लड़के-लड़कियों को न पढ़ाना, युवक अध्यापक से न पढ़ाना, अश्लील उपन्यास पढ़ने से, अश्लील सिनेमा आदि देखने से दूर रखना चाहिए। प्राचीनकाल में भी राजघरानों में तथा सभ्य घरानों में वृद्ध कंचुकी नौकर रहते थे जिससे कन्याओं की ही नहीं बल्कि युवती महिलाओं के भी शील की सुरक्षा बनी रहती थी। सहशिक्षा की प्रणाली कथमपि श्रेयस्कर नहीं है उसके फलस्वरूप कुछ न कुछ अघटित घटनाएँ होती ही रहती हैं। किशोरावस्था की बालिकाओं को यदि युवक अध्यापक पढ़ाते हैं तो प्रायः उनके शील का अपहरण हो जाया करता है। अश्लील कहानियों और चलचित्रों का कुप्रभाव कोमल और सरल मस्तिष्क को विकृत बनाये बगैर नहीं रहता है।

कन्या विवाह के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर माता बनती है। जिस प्रकार कोयले की खान से कोयला और हीरे की खान से हीरा निकलता है उसी प्रकार अच्छे संस्कारों से संस्कारित शीलवती माता से अच्छे-

१. आत्मानुशासन, श्लोक ६०।

अच्छे नररत्न और कन्या रत्नों का जन्म होता है। दुराचारिणी माता की संतान कभी भी अच्छी नहीं मानी जा सकती है। कुछ प्राकृतिक सृष्टि की व्यवस्था ही ऐसी है। चक्रवर्ती, अर्धचक्री आदि महापुरुषों के अनेक रानियाँ होती हैं, उन सब रानियों की संतान एक पिता की ही होती है किन्तु यदि कोई महिला अनेक पुरुष से समागम करती हो, तो वह स्वयं यह निर्णय नहीं दे सकती है कि इस मेरे पुत्र का पिता कौन है ? यही कारण है कि अपने यहाँ भारतीय संस्कृति में महिलाओं के लिए एक पति ही माना गया है। वैसे यह विषय अतिसूक्ष्म है। विशेष जिज्ञासु महिलाओं को अपने धर्मगुरु व मुनियों के पास में इस विषय को समझना चाहिए इसीलिए पुनर्विवाह, विधवा विवाह, विजातीय विवाह आदि परम्पराएँ आर्य संस्कृति से बाह्य हैं।

शीलवती महिलाएँ मनुष्यों से ही नहीं, देवों से भी पूज्यता प्राप्त कर लेती हैं। शील के प्रभाव से अग्नि का जल हो जाना, सर्प का हार हो जाना, वज्र के फाटक खुल जाना आदि उदाहरण मात्र कल्पनाएँ ही नहीं हैं, आज भी यदि कोई महिला अपने शील को सुरक्षित रखकर अग्नि को जल बनाना चाहे तो सहज सफल हो सकती है। आत्मविश्वास बहुत बड़ी चीज है। यह नियम है कि पंचमकाल के अंत तक भी शीलवती महिलाएँ रहेंगी और आगे छठे काल में भी उनकी परम्परा चल सकेगी पुनरपि आने वाले चतुर्थकाल में उन्हीं शीलव्रती महिलाओं के वंश में तीर्थंकर आदि महापुरुष जन्म लेवेंगे, यह तो सब एकदेश ब्रह्मचर्य अणुव्रत की महत्ता है। ऐसी ब्रह्मचर्याणुव्रत पालन करने वाली महिलाएँ गृहस्थाश्रम में रहकर भी देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय आदि करते हुए धर्म की परम्परा को अक्षुण्ण रखती हैं अनन्तर सल्लेखना से मरण करके सम्यक्त्व और अणुव्रत के प्रभाव से स्त्रीलिंग को छेदकर सौधर्म आदि स्वर्ग में देव हो जाती हैं। कालान्तर में पुरुषलिंग प्राप्तकर जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लेती हैं।

जो महिलाएँ पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत पालन करती हैं, व्रत प्रतिमा आदि व्रतों से अपने शरीर को अलंकृत करती हैं, क्षुल्लिका अथवा आर्यिका बन जाती हैं, वे महिलाएँ ब्राह्मी-सुन्दरी के समान सर्वजनों में पूज्य हो जाती हैं। चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण आदि महापुरुष भी उनकी पूजा करते हैं, उन्हें आहारदान आदि देकर अपने को धन्य मानते हैं। इंद्र भी उनके चरणों की वंदना करते हैं। इस प्रकार से वे स्त्रियाँ सर्वश्रेष्ठ आर्यिका पद में तीनों लोकों में वंद्य हो जाती हैं।

आज भी चंदनबाला, अनन्तमती जैसी कन्याएँ हैं। सीता, मैना, मनोरमा जैसी पतिभक्ता हैं, चेलना जैसी कर्त्तव्यपरायणा हैं और ब्राह्मी-सुन्दरी के पदचिन्हों पर चलने वाली आर्यिकाएँ हैं, हमारी बहनों को उनसे शिक्षा लेनी चाहिए। प्रतिवर्ष एक माह नहीं तो कम से कम एक सप्ताह आर्यिका माताओं के सानिध्य में जाकर उनसे कुछ सीखना चाहिए और स्त्रीसमाज में बढ़ती हुई दहेज प्रथा, सहशिक्षा आदि कुरीतियों को दूर करने में अपने समय को, शक्ति को और धन को लगाना चाहिए।

३०. चौदह धारा

(त्रिलोकसार ग्रंथ के आधार से)

व्यवहार काल के अन्तर्गत कुछ विशेष संख्याएँ

आर्यखण्ड में नाना भेदों से संयुक्त जो काल प्रवर्तता है, उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं। कालद्रव्य अनादिनिधन है, वर्तना उसका लक्षण माना गया है — जो द्रव्यों की पर्यायों को बदलने मे सहायक हो, उसे वर्तना कहते हैं। यह काल अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु बराबर है और असंख्यात होने के कारण समस्त लोकाकाश से भरा हुआ है अर्थात् काल द्रव्य का एक-एक परमाणु लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर स्थित है।

उस काल में अनन्त पदार्थों के परिणमन कराने की सामर्थ्य है अतः वह स्वयं असंख्यात होकर भी अनन्त पदार्थों के परिणमन में सहकारी होता है। जिस प्रकार कुम्हार के चाक के घूमने में उसके नीचे लगी हुई कील कारण है उसी प्रकार पदार्थों के परिणमन में काल द्रव्य सहकारी कारण है। संसार के समस्त पदार्थ अपने-अपने गुण-पर्यायों द्वारा स्वयमेव ही परिणमन को करते रहते हैं और काल द्रव्य उनके परिणमन में मात्र सहकारी कारण होता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और काल द्रव्य बहुप्रदेशी न होने से अस्तिरूप है 'अस्तिकाय' नहीं है।

काल के भेद — काल द्रव्य के निश्चय और व्यवहार के भेद से दो भेद हैं। इनमें से निश्चय काल के आश्रय से व्यवहार काल की प्रवृत्ति होती है। यह व्यवहार काल वर्तना लक्षणरूप निश्चय काल द्रव्य के द्वारा ही प्रवर्तित होता है और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानरूप होकर संसार का व्यवहार चलाने के लिए समर्थ होता है। वह व्यवहार काल समय, आवली, उच्छ्वास, नाड़ी आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। यह ज्योतिष्चक्र के घूमने से ही प्रकट होता है। घड़ी, घंटा, दिन आदि सब व्यवहार काल कहलाते हैं।

व्यवहार काल — एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने काल में एक आकाश प्रदेश का उल्लंघन करे, उस अविभागी काल को 'समय' कहते हैं।

असंख्यात समयों की एक आवली और संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है। इसे 'प्राण' भी कहते हैं। सात उच्छ्वास का एक स्तोक, सात स्तोकों का एक लव, साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली — घड़ी, दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है। एक समय कम एक मुहूर्त को भिन्न मुहूर्त या अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। तीस मुहूर्त का एक दिन, पन्द्रह दिनों का एक पक्ष, दो पक्षों का एक मास, दो मासों की एक ऋतु, तीन ऋतुओं का एक अयन, दो अयनों का एक वर्ष और पाँच वर्षों का एक युग होता है। दो युगों के दस वर्ष होते हैं। दस वर्षों को दस से गुणा करने पर शतवर्ष, शतवर्ष को दस से गुणा करने पर सहस्र वर्ष होता है। इसे दस से गुणा करने पर दस सहस्र वर्ष, इसको भी दस से गुणा करने पर लक्ष वर्ष होता है।

लक्ष वर्ष को ८४ से गुणा करने पर एक 'पूर्वाङ्ग' इस पूर्वाङ्ग को ८४००००० से गुणा करने पर एक 'पूर्व' होता है। पूर्व को ८४ से गुणा करने पर 'पर्वाङ्ग' इसको ८४००००० से गुणा करने पर पर्व होता है। पर्व को ८४ से गुणा करने पर 'नयुतांग' इसको ८४००००० से गुणा करने पर 'नयुत' होता है। नयुत को ८४ से गुणा करने पर 'कुमुदांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'कुमुद' होता है। कुमुद को ८४ से

गुणा करने पर 'पद्मांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'पद्म' होता है। पद्म को ८४ से गुणा करने पर 'नलिनांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'नलिन' होता है। नलिन को ८४ से गुणा करने पर एक 'कमलांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'कमल' होता है। कमल को ८४ से गुणा करने पर एक 'त्रुटितांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'त्रुटित' होता है। त्रुटित को ८४ से गुणा करने पर 'अटटांग' इसको ८४००००० से गुणा करने पर 'अटट' होता है। अटट को ८४ से गुणा करने पर 'अममांग', इसको ८४००००० से गुणा करने पर 'अमम' होता है। अमम को ८४ से गुणा करने पर 'हाहांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'हाहा' प्रमाण होता है। हाहा को ८४ से गुणा करने पर 'हूहांग' और हूहांग को ८४००००० से गुणा करने पर एक 'हूहू' नामक काल का प्रमाण होता है। हूहू को ८४ से गुणा करने पर 'लतांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'लता' नामक प्रमाण होता है। लता को ८४ से गुणा करने पर 'महालतांग' और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'महालता' का प्रमाण होता है। महालता को ८४००००० से गुणा करने पर एक 'श्रीकल्प' होता है और इसको ८४००००० से गुणा करने पर एक 'हस्त प्रहेलित' नामक संख्या का प्रमाण मिलता है। हस्त प्रहेलित को ८४ लाख से गुणा करने पर एक 'अचलात्म' नाम का काल होता है।

इकतीस स्थानों में पृथक्-पृथक् चौरासी को रखकर परस्पर गुणा करने से अचलात्म नाम का प्रमाण प्राप्त होता है, जो नब्बे शून्यांक रूप है। इस प्रकार यह संख्यात काल वर्षों की गणना द्वारा उत्कृष्ट संख्यात जब तक प्राप्त हो, तब तक ले जाना चाहिए। जो वर्षों की संख्या से रहित है, वह असंख्य काल माना जाता है। इसके पल्य, सागर, कल्प तथा अनन्त आदि अनेक भेद हैं।

पल्य-सागर का स्वरूप

कुलकरों की, देव-नारकियों की अवगाहना के प्रमाण में जो 'धनुष' शब्द आया है और आयु तथा अन्तराल में 'पल्य' शब्द का प्रयोग आया है, अब उनको समझने के लिए धनुष और पल्य को बनाने की प्रक्रिया को बतलाते हैं—

अंगुल, धनुष, पल्य आदि की प्रक्रिया— पुद्गल के एक अविभागी टुकड़े को परमाणु कहते हैं। अनन्तानन्त परमाणुओं से एक अवसन्नासन्न बनता है अर्थात्—

अंगुल का प्रमाण— अनन्तानन्त परमाणुओं का- १ अवसन्नासन्न

८ अवसन्नासन्न का	१ सन्नासन्न
८ सन्नासन्नों का	१ ऋुटिरेणु
८ त्रुटिरेणुओं का	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणुओं का	१ रथरेणु
८ रथरेणुओं का उत्तम भोगभूमिजों का	१ बालाग्र
८ इन बालाग्रों का मध्यम भोगभूमिजों का	१ बालाग्र
८ इन बालाग्रों का जघन्य भोगभूमिजों का	१ बालाग्र
८ इन बालाग्रों का	कर्मभूमिजों का १ बालाग्र
८ कर्मभूमिज के बालाग्रों की	१ लिक्षा

८ लिक्षा की	१ यूका
८ यूका की	१ जौ
८ जौ का	१ अंगुल

अंगुल के तीन भेद—उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। उपर्युक्त परिभाषा से सिद्ध हुआ अंगुल उत्सेधागुंल कहलाता है। पाँच सौ उत्सेधांगुल का एक प्रमाणांगुल होता है। जिस काल में भरत और ऐरावत में जो-जो मनुष्य हुआ करते हैं, उस-उस काल में उन्हीं मनुष्यों के अंगुल का नाम आत्मांगुल होता है।

किस अंगुल से किसका माप होता है?—उत्सेधांगुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण और चारों प्रकार के देवों के निवासस्थान व नगरादि का प्रमाण जाना जाता है।

प्रमाणांगुल से द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुंड या सरोवर, जगती और भरत आदि क्षेत्रों का प्रमाण जाना जाता है।

धनुष का प्रमाण—छह अंगुलों का १ पाद, २ पादों की १ वितस्ति, दो वितस्तियों का १ हाथ, २ हाथों का १ रिकु, दो रिकु का १ दण्ड या धनुष अर्थात् ४ हाथ का १ धनुष और दो हजार धनुष का एक कोस होता है।

योजन का प्रमाण—चार कोस का एक योजन होता है, इसे लघु योजन कहते हैं। इसी योजन को पाँच सौ से गुणा करने पर १ महायोजन बनता है यथा—४×५००=२०००, इन २००० कोस का एक महायोजन होता है।

पल्य का प्रमाण—चार कोस के योजन विस्तार वाले गोल गड्ढे का गणित शास्त्र से घनफल निकाल लीजिए अर्थात् एक योजन व्यास वाले एक योजन गहरे गड्ढे का घनफल कर लीजिए।

एक योजन वाले गोल क्षेत्र का घनफल—१×१×१०=१०,

१०=१९/६ परिधि, १९/६×१/४=क्षेत्रफल, १९/२४×१=१९/२४ घनफल

उत्तम भोगभूमि के एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुए मेंढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी खंड करके उन खंडित रोमाग्रों से उस एक योजन विस्तार वाले प्रथम गड्ढे को पृथ्वी के बराबर अत्यन्त सघन भरना चाहिए।

इस गड्ढे के रोमों की संख्या—

४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००।

व्यवहार पल्य—सौ-सौ वर्षों में एक-एक रोम खण्ड के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली हो, उतने काल को 'व्यवहार पल्य' कहते हैं।

उद्धार पल्य—व्यवहार पल्य की रोमराशि में से प्रत्येक रोमखण्ड को असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हो, उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को भरकर पुनः एक-एक समय में एक-एक रोम खण्ड को निकाले, इस प्रकार जितने समय में वह दूसरा पल्य खाली हो जाये, उतने काल को 'उद्धार पल्य' समझना चाहिए।

अद्धा पल्य—उद्धार पल्य की रोम राशि में से प्रत्येक रोम खण्ड के असंख्यात वर्षों के समय प्रमाण खण्ड करके तीसरे गड्ढे के भरने पर और पहले के समान एक-एक समय में एक-एक रोम खण्ड को निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली हो जाये, उतने काल को 'अद्धापल्य' कहते हैं।

मध्य के उद्धार पल्य से द्वीप और समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है, इस अद्धापल्य से नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवों की आयु तथा कर्मों की स्थिति का प्रमाण जाना जाता है।

सागर—दस कोड़ा-कोड़ी व्यवहार पल्य का एक व्यवहार सागर, दस कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्यों का

एक उद्धार सागर, दस कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है अर्थात् एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर कोड़ा-कोड़ी बनता है, ऐसे दस कोड़ा-कोड़ी पल्यों का एक सागर होता है।

कुलकरों की, देव-नारकियों की आयु में जो पल्य और सागर का प्रमाण आया है और ऊँचाई में धनुष का प्रमाण आया है, उनको समझने के लिए इन परिभाषाओं को याद रखना चाहिए।

अब संख्या के विषय रूप जो चौदह धारा हैं, उनके नाम—१. सर्वधारा, २. समधारा, ३. विषमधारा, ४. कृतिधारा, ५. अकृतिधारा, ६. घनधारा, ७. अघनधारा, ८. कृतिमातृक धारा, ९. अकृतिमातृक धारा, १०. घन-मातृक धारा, ११. अघनमातृक धारा, १२. द्विरूप वर्गधारा, १३. द्विरूप घनधारा, १४. द्विरूप घनाघन धारा

१. सर्वधारा—एक संख्या से लेकर दो, तीन आदि केवल ज्ञान पर्यन्त उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण सर्वधारा के भेद हैं अर्थात् एक संख्या सर्वधारा का प्रथम स्थान है, दो संख्या दूसरा स्थान, तीन संख्या तीसरा स्थान, ऐसे उत्कृष्ट अनन्तानन्त पर्यन्त उत्कृष्ट अनन्तानन्त स्थान हो जाते हैं।

२. समधारा—जिसमें सम रूप संख्या पाई जाती है, उसको समधारा कहते हैं। इसके पहले स्थान में दो, दूसरे स्थान में चार, तीसरे स्थान में छह, चौथे स्थान में आठ, ऐसे दो-दो बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान पर्यन्त जानना इसके सर्व स्थान केवलज्ञान के आधे प्रमाण हैं।

सर्वधारा में सम्पूर्ण संख्या के जितने भेद थे, उनमें आधे तो समरूप हैं, आधे विषमरूप हैं, इसलिए इस समधारा के स्थान केवलज्ञान के आधे प्रमाण हैं।

३. विषमधारा—इसी समधारा में विषमरूप संख्या को विषम धारा कहते हैं। इसका पहला स्थान एक, दूसरा स्थान तीन, तीसरा स्थान पाँच, चौथा स्थान सात, ऐसे दो-दो बढ़ते हुए एक कम केवलज्ञान पर्यन्त जानना इसके सब स्थान आधे केवलज्ञान प्रमाण हैं।

४. कृतिधारा—जिसमें वर्गरूप संख्या पाई जाती है, उसको कृतिधारा कहते हैं। इसका प्रथम स्थान एक है। क्योंकि एक को एक से गुणा करने पर एक ही होता है। दूसरा स्थान ४, २ को २ से गुणा करने से ४ होता है। ३ को ३ से गुणा करने पर ९ होता है, किसी भी संख्या को उसी संख्या से गुणा करने पर जो संख्या आती है, उसको कृतिधारा कहते हैं। इस प्रकार इस कृतिधारा के सर्वस्थान केवलज्ञान के वर्गमूल प्रमाण हैं।

५. अकृतिधारा—सर्वधारा के स्थानों में से कृतिधारा के स्थान घटाने पर बचे हुए सभी स्थान अकृतिधारा के जानना। इसका पहला स्थान २ संख्या का, दूसरा स्थान ३ संख्या का, तीसरा स्थान ५ संख्या का, चौथा स्थान ६ का, पाँचवां स्थान ७ का, छटवाँ स्थान का इत्यादिक सब स्थान एक कम केवलज्ञान पर्यन्त जानना।

इसके सभी स्थान केवलज्ञान के वर्गमूल से हीन केवलज्ञान प्रमाण हैं क्यों कृतिधारा में १, ४, ९ आदिक जो अंक आये हैं, वो इसमें नहीं लिये जा सकते।

६. घनमूलधारा—जिसमें घनमूल संख्या पाई जाती है, उसको घनमूल धारा कहते हैं। जैसे एक का घनमूल धारा एक, क्योंकि ३ बार लिखकर परस्पर में गुणा करने पर एक ही आयेगा।

घनधारा का दूसरा स्थान ८ का है, क्योंकि २ को ३ बार लिखकर गुणा करने पर ८ होता है, तीसरा स्थान २७ का है, क्योंकि ३ को ३ बार लिखकर गुणा करने से २७ होते हैं। चौथा स्थान ६४ का है, ४ को ३ बार लिखकर गुणा करने पर ६४ होते हैं। इसके सभी स्थान केवलज्ञान के आसन्न घन पर्यन्त हैं।

केवलज्ञान का आसन्न घन क्या है ?—उसको अङ्क संदृष्टि से बतलाते हैं मान लीजिए केवलज्ञान का प्रमाण ६५५३६ है, इसका आधा ३२७६८ है, ये घनधारा का स्थान है, इसका घनमूल ३२ है। पुनः इसके ऊपर ३३ से गुणा करके ४० तक घनमूल के स्थान हैं। क्योंकि ४० का घन करने पर ६४ हजार होते हैं, इसको आसन्न घन कहते हैं। क्योंकि ४१ का घन करने पर ६८९२१ हो जाता है, सो केवलज्ञान के प्रमाण से अधिक हो जाता है, सो यहाँ संभव नहीं है, इसलिए केवलज्ञान के नीचे जो प्रमाण घनस्थ होवे, उसको केवलज्ञान का आसन्न कहते हैं। इस आसन्न घन का जो घनमूल उसका जो प्रमाण उतने ही धारा के स्थान है।

शंका—केवलज्ञान के अर्धप्रमाण को तुमने कैसे जाना।

समाधान—द्विरूप वर्गधारा के जो स्थान कहेंगे, उसमें पहला, तीसरा, पाँचवां को आदि करके जो विषम स्थान हैं, उनका तो चौथा भाग घनधारा का स्थान जानना। जैसे-द्विरूप वर्गधारा का पहला स्थान ४ है। उसका चौथा भाग है, यह घनधारा का स्थान है। पुनः तीसरा स्थान २५६ उसका चौथा भाग ६४ घनधारा का स्थान है, ऐसे सभी जगह जानना।

पुनः जो दूसरे, चौथे, छठे को आदि करके सम स्थान हैं, उनका आधा प्रमाण घन स्थान जानना। जैसे-दूसरा स्थान १६ उसका आधा स्थान ८ तो घनधारा का स्थान है। ४ स्थान ६५५३६ उसका आधा ३२७६८ ये भी घन स्थान है। यह केवलज्ञान भी द्विरूप वर्गधारा के समस्थान में है, इसलिए इसके आधे प्रमाप को घन स्थान कहा जाता है।

प्रश्न—केवलज्ञान को द्विरूप वर्गधारा के सम स्थान में कैसे जाना।

उत्तर—केवलज्ञान की वर्गशलाका का भी प्रमाण द्विरूप वर्गधारा के समस्थान में कहा है और द्विरूप वर्गधारा के जो स्थान हैं, उनमें प्रमाण समरूप ही हैं, इसलिए जाना। ऐसे घनधारा कही।

७. अघनधारा—जिसमें घनरूप संख्या न पाई जावे, उसे अघन धारा कहते हैं। सर्वधारा में जो स्थान हैं, उनमें घनधारा के स्थान घटाने पर सर्व स्थान इस अघ धारा के जानना इसका प्रथम स्थान में २, दूसरे स्थान में ३, इत्यादिक केवलज्ञान पर्यन्त जानना।

इसके सभी स्थान घनधारा के स्थान के प्रमाण से हीन केवलज्ञान प्रमाण जानना।

८. कृतिमातृका धारा—एक से आदि लेकर सब ही का वर्ग होता है, उसको कृतिमातृका धारा कहते हैं। इसका अन्त स्थान केवलज्ञान का ही वर्गमूल जानना केवलज्ञान के वर्गमूल से भी अधिक का यदि वर्ग करिये तो केवलज्ञान से अधिक प्रमाण हो जावेगा, परन्तु केवलज्ञान से अधिक प्रमाण होता ही नहीं है।

इसलिए इसके स्थान १ से लगाकर १, १ बढ़ते हुए केवलज्ञान के वर्गमूल पर्यन्त होते हैं।

९. अकृतिमातृक धारा—जिसका वर्ग न होवे, ऐसी संख्या जिसमें पाई जाती है, उसको अकृतिमातृक धारा कहते हैं। केवलज्ञान के वर्गमूल से ऊपर १, १ बढ़ते हुए केवलज्ञान पर्यन्त इसकी संख्या है। इसका वर्ग नहीं होता है। इसके सभी स्थान केवलज्ञान के वर्गमूल से हीन केवलज्ञान मात्र जानना। जैसे-मान लीजिए केवलज्ञान का प्रमाण १६ है। १६ का वर्गमूल ४ तो ४ पर्यन्त का वर्ग होता है और ५ से लेकर १६ पर्यन्त का वर्ग नहीं हो सकता है। अगर करिये तो केवल से अधिक प्रमाण हो जायेगा, तो संभव नहीं है।

१०. अघनमातृक धारा—जिसमें घन हो सकता है, ऐसी संख्या जिसमें हो उसको अघनमातृक धारा कहते हैं। सो केवलज्ञान का। अधिक आसन्न घनमूल से लगाकर १, १ बढ़ते हुए केवलज्ञान पर्यन्त इसके स्थान है।

अंक सन्दृष्टि से बतलाते हैं। मान लीजिए केवलज्ञान का प्रमाण ६५५३६ है, इसका आसन्न घन ६४ हजार है। इसका घनमूल ४० है, सो ४० पर्यन्त का तो घन होवे और ४१ से लेकर केवलज्ञान पर्यन्त सब

अघन मातृक धारा हैं।

१२. द्विरूप वर्गधारा—द्विरूप के वर्ग से लेकर पूर्व-पूर्व का वर्ग करते हुए जो संख्या होती है, उसको द्विरूप वर्गधारा कहते हैं। इसका प्रथम स्थान २ का वर्ग ४ है। दूसरा स्थान ४ का वर्ग १६ हैं। तीसरा स्थान १६ का वर्ग २५६ है, चौथा स्थान २५६ का वर्ग ६५५३५ है। पाँचवां स्थान बादाल है ४२९४९६७२९६ है, छठा स्थान एकट्ठी है। ८४४६७४४०७३७०९५५१६१६ पुनः इसी एकट्ठी को एकट्ठी से गुणा करने पर ७वाँ स्थान बन जायेगा, ऐसे संख्यात स्थान हुए जघन्य परीता संख्यात की वर्गशलाका होने तक।

वर्ग शलाका किसको कहते हैं-जितनी बार वर्ग किये जो राशि आती है, उतनी बार ही उसको वर्ग शलाका जानना। जैसे-दूसरी वर्ग शलाका १६ है।

जघन्य परीता संख्यात की वर्ग शलाका के स्थान से लगाकर संख्यात स्थान हुए तब जघन्यपरीता संख्यात के अर्द्ध छेदों का प्रमाण होता है।

अर्द्धच्छेद किसको कहते हैं ?—किसी राशि का जितनी बार आधा होवे, उतने उस राशि के अर्द्धच्छेद होते हैं। जैसे १६ के अर्द्धच्छेद ४ हुए पुनः इस जघन्य परीतासंख्यात के अर्द्धच्छेदरूप स्थान से संख्यात वर्ग स्थान होने पर जघन्य परीता संख्यात वर्गमूल होता है। इससे एक स्थान गये वर्गमूल का वर्ग करने पर अर्थात् जघन्य परीता संख्यात के वर्गमूल को जघन्य परीतासंख्यात के वर्गमूल से गुणा करने पर परीत संख्यात होता है। पुनः संख्यात स्थान जाने पर जघन्य युक्तासंख्यात होता है, सो आवली का प्रमाण है। अर्थात् जघन्य युक्तासंख्यात को आवली कहते हैं।

प्रतरावली किसको कहते हैं ?—आवली को आवली से गुणा करने पर प्रतरावली होती है। पुनः इससे असंख्यात स्थान हो जाने पर अद्धापल्य की वर्ग शलाका राशि होती है। पुनः इससे असंख्यात स्थान और होने पर अद्धापल्य की अर्द्धच्छेद राशि होती है। पुनः इसके ऊपर असंख्यात प्रमाण बीतने पर अद्धापल्य का वर्गमूल होता है। पुनः इससे असंख्यात स्थान होने पर सूच्यंगुल होता है। सूच्यंगुल को सूच्यंगुल से गुणा करने पर प्रतरांगुल होता है। पुनः इससे असंख्यात स्थान और होने पर जगत् श्रेणी का घनमूल होता है।

१३. द्विरूपघन धारा—द्विरूप वर्ग धारा में जिस राशि का जहाँ वर्ग ग्रहण किया था, वहाँ उसका घन इस धारा में जानना इस धारा के सब स्थान दो कम केवलज्ञान की वर्ग शलाका मात्र है।

१४. द्विरूप घनाघन धारा—घनराशि का पुनः घन करने पर घनाघन होता है। द्विरूप वर्गधारा में जो-जो राशि वर्गरूप हैं, उन प्रत्येक राशि का घनाघन इस धारा में प्राप्त होता है।

ये १४ धाराएँ संख्या प्रमाण का विवेचन करते हुए त्रिलोकसार[१] ग्रंथ में आई हैं। उसमें भी अच्छा विस्तार है, फिर भी आचार्यदेव ने कहा है कि यहाँ मैंने इन धाराओं का दिङ्मात्र वर्णन किया है। विशेष जानने वालों को "बृहत्धारा परिकर्म" नाम के ग्रंथ से जानना चाहिए।

गोम्मटसार जीवकांड की टीका[२] में भी कहा है कि इन धाराओं का विस्तार से स्वरूप त्रिलोकसार या 'बृहत्धारा परिकर्म' ग्रंथ से जानना चाहिए।

१. त्रिलोकसार गाथा ५३ से ९१ तक। २. गोम्मटसार जीवकांड संस्कृत टीका सहित पर्याप्ति अधिकार पृ. २८१ से २८५ तक।

३१. सुमेरु पर्वत

महाविदेह क्षेत्र के बहुमध्य भाग में सब तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का आसनरूप मंदर नामक महापर्वत है। यह १००० योजन गहरा (नींव सहित), ९९००० योजन ऊँचा और नींव के तल भाग में १००९०, १०/११ योजन विस्तार वाला है। पृथ्वीतल पर इसका विस्तार १०००० योजन है और अंत में ९९००० योजन की ऊँचाई पर १००० योजन मात्र रह गया है।

यह मेरु पर्वत क्रम से हानिरूप होता हुआ पृथिवी से (भद्रसालवन से) ५०० योजन ऊपर जाकर उस स्थान में युगपत् (चारों ओर) ५०० योजन प्रमाण संकुचित हो गया। अर्थात् यह ५०० योजन की कटनी है इसी का नाम नंदनवन है। इसके ऊपर ११००० योजन तक समान विस्तार है। पुनः क्रम से हानिरूप होते हुए ५१५०० योजन ऊपर जाकर सब ओर से युगपत् ५०० योजन संकुचित हो गया है। अर्थात् यह भी ५०० योजन की कटनी है इसका नाम सौमनस वन है। इसके आगे ११००० योजन तक उसका समान विस्तार है। फिर ऊपर क्रम से हानिरूप होते हुए २५००० योजन जाने पर ४९४ योजन प्रमाण संकुचित हो गया है। अर्थात् यह चारों ओर से ४९४ योजन की कटनी है इसका नाम पांडुक वन है।

ठीक बीच में इसकी चूलिका १२ योजन विस्तृत है और ४० योजन ऊँची है।

इस प्रकार यह पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है तथा १०००+ ५००+ ११०००+५१५००+११०००+ २५०००=१००००० योजन और इसकी चूलिका ४० योजन ऊँची है। पांडुक वन में १२ योजन विस्तृत है। क्रम से घटते हुए अग्रभाग में ४ योजन मात्र रह गई है।

सुमेरु के घटने का क्रम—

सुमेरु के विस्तार में मूल से ऊपर ११ प्रदेशों पर १ प्रदेश की हानि हुई है। इसी प्रकार पाद, हस्त, अंगुल और कोश आदि की ऊँचाई पर भी स्वयं जानना चाहिए।[१]

मेरु पर्वत की ऊँचाई ९९००० योजन है। अतः जब कि ९९००० योजन पर ९००० योजन की हानि होती है, तब १ योजन पर कितनी हानि होगी?

इस प्रकार त्रैराशिक करने पर (९०००×१/९९०००)=१/११ योजन हानिचय का प्रमाण प्राप्त हुआ।[२] इस सुमेरुपर्वत में नंदनवन और सौमनस वन की कटनी ५०० योजन है वहाँ पर एक साथ ५००-५०० योजन दोनों तरफ घट जाने से ही आगे ११००० योजन तक बिल्कुल समान सीधा गया है। अनन्तर घटना प्रारंभ हुआ है।

यह पर्वत मूल में (नींव में) १००० योजन पर्यंत वज्रमय, पृथ्वीतल से ऊपर ६१००० योजन तक उत्तम रत्नमय, इससे ऊपर ३८००० योजन पर्यन्त सुवर्णमय है।[३] इसकी चूलिका नीलवर्णमय वैडूर्यमणि की है।

चूलिका पांडुकवन में १२ योजन विस्तृत है, ऊपर ४० योजन की ऊँचाई पर ४ योजन की रह गई है। इसमें हानि का घटने का प्रमाण योजन का पाँचवा भाग है।[४] (१२-४)÷४०=८/४०=१/५ है।

---

१. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ३७५ से ३७८ तक। २. त्रिलोकसार गाथा ५१४ की उत्थानिका। ३. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ३७९। ४. तिलोयपण्णत्ति, पृ. ३७७।

यहाँ यह समझ में आ जाता है कि जब सुमेरु के घटने में ११ प्रदेश जाने पर १ प्रदेश घटा है जो कि बहुत ही सूक्ष्म है। इसलिए यह पर्वत धागे के डालने के समान बहुत ही चिकनाई से घटा है। यत्र-तत्र, ऊँचा-नीचा कृत्रिम पर्वतों के समान नहीं है।

इसमें जो भद्रशाल, नंदन, सौमनस और पांडुकवन हैं। इन वनों में ही वृक्ष पंक्तियाँ हैं। ये वन भी पृथ्वीकायिक हैं ऐसा लगता है। यथा—

"विविध पादपों से व्याप्त, वनवेदिकाओं से युक्त, नाना मणियों व रत्नों के परिणामरूप, रत्नमय पीठ से शोभित, मणिमय तोरणों से मण्डित, मनोहर सुवर्णमय कुसुमों से शोभित, मरकत मणिमय उत्तम पत्तों से व्याप्त, चम्पक व अशोक वृक्षों से गहन, सप्तच्छद व आम्र कल्पवृक्षों के समूह से परिपूर्ण, वैडूर्यमय फलों से समृद्ध और मूंगामय शाखाओं की शोभा से संयुक्त वनखण्ड जानना चाहिए।[१]

इन चारों वनों में ही चारों दिशाओं में एक-एक जिनमंदिर होने से सोलह जिनमंदिर हैं।

संयम के दो भेद

दुविहं संजमचरणं, सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे, परिग्गहारहिय खलु णिरायारं।।19।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत – चारित्रपाहुड़ गाथा-21)

अर्थ–सागार और अनगार के भेद से संयमचरण चारित्र दो प्रकार का है। उनमें से सागारचारित्र परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार चारित्र परिग्रह रहित मुनियों के होता है।

श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह, अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य।।20।।

(श्री कुंदकुंददेवकृत – चारित्रपाहुड़ गाथा-22)

अर्थ–दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिभोजन त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग ये देशविरत श्रावक के ग्यारह भेद हैं।

---

१. जंबूदीवपण्णत्ति, पृ. ९३।

३२. विपुलाचल पर्वत पर प्रथम दिव्यध्वनि खिरी

भगवान महावीर का समवसरण बन गया था किन्तु भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी। जब प्रभु का श्रीविहार होता था तब समवसरण विघटित हो जाता था एवं प्रभु का श्रीविहार आकाश में अधर होता था। देवगण भगवान के श्रीचरण कमलों के नीचे-नीचे स्वर्णमयी सुगंधित दिव्य कमलों की रचना करते रहते थे पुनः जहाँ भगवान रुकते, अर्धनिमिष मात्र में कुबेर आकाश में अधर ही समवसरण बना देता था।

हरिवंश पुराण में आया है कि छ्यासठ दिन तक मौन से विहार करते हुए प्रभु राजगृह में पहुँचे-

षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम् ।।६१।।
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियम्।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा।।६२।।
इन्द्राग्निवायुभूताख्याः कौडिन्याख्याश्च पण्डिताः।
इन्द्रनोदनयाऽऽयाताः समवस्थानमर्हतः।।६८।।
प्रत्येकं सहिताः सर्वे शिष्याणां पञ्चभिः शतैः।
त्यक्ताम्बरादिसंबंधाः संयमं प्रतिपेदिरे।।६९।।
सुता चेटकराजस्य कुमारी चंदना तदा।
धौतैकाम्बरसंवीता जातार्याणा पुरःसरी।।७०।।
श्रेणिकोऽपि च संप्राप्तः सेनया चतुरंगया।
सिंहासनोपविष्टं तं प्रणनाम जिनेश्वरम् ।।७१।।
प्रत्यक्षीकृतविश्वार्थं कृतदोषत्रयक्षयम् ।
जिनेंद्रं गौतमोऽपृच्छत् तीर्थार्थं पापनाशनम् ।।८९।।
स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः।
दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना।।९०।।
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाण्हे शासनार्थमुदाहरत् ।।९१।।[१]

तदनन्तर छ्यासठ दिन तक मौन से विहार करते हुए श्रीवर्धमान जिनेन्द्र जगत्प्रसिद्ध राजगृह नगर आये। वहाँ जिस प्रकार सूर्य उदयाचल पर आरूढ़ होता है उसी प्रकार वे लोगों को प्रतिबद्ध करने के लिए विपुल लक्ष्मी के धारक विपुलाचल पर्वत पर आरूढ़ हुए।।६१-६२।।

इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति तथा कौण्डिन्य आदि पण्डित इन्द्र की प्रेरणा से श्रीअर्हंत देव के समवसरण में आये। वे सभी पंडित अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों से सहित थे, इन सभी ने वस्त्रादि का त्याग कर संयम धारण कर लिया। उसी समय राजा चेटक की पुत्री कुमारी 'चन्दना' एक स्वच्छ वस्त्र धारण कर आर्यिकाओं में प्रमुख गणिनी हो गयीं। राजा श्रेणिक भी अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ समवसरण में पहुँचे

---

१. हरिवंशपुराण, सर्ग २

और वहाँ पर सिंहासन पर विराजमान श्री वर्द्धमान भगवान को नमस्कार किया।।६८-७१।।

तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले एवं राग-द्वेष और मोह को क्षय करने वाले,पापनाशक श्री जिनेन्द्रदेव से श्री गौतम गणधर ने तीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिए प्रश्न किया।

अनंतर श्रीमहावीर स्वामी ने श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के प्रातःकाल के समय अभिजित् नक्षत्र में समस्त संशयों को छेदने वाले, दुन्दुभि के शब्द के समान गंभीर तथा एक योजन तक फैलने वाली दिव्यध्वनि के द्वारा शासन की परंपरा चलाने के लिए उपदेश दिया।।८०-८१।।

अन्यत्र ग्रंथों में आया है कि-

जब इंद्रराज ने देखा-भगवान को केवलज्ञान होकर ६५ दिन व्यतीत हो गये, फिर भी प्रभु की दिव्यध्वनि नहीं खिर रही है क्या कारण है? चिंतन कर यह पाया कि गणधर का अभाव होने से ही दिव्यध्वनि नहीं खिरी है। तब सौधर्मेंद्र ने इन्द्रभूति ब्राह्मण को इस योग्य जानकर उस अभिमानी को लेने के लिए युक्ति से वृद्ध का रूप बनाया और वहाँ ''गौतमशाला'' में पहुँचे। वहाँ के प्रमुख गुरु 'इन्द्रभूति' से बोले-

'मेरे गुरु इस समय ध्यान में लीन होने से मौन हैं अतः मैं आपके पास इस श्लोक का अर्थ समझने आया हूँ।'

गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण ने विद्या से गर्विष्ठ होकर पूछा-

'यदि मैं इसका अर्थ बता दूंगा तो तुम क्या दोगे?'

तब वृद्ध ने कहा-'यदि आप इसका अर्थ कर देंगे, तो मैं सब लोगों के सामने आपका शिष्य हो जाऊँगा और यदि आप अर्थ न बता सके तो इन सब विद्यार्थियों और अपने दोनों भाइयों के साथ आप मेरे गुरु के शिष्य बन जाना।'

महाअभिमानी इंद्रभूति ने यह शर्त मंजूर कर ली, क्योंकि वह यह समझता था कि मेरे से अधिक विद्वान् इस भूतल पर कोई है ही नहीं। तब वृद्ध ने वह काव्य पढ़ा-

''धर्मद्वयं त्रिविधकालसमग्रकर्म, षड्द्रव्य-कायसहिताः समयैश्च लेश्याः।
तत्त्वानि संयमगती सहितं पदार्थै-रंगप्रवेदमनिशं वद चास्तिकायम् ।।[१]

तब गौतम गोत्र से 'गौतम' नाम से प्रसिद्ध इन्द्रभूति ने कुछ देर सोचकर कहा-'अरे ब्राह्मण! तू अपने गुरु के पास ही चल। वहीं मैं इसका अर्थ बताकर तेरे गुरु के साथ वाद-विवाद करूँगा।'

सौधर्मेंद्र तो यही चाहते थे। तब वेषधारी इंद्रराज गौतम को लेकर भगवान के समवसरण की ओर चल पड़े।

वहाँ मानस्तंभ को देखते ही गौतम का मान गलित हो गया और उन्हें सम्यक्त्व प्रगट हो गया। समवसरण के सारे वैभव को देखते हुए महान आश्चर्य को प्राप्त उन्होंने भगवान महावीरस्वामी का दर्शन किया और भक्ति में गद्गद् होकर स्तुति करने लगे-

'जयति भगवान् हेमाम्भोज-प्रचार-विजृंभिता-वमरमुकुटच्छायोद्गीर्ण-प्रभापरिचुम्बितौ।।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणो। विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः[२]**।।१।।**

स्तुति करके विरक्तमना होकर उन इंद्रभूति ने प्रभु के चरण सानिध्य में जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। तत्क्षण ही उन्हें मति-श्रुत ज्ञान के साथ ही अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया। वे गणधर पद को प्राप्त हो

१. गौतमस्वामी चरित। २. चैत्यभक्ति

गये तभी भगवान की दिव्यध्वनि खिरी थी।

'कषायपाहुड़' ग्रंथ में प्रथम दिव्यध्वनि के बारे में प्रश्नोत्तररूप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है–

जिन्होंने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करके समस्त प्राणियों को संशयरहित किया है, जो वीर हैं—जिन्होंने विशेषरूप से समस्त पदार्थ समूह को प्रत्यक्ष कर लिया है, जो जिनों में श्रेष्ठ हैं तथा राग, द्वेष और भय से रहित हैं ऐसे भगवान महावीर धर्मतीर्थ के कर्ता हैं।

प्रश्न—भगवान महावीर ने धर्मतीर्थ का उपदेश कहाँ पर दिया?

उत्तर—'सेणियराए सचेलणे महामंडलीए सयलवसुहामंडलं भुंजते मगहामंडल–तिलओवमराय....? गिह–णयर–णेरयि–दिसमहिट्ठिय–विउलगिरिपव्वए सिद्धचारणसेविए बारहगण–परिवेड्ढिएण कहियं।[१]

जब महामण्डलीक श्रेणिक राजा अपनी चेलना रानी के साथ सकल पृथिवी मंडल का उपभोग करता था तब मगधदेश के तिलक के समान राजगृह नगर की नैऋत्य दिशा में स्थित तथा सिद्ध और चारणों द्वारा सेवित विपुलाचल पर्वत के ऊपर बारहगणों—सभाओं से परिवेष्टित भगवान महावीर ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

राजगृह नगर के पास स्थित पंचशैलपुर है–जिसे पंचपहाड़ी कहते हैं। पूर्व दिशा में चौकोर आकार वाला ऋषिगिरि नाम का पर्वत है। दक्षिण दिशा में वैभार पर्वत, नैऋत्य दिशा में विपुलाचल नाम का पर्वत है, ये दोनों त्रिकोण आकार वाले हैं। पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में धनुष के आकार वाला 'छिन्न' नाम का पर्वत है। ऐशान दिशा में गोलाकार पांडु नाम का पर्वत है। ये सब पर्वत कुश के अग्रभागों से ढके हुए हैं।

प्रश्न—किस काल में धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है?

उत्तर—भरत क्षेत्र संबंधी अवसर्पिणी काल के दुःषमसुषमा नामक चौथे काल में नौ दिन, छह महिना अधिक तैंतीस वर्ष अवशिष्ट होने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है। कहा भी है—

इम्मिस्सेवसप्पिणीए चउत्थकालस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीसवासावसेसे किंचि विसेसूणकालम्मि[२]।।

इस अवसर्पिणी काल के दुःषमसुषमा नामक चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई है।

आगे इसी को स्पष्ट करते हैं—चौथे काल में पंद्रह दिन और आठ महीना अधिक पचहत्तर वर्ष बाकी रहने पर आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन बहत्तर वर्ष की आयु लेकर मति–श्रुत–अवधि ज्ञान के धारक भगवान महावीर पुष्पोत्तर विमान से च्युत होकर गर्भ में अवतीर्ण हुए। उन बहत्तर वर्षों में तीस वर्ष कुमार काल है, बारह वर्ष छद्मस्थ काल है तथा तीस वर्ष केवली काल है। इन तीनों कालों का जोड़ बहत्तर वर्ष होता है। इस ७२ वर्ष प्रमाण काल को पंद्रह दिन और आठ महीना अधिक ७५ वर्ष में घटा देने पर वर्द्धमान जिनेंद्र के मोक्ष जाने पर जितना चतुर्थ काल शेष रहता है उसका प्रमाण होता है।

इस काल में छ्यासठ दिन कम केवली काल अर्थात् २९ वर्ष, नौ महीना और चौबीस दिन के मिला देने पर चतुर्थकाल में नौ दिन और छह महीना अधिक तैंतीस वर्ष बाकी रहते हैं।

शंका—केवलिकाल में से छ्यासठ दिन किसलिए कम किये हैं?

समाधान—भगवान महावीर को केवलज्ञान की उत्पत्ति हो जाने पर भी छ्यासठ दिन तक धर्मतीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसलिए केवलिकाल में से छ्यासठ दिन कम किये गये हैं।

१–२. कसायपाहुड़ पु. १, पृ. ७३, ७४

जयधवला में कहा है-

''दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती?

गणिंदाभावादो।

सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो?

ण, काललद्धीए विणा असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो।''

शंका— केवलज्ञान की उत्पत्ति के अनंतर छ्यासठ दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई?

समाधान— गणधर न होने से उतने दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति नहीं हुई।

शंका— सौधर्मेन्द्र ने केवलज्ञान प्राप्त होते ही गणधर देव को क्यों नहीं उपस्थित किया?

समाधान— नहीं, क्योंकि काललब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था, उसमें उसी समय गणधर को उपस्थित करने की शक्ति नहीं थी।

शंका— जिसने अपने तीर्थंकर पादमूल में महाव्रत स्वीकार किया है ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरती है?

समाधान— ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव दूसरों के द्वारा प्रश्न करने योग्य नहीं होता है, क्योंकि यदि स्वभाव में ही प्रश्न होने लगे तो कोई व्यवस्था ही न बन सकेगी।

अतएव कुछ कम चौंतीस वर्ष प्रमाण चौथे काल के रहने पर तीर्थ की उत्पत्ति हुई यह सिद्ध हुआ।

कोई अन्य आचार्य ''भगवान वर्द्धमान की आयु ७१ वर्ष, ३ माह २५ दिन प्रमाण है'' ऐसा कहते हैं।

आषाढ़ शुक्ला षष्ठी से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तक ९ माह ८ दिन हुए। चैत्र शुक्ला चतुर्दशी से अट्ठाईस वर्ष व्यतीत कर पुनः मगसिर कृष्णा दशमी तक लेने से अट्ठाईस वर्ष सात माह बारह दिन (२८ वर्ष ७ माह १२ दिन) होते हैं। मगसिर कृ. ११ से आगे बारह वर्ष के बाद वैशाख शुक्ला दशमी को केवलज्ञान हुआ अतः १२ वर्ष, ५ माह १५ दिन बाद केवली हुए हैं। वैशाख शुक्ला ११ से आगे वैशाख शुक्ला १० तक उन्तीस वर्ष पुनः वैशाख शुक्ला ११ से कार्तिक कृष्णा अमावस्या तक पाँच माह बीस दिन ऐसे २९ वर्ष, ५ माह, २० दिन का केवली काल है। इस प्रकार वर्द्धमान जिनेन्द्र की आयु ७१ वर्ष, ३ माह, २५ दिन प्रमाण मानी गयी है।

भगवान महावीर की आयु बहत्तर वर्ष की थी। दूसरे मत से इकहत्तर वर्ष, तीन माह, पच्चीस दिन की थी। ये दोनों मत जयधवला ग्रंथ में आये हैं।

श्रावणकृष्णा एकम् के दिन भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी थी जब इंद्रभूति ब्राह्मण ने वर्द्धमान भगवान से जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की थी। उत्तरपुराण में कहा है—

'श्रीवर्द्धमानमानम्य संयमं प्रतिपन्नवान्।'

श्रीवर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करके सकलसंयम ग्रहण कर लिया था।

दिव्यध्वनि का वर्णन तिलोयपण्णत्ति ग्रंथ में आया है।

जोयणपमाणसंट्ठिद-तिरियामरमणुव णिवहपडिबोधो।
मिदमधुरगभीरतरा-विसदविसयसयल भासाहिं।
अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासा वि सत्तसयसंखा।
अक्खरअणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ।।

एदासिं भासाणं तालुवंदतोट्ठकंठवावारं।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणाणंदकर-भासो।।

एक योजन प्रमाण तक स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को बोध प्रदान करने वाली भगवान की दिव्यध्वनि होती है। यह दिव्यध्वनि मृदु — मधुर, अतिगंभीर और विशद — स्पष्ट विषयों को कहने वाली संपूर्ण भाषामय होती है। यह संज्ञी जीवों की अक्षर और अनक्षररूप अठारह भाषा और सात सौ लघु भाषाओं में परिणत होती हुई, तालु-ओंठ-दाँत तथा कंठ के हलन-चलनरूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्य जीवों को आनंदित करने वाली होती है ऐसी दिव्यध्वनि के स्वामी तीर्थंकर भगवान होते हैं।

षट्खंडागम ग्रंथ में श्रीवीरसेनस्वामी कहते हैं-

"तेण महावीरेण केवलणाणिणा कहिदत्थो तम्हि चेव काले तत्थेव खेत्ते खयोवसम-जणिदचउ-रमलबुद्धि-संपण्णेण बह्मणेण गोदमगोत्तेण सयलदुस्सुदि-पारएण जीवाजीवविसयसंदेह-विणासणट्ठ-मुवगयवड्ढमाण-पादमूलेण इंदिभूदिणावहारिदो।।"

इस प्रकार केवलज्ञानी भगवान महावीर के द्वारा कहे गये पदार्थ को उसी काल में और उसी क्षेत्र में क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न चार प्रकार के-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययरूप निर्मल ज्ञान से युक्त संपूर्ण दुःश्रुति-अन्यमतावलंबी वेद-वेदांग में पारंगत, गौतमगोत्रीय ऐसे इन्द्रभूति ब्राह्मण ने जीव-अजीव विषयक संदेह को दूर करने के लिए श्रीवर्द्धमान भगवान के चरणकमल का आश्रय लेकर ग्रहण किया अर्थात् प्रभु की दिव्यध्वनि को सुना।

इसीलिए भगवान महावीर 'अर्थकर्ता' कहलाये हैं।

'पुणो तेणिंदभूदिणा भावसुदपज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दसपुव्वाणं च गंथणमेक्केण चेव-मुहूत्तेण रयणा कदा।''

पुनः उन इन्द्रभूति गौतमस्वामी ने भावश्रुत पर्याय से परिणत होकर बारह अंग और चौदह पूर्वरूप ग्रंथों की रचना एक ही मुहूर्त में कर दी।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को राजगृही के विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी थी यही प्रथम देशना दिवस — 'वीरशासन जयंती' के नाम से प्रसिद्ध है। उसी दिन श्री गौतमस्वामी ने गणधर पद प्राप्त करके द्वादशांगरूप श्रुत की रचना की थी जो कि मौखिक मानी गई उसे लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता है। आज का उपलब्ध सारा जैन वाङ्मय इस द्वादशांग का अंशरूप है।

३३. संसारी जीव
(चौदह गुणस्थान)

सिद्धं सुद्धं पणमिय, जिणिन्दवरणेमिचन्दमकलंकं।
गुणरयणभूसणुदयं, जीवस्स परूवणं वोच्छं।।

गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इस प्रकार से बीस प्ररूपणा पूर्वाचार्यों ने कही हैं।

इन बीस प्ररूपणाओं द्वारा अथवा इन बीस प्रकरणों का आश्रय लेकर यहाँ जीवद्रव्य का प्ररूपण किया जाता है। "जीवट्ठाण" नामक सिद्धान्त शास्त्र में अशुद्ध जीव के १४ गुणस्थान, १४ मार्गणा और १४ जीवसमास स्थानों का जो वर्णन है वही इसका आधार है। संक्षेप रुचि वाले शिष्यों की अपेक्षा से इन बीस प्ररूपणाओं का गुणस्थान और मार्गणा इन दो ही प्ररूपणाओं में अंतर्भाव हो जाता है। अतएव संग्रहनय से दो ही प्ररूपणा हैं अर्थात् गुणस्थान यह एक प्ररूपणा हुई और चौदह मार्गणाओं में जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग इन पाँचों प्ररूपणाओं का अंतर्भाव हो जाता है जैसे इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणा में जीवसमास गर्भित हो जाते हैं इत्यादि। इसलिये अभेद विवक्षा से गुणस्थान और मार्गणा ये दो ही प्ररूपणा हैं, किन्तु भेद विवक्षा से बीस प्ररूपणायें होती हैं।

'संक्षेप' और 'ओघ' ये गुणस्थान के पर्यायवाची नाम हैं तथा 'विस्तार' और 'आदेश' ये मार्गणा के पर्यायवाची नाम हैं। मोह तथा योग के निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणामों का नाम गुणस्थान है और अपने-अपने कर्म के उदय से होने वाली मार्गणायें हैं।

गुणस्थान का सामान्य लक्षण–दर्शनमोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्था के होने पर होने वाले जीव के परिणाम गुणस्थान कहलाते हैं। गुणस्थान के १४ भेद हैं। उनके नाम——मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली।

चौदह गुणस्थानों के संक्षिप्त लक्षण——(१) मिथ्यात्व के उदय से होने वाले तत्त्वार्थ के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं——एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान अथवा गृहीत और अगृहीत के भेद से मिथ्यात्व के दो भेद भी होते हैं। इन्हीं में संशय को मिला देने से तीन भेद भी हो जाते हैं। विशेष रूप से ३६३ भेद होते हैं यथा——क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानवादियों के ६७ और वैनयिकवादियों के ३२, मिथ्यादृष्टि जीव के परिणामों की अपेक्षा विस्तार से मिथ्यात्व के असंख्यात लोक प्रमाण तक भेद हो जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव को सच्चा धर्म नहीं रुचता है। वह सच्चे गुरुओं के उपदेश का श्रद्धान नहीं करता है, किन्तु आचार्याभासों——मिथ्यादृष्टि गुरुओं द्वारा उपदिष्ट वचनों का श्रद्धान कर लेता है। इस गुणस्थान का काल संख्या, असंख्यात या अनंत भव होता है।

(२) उपशम सम्यक्त्व का जघन्य और उत्कृष्ट काल अंतर्मुहूर्त है। किसी सम्यग्दृष्टि के इस अंतर्मुहूर्त काल में से जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे और उसी काल में अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक के उदय आ जाने से सम्यक्त्व की विराधना होने पर जो

अव्यक्तरूप अतत्त्वश्रद्धान परिणति है उसे सासादन गुणस्थान कहते हैं। इसका काल अति अल्प होने से हम और आप के द्वारा जाना नहीं जाता है। यह जीव सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वत से गिरा और मिथ्यात्वरूपी भूमि पर नहीं पहुँचा, मध्य के काल का नाम सासादन है। इसका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट ६ आवली मात्र है।

(३) दर्शनमोहनीय की सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्र परिणाम होते हैं उसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं। जैसे दही और गुड़ के मिश्रण का स्वाद मिश्र रूप है वैसे ही यहाँ मिश्र श्रद्धान है। इस गुणस्थान में संयम, देशव्रत और मारणांतिक समुद्घात नहीं होता है तथा मृत्यु भी नहीं है। पहले जिस गुणस्थान में आयु बाँधी थी उसी गुणस्थान में जाकर मरण करता है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

(४) अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यक्त्व, क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व एवं सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यक्त्व होता है। इस वेदक सम्यक्त्व में चल, मलिन और अगाढ़ दोष होते रहते हैं। यह सम्यक्त्व भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट छ्यासठ सागर पर्यन्त कर्मों की निर्जरा का कारण है। शंका आदि पच्चीस मल दोषों को दूर करने वाला सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर श्रद्धान करता है। कदाचित् अज्ञानी आदि गुरु के वचनों को अर्हंत के वचन समझकर भी श्रद्धान कर लेता है, फिर भी सम्यग्दृष्टि है। यदि पुनः किसी गुरु ने उसे सूत्रादि ग्रन्थ दिखाकर कहा कि यह गलत है और वह हठ को नहीं छोड़ता है तो उसी समय से वह मिथ्यादृष्टि बन जाता है। यह जीव इन्द्रियों के विषयों से, त्रस स्थावर की हिंसा से विरत नहीं है फिर भी अनर्गलरूप से इंद्रियविषयों का सेवन या हिंसादि कार्य नहीं कर सकता है। अतः जिनेन्द्र भगवान के वचनों पर श्रद्धान करने से अविरतसम्यग्दृष्टि कहलाता है। उपशमसम्यक्त्व का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। वेदक का जघन्य अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट छ्यासठ सागर प्रमाण है और क्षायिक का अनंत काल है। यह सम्यक्त्व केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में ही होता है और तीन या चार भव में जीवों को मोक्ष पहुँचाकर वहाँ शाश्वत विद्यमान रहता है।

(५) यहाँ पर प्रत्याख्यान कषाय का उदय रहने से पूर्ण संयम नहीं होता, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहने से एक देशव्रत होते हैं। अतः इस पंचमगुणस्थान का नाम देशसंयम है। इसमें त्रसवध से विरति और स्थावर वध से अविरति ऐसे विरताविरत परिणाम एक समय में रहते हैं। अतः यह संयमासंयम गुणस्थान है। इसका उत्कृष्ट काल कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक कोटिपूर्व वर्ष प्रमाण है।

(६) यहाँ सकल संयम घातक प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से पूर्ण संयम हो चुका है, किन्तु संज्वलन और नोकषाय के उदय से मल को उत्पन्न करने वाले प्रमाद के होने से इसे प्रमत्तविरत कहते हैं। यह साधु सम्पूर्ण मूलगुण और शीलों से सहित, व्यक्त, अव्यक्त प्रमाद के निमित्त से चित्रल आचरण वाला होता है। स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा, अवनिपालकथा, ४ कषाय, पंचेन्द्रियविषय, निद्रा और स्नेह ये १५ प्रमाद हैं। इन्हें परस्पर में गुणा करने से प्रमाद के ८० भेद हो जाते हैं। यथा–४ × ४ × ५ × १ × १ = ८०।

(७) संज्वलन और नोकषाय के मंद उदय से सकल संयमी मुनि के प्रमाद नहीं हैं अतः ये अप्रमत्तविरत कहलाते हैं। इसके दो भेद हैं—स्वस्थान अप्रमत्त, सातिशय अप्रमत्त। जब तक चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों का उपशमन, क्षपण कार्य नहीं है, किन्तु ध्यानावस्था है तब तक स्वस्थान अप्रमत्त हैं। जब २१ प्रकृतियों का उपशमन या क्षपण करने के लिये मुनि होते हैं तब वे सातिशय अप्रमत्त कहलाते हैं। ये श्रेणी चढ़ने के सन्मुख होते हैं। इस गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त है। चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों का उपशम

या क्षय करने के लिये तीन प्रकार के विशुद्ध परिणाम होते हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। करण नाम परिणामों का है। ये सातिशय अप्रमत्तमुनि अधःप्रवृत्तकरण को करते हैं।

(८) अधःप्रवृत्त करण में अंतर्मुहूर्त रहकर ये मुनि प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धि को प्राप्त होते हुये एवं पूर्व में कभी भी नहीं प्राप्त हुये ऐसे अपूर्वकरण जाति के परिणामों को प्राप्त होते हैं। यहाँ पर एक समयवर्ती मुनियों के परिणामों में सदृशता और विसदृशता दोनों ही होती हैं। इसका काल भी अंतर्मुहूर्त है।

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ध्यान में स्थित एक समयवर्ती अनेकों मुनियों के परिणामों में होने वाली विशुद्धि में परस्पर में निवृत्ति अर्थात् भेद नहीं पाया जाता है इसलिये इसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इसका काल भी अंतर्मुहूर्त है।

(१०) उपशमक या क्षपक मुनि सूक्ष्म लोभ का अनुभव करते हुये सूक्ष्मसांपराय कहलाते हैं। यहाँ यथाख्यातचारित्र से किंचिन्न्यून अवस्था रहती है।

(११) इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म की सम्पूर्ण प्रकृतियों का उपशम हो जाने से परिणाम पूर्ण तथा निर्मल हो जाते हैं और यथाख्यातचारित्र प्रगट हो जाता है। अतएव यहाँ उपशान्त वीतरागछद्मस्थ कहलाते हैं।

(१२) मोहनीय कर्म के सर्वथा नष्ट हो जाने से क्षीणकषाय मुनि निर्ग्रन्थ वीतराग कहलाते हैं। भावार्थ—सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान वाले कोई मुनि उपशम श्रेणी में चढ़ते हुए २१ प्रकृतियों को उपशम करते हुए आठवें, नवमें, दशवें और ग्यारहवें तक जाते हैं वहाँ से गुणस्थान का अंतर्मुहूर्त काल पूर्ण कर नियम से नीचे गिरते हैं क्योंकि उपशम की गई कषाय प्रकृतियों में से किसी का उदय आ जाता है अथवा मरण हो जाता है। जो मुनि २१ प्रकृतियों का नाश करते हुए क्षपक श्रेणी पर चढ़ते हैं वे नियम से ग्यारहवें में न जाकर बारहवें में जाते हैं और वहाँ अंत समय में ज्ञानावरणादि का नाश कर केवली बन जाते हैं।

(१३) यहाँ तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रकट हो जाता है और क्षायिकभावरूप नवकेवललब्धियाँ प्रगट हो जाती हैं। ये परमात्मा अर्हंत परमेष्ठी कहलाते हैं। कुछ अधिक आठ वर्ष कम एक कोटिपूर्व वर्ष तक इस गुणस्थान में केवली भगवान रह सकते हैं।

(१४) सयोगकेवली योग निरोध कर चौदहवें गुणस्थान में अयोगीकेवली कहलाते हैं।

पहले, दूसरे, तीसरे गुणस्थान तक बहिरात्मा, चौथे से बारहवें तक अंतरात्मा एवं तेरहवें, चौदहवें में परमात्मा कहलाते हैं।

आयु कर्म के बिना शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा का क्रम—सातिशयमिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनंतानुबंधी के विसंयोजक, दर्शनमोह के क्षपक, कषायों के उपशामक, उपशांत कषाय, कषायों के क्षपक, क्षीणमोह, सयोगी और अयोगी इन ग्यारह स्थानों में कर्मो की निर्जरा क्रम से असंख्यात गुणी-असंख्यात गुणी अधिक-अधिक होती जाती है।

चौदहवें गुणस्थान के अंत में सम्पूर्ण कर्मों से रहित होकर सिद्ध परमेष्ठी हो जाते हैं। वे नित्य, निरंजन, अष्टगुण सहित, कृतकृत्य हैं और लोक के अग्रभाग में विराजमान हो जाते हैं। आत्मा से सम्पूर्ण कर्मों का छूट जाना ही मोक्ष है। ये सिद्ध परमेष्ठी गुणस्थानातीत कहलाते हैं।

इनमें अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थानवर्ती, पहली प्रतिमा से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक अणुव्रतों का पालन करने वाले देशव्रती पंचमगुणस्थानवर्ती एवं सर्व आरम्भपरिग्रहत्यागी मुनिराज महाव्रती छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती होते हैं।

३४. तीर्थों के विकास की आवश्यकता

वैदिक संस्कृति में संगम को अर्थात् नदियों को तीर्थ मानकर उनमें स्नान करने को पाप प्रक्षालित करने का एक माध्यम माना गया है, पर जैन संस्कृति के अनुसार तीर्थंकर भगवंतों की कल्याणक भूमियों को तीर्थ मानकर उनकी वंदना-पूजा-अर्चना करने से निश्चित ही पापों का क्षालन हो जाता है। वर्तमान तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमियाँ तो अधिकांशतः नगरों में ही हैं, पर निर्वाणभूमियाँ पहाड़ों पर हैं। नदियों में स्नान करने के स्थान पर जिनेन्द्र भगवान की भक्तिरूपी गंगा में अवगाहन करने से समस्त पापकर्मों का धुलना हमारे महान आचार्यों ने वर्णित किया है।

प्रयाग में सन् २००१ में विशाल महाकुंभ का आयोजन हुआ था, मैं उस समय प्रयाग में ही थी। वहाँ के विशिष्ट कार्यकर्ता विशेष निवेदन करके मुझे वहाँ ले गये। माघ वदी अमावस्या (२४ जनवरी) को उनका मुख्य स्नान था और माघ वदी चतुर्दशी (२३ जनवरी) को आदिब्रह्मा भगवान ऋषभदेव का निर्वाणकल्याणक था, तब मैंने प्रेरणा दी कि भगवान ऋषभदेव के नाम से वहाँ पर पाण्डाल बने, पूजन विधान हो, भगवान का मस्तकाभिषेक हो, निर्वाणलाडू चढ़े, तो ही हमारे जाने की सार्थकता है। पुण्योदय से विशाल भीड़ के बीच सारे कार्यक्रम बहुत ही धर्मप्रभावनापूर्वक सम्पन्न हुए, निर्वाण कल्याणक के उपलक्ष्य में वहाँ उपस्थित संतों-महंतों एवं विश्व हिन्दू परिषद-बजरंग दल आदि के सैकड़ों कार्यकर्ताओं द्वारा १००८ निर्वाणलाडू चढ़ाये गये। वि.हि.प. की नवम् संसद में लगातार २-३ दिन तक लगभग १०,००० संतों-महंतों और लाखों की भीड़ के मध्य उद्बोधन देने के लिए मुझसे प्रार्थना की गयी तब मैंने कहा कि इक्ष्वाकुवंशीय श्रीराम के पूर्वज आदिब्रह्मा भगवान ऋषभदेव थे। भगवान ऋषभदेव के इक्ष्वाकु वंश में ही आगे सूर्यवंश में श्रीराम का अयोध्या में जन्म हुआ था, इसलिए अयोध्या की रक्षा मात्र राम जन्मभूमि की ही वरन् ऋषभ जन्मभूमि की भी रक्षा है।

महानुभाव! बात ये है कि आपस में सामंजस्य बिठाकर कैसे हम अपने तीर्थों की रक्षा कर लें, यह हम सबको विचार करना है। कई लोग कह देते हैं-नये-नये मंदिर हर जगह बन रहे हैं, इनका कौन प्रक्षाल करेगा, कौन पूजन करेगा, कौन संभाल करेगा तो मैं कई बार कहा करती हूँ कि बालक जब गर्भ में आता है तो माँ के स्तन में दूध नहीं आता पर जब बालक जन्म ले लेता है तभी उसके पुण्य से माता के स्तन में दूध आता है। तो आप तीर्थों पर जितने मंदिर बनवाते जायेंगे, जितनी प्रतिमाएँ विराजमान करते जायेंगे, उतने-उतने भक्त पैदा होते चले जायेंगे पूजा-प्रक्षाल-संभाल करने वाले। अयोध्या में १७,५०० मंदिर हैं राम के और आपके कितने हैं-केवल ५ टोंक हैं और २ मंदिर हैं, न जाने कितने दिगम्बर जैनियों को तो ये पता तक नहीं था कि अयोध्या में कोई भगवान ऋषभदेव जन्मभूमि या जैनमंदिर भी है। तो बताइये कैसे हम अपने शाश्वत तीर्थ को भूल रहे हैं ?

हमारे दो ही शाश्वत तीर्थ हैं-अयोध्या और सम्मेदशिखर जी। सम्मेदशिखर जी में चोपड़ाकुण्ड पर जब दिगम्बर प्रतिमा को मैंने विराजमान देखा तो पहाड़ के ऊपर ऐसी दिगम्बर जिनप्रतिमाओं को देखकर मुझे जो आंतरिक खुशी हुई और ऐसा कार्य संभव करने वाले कार्यकर्ताओं के लिए हृदय से जो लाखों-लाखों आशीर्वाद स्वतः निकल पड़े, उसको शब्दों में नहीं बताया जा सकता।

आचार्य कहते हैं कि एक खंभे पर कभी जिनालय नहीं टिकता है, उसी प्रकार एक व्यक्ति से न तीर्थ बनते हैं, न समाज बन सकती है, न राष्ट्र बन सकता है और न राज्य की स्थापना हो सकती है, सब मिलकर ही ये कार्य कर सकते हैं क्योंकि किसी में कोई कमी होती है, किसी में कोई कमी होती है। इसलिए कमियों पर

दृष्टिपात न करके जिसमें जो गुण हैं और जो कार्य कर रहे हैं, उनको प्रमुखता देनी है, उनको सहयोग करना है। एक घर में दस बालक होते हैं, आपस में लड़ाई-झगड़ा भी होता है पर किसी बालक को घर से बाहर नहीं निकाल दिया जाता, इसी प्रकार सभी संस्थाओं के बीच सामंजस्य बिठाकर तीर्थों का विकास करना होगा।

तीर्थंकर भगवंतों की जन्मभूमियाँ जैन संस्कृति का उद्गम स्थल हैं भगवान शीतलनाथ की जन्मभूमि में विवाद है, कोई कहता है भद्दिलपुर है, कोई कहता है भद्रकाली है, कोई कोलवा पहाड़ को मानता है तो कोई विदिशा को। भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर के बारे में तो इसलिए सोचना नहीं पड़ा क्योंकि इसे तो सदियों से जनता जन्मभूमि के रूप में पूजती ही आ रही थी। प्रश्न तो वैशाली का है जिसे मात्र १९५६ से बसाकर जन्मभूमि के रूप में थोपने का प्रयास किया जा रहा है। मैं तो मात्र भगवान महावीर की वास्तविक जन्मभूमि को बचाने एवं उसका विकास करने के लिए कुण्डलपुर (नालंदा) आई हूँ, न कि किसी नई जन्मभूमि को बनाने के लिए क्योंकि प्राचीनता का संरक्षण करना ही अपना मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।

जिन तीर्थंकर भगवंतों के अतिशय क्षेत्रों में जाकर एक-दो नहीं हजारों-लाखों दीपक आप लोग जलाते हैं, उन भगवंतों की जन्मभूमियों के क्या हाल हैं? क्या आपने कभी सोचा है? वहाँ एक भी दीपक जलाने वाला कोई है या नहीं क्या इस पर कभी आपका विचार गया है? भगवान महावीर का महावीर जी अर्थात् चांदनपुर, चन्दाप्रभु भगवान का तिजारा, पद्मप्रभु भगवान की पद्मपुरी आज जगमगा रहे हैं और इन्हीं तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ वीरान पड़ी हैं, शाम को घी का एक दीपक जलाकर आरती करने वाला भी कहीं है तो कहीं नहीं है। ऐसी वीरानियत छाई है-चन्द्रपुरी-भगवान चन्द्रप्रभ की जन्मभूमि, कौशाम्बी-भगवान पद्मप्रभ की जन्मभूमि और कुण्डलपुर-भगवान महावीर की जन्मभूमि में। आप अतिशय क्षेत्रों के पीछे यदि भाग रहे हैं तो आपको यह भी सोचना है कि इन तीर्थकरों ने जन्म कहाँ लिया और उन जन्मभूमियों की दशा क्या है? तीर्थंकर जन्मभूमियों के विकास में भी आपको लगना ही होगा।

खैर! सम्मेदशिखर में इतना निर्माण, इतना विकास देखकर मुझे बहुत ही खुशी हुई है और चोपड़ाकुण्ड पर दिगम्बर प्रतिमाओं को विराजमान देखकर तो जो अप्रतिम खुशी हुई है, वह वर्णनातीत है। इस क्षेत्र के सभी कार्यकर्ता दीर्घायु हों, स्वस्थ रहें एवं दत्तचित्त होकर तन-मन-धन से क्षेत्र के विकास में लगे रहें। चोपड़ाकुण्ड में मात्र मुझे ही नहीं कितने-कितने यात्रियों को पहाड़ की वंदना का लाभ प्राप्त हो रहा है। ऐसे तीर्थराज की वंदना का लाभ पुनः-पुनः हम सबको प्राप्त हो, यही मंगल भावना है।

आप लोगों को अपने-अपने नगर में प्रतिवर्ष ऋषभजयंती और ऋषभदेव निर्वाण महोत्सव भी अवश्य मनाना है, क्योंकि अपनी संस्कृति की प्राचीनता का दिग्दर्शन कराने हेतु यह बहुत ही आवश्यक है, साथ ही भगवान पार्श्वनाथ के जन्म व निर्वाण कल्याणक भी आपको अवश्य मनाने चाहिए। तीर्थंकर परम्परा की शाश्वत धारा का जनसाधारण को दिग्दर्शन करना धर्मप्रभावना का ही उत्तम प्रकार है।

सम्मेदशिखर जी तीर्थराज के विकास में एवं तीर्थ क्षेत्र कमेटी के लिए मुख्यरूप से पूज्य आचार्य श्री आर्यनंदी जी महाराज का जो योगदान रहा है, वह अविस्मरणीय है। वास्तव में साधुजनों की प्रेरणा से ही श्रावकों को सम्यक् दिशानिर्देश प्राप्त होता है और ऐसे-ऐसे निर्माणकार्य हो जाते हैं, जो आने वाले अनेकानेक वर्षों तक भव्यजीवों को धर्मपालन के लिए अवसर प्रदान करते हुए अमर हो जाते हैं।

३५. शास्त्रसारसमुच्चयः

(श्रीमाघनन्दियोगीन्द्र-विरचितः)

श्रीमन्नम्रामरस्तोमं प्राप्तानन्तचतुष्टयम्।
नत्वा जिनाधिपं वक्ष्ये शास्त्रसारसमुच्चयम्।।१।।

[१]अथ त्रिविधः कालो द्विविधः षड्विधो वा।।१।। दशविधाः कल्पद्रुमाः।।२।। चतुर्दश कुलङ्करा इति।।३।। षोडशभावनाः।।४।। चतुर्विंशतितीर्थंकराः।।५।। चतुस्त्रिंशदतिशयाः।।६।। पंच महाकल्याणानि।।७।। घातिचतुष्टयम्।।८।। अष्टादश दोषाः।।९।। समवसरणैकादशभूमयः।।१०।। द्वादशगणाः।।११।। अष्टमहाप्रातिहार्याणि।।१२।। अनन्तचतुष्टयमिति।।१३।। द्वादशचक्रवर्तिनः।।१४।। सप्ताङ्गानि।।१५।। चतुर्दशरत्नानि।।१६।। नवनिधयः।।१७।। दशाङ्गभोगा इति।।१८।। नवबलदेववासुदेवनारदाश्चेति।।१९।। एकादशरुद्राः।।२०।।

।।इति शास्त्रसारसमुच्चये प्रथमोऽध्यायः।।१।।

अथ त्रिविधो लोकः।।१।। सप्तनरकाः।।२।। एकोनपंचाशत्पटलानि।।३।। इन्द्रकाणि च।।४।। चतुरुत्तर-षट्च्छतनवसहस्रं श्रेणिबद्धानि।।५।। सप्तचत्वारिंशदुत्तरत्रिंशताधिकनवतिसहस्रालंकृतत्र्यशीतिलक्षं विलानि प्रकीर्णकानि।।६।। एवं चतुरशीतिलक्षविलानि।।७।। चतुर्विधं दुःखमिति।।८।। जम्बूद्वीपलवणसमुद्रा-दयोऽसंख्यातद्वीपसमुद्राः।।९।। तत्रार्धतृतीयद्वीपसमुद्रो मनुष्यक्षेत्रम्।।१०।। षण्णवतिकुभोगभूमयः।।११।। पंचमन्दरगिरयः।।१२।। जम्बूवृक्षाः।।१३।। शाल्मलयश्च।।१४।। विंशतिर्यमकगिरयश्च।।१५।। शतं सरांसि।।१६।। सहस्रं कनकाचलाः।।१७।। चत्वारिंशद्दिग्गजनगाः।।१८।। शतं वक्षारक्ष्माधराः।।१९।। षष्टिर्विभंगनद्यः।।२०।। षष्ट्युत्तरशतं विदेहजनपदाः।।२१।। पंचदशकर्मभूमयः।।२२।। त्रिंशद्भोगभूमयः।।२३।। [२]चतुस्त्रिंशद्वर्षधर-पर्वताः।।२४।। त्रिंशत्सरोवराः।।२५।। सप्ततिर्महानद्यः।।२६।। विंशतिर्नाभिभूधराः।।२७।। सप्तत्यधिकशतं विजयार्धपर्वताः।।२८।। वृषभगिरयश्चेति।।२९।। देवाश्चतुर्णिकायाः।।३०।। भवनवासिनो दशविधाः।।३१।। अष्टविधा व्यन्तराः।।३२।। पंचविधा ज्योतिष्काः।।३३।। द्वादशविधा वैमानिकाः।।३४।। षोडशस्वर्गाः।।३५।। नवग्रैवेयकाः।।३६।। नवानुदिशाः।।३७।। पंचानुत्तराः।।३८।। त्रिषष्टिपटलानि।।३९।। इन्द्रकाणि च।।४०।। षोडशोत्तराष्टशतान्वितसप्तसहस्रं श्रेणिबद्धानि।।४१।। षट्चत्वारिंशदुत्तरैकशतानीतिनवत्यशीतिसहस्रालङ्कृत-चतुरशीतिलक्षं प्रकीर्णकानि (चतुश्चत्वारिंशदुत्तरैक-शतानि नवाशीतिसहस्रालंकृतचतुरशीतिलक्षं प्रकीर्णकानि)।।४२।। त्रयोविंशत्युत्तरसप्तनवतिसहस्रान्वितचतुरशीतिलक्षमेवं विमानानि।।४३।। ब्रह्मलोकालयाश्चतुर्विंशति-लौकान्तिकाः।।४४।। अणिमाद्यष्टगुणाः।।४५।।

।।इतिशास्त्रसारसमुच्चये द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

अथ पंचलब्धयः।।१।। करणं त्रिविधं।।२।। सम्यक्त्वं द्विविधम्।।३।। त्रिविधम्।।४।। दशविधं वा।।५।। तत्र वेदकसम्यक्त्वस्य पंचविंशतिर्मलानि।।६।। अष्टाङ्गानि।।७।। अष्टगुणाः।।८।। पंचातिचारा इति।।९।। एकादशनिलयाः।।१०।। त्रिविधो निर्वेगः।।११।। सप्त व्यसनानि।।१२।। शल्यत्रयम्।।१३।। अष्टौ मूलगुणाः।।१४।। पंचाणुव्रतानि।।१५।। त्रीणि गुणव्रतानि।।१६।। शिक्षाव्रतानि चत्वारि।।१७।। व्रतशीलेषु पंच पंचातीचाराः।।१८।। मौन[३]समयाः सप्त।।१९।। [४]अन्तरायाणि च।।२०।। श्रावकधर्मश्चतुर्विधः।।२१।। जैनाश्रमश्च।।२२।। तत्र ब्रह्मचारिणः

---

१. सिद्धान्तसारादि संग्रहः, पृ. १०९। २. 'त्रिंशद्वर्षधरपर्वताः' इति संभाव्यते। ३. मौनं सप्तस्थानमिति पाठान्तरं क्वचित्। ४. अन्तरायाश्चेत्यपि क्वचित्पाठः।

पंचविधाः।।२३।। आर्यकर्माणि षट्।।२४।। इज्या दशविधाः।।२५।। अर्थोपार्जनकर्माणि षट्।।२६।। दत्तिश्च-तुर्विधा।।२७।। क्षत्रियो द्विविधः[१]।।२८।। भिक्षुश्च[२]तुर्विधः।।२९।। मुनयस्त्रिविधाः।।३०।। ऋषयश्चतुर्विधाः।।३१।। राजर्षयो द्विविधाः।।३२।। ब्रह्मर्षयश्च।।३३।। मरणं द्वित्रिचतुःपंचविधं वा।।३४।। तस्य[३] पंचातिचारा इति[४]।।३५।। द्वादशानुप्रेक्षाः।।३६।। यतिधर्मो दशविधः।।३७।। अष्टाविंशतिर्मूलगुणाः।।३८।। पंचमहाव्रतस्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच।।३९।। तिस्रो[५] गुप्तयः।।४०।। अष्टौ प्रवचनमातृकाः।।४१।। द्वाविंशतिपरीषहाः।।४२।। द्वादशविधं तपः।।४३।। दशविधानि प्रायश्चित्तानि।।४४।। आलोचनं[६] च।।४५।। चतुर्विधो [७]विनयः।।४६।। दशविधानि वैयावृत्यानि।।४७।। पंचविधः स्वाध्यायः।।४८।। द्विविधो व्युत्सर्गः।।४९।। ध्यानं चतुर्विधम्।।५०।। आर्त्तरौद्र[८]धर्मशुक्लं च।।५१।। धर्म्यं [९]दशविधं वा।।४२।। अष्टर्द्धयः।।५३।। बुद्धिरष्टादशविधा।।५४।। क्रिया द्विविधा।।५५।। विक्रियैका-दशविधा।।५६।। तपः सप्तविधम्।।५७।। बलं त्रिविधं।।५८।। भेषजमष्टविधं।।५९।। रसः [१०]षड्विधः।।६०।। अक्षीणर्द्धिर्द्विविधश्चेति।।६१।। चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणाः।।६२।। पंचविधा निर्ग्रन्थाः।।६३।। आचारश्च।।६४।। [११]सामाचारं दशविधं।।६५।। सप्त परमस्थानानि।।६६।।

।।इति शास्त्रसारसमुच्चये तृतीयोऽध्यायः।।३।।

षड्द्रव्याणि।।१।। पंचास्तिकायाः।।२।। सप्त तत्वानि।।३।। नवपदार्थाः।।४।। चतुर्विधो न्यासः।।५।। द्विविधं प्रमाणं।।६।। पंच संज्ञानानि।।७।। [१२]त्रीण्यज्ञानानि।।८।। मतिज्ञानं षट्त्रिंशदुत्तरत्रिशतभेदम्।।९।। द्विविधं [१३]श्रुतज्ञानम्।।१०।। द्वादशाङ्गानि।।११।। चतुर्दशप्रकीर्णकानि।।१२।। त्रिविधमवधिज्ञानम्।।१३।। द्विविधं मनः पर्ययज्ञानम्।।१४।। केवलमेकम[१४]सहायम्।।१५।। नव नयाः।।१६।। सप्त भङ्गा इति।।१७।। पंच भावाः।।१८।। औपशमिको द्विविधः।।१९।। क्षायिको नवविधः।।२०।। अष्टादशविधः क्षायोपशमिकः।।२१।। औदयिकमेक-विंशतिविधम्।।२२।। पारिणामिकं त्रिविधम्।।२३।। गुणजीवमार्गणास्थानानि प्रत्येकं चतुर्दश।।२४।। षट् [१५]पर्याप्तयः।।२५।। दश [१६]प्राणाः।।२६।। चतस्रः [१७]संज्ञोः।।२७।। द्विविधमेकेन्द्रियम्।।२८।। त्रीणि विकलेन्द्रि-याणि।।२९।। पंचेन्द्रियं द्विविधम्।।३०।। गतिश्चतुर्विधा।।३१।। पंचेन्द्रियाणि।।३२।। षड्जीवनिकायाः।।३३।। त्रिविधो योगः।।३४।। पंचदशविधो वा।।३५।। नवविधो वा।।३६।। चत्वारः कषायाः।।३७।। अष्टौ ज्ञानानि।।३८।। सप्त संयमाः।।३९।। चत्वारि दर्शनानि।।४०।। षड्लेश्याः।।४१।। द्विविधं भव्यत्वं।।४२।। षड्विधा सम्यक्त्वमार्गणा।।४३।। द्विविधं संज्ञित्वम्।।४४।। आहार्युपयोगश्चेति।।४५।। पुद्गलाकाशकालास्रवाश्च प्रत्येकं द्विविधम्।।४६।। बन्धहेतवः पंचविधाः।।४७।। बन्धश्चतुर्विधः।।४८।। अष्टौ कर्माणि।।४९।। ज्ञानावरणीयं पंचविधम्।।५०।। * दर्शनावरणीयं नवविधम्।।५१।। वेदनीयं द्विविधम्।।५२।। मोहनीयमष्टाविंशतिविधम्।।५३।। आयुश्चतुर्विधम्।।५४।। द्विचत्वारिंशद्विधं नाम।।५५।। द्विविधं गोत्रम्।।५६।। पंचविधमंतरायम्।।५७।। पुण्यं द्विविधं।।५८।। * पापं च।।५९।। संवरश्च।।६०।। एकादश निर्जराः।।६१।। त्रिविधो मोक्षहेतुः।।६२।। द्विविधो मोक्षः।।६३।। [१८]द्वादश-सिद्धस्थानद्वाराणि।।६४।। अष्टौ सिद्धगुणाः।।६५।।

।।इति शास्त्रसारसमुच्चये चतुर्थोऽध्यायः।।४।।

[१९]श्रीमाघनन्दियोगीन्द्रः सिद्धान्ताम्बोधिचन्द्रमाः।
अचीकरद्विचित्रार्थं शास्त्रसारसमुच्चयम्।।१।।

।।इति शास्त्रसारसमुच्चयः।।

१-२. सूत्रद्वयं कर्णाटवृत्तावेव।। ३-४. इमौ शब्दौ कर्णाटटीकायां न स्तः।। ५. गुप्तित्रयमितिसूत्रं टीकायां।। ६-७. सूत्रद्वयं टीकायामेव। ८-९. आर्तं च। रौद्रमपि। धर्मध्यानं चतुर्विधं दशविधं वा। शुक्लध्यानं चतुर्विधं इति पाठः टीकायां। १०-११. सूत्रद्वयं टीकायां। १२. सूत्रमिदं टीकायामधिकं। १३. श्रुतमित्यपि पाठः। १४. सूत्रमिदं टीकायां नास्ति। १५-१६-१७. सूत्रत्रयं ३० सूत्रतोऽग्रे वर्तते टीकायां। * एतच्चिन्हमध्यगतः पाठः टीकायामधिकस्तेन मूले एव भवितव्यम्। १८. सिद्धस्यानुयोगद्वाराणीति टीकापाठः। १९. इयं प्रशस्तिका दौर्बलिजिनदासशास्त्रिणः पुस्तके।

३६. ध्यान सूत्राणि

(श्री माघनंदि आचार्यविरचित)

१. रागद्वेषमोहरहितोहम्।
२. क्रोधमानमायालोभरहितोहम्।
३. पञ्चेन्द्रियविषयव्यापारशून्योहम्।
४. मनोवचनकायक्रियारहितोहम्।
५. द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितोहम्।
६. ख्यातिपूजालाभादिविभावभावरहितोहम्।
७. दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङक्षारहितोहम्।
८. शल्यत्रयरहितोहम्।
९. गारवत्रयरहितोहम्।
१०. दण्डत्रयरहितोहम्।
११. विभावपरिणामशून्योहम्।
१२. निजनिरञ्जनस्वरूपोहम्।
१३. स्वशुद्धात्मसम्यग्श्रद्धानपरिणतोहम्।
१४. भेदज्ञानानुष्ठानपरिणतोहम्।
१५. अभेदरत्नत्रयरूपोहम्।
१६. निर्विकल्पसमाधिसंजातोहम्।
१७. वीतरागसहजानंदस्वरूपोहम्।
१८. अत्यानंदरूपोहम्।
१९. स्वसंवेदनज्ञानामृतभरितोहम्।
२०. ज्ञायकैकस्वभावोहम्।
२१. सहजशुद्धपरिणामिकस्वभावरूपोहम्।
२२. सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोहम्।
२३. महाचलननिर्भरानंदरूपोहम्।
२४. चिन्मात्रमूर्तिस्वरूपोहम्।
२५. चैतन्यरत्नाकरस्वरूपोहम्।
२६. चैतन्यामरद्रुमस्वरूपोहम्।
२७. चैतन्यामृत-आहारस्वरूपोहम्।
२८. ज्ञानपुंजस्वरूपोहम्।
२९. ज्ञानामृतप्रवाहस्वरूपोहम्।
३०. चैतन्यरसरसायन स्वरूपोहम्।
३१. चैतन्यचिन्मय स्वरूपोहम्।
३२. चैतन्यकल्याणवृक्षस्वरूपोहम्।
३३. ज्ञानज्योतिःस्वरूपोहम्।
३४. ज्ञानार्णवस्वरूपोहम्।
३५. निरुपमनिर्लेपस्वरूपोहम्।
३६. निरवद्यस्वरूपोहम्।
३७. शुद्धचिन्मात्रस्वरूपोहम्।
३८. अनंतज्ञानस्वरूपोहम्।
३९. अनंतदर्शनस्वरूपोहम्।
४०. अनन्तवीर्यस्वरूपोहम्।
४१. अनन्तसुखस्वरूपोहम्।
४२. सहजानंदस्वरूपोहम्।
४३. परमानंदस्वरूपोहम्।
४४. परमक्षानानंदस्वरूपोहम्।
४५. सदानंदस्वरूपोहम्।
४६. चिदानंदस्वरूपोहम्।
४७. निजानंदस्वरूपोहम्।
४८. सहजसुखानंदस्वरूपोहम्।
४९. नित्यानंदस्वरूपोहम्।
५०. शुद्धात्मस्वरूपोहम्।
५१. परमज्योतिःस्वरूपोहम्।
५२. स्वात्मोपलब्धिस्वरूपोहम्।
५३. शुद्धात्मसंवित्तिस्वरूपोहम्।
५४. भूतार्थस्वरूपोहम्।
५५. परमार्थस्वरूपोहम्।
५६. समयसारसमूहस्वरूपोहम्।
५७. अध्यात्मसारस्वरूपोहम्।
५८. परममंगलस्वरूपोहम्।
५९. परमोत्तमस्वरूपोहम्।
६०. सकलकर्मक्षयकारणस्वरूपोहम्।
६१. परमाद्वैतस्वरूपोहम्।
६२. शुद्धोपयोगस्वरूपोहम्।

६३. निश्चयषडावश्यकस्वरूपोहम्।
६४. परमसमाधिस्वरूपोहम्।
६५. परमस्वास्थ्यस्वरूपोहम्।
६६. परमस्वाध्यायस्वरूपोहम्।
६७. परमभेदज्ञानस्वरूपोहम्।
६८. परमसंवेदनस्वरूपोहम्।
६९. परमसमरसीभावस्वरूपोहम्।
७०. केवलज्ञानस्वरूपोहम्।
७१. केवलदर्शनस्वरूपोहम्।
७२. अनंतवीर्यस्वरूपोहम्।
७३. परमसूक्ष्मस्वरूपोहम्।
७४. अवगाहनस्वरूपोहम्।
७५. अगुरुलघुस्वरूपोहम्।
७६. अव्याबाधस्वरूपोहम्।
७७. अष्टविधकर्मरहितोहम्।
७८. निरंजनसवरूपोहम्।
७९. नित्योहम्।
८०. अष्टगुणसहितोहम्।
८१. कृतकृत्योहम्।
८२. लोकाग्रनिवास्यहम्।
८३. अनुपमोहम्।
८४. अचिन्त्योहम्।
८५. अतर्क्योहम्।
८६. प्रमेयस्वरूपोहम्।
८७. अतिशयस्वरूपोहम्।
८८. अक्षयस्वरूपोहम्।
८९. शाश्वतोहम्।
९०. शुद्धस्वरूपोहम्।
९१. सिद्धस्वरूपोहम्।
९२. सत्तात्मकसिद्धस्वरूपोहम्।
९३. अनुभवात्मकसिद्धस्वरूपोहम्।
९४. सोऽहम् शुद्धोहम्।
९५. चित्कलास्वरूपोहम्।
९६. चैतन्यपुञ्जस्वरूपोहम्।
९७. सदानंदस्वरूपोहम्।
९८. परमशरण्योहम्।
९९. स्वयंभूरहम्।
१००. अतिशयातिशयातीत-अमूर्तानंतसुखस्वरूपोहम्।

***

।। दशविधधर्मध्यानस्वरूपम्।।

१. अपायविचयचिंतनपरिणामपरिणतान्तर्मनोहम्।
२. उपायविचयचिंतनपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
३. जीवविचयचिंतनपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
४. अजीवविचयचिंतनपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
५. विपाकविचयचिंतनपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
६. विरागविचयचिंतनपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
७. भवविचयचिंतनपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
८. संस्थानविचयचिंतनपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
९. आज्ञाविचयचिंतनपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
१०. कारणविचयचिंतनपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
११. सोहम्, शुद्धोहम्, बुद्धोहम्।

***

।।आर्तध्यानत्यागभावना।।

१. ओंनमः सोऽहम् निरंजनोहम्।
२. इष्टवियोगजार्तध्यानरहितोहम्।
३. अनिष्टसंयोगजार्तध्यानरहितोहम्।
४. पीडाचिंतननिदानबंधरहितोहम्।
५. निदानबंधजार्तध्यानरहितोहम्।
६. वीतरागपरिणामपरिणतिसहितोहम्।
७. सोहं नित्योहं सत्योहम् निरंजनोहम्।

***

।।रौद्रध्यानरहितोहम्।।

१. हिंसानंदरौद्रध्यानरहितोहम्।
२. मृषानंदरौद्रध्यानरहितोहम्।
३. चौर्यानंदरौद्रध्यानरहितोहम्।
४. परिग्रहानंदरौद्रध्यानरहितोहम्।

***

।।अर्हद्गुणस्थापनाधर्म्यध्यानम्।।

१. घातिचतुष्टयरहितोहम्।
२. अष्टादशदोषरहितोहम्।
३. पंचमहाकल्याणांकितोहम्।
४. अष्टमहाप्रातिहार्यविशिष्टोहम्।
५. चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतोहम्।
६. शतेन्द्रवृंदवंद्यपादारविंदद्वयोहम्।
७. विशिष्टानंतचतुष्टयस्वरूपोहम्।
८. अन्तरङ्गबहिरङ्गलक्ष्मीसमेतोहम्।
९. परमकल्याणरसोपेतोहम्।
१०. सर्वभाषात्मकदिव्यध्वनिस्वरूपोहम्।
११. कोट्यादित्यप्रभारूपपरमौदारिकदिव्यशरीररूपोहम्।
१२. परममंगलोहम्।
१३. परमपवित्रोहम्।
१४. त्रिजगद्गतगुरुस्वरूपोहम्।
१५. शाश्वतोहम्।
१६. जगत्त्रयकाल त्रयवर्तिसकलपदार्थयुगपत्परिच्छेदक-केवलज्ञानस्वरूपोहम्।
१७. विशदाखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमानसकलविमल-केवल-दर्शनस्वरूपोहम्।
१८. अतीन्द्रियातिशयानन्तसुखस्वरूपोहम्।
१९. वीर्यानंतबलस्वरूपोहम्।
२०. अचिंत्यानंतगुणस्वरूपोहम्।
२१. सोहं, शुद्धोहम्, बुद्धोहम्।

***

।।सालम्बनसिद्धस्वरूपोहम्।।

१. ज्ञानावरणादिमूलोत्तरकर्मप्रकृतिरहितोहम्।
२. सकलविमलकेवलज्ञानादिगुणसमेतोहम्।
३. निष्क्रियटङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वरूपोहम्।
४. अमूर्तोहम्।
५. अखंडोहम्।
६. शुद्धचिन्मयोहम्।
७. निर्व्यग्रसहजानंदसुखमयोहम्।
८. शुद्धजीवघनाकारोहम्।
९. नित्योहं, निरंजनोहं निर्मलोहं, निष्कलोहम्।
१०. लोकाग्रनिवास्यहम्।
११. त्रिजगद्वन्दितोहम्।
१२. अनन्तज्ञानस्वरूपोहम्।
१३. अनन्तदर्शनस्वरूपोहम्।
१४. अनन्तवीर्यस्वरूपोहम्।
१५. अनन्तसुखस्वरूपोहम्।
१६. अनन्तगुणस्वरूपोहम्।
१७. अनन्तशक्तिस्वरूपोहम्।
१८. अनन्तानन्तस्वरूपोहम्।
१९. निर्वेदस्वरूपोहम्।
२०. निर्मोहस्वरूपोहम्।
२१. निरामयस्वरूपोहम्।
२२. निरायुधस्वरूपोहम्।
२३. निर्मायस्वरूपोहम्।
२४. निर्गोत्रस्वरूपोहम्।
२५. निर्विघ्ननस्वरूपोहम्।
२६. निर्गतिस्वरूपोहम्।
२७. निरिन्द्रियस्वरूपोहम्।
२८. निष्कषायस्वरूपोहम्।
२९. निर्योगस्वरूपोहम्।
३०. निजशुद्धात्मस्मरणनिश्चयसिद्धोहम्।
३१. परमज्योतिस्वरूपोहम्।
३२. निजनिरंजनस्वरूपोहम्।
३३. चिन्मयस्वरूपोहम्।
३४. ज्ञानानंदस्वरूपोहम्।
३५. सोहं, शुद्धोहं बुद्धोहम्।

***

।।आचार्यपरमेष्ठिगुणसङ्कलनधर्म्यध्यानम्।।

१. निश्चयपंचाचारस्वरूपोहम्।
२. व्यवहारपंचाचारस्वरूपोहम्।
३. परमदयापरिणतिस्वरूपोहम्।
४. निजनिरञ्जनस्वरूपोहम्।
५. पंचप्रकारसंसारसागरोत्तरणकारणभूतोहम्।
६. पात्रस्वरूपोहम्।

७. चित्स्वभावनाप्रायोहम्।
८. चातुर्वर्ण्यचक्रवर्त्याचार्यपरमेष्ठिस्वरूपोहम्।
९. निजनित्यानंदैकतत्त्वभावस्वरूपोहम्।
१०. सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वरूपोहम्।
११. दंडत्रयखंडिताखंडदूरस्वरूपोहम्।
१२. चतुर्गतिसंसारदूरस्वरूपोहम्।
१३. भूतार्थषडावश्यकस्वरूपोहम्।
१४. सप्तभयविप्रमुक्तस्वरूपोहम्।
१५. विशिष्टाष्टगुणपुष्टस्वरूपोहम्।
१६. नवकेवललब्धिस्वरूपोहम्।
१७. अष्टविधकर्ममलकलंकरहितोहम्।
१८. अष्टादशदोषरहितोहम्।
१९. सप्तनयव्यतिकरस्वरूपोहम्।
२०. सोहं, शिवोहं, शुद्धोहं, बुद्धोहम्।

***

।।उपाध्यायपरमेष्ठिगुणस्वावलम्बनधर्म्यध्यानम्।।

१. निश्चयव्यवहारधर्मप्रतिपादकोहम्।
२. अष्टविधज्ञानाचारस्वरूपोहम्।
३. अष्टविधदर्शनाचारस्वरूपोहम्।
४. पंचविधवीर्याचारस्वरूपोहम्।
५. त्रयोदशविधचारित्राचारस्वरूपोहम्।
६. क्षायिकज्ञानस्वरूपोहम्।
७. क्षायिकदर्शनस्वरूपोहम्।
८. क्षायिकचारित्रस्वरूपोहम्।
९. क्षायिकसम्यक्त्वस्वरूपोहम्।
१०. क्षायिकपंचलब्धिस्वरूपोहम्।
११. परमविशुद्धचिद्रूपस्वरूपोहम्।
१२. विशुद्धचैतन्यस्वरूपोहम्।
१३. शुद्धचित्कायस्वरूपोहम्।
१४. शुद्धजीवपदार्थस्वरूपोहम्।
१५. शुद्धजीवद्रव्यस्वरूपोहम्।
१६. शुद्धजीवास्तिकायस्वरूपोहम्।
१७. सोहं, शुद्धोहं, बुद्धोहं, शिवोहं, शंकरोहम्।

***

।।आचार्यपरमेष्ठिगुणसालंबनमधर्म्यध्यानम्।।

१. अखंडशुद्धज्ञानैकस्वरूपोहम्।
२. स्वाभाविकज्ञानदर्शनस्वरूपोहम्।
३. अंतरंगरत्नत्रयस्वरूपोहम्।
४. अनंतचतुष्टयस्वरूपोहम्।
५. पंचभावस्वरूपोहम्।
६. नयनिक्षेपप्रमाणविधुरस्वरूपोहम्।
७. सप्तभयविप्रमुक्तस्वरूपोहम्।
८. अद्वैतपरमात्मसुखस्वरूपोहम्।
९. अष्टविधकर्मविनिर्मुक्तस्वरूपोहम्।
१०. अविचलितशुद्धचिदानंदस्वरूपोहम्।
११. त्रिविधकरणत्रयान्तर्गतोहम्।
१२. व्यवहाररत्नत्रयान्तर्गतोहम्।
१३. निश्चयरत्नत्रयान्तर्गतोहम्।
१४. दण्डत्रयरहितोहम्।
१५. शल्यत्रयरहितोहम्।
१६. योगत्रयरहितोहम्।
१७. लोकत्रयान्तर्गतोहम्।
१८. कर्मत्रयरहितोहम्।
१९. भावकर्मान्तर्गतपरिणतोहम्।
२०. सोहम्।
२१. क्षयोपशमलब्ध्यन्तर्गतोहम्।
२२. विशुद्धिलब्ध्यन्तर्गतोहम्।
२३. देशनालब्ध्यन्तर्गतोहम्।
२४. प्रायोग्यलब्ध्यन्तर्गतोहम्।
२५. करणलब्ध्यन्तर्गतोहम्।
२६. अधःप्रवृत्तिकरणान्तर्गतोहम्।
२७. अपूर्वकरणान्तर्गतोहम्।
२८. अनिवृत्तिकरणान्तर्गतोहम्।
२९. सोहं, सिद्धोहं, बुद्धोहम्।

×**

।।सिद्धस्वरूपभावनाधर्म्यध्यानम्।।

१. चतुर्गतिगमनरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
२. पंचेन्द्रियरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।

३. षट्कायरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
४. पंचदशयोगरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
५. सप्तकाययोगरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
६. त्रिवेदरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
७. नववेदरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
८. षोडशकषायरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
९. नवनोकषायरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
१०. सप्तभयनामकर्मरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
११. अष्टविधज्ञानांतर्गतस्वरूपोहम्।
१२. सप्तसंयमान्तर्गतोहम्।
१३. चतुर्विधदर्शनांतर्गतोहम्।
१४. षड्लेश्यारहितश्रीसिद्धस्वरूपोहहम्।
१५. भव्याभव्यत्वरहितश्रीसिद्धस्वरूपोहम्।
१६. षट्सम्यग्दर्शनान्तर्गतोहम्।
१७. दशसम्यक्त्वान्तर्गतोहम्।
१८. संज्ञ्यसंज्ञिकर्मरहितोऽहम्।
१९. आहारकानाहारककर्मरहितोहम्।
२०. चतुर्दशगुणस्थानन्तर्गतोहम्।
२१. एकोनविंशतिजीवसमासरहितोहम्।
२२. षट्पर्याप्तिरहितोहम्।
२३. दशप्राणरहितोहम्।
२४. चतुःसंज्ञारहितोहम्।
२५. अष्टविधज्ञानोपयोगान्तर्गतोहम्।
२६. चतुर्विधार्तध्यानरहितोहम्।
२७. चतुर्विधार्तध्यानरहितोहम्।
२८. चतुर्विधरौद्रध्यानरहितोहम्।
२९. दशविधधर्म्यध्यानान्तर्गतोहम्।
३०. चतुर्विधशुक्लध्यानान्तर्गतोहम्।
३१. पंचमिथ्यात्वरहितोहम्।
३२. मूलोत्तरकर्मप्रकृतिरहितोहम्।
३३. द्रव्यास्त्रवभावास्त्रवरहितोहम्।
३४. द्रव्यबंधभावबंधरहितोहम्।
३५. द्रव्यनिर्जराभावनिर्जरान्तर्गतोहम्।
३६. द्रव्यमोक्षभावमोक्षान्तर्गतोहम्।
३७. पावनोहम्, पवित्रोहम्।
३८. कुलयोनिरहितसिद्धस्वरूपोहम्।

***

।।धर्म्यध्यानभावनास्वरूपम्।।

१. निःशंकिताङ्गांतर्गतपरिणामपरिणतवीतरागानुभूतिरूपोहम्।
२. निष्कांक्षिततांतरंगपरिणामपरिणतवीतरागानुभूतिरूपोहम्।
३. निर्विचिकित्सांगान्तरंगपरिणामपरिणतवीतारागानुभूतिरूपोहम्।
४. अमूढ़दृष्ट्यङ्गान्तरंगपरिणामपरिणतवीतरागानुभूतिरूपोहम्।
५. उपगूहनांगान्तरंगपरिणामपरिणतवीतरागानुभूतिरूपोहम्।
६. स्थितीकरणांगान्तरंगपरिणामपरिणतवीतरागानुभूतिरूपोहम
७. वात्सल्यांगान्तर्गतपरिणामपरिणतवीतरागानुभूतिरूपोहम्।
८. प्रभावनांगान्तर्गतपरिणामपरिणतवीतरागानुभूतिरूपोहम्।
९. शुद्धसम्यक्त्वरूपान्तरंगपरिणामपरिणतवीतरागानुभूति-रूपोहम्।
१०. शुद्धज्ञानानुचरणरूपान्तरंगपरिणामपरिणतवीतरागानुभूति-रूपोहम्।
११. शुद्धचारित्रचरणरूपांतरङ्गपरिणामपरिणतिरूपोहम्।
१२. स्पर्शनेन्द्रियान्तर्गतवीतरागपरिणामपरिणतिरूपोहम्।
१३. रसनेन्द्रियान्तर्गतवीतरागपरिणामपरिणतिरूपोहम्।
१४. घ्राणेंद्रियान्तर्गतवीतरागपरिणामपरिणतिरूपोहम्।
१५. चक्षुरिन्द्रियान्तर्गतवीतरागपरिणामणामपरिणतिरूपोहम्।
१६. श्रोत्रेन्द्रियान्तर्गतवीतरागपरिणामपरिणतिरूपोहम्।
१७. परमानंदपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
१८. सहजानंदपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
१९. नित्यानंदपरिणामपरिणतिस्वरूपोहम्।
२०. निर्विकाररूपपरिणामपरिणतोहम्।
२१. निरामयस्वरूपोहम्।
२२. अनंसुखसंपन्नोहम्।
२३. ज्ञानामृतपयोधररूपोहम्।
२४. अनंतवीर्यसम्पन्नोहम्।
२५. अनंतदर्शनसम्पन्नोहम्।
२६. निर्विकारपरमानंदपरिणतोहम्।
२७. निराबाधसुखस्वरूपोहम्।
२८. सर्वसंगविवर्जितपरिणामपरिणतोहम्।
२९. परमानंदरसभरितपरिणामपरिणतोहम्।

३०. शुद्धचैतन्यलक्षणसिद्धस्वरूपोहम्।
३१. निर्विकल्पध्यानपरिणतोहम्।
३२. ज्ञानसुधारसभोक्तृस्वरूपोहम्।
३३. पदस्थध्यानान्तर्गतवीतरागपरिणतोहम्।
३४. पिंडस्थध्यानान्तर्गतवीतरागपरिणतिपरिणतोहम्।
३५. रूपस्थध्यानान्तर्गतवीतरागपरिणतिपरिणतोहम्।
३६. रूपातीतध्यानान्तर्गतवीतरागसमाधिरूपोहम्।
३७. पृथ्वीमंडलध्यानान्तर्गतोहम्।
३८. अप्मंडलध्यानातर्गतोहम्।
३९. तेजोमण्डलध्यानान्तर्गतोहम्।
४०. वायुमंडलध्यानान्तर्गतोहम्।
४१. वीतरागानंदपरिणामपरिणतोहम्।
४२. परमानंदपरिणामपरिणतोहम्।
४३. शांतिरसरूपपरिणामपरिणतोहम्।
४४. परमानंदरसभरपरिणतोहम्।
४५. शुद्धदर्शनानंदपरिणामपरिणतोहम्।
४६. शुद्धज्ञानानंदपरिणामपरिणतोहम्।
४७. अनंतसुखस्वरूपोहम्।
४८. क्रोधादिविकल्पजालतरंगरहितोहम्।
४९. जगत्त्रयकालत्रयवर्तिवस्तुज्ञानस्वरूपोहम्।
५०. जन्मजरामरणरहितनित्यस्वरूपोहम्।
५१. चतुर्गतिगमनरहितनित्यस्वरूपोहम्
५२. शिवस्वरूपोहम्, शंकरस्वरूपोहम्, परब्रह्मस्वरूपोहम्।
५३. परमविष्णुस्वरूपोहम्।
५४. जितक्रोधरूपपरिणामपरिणतोहम्।
५५. जितमानरूपपरिणामपरिणतोहम्।
५६. जितकामरूपपरिणामपरिणतोहम्।
५७. जितमोहरूपपरिणामपरिणतोहम्।
५८. द्रव्यकर्मरहितनिरंजनोहम्।
५९. भावकर्मरहितनिरंजनोहम्।
६०. नोकर्मरहितनिरंजनोहम्।
६१. रूपातीतानुभूतिपरिणामपरिणतोहम्।
६२. रसातीतानुभूतिरूपपरिणामपरिणतोहम्।
६३. गंधातीतानुभूतिरूपपरिणामपरिणतोहम्।
६४. स्पर्शातीतानुभूतिरूपपरिणामपरिणतोहम्।
६५. ध्यानस्थानादिनिधनो निरंजनोहम्।
६६. पापपुण्यादिरूपक्रियारहितोहम्।
६७. हर्षविषादपरिणतिरहितोहम्।
६८. धारणादेहरूपपरिणतिरहितोहम्।
६९. यंत्रमंत्रादिपरिणामरहितोहम्।
७०. मंडलमुद्रादिरहितो निरंजनोहम्।
७१. स्त्रीपुरुषाकाररूपरहितोहम्।
७२. इन्द्रियातीतसुखस्वरूपोहम्।
७३. वेदशास्त्ररहितनिरंजनोहम्।
७४. शुद्धात्मसंवित्तिनित्यानंदसुखामृतस्वादपरिणतोहम्।
७५. नित्यनिर्मलध्यानरसस्वादानुभवपरिणामपरिणतोहम्।
७६. आराध्याराधनाराधकस्वरूपपरिणतिरूपोहम्।
७७. वीतरागपरमाल्हादकध्यानपरिणतोहम्।
७८. क्रोधादिदाहकध्यानस्वरूपोहम्।
७९. कामादिविकारदाहकस्वरूपोहम्।
८०. असङ्गत्वाद्वायुस्वरूपोहम्।
८१. निर्मलात्मत्वादाकाशस्वरूपोहम्।
८२. शुद्धस्वरूपत्वान्निर्विकारस्वरूपोहम्।

***

।।व्यवहारशरणम्।।

१. अर्हच्छरणोत्तमाय नमो नमः।
२. सिद्धशरणोत्तमाय नमो नमः।
३. साधुशरणोत्तमाय नमो नमः।
४. केवलिप्रणीतधर्माय नमो नमः।

***

।।निश्चयशरणम्।।

१. एकस्वभावसिद्धाय नमो नमः।
२. विकल्पपरिमुक्ताय नमो नमः।
३. अरसाय अगन्धाय नमो नमः।
४. अव्याबाधाय नमो नमः।
५. अनंतज्ञानाय नमो नमः।

***

३७. चौबीस तीर्थंकरों की सोलह जन्मभूमियों की नामावली

तीर्थंकर जन्मभूमि	तीर्थंकरों के नाम
१. **अयोध्या (फैजाबाद-उ.प्र.)**	— श्री ऋषभदेव भगवान, श्री अजितनाथ भगवान श्री अभिनंदननाथ भगवान, श्री सुमतिनाथ भगवान श्री अनंतनाथ भगवान
२. **श्रावस्ती (बहराइच-उ.प्र.)**	— श्री संभवनाथ भगवान
३. **कौशाम्बी (उ.प्र.)**	— श्री पद्मप्रभु भगवान
४. **वाराणसी (उ.प्र.)**	— श्री सुपार्श्वनाथ भगवान, श्री पार्श्वनाथ भगवान
५. **चन्द्रपुरी (वाराणसी) उ.प्र.**	— श्री चन्द्रप्रभु भगवान
६. **काकन्दी (देवरिया नि.-गोरखपुर) उ.प्र.**	— श्री पुष्पदंतनाथ भगवान
७. **भद्रिकापुरी (भद्दिलपुर)**	— श्री शीतलनाथ भगवान
८. **सिंहपुरी (सारनाथ) उ.प्र.**	— श्री श्रेयांसनाथ भगवान
९. **चम्पापुरी (भागलपुर-बिहार)**	— श्री वासुपूज्यनाथ भगवान
१०. **कम्पिलपुरी (फर्रुक्खाबाद-उ.प्र.)**	— श्री विमलनाथ भगवान
११. **रत्नपुरी (फैजाबाद-उ.प्र.)**	— श्री धर्मनाथ भगवान
१२. **हस्तिनापुर (मेरठ-उ.प्र.)**	— श्री शांतिनाथ भगवान, श्री कुन्थुनाथ भगवान, श्री अरनाथ भगवान
१३. **मिथिलापुरी**	— श्री मल्लिनाथ भगवान, श्री नमिनाथ भगवान
१४. **राजगृही (नालंदा-बिहार)**	— श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान
१५. **शौरीपुर (बटेश्वर-उ.प्र.)**	— श्री नेमिनाथ भगवान
१६. **कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार)**	— श्री महावीर भगवान

विशेष—ज्ञातव्य है कि पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से स्थापित अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थंकर जन्मभूमि विकास कमेटी द्वारा तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमियों के विकास का क्रम सफलतापूर्वक जारी है। इस क्रम में हस्तिनापुर, अयोध्या, कुण्डलपुर (नालंदा), राजगृही, सिंहपुरी (सारनाथ) में सुन्दर निर्माण एवं विकास के कार्य सम्पन्न हुए हैं, जिससे कि प्राचीन तीर्थभूमियाँ प्रकाश में आई हैं तथा उनका राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार-प्रसार हुआ है। इसी क्रम में वर्तमान में भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकंदी का भी निर्माण कार्य पूर्ण हो चुका है। आप भी अपने आस-पास के क्षेत्र में स्थित तीर्थंकर जन्मभूमियों के विकास हेतु समाज में जागरूकता पैदा करें एवं संगठित होकर उन प्राचीन तीर्थभूमियों का जीर्णोद्धार करें। इस कार्य में हम सदैव आपके साथ हैं।

प्रशस्ति

-गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

तीर्थंकर चक्री मदन, शांतिनाथ भगवान्।
नमूँ नमूँ उनको सतत, जो अनंत गुणखान।।१।।

अंतिम तीर्थंकर प्रभो, महावीर भगवान।
नित प्रति वंदूँ भाव से, जिनका तीर्थ प्रधान।।२।।

मूलसंघ के अग्रणी, कुंदकुंद आचार्य।
गच्छ सरस्वति नाम औ, बलात्कारगण धार्य।।३।।

परंपरा में उन्हीं के, शांतिसागराचार्य।
उनके पट्टाधीश थे, वीरसागराचार्य।।४।।

आर्यिका दीक्षागुरू, सूरि मान्य जग वंद्य।
जिनकी कृपा प्रसाद से, 'ज्ञानमती' हुई धन्य।।५।।

वीर अब्द पच्चीस सौ, सैंतीस आश्विन मास।
शरद्पूर्णिमा शुभ दिवस, मंगलमयी प्रभात।।६।।

बहुत ग्रंथ स्वाध्याय कर, लिया सार का सार।।
अमृतकण सम बन गया, 'ज्ञानामृत' भण्डार।।७।।

हस्तिनागपुर तीर्थ यह, मेरु सुदर्शन मान्य।
जम्बूद्वीप व तेरहों, द्वीप बनें अभिराम।।८।।

तीनलोक रचना यहाँ, अतिशय रम्य विशेष।
शांति कुंथु अरनाथ की, मूर्ति हरें भवक्लेश।।९।।

जब तक जग में शासता, परम अहिंसा धर्म।
भव्य जीव शिवपथ पथिक, पावें निजसुख मर्म।।१०।।

तब तक जिनवाणी रहे, रहें गुरु निर्ग्रन्थ।
गणिनी ज्ञानमती रचित, हरे ग्रंथ भव पंथ।।११।।

भव्यों को शिवमार्ग का, द्वार दिखावें ग्रंथ।
जिन वचनामृत आज हैं, सचमुच में शिवपंथ।।१२।।

जिन प्रतिमा जिनसद्म को, नमूँ नमूँ शत बार।
जन्म मरण दुख दूर कर, पाऊँ निजसुख सार।।१३।।